संस्कार भास्कर

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

ओ३म्

संस्कारभास्कर

महर्षि दयानन्द-विरचित
संस्कारविधि का विस्तृत भाष्य

भाष्यकार
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

प्रकाशक
इण्टरनेशनल आर्यन फाउण्डेशन,
बम्बई

प्रकाशक :
इण्टरनेशनल आर्यन फाउण्डेशन
३०२, कैप्टन विल्ला, मौंट मेरी रोड,
बान्द्रा, बम्बई-४०००५०

प्रमुख वितरक :
१. **रामलाल कपूर ट्रस्ट**
बहालगढ़, सोनीपत (हरियाणा)
२. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
नई सड़क, दिल्ली-६
३. **मुनिवर गुरुदत्त संस्थान**
हिण्डौन सिटी, (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : १९९५

मूल्य : १५०=००

लेज़र टाइप सैटिंग :
भगवती प्रकाशन
एच-१/२, मॉडल टाउन, दिल्ली-९

मुद्रक :
राधा प्रेस
कैलाश नगर, दिल्ली

प्रकाशकीय वक्तव्य

महर्षि दयानन्द महान् क्रान्तिकारी और युगनिर्माता थे। वे मानव समाज के ढाँचे को बदलकर एक नूतन समाज बनाना चाहते थे। इस कार्य को मूर्त्तरूप देने के लिए उनकी योजना थी कि बालकों को आरम्भ से गुरुकुलों में भेजा जाए। वहाँ उन्हें उस प्रकार की शिक्षा दी जाए जिससे वे पाखण्डों, अन्धविश्वासों, कुरीतियों से बचकर वैदिक शिक्षाओं से ओत-प्रोत होकर निकलें। ऐसी पीढ़ी के तैयार होने से कुछ ही काल में सारा समाज बदल जाएगा। पाखण्ड समाप्त होकर सर्वत्र वेदज्ञान का प्रचार और प्रसार होगा।

इस विधान को क्रियात्मक रूप देने के लिए उन्होंने एक 'विधि' लिखी, जिसका नाम है 'संस्कारविधि'। इस संस्कारविधि में मानव जीवन के निर्माण के लिए सोलह संस्कारों का विधान है। यदि इस विधि पर आचरण किया जाए तो निःसन्देह एक नूतन समाज का निर्माण हो सकता है।

महर्षि दयानन्द को कार्य करने के लिए समय बहुत अल्प मिला। महर्षि का सारा लेखन कार्य लगभग दस वर्ष में हुआ है। इसमें वेदभाष्य-जैसा दुरूह कार्य भी है। उनकी प्रस्थान त्रयी [सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि] के अतिरिक्त लगभग ३२ अन्य छोटे-छोटे ग्रन्थ भी हैं। समय अभाव के कारण स्वामीजी ने जो कुछ लिखा, वह सब सूत्ररूप में लिखा। स्वामीजी के सभी ग्रन्थों पर भाष्य होने चाहिए थे। इसके लिए अनेक बार प्रयत्न हुए, परन्तु वे सारे प्रयास असफल ही रहे।

महर्षि के ग्रन्थों पर भाष्य लिखने के दुरूह कार्य को पूर्ण करने का बीड़ा उठाया स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती ने। आप सारे कार्यों को छोड़कर लंगर-लंगोटे कसकर ऋषि-मिशन को पूरा करने में जुट गये।

स्वामीजी आधि-व्याधियों से घिरे हुए होकर भी उनके अपने शब्दों में 'आधी आँख और एञ्जायना के आक्रमणों को झेलते हुए' निरन्तर साधना में लगे ही रहे। परिणामस्वरूप इस ग्रन्थ के साथ उन्होंने महर्षि की प्रस्थान त्रयी का भाष्य पूर्ण कर दिया। आर्यजगत् उनके इस महनीय कार्य के लिए उनका चिर ऋणी रहेगा।

अपना ग्रन्थ लिखना सरल होता है, किसी ग्रन्थ पर भाष्य लिखना दुरूहतर कार्य है, स्वामीजी ने घोर परिश्रम, दृढ़ मनोबल, ऋषि के प्रति अगाध भक्ति से इस कार्य को पूर्ण कर दिया। प्रभु से प्रार्थना और मङ्गलकामना है कि वे शतायु और 'भूयश्च शरदः शतात्' होकर इसी प्रकार ऋषिऋण को उतारते रहें।

हमारा सौभाग्य है कि स्वामीजी के इन अनुपम ग्रन्थों के प्रकाशन का श्रेय हमें प्राप्त हुआ। स्वामीजी की इस महती कृपा के लिए हम उनके हार्दिक आभारी हैं।

इस ग्रन्थ का लेजर टाइप सैटिंग भगवती प्रकाशन के द्वारा हुआ है। इसके सञ्चालक स्वामी जगदीश्वरानन्दजी हैं। मुद्रण में देर तो हुई है, परन्तु इसकी टाइप सैटिंग और प्रूफ रीडिंग इतनी उत्तम हुई है कि पाठक भी इस देरी को भूल जाएँगे। स्वामीजी ने इस ग्रन्थ की कलात्मक और शुद्ध मुद्रण में जो प्रयास किया है, तदर्थ उन्हें हार्दिक धन्यवाद।

प्रिय पाठकगण! इस ग्रन्थ को पढ़ें, अन्यों को पढ़ाएँ, इसका प्रचार और प्रसार करें। कहीं कोई कमी दृष्टिगोचर हो, कोई स्थल व्याख्या होने से रह गया हो तो सूचित करें, जिससे अगले संस्करण में ठीक कर दिया जाए।

देवेन्द्रकुमार कपूर
अध्यक्ष
इण्टरनेशनल आर्यन फाउण्डेशन

ग्रन्थकार



स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान्, गम्भीर चिन्तक, यशस्वी लेखक तथा कुशल वक्ता हैं। संस्कृत वाङ्मय में वैदिक, जैन तथा बौद्ध आचार्यों द्वारा स्थापित सूत्रात्मक दर्शनशास्त्र की परम्परा का आधुनिक काल में प्रतिनिधित्व करने का श्रेय स्वामी विद्यानन्द सरस्वती को है। स्वामीजी की प्रतिपादन शैली का अपना वैशिष्ट्य है। वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, प्राचीन इतिहास में आपने लगभग तीन दर्जन मौलिक ग्रन्थों की रचना की है। इक्कीस हज़ार रुपये के वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार से सम्मानित प्रादेशिक सरकारों तथा स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत हैं। महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक, काशी पण्डित सभा के अध्यक्ष महामहोपाध्याय पं० गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी, वेद-वेदान्ताचार्य, साहित्यवाचस्पति पं० उदयवीर शास्त्री, सन्त कवि श्री वियोगी हरि, मनीषिप्रवर महात्मा नारायण स्वामी, व्याकरणाचार्य डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य, डॉ० कर्णसिंह, डॉ० बलराम जाखड़, श्री कृष्णचन्द्र पन्त, विद्वद्वरेण्य एकादशतीर्थ डॉ० हरिदत्त शास्त्री, स्वामी (डॉ०) सत्यप्रकाश आदि उच्चकोटि के अनेक विद्वानों तथा इतिहास के क्षेत्र में पद्मभूषण डॉ० विष्णु श्रीधर वाकणकर और डॉ० बराडकर जैसे पुरातत्ववेत्ताओं ने स्वामीजी की विद्वत्ता और कृतियों की प्रसंशा की है।

पूर्वाश्रम में प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित के नाम से प्रख्यात स्वामी विद्यानन्दजी ने ५० वर्ष तक शिक्षा के क्षेत्र में कार्य किया है। लगभग २० वर्ष तक वे डिग्री तथा पोस्ट ग्रेजुएट कालिजों के प्रिंसिपल तथा कुछ समय तक गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के आचार्य रहे। आपकी योग्यता तथा सेवाओं के उपलक्ष्य में भारत के राष्ट्रपति ने आपको पंजाब विश्वविद्यालय की सेनेट के प्रतिष्ठित सदस्य के रूप में मनोनीत किया। वर्षों तक स्वामीजी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सेनेट तथा उसकी अनेक उच्चस्तरीय समितियों के सदस्य रहे। पंजाब, हरियाणा तथा दिल्ली की अनेक धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक संस्थाओं से स्वामीजी का निकट सम्बन्ध रहा है।



महर्षि दयानन्द सरस्वती

प्राक्कथन

श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-ख्यातिं दधानो यति-धर्मवीरः।
स्फारो जनानां हृदयान्धकारो निराकृतो येन स कैर्न नम्यः॥

संस्कारविधि का निर्माण

आर्यजाति में वेदादिशास्त्रविहित संस्कारों की परम्परा को शिथिल होते देख इस जाति के पुनरुत्थापनार्थ आचार्य दयानन्द ने इस अलौकिक ग्रन्थ की रचना का उपक्रम किया। संस्कारविधि के प्रथम संस्करण का लिखना मुम्बई में संवत् १९३२ की कार्त्तिक अमावास्या को शनिवार के दिन आरम्भ हुआ। इसमें ग्रन्थ के आरम्भ में स्वयं आचार्य का यह लेख प्रमाण है—

चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्त्तिकस्यान्तिमे दले। अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया॥

संस्कारविधि का लिखना कब समाप्त हुआ, इस विषय में संस्कारविधि के उस संस्करण के अन्त में लिखा है—

नेत्ररामाङ्कचन्द्रेऽब्दे पौषे मासे सिते दले। सप्तम्यां सोमवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिं गतः शुभः॥

तदनुसार पौष शुक्ला ७ सोमवार संवत् १९३२ को संस्कारविधि का लेखन समाप्त हुआ।

इस प्रकार संस्कारविधि की रचना में एक मास, आठ दिन का समय लगा था। तिथियों का आकलन करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जहाँ उत्तर भारत में मास का अन्त शुक्लपक्ष से होता है, वहाँ गुजरात में मास का अन्त अमावास्या पर होता है और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से मास का आरम्भ माना जाता है। पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संकलित जीवनचरित (संस्करण १) के अनुसार, "संस्कारविधि का लिखना बड़ौदा में समाप्त हुआ था।" (पृष्ठ ३६४)। जीवनचरित से यह तो स्पष्ट विदित नहीं होता कि स्वामीजी बड़ौदा में कब तक रहे थे, किन्तु इतना निश्चित है कि वे पौष मास में वहीं थे, अतः जीवनचरित का लेख ठीक ही होगा।

द्वितीय संस्करण—संशोधित द्वितीय संस्करण की भूमिका में स्वामीजी ने स्वयं लिखा है—"महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९४० आषाढ़ बदि १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने का विचार किया।" द्वितीय संस्करण के संशोधन का यही काल संस्कारविधि के आरम्भ में ११वें श्लोक में मिलता है—

बिन्दुवेदाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुचौ मासे सिते दले। त्रयोदश्यां रवौ वारे पुनः संस्करणं कृतम्॥

संशोधन की समाप्ति भाद्रपद कृष्णा अमावास्या संवत् १९४० के आस-पास हो गई थी, अर्थात् तब तक संशोधित संस्कारविधि की पाण्डुलिपि तैयार हो चुकी थी। यह बात ग्रन्थकार

के भाद्रबदि ५ संवत् १९४० के पत्र से व्यक्त होती है—

"और अबके संस्कारविधि बहुत अच्छी बनाई गई है और अमावास्या तक बन चुकेगी।"

—पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ४७५-द्वि० सं०

इससे स्पष्ट है कि पूरी संस्कारविधि स्वामीजी के स्वर्गवास के लगभग दो मास पूर्व तैयार हो चुकी थी और वैदिक यन्त्रालय के तत्कालीन प्रबन्धकर्त्ता मुंशी समर्थदान के नाम आश्विनबदि ३ शनिवार संवत् १९४० (२९ सितम्बर, १८८३) को भेजे गये पत्र के अनुसार १ से ४७ तक पृष्ठ मुद्रणार्थ भेजे जा चुके थे—

"आश्विनबदि ८ सोमवार संवत् १९४० को संस्कारविधि के पृष्ठ १ से लेके ४७ तक भेजे हैं, पहुँचे होंगे।" —पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ४७५, द्वि० सं०

इस प्रकार मुद्रण का आरम्भ, सम्भव है, ऋषि के जीवन के अन्तिम दिनों में हो गया हो। मुद्रण की समाप्ति का पता द्वितीय संस्करण के अन्त में दिये इस श्लोक से चलता है—

विधुयुगनवचन्द्रे (१९४१) वत्सरे विक्रमस्यासितदलबुधयुक्तानङ्गतिथ्यामिषस्य।

निगमपथशरण्ये भूय एवात्र यन्त्रे, विधिविहितकृतीनां पद्धतिर्मुद्रिताऽभूत्॥

इस श्लोक के अनुसार द्वितीय संस्करण का मुद्रण आश्विनशुदि ५ बुधवार संवत् १९४१ को समाप्त हुआ था।

हमारे भाष्य (संस्कारभाष्कर) का आधार संस्कारविधि के उपर्युक्त द्वितीय संस्करण का भी पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित सन् १९७४ में रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित संस्करण है।

संस्कारों का मूल वेद

ग्रन्थकार ने स्वरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वयं एक प्रश्न उठाया—

'वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति?' अत्रोच्यते—'सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः'।

'वेदों में सब विद्याएँ हैं वा नहीं?' ऋषि का तो डिण्डिम घोष है—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। उन्होंने झट से उत्तर दिया—'वेदों में सब विद्याएँ तो हैं, परन्तु मूलोद्देशतः, अर्थात् मूल रूप से हैं' विस्तार से नहीं। उसी वेदरूपी बीज को पुष्पित-पल्लवित करके विविध विद्याओं का विस्तार करने के लिए ऋषियों ने ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों का निर्माण किया था। इन ग्रन्थों में वेदों का उपबृंहण होने से उनपर आधारित विद्याएँ भी वेदमूलक ही मानी जाएँगी। जैसे वेद में सब विद्याओं का मूल है वैसे ही यज्ञ-विधान तथा गर्भाधान से लेके अन्त्येष्टिपर्यन्त सब संस्कारों का मूल है। उन्हीं मूलग्रन्थों के आशय को लेकर साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने स्मृतियों, गृह्यसूत्रों, श्रौतसूत्रों के माध्यम से संस्कारों के विधि-विधान को प्रस्तुत किया। वरदा वेदमाता ने अपने अमृतपुत्रों को किसी वस्तु से वञ्चित नहीं रक्खा।

जहाँ तक संस्कारविधि का सम्बन्ध है, उसके सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने पहले ही अपनी स्थिति इन शब्दों में स्पष्ट कर दी है—

वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात्। आर्य्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये॥

—सं० वि०, पृष्ठ ३

वेदादिशास्त्रों का श्रद्धापूर्वक चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए (यह ग्रन्थ रचा है)।

स्वामीजी ने स्पष्ट कह दिया है कि 'वेदादि शास्त्रों पर विचार करके'। यहाँ 'आदि' पद बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य है कि ग्रन्थकार ने वेद के साथ-साथ तदनुकूल अन्य आर्षग्रन्थों के आधार पर भी इस ग्रन्थ का निर्माण किया है।

आचार्यों द्वारा अभिमत संस्कार—आचार्य दयानन्द से पूर्ववर्ती मनु आदि स्मृतिकारों तथा पारस्कर, आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रकारों द्वारा अभिमत संस्कारों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

आश्वलायनगृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भलम्बन, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. अन्नप्राशन, ८. चौल (चूड़ाकर्म), ९. उपनयन, १०. वेदारम्भ, ११. गोदान (केशान्त), १२. समावर्त्तन, १३. अन्त्येष्टि।

पारस्करगृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. चतुर्थीकर्म (गर्भाधान), ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. निष्क्रमण, ८. अन्नप्राशन,९. चूड़ाकर्म, १०. कर्णवेध, ११. उपनयन, १२. वेदारम्भ, १३. केशान्त, १४. समावर्त्तन।

आपस्तम्बगृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. ऋतुगमन, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. अन्नप्राशन, ८. चौल, ९. गोदान, १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. समावर्त्तन।

कौषीतकिगृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. गर्भरक्षण, ५. सीमन्तोन्नयन, ६. जातकर्म, ७. अन्नप्राशन, ८. चूड़ाकर्म, ९. गोदान (केशान्त), १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. समावर्त्तन।

हिरण्यकेशिगृह्यसूत्रम्—१. उपनयन, २. वेदारम्भ, ३. समावर्त्तन, ४. विवाह, ५. चतुर्थीकर्म, ६. सीमन्तोन्नयन, ७. पुंसवन, ८. जातकर्म, ९. चूड़ाकर्म, १०. गोदान।

मानवगृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. सीमन्तोन्नयन ४. पुंसवन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. निष्क्रमण, ८. अन्नप्राशन, ९. चूडाकर्म, १०. केशान्त, ११. उपनयन, १२. वेदारम्भ, १३. समावर्त्तन।

गोभिलगृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तकरण, ५. जातकर्म, ६. निष्क्रमण, ७. नामधेयकरण, ८. चूडाकरण, ९. उपनयन, १०. वेदारम्भ, ११. गोदान, १२. समावर्त्तन।

जैमिनिगृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकर्म, ७. प्राशनकर्म, ८. चौलकर्म, ९. उपनयन, १०. गोदान, ११. समावर्त्तन।

खादिरगृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म (सोष्यन्ती होम), ६. निष्क्रमण, ७. नामकरण, ८. चौल, ९. उपनयन, १०. वेदारम्भ, ११. गोदान।

कौशिकसूत्रम्—१. विवाह, २. चतुर्थीकर्म, ३. नामकरण, ४. अन्नप्राशन, ५. निर्णयन

(निष्क्रमण), ६. गोदान, ७. चूडाकरण, ८. उपनयन, ९. वेदारम्भ, १०. पितृमेध (अन्त्येष्टि)।

गोपथब्राह्मणम्—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. गोदान, ९. चूडाकरण, १०. उपनयन, ११. आप्लावन (समावर्त्तन)।

मनुस्मृति—१. गर्भाधान, २. जातकर्म, ३. नामकरण, ४. निष्क्रमण, ५. अन्नप्राशन, ६. चूडाकर्म, ७. उपनयन, ८. केशान्त, ९. वेदारम्भ, १०. समावर्त्तन, ११. विवाह, १२. वानप्रस्थ, १३. संन्यास, १४. अन्त्येष्टि।

मनुस्मृति (२।२) में गर्भाधान संस्कार का प्रवर्त्तन करते समय 'गार्भैः' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस बहुवचनान्त प्रयोग से प्रतीत होता है कि मनु को इस शब्द से गर्भसम्बन्धी या गर्भकालीन सभी संस्कार अभिप्रेत हैं। जन्म से पहले ९-१० मास का समय गर्भस्थ बालक के निर्माण में लगता है। जातकर्म संस्कार से पूर्व गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन—इन तीन संस्कारों का विधान है। इन्हीं की संज्ञा गर्भ है। प्रस्तुत प्रसंग में आनुषंगिक रूप में गर्भाधान में पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन का अन्तर्भाव है।

ऊपर उद्धृत संस्कार-माला से एक बात उजागर होती है कि किसी भी गृह्यसूत्र में वानप्रस्थ तथा संन्यास का उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि गृह्यसूत्रों का प्रयोजन गृहस्थ सम्बन्धी कर्त्तव्यों का निर्देश करना है, सबका नहीं। वानप्रस्थ तथा संन्यास का गृहस्थ-कर्मों से सम्बन्ध न होने से वे गृह्यसूत्रों की परिधि से बाहर हैं, अतः इनका विधान गृह्यसूत्रों में नहीं मिलता। इन दोनों संस्कारों का विशेष वर्णन स्मृतियों तथा ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है। आचार्य दयानन्द ने भी इन संस्कारों को उन्हीं के आधार पर लिखा है।

ऋषिसम्मत संस्कार—स्वामीजी ने संस्कारविधि में स्पष्ट लिख दिया है—'**गर्भाद्या मृत्युपर्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि**' अर्थात् गर्भ से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त सोलह संस्कार हैं—'षोडश एव हि'—निश्चितरूप से सोलह ही हैं। वे हैं—

१. गर्भाधानम्, २. पुंसवनम्, ३. सीमन्तोन्नयनम्, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमणम्, ७. अन्नप्राशनम्, ८. कर्णवेधः, ९. चूडाकर्म, १०. उपनयनम्, ११. वेदारम्भः, १२. समावर्त्तनम्, १३. विवाहः, १४. वानप्रस्थः, १५. संन्यासः, १६. अन्त्येष्टिकर्म।

गृहाश्रमविधि, पञ्चमहायज्ञ तथा शालाकर्मविधि विवाहोत्तर गृहस्थ-जीवन के आवश्यक अङ्ग हैं। रूढ़ अर्थ में भले ही उन्हें संस्कार कह दिया जाए, मानव के नव-निर्माण की योजना के अन्तर्गत उन्हें संस्कार नहीं माना जा सकता। संस्कार तो सोलह ही हैं।

संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में ग्रन्थकार के उसकी भूमिका में लिखे इन शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है—

"जो विषय प्रथम अधिक लिखा था, उसमें से अधिक उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है और अब की बार जो-जो अत्यन्त उपयोगी विषय है, वह-वह, अधिक लिख दिया है। इसमें यह न समझा जावे कि प्रथम युक्त न था और युक्त छूट गया था। उसका संशोधन किया है।"

यदि उन्होंने गृहाश्रम की अपेक्षा वानप्रस्थाश्रम को अधिक महत्त्वपूर्ण समझकर गृहाश्रम

को विवाह के अन्तर्गत करके वानप्रस्थ को संन्यास से पृथक् कर दिया तो उसे उचित ही कहा जाएगा। 'कर्णवेध' के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

संस्कार स्मार्तकर्म है। स्मृतिकारों के समान सूत्रकार आचार्य भी अपने-अपने समय में देशकालानुकूल संस्कारों का विधान करते आये हैं। जैसे प्राचीनकाल में ऋषियों ने विधियाँ लिखीं वैसे ही ऋषिपद्धत्यनुसर्ता वेदवेदाङ्ग तत्त्वज्ञ आचार्यप्रवर ऋषि दयानन्द ने भी देशकालानुकूल कतिपय संस्कारों को मुख्य और अन्य साधारण संस्कारों को गौण समझकर उन्हें मुख्य संस्कारों के अन्तर्गत रक्खा।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञाविषय में ऋषि दयानन्द ने लिखा है—"**एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते; न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया उच्यत इति।**" इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, प्रायः प्राचीन ऋषि-मुनियों एवम् आचार्यों की मान्यताओं तथा परम्पराओं के आधार पर ही लिखा है तथापि अपने स्वल्प ज्ञान के कारण हमें कहीं-कहीं ऐसी बातें भी मिलती हैं जो प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। ऐसी अवस्था में हमारा मार्ग-दर्शन महर्षि जैमिनि ने किया है। प्राचीन कल्पशास्त्र (श्रौत-स्मार्त-गृह्यसूत्र) के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में उन्होंने लिखा है—"**विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।**" (मीमांसा० १।१।३) अर्थात् कल्पशास्त्र की जो विधियाँ वेदवचन के विरुद्ध हैं, उनकी उपेक्षा करनी चाहिए—उन्हें प्रमाण नहीं मानना चाहिए, किन्तु जो वेदाविरुद्ध हों, अर्थात् जिन विधियों के विरुद्ध वेदवचन साक्षात् उपलब्ध न हों, उनमें अनुमान करना चाहिए कि उन्होंने उक्त विधियाँ किन वेदवचनों के आधार पर लिखी हैं। इस न्याय के अनुसार अनुपलभ्यमान प्रमाणमूलक शास्त्रविरुद्ध ग्रन्थकार के वचनों के सम्बन्ध में यह मानकर कि उक्त बातें भी किसी आधार पर लिखी हैं, उस आधार की खोज करनी चाहिए। दोनों में यदि विरोध दृष्टिगत हो तो उसपर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करना चाहिए। वह शास्त्रीय पद्धति क्या है? इसका उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि देते हैं—"**पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति।**" (महा० १।१ ऋऌक्सूत्रभाष्य) अर्थात् वहाँ पक्षान्तर मानकर परिहार (समाधान) करना चाहिए।

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ऋषि दयानन्द भी उसी कोटि के आप्तपुरुष हैं, जिस कोटि के गृह्यसूत्रकार। ऋषि दयानन्द ने धर्माधर्म का निश्चय करने में ब्रह्मा से जैमिनि तक को प्रमाण माना है। हम ब्रह्मा से दयानन्द पर्यन्त को प्रमाणकोटि में रखते हैं। वस्तुतः '**वर्त्तमाने दयानन्दीयविधिरुत्तमः।**'

पुस्तकों को देखकर स्वयं लिखने तथा स्मृति से बोल-बोलकर किसी से लिखवाने में बड़ा अन्तर होता है। यह सब जानते हैं कि ऋषि के ग्रन्थों में अधिकांश बोल-बोलकर पण्डितों से लिखवाया हुआ है। लेखक न तो वैसे विद्वान् थे और न ऋषि के प्रति ईमानदार। कुछ अविश्वसनीय व्यक्तियों का जान-बूझकर अन्यथा लिख देना, कुछ लेखकों की अन्यमनस्कता के कारण ऋषि के कथन को यथायथ न लिख पाना, कुछ लिपिकारों का कुछ-का-कुछ लिख जाना, कुछ प्रूफ़रीडरों की अनर्हता अथवा असावधानी और कुछ स्वामीजी की अत्यधिक व्यस्तता के कारण उनका इस ओर पूरी तरह ध्यान न दे पाना—इन सब कारणों से उन-जैसे मनीषी के ग्रन्थों का जैसा मुद्रण होना चाहिए था, वैसा नहीं हो सका, किन्तु इस प्रकार हुई अशुद्धियों के लिए ग्रन्थकार को दोषी नहीं ठहराया

जा सकता, परन्तु कारण चाहे कुछ भी हों भूल-को-भूल तो मानना ही चाहिए। इस प्रकार कुछ लेखन-काल में और कुछ मुद्रण-काल में हुए दोषों के कारण उनके ग्रन्थों में यत्र-तत्र अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक था। उन दोषों का परिमार्जन करना अथवा यथासम्भव उनका स्पष्टीकरण करना सुधीजनों का दायित्त्व है।

स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वसम्पादित ''ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार'' की भूमिका में लिखा था—''पं० ज्वालादत्त के पत्रों से न केवल यह विदित होता है कि ऋषि दयानन्द के नाम से जो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, उनमें बहुत कुछ हाथ अन्य पण्डितों का था जिसके कारण उनके ग्रन्थों में अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ रह गई हैं; बल्कि यह भी पता चलता है कि इन लोगों के परस्पर के राग-द्वेष तथा अन्तरीय कुटिलभावों के कारण भी उस महान् आत्मा के उद्देश्य को बहुत कुछ हानि पहुँचती रही है।''

इस प्रकार तथा अन्यथा हुए सभी प्रक्षेपों का निराकरण करने के उद्देश्य से स्वामीजी ने संवत् १९३५ में ऋग्वेद और यजुर्वेदभाष्य के अंक १ और २ के टाइटल पेज पर एक विज्ञापन छपवाया था जिसका प्रकृत से सम्बद्ध अंश इस प्रकार था—

''सबको विदित हो कि जो-जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं उनको मैं मानता हूँ, विरुद्ध बातों को नहीं। इससे जो-जो मेरे बनाये सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृत्यादि पुस्तकों के बहुत-से वचन लिखे हैं, वे उन-उन ग्रन्थों के मतों को जताने के लिए लिखे हैं। उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूँ।''

—पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ १५४।

इस विज्ञापन से सिद्ध है कि संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में शतपथ व गृह्यसूत्रों के जिन वचनों में मांसभक्षण का उल्लेख है, उन्हें वे वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण मानते हैं।

मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना पर विचार करते समय ऋषि ने उपस्थित जनसमुदाय से कहा था—''जो आप लोगों का अन्न खाता हूँ, इसके बदले जो सत्य समझता हूँ, उसका निर्भयता से उपदेश करता हूँ। इतना लक्ष्य में रखना कि मेरा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है, और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। इससे यदि कोई मेरी भी ग़लती पाई जाए, तो युक्तिपूर्वक परीक्षा करके इसको भी सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह भी एक मत हो जाएगा''।

— पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ८।

श्रावणशुक्ला १३ संवत् १९३७ (१८ अगस्त, १८८०) को स्वामीजी ने मुंशी बख्तावरसिंह के नाम एक पत्र में लिखा—

''मुंशी बख्तावरसिंहजी ! आनन्दित रहो।

जो संस्कृतवाक्यप्रबोध पर पुस्तक छपवाया है, सो बहुत ठिकानों में उसका लेख अशुद्ध है और कै एक ठिकानों में संस्कृतवाक्य-प्रबोध में अशुद्ध भी छपा है। इस अशुद्धि के तीन कारण हैं। एक—शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना। दूसरा—भीमसेन के अधीन शोधने का काम होना और मेरा न देखना और न प्रूफ़ को शोधना। तीसरा—छापेखाने में उस समय कोई बुद्धिमान् कम्पोजीटर न होना। लैम्पों की न्यूनता होना''। —(दयानन्द सरस्वती)

यह सारा पत्र ऋषि के अपने हाथ का लिखा हुआ है और रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़

के संग्रह में सुरक्षित है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर किये गये पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न के आक्षेपों के उत्तर में लिखी गई पुस्तक 'भ्रान्तिनिवारण' में स्वामीजी लिखते हैं—''अब यज्ञ शब्द पर टिप्पणी लिखते हैं कि 'यज्ञ' और 'देव' शब्द को मिलाकर लिखा है। सो बात नहीं है, क्योंकि यह लेखक (लिपिकर्त्ता या पाण्डुलिपि-लेखक) और यन्त्रालय (मुद्रक) का दोष है।''

महर्षि दयानन्द के समकालीन स्वामी दर्शनानन्दजी ने भी लिखा है—''स्वामी दयानन्द की पुस्तकों में भीमसेन आदि पण्डितों की कृपा से जितनी अशुद्धियाँ हुई है, उन्हें ऋषि दयानन्द ने छपी हुई दशा में देखा भी नहीं।''

'गोकरुणानिधि' की भूमिका के अन्त में ऋषि ने लिखा है—

''इस ग्रन्थ में जो कुछ अधिक, न्यून वा अयुक्त लेख हो उसे बुद्धिमान् लोग इस ग्रन्थ के तात्पर्य के अनुकूल कर लेवें।''

कहाँ ऋषि दयानन्द के ये लेख जिनमें वे निःसंकोच अपने ग्रन्थों में मुद्रणकाल में हुई अशुद्धियों को स्वीकार करते हैं और कहाँ आजकल के तथाकथित विद्वान् जो अपने को ऋषिभक्त सिद्ध करने के लिए उनके ग्रन्थों में विद्यमान स्पष्ट अशुद्धियों को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। यही नहीं, ऋषि का अनुकरण करते हुए उनकी भावना के अनुरूप उनके कार्य को आगे बढ़ाने में प्रवृत्त विद्वज्जनों को ऋषि-द्वेषी घोषित करने में गर्व अनुभव करते हैं, तथापि यह सन्तोष का विषय है कि वे भी उनका अनुकरण करते हुए चुपचाप अपने प्रकाशनों में संशोधन करते जा रहे हैं।

ऋषि के ग्रन्थों का अध्ययन एवम् आलोडन करते समय इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। इसके बिना सत्यासत्य का निर्णय करना कठिन है। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के अध्ययन में जीवन-भर सर्वात्मना समर्पित होकर उन्हें यथासम्भव शुद्धरूप में प्रस्तुत करने का जो ऐतिहासिक कार्य महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने किया है, उसका मूल्यांकन वही कर सकते हैं जो उसके महत्त्व को जानते हैं। 'संस्कारभाष्कर' में संस्कारविधि का मूल प्रायः उन्हीं के द्वारा सम्पादित-संस्करण-पाठानुसारी है। इस भाष्य के लिखने में उनकी टिप्पणियाँ बहुत सहायक सिद्ध हुई हैं।

संस्कारविधि की व्याख्या करने के लिए सर्वाधिक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पहली बार सन् १९१२ में 'संस्कारचन्द्रिका' के नाम से लिखा गया था। इस कालजयी ग्रन्थ के लेखक मास्टर आत्माराम, अमृतसरी थे। कुछ समय पूर्व इसी नाम से एक ग्रन्थ आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने लिखा। इन दोनों ग्रन्थों से मैंने पर्याप्त लाभ उठाया है। श्री स्वामी मुनीश्वरानन्दजी की लिखी 'शंकासमाधान लेखमाला' नामक एक छोटी-सी पुस्तक से भी पर्याप्त सहायता मिली है। इन विद्वद्वरेण्य आचार्यों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। अनेक समाधेय स्थलों का स्पष्टीकरण करने में जिन विद्वज्जनों का सहयोग मुझे मिला है उनमें डॉ० रामनाथ वेदालंकार, पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय तथा आचार्य रविदत्त शास्त्री दिल्ली के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। मैं उन सबका आभारी हूँ।

यह दुरूह कार्य मैं न कर पाता यदि पूज्य स्वामी सर्वानन्दजी सरस्वती का आशीर्वाद

न मिलता। एतदर्थ शब्दों में उनके प्रति आभार व्यक्त करना उसका अवमूल्यन करना होगा।

संस्कारविधि के अनेक स्थल सदा से अस्पष्ट एवं विवादास्पद रहे हैं। मैंने उन्हें यथामति स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उन्हें अन्तिमेत्थम् के रूप में स्वीकार किये जाने का मेरा कोई आग्रह नहीं है। मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ, परन्तु अल्पज्ञ होने पर भी यथामति मुझे अपनी बात कहने का जन्मसिद्ध अधिकार है। वैसा ही अधिकार उसे मानने न मानने का पाठकों को प्राप्त है।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः। निन्दन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

सुधीजन मेरी भूलों का परिमार्जन करके उसे संशोधित रूप में बहुजनहिताय प्रस्तुत करें, यही मेरा उनसे अनुरोध है। ईर्ष्या-द्वेष आदि के कारण छिद्रान्वेषण आसान है, परन्तु छिद्रों को भरना अथवा सर्वथा छिद्ररहित नया भवन खड़ा करना वैसा आसान नहीं है। **''धियो यो नः प्रचोदयात्''**—सबको सन्मति दे भगवान्।

डी-१४।१६, माडल टाउन, दिल्ली-९ विदुषां वशंवदः

१ जून, सन् १९९३ **—विद्यानन्द सरस्वती**

उपक्रम

समिधा—शतपथब्राह्मण (१।३।३।१९-२०) में लिखा है—

''ते वै पालाशाः स्युः। ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्माऽग्निरग्नयो हि तस्मात्पालाशाः स्युः। यदि पालाशान्न विन्देत्। अथोऽअपि वैकङ्कताः स्युर्यदि वैकाङ्कान्न विन्देदथोऽअपि कार्ष्मर्यमयाः स्युर्यदि कार्ष्मर्यमयान्न विन्देदथोऽपि बैल्वाः स्युरथो खादिराऽअथोऽऔदुम्बरा एते हि वृक्षा यज्ञियास्तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति।''

समिधा पलाश की होनी चाहिएँ। पलाश ब्राह्मण है, अग्नि भी ब्राह्मण है, इसलिए अग्नियाँ पलाश की होनी चाहिएँ। यदि पलाश न मिले तो विकंकत (वंज) की, विकंक की न हों तो कार्ष्मर्य की, कार्ष्मर्य की न हों तो बेल की या खदिर की या उदुम्बर की। ये ही वृक्ष यज्ञ के योग्य हैं। इन्हीं की परिधियाँ=समिधाएँ लेनी चाहिएँ।

पलाश के अभाव में क्रमशः इन्हीं वृक्षों का उल्लेख आह्निकसूत्रावली में किया गया है—**''पलाशाभावे वैकङ्कतः, तदभावे कार्ष्मर्यः, तदभावे बैल्वो वा खादिरोः।''**

'आह्निकसूत्रावली' में समिधा के वृक्षों के बारे में ये श्लोक हैं—

पलाशफल्गुन्यग्रोधप्लक्षाश्वत्थविकङ्कताः। उदुम्बरस्तथा बिल्वश्चन्दनो यज्ञियाश्च ये॥

सरलो देवदारुश्च शालश्च खदिरस्तथा। समिधार्थे प्रशस्ताः स्युरेते वृक्षा विशेषतः॥

पलाश (ढाक, खांकरा), फल्गु, वट, पीपल, विकङ्कत (वंज), गूलर, चन्दन, सरल, देवदारु, साल, खैर तथा अन्य यज्ञीय वृक्ष—ये समिधा के प्रयोजन के लिए विशेष उपयोगी हैं।

कुछ लोग नीम की समिधा यज्ञ में डालते हैं, परन्तु उसका प्रयोग किसी ग्रन्थ में नहीं है। दुर्गन्धयुक्त होने से भी यह अग्राह्य है।

वायुपुराण में यज्ञ में उपयोगी वृक्ष इस प्रकार गिनाये हैं—ढाक, काकप्रिया (जिसे बङ्गभाषा में यज्ञ-डभर नाम से पुकारते हैं), बड़, पिलखन, पीपल, विकङ्कत (जिसे बङ्गभाषा में वइची कहते हैं), गूलर, बेल, चन्दन, देवदारु, शाल, खैर तथा और भी जिन्हें वृद्ध याज्ञिक लोग बतावें, ऐसे काँटेदार वृक्ष उपयोग में आते हैं।

जो लकड़ी जलने में अधिक धुआँ और दुर्गन्धि न दे, वही उत्तम होती है। देश-काल के अनुसार समिधाओं में अन्तर हो सकता है। अफ़ग़ानिस्तान, बिलोचिस्तान आदि देशों में बादाम की लकड़ी भी समिधा का काम दे सकती है। इंगलैण्ड आदि में शाहबलूत की, जर्मनी में लेवेंडर और इटली में यूकलिप्टस की समिधाओं से यज्ञ किया जा सकता है। आह्निकसूत्रावली के अनुसार यथासम्भव फाड़ी हुई लकड़ी का प्रयोग नहीं करना चाहिए। बिना त्वचा (छाल) की लकड़ी तेज व प्रभावहीन होती है—**'प्राणघ्नो निस्त्वचः स्मृताः'**। त्वचारहित समिधा को प्राणों की वृद्धि करने की बजाय प्राणों की हानि करनेवाली कहा है। समिधा के त्वचाभाग में प्राणतत्त्व रहता है, त्वचाहीन भाग में कार्बन डाइ-आक्साइड रह जाता है। फटी हुई लकड़ी

को दोषयुक्त बतलाते हुए कहा है—**'द्विदला हि व्याधिसम्भवा'** अर्थात् दो फाड़ की हुई समिधा रोगों को उत्पन्न करती है।

हविर्द्रव्य अथवा सामग्री—यजुर्वेद (३।१) में कहा है—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥

समिधाओं से यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करो। पुनः उस अतिथिरूप अग्नि को घृत से प्रबुद्ध करो और इस प्रकार प्रदीप्त अग्नि में उत्तमोत्तम हवि की आहुतियाँ प्रदान करो।

इस मन्त्र में सब प्रकार के हविर्द्रव्यों में घृत की प्रधानता तो बता दी गई है। शेष द्रव्य कौन-से हैं, इस विषय में श्री देवराज विद्यावाचस्पति ने स्वरचित 'अग्निहोत्र' में श्री गंगासहाय द्वारा प्रकाशित 'होमपद्धति' से निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

सुरभीणि सुपुष्टाश्च कारकाणि सितादिकम्।
द्रव्याण्यादाय जुहुयाच्चातुर्थं रोगनाशकम्॥

इस श्लोक में वेदानुकूल १. सुगन्धित, २. पुष्टिकारक, ३. मिष्ट और ४. रोगनाशक द्रव्यों से होम का विधान पूर्व से ही प्रमाणित होता है। ग्रन्थकार ने उनका विवरण प्रस्तुत कर दिया है।

जैसे कुशल चिकित्सक रोगनिदानानुसार द्रव्यगुण-विज्ञान को जानकर तदनुसार ओषधिविशेष का प्रयोग कर रोगी को स्वस्थ बनाता है, उसी प्रकार जब जिस प्रकार के हव्य-द्रव्यों की आवश्यकता हो तब उसी प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग करके व्यक्तिविशेष या बाह्य वातावरण को लाभान्वित किया जा सकता है। पुत्रेष्टियज्ञ, वृष्टियज्ञ, रोगविशेष की चिकित्सा के लिए किये जानेवाले यज्ञों में वृक्षविशेष की लकड़ियों का प्रयोग भी अपेक्षित होता है। जलवायु की शुद्धि करना यज्ञ का विशेष प्रयोजन सर्वविदित है। इसलिए सामग्री का भी ऋत्वनुकूल बनाना आवश्यक है।

प्रत्येक ऋतु के लिए पृथक्-पृथक् होमसामग्री विशेष उपयोगी है। कई वर्ष हुए, छहों ऋतुओं—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर के लिए पृथक्-पृथक् हवनसामग्री के योग रावलपिण्डी निवासी कविराज पं० सीतारामजी वैद्य ने आर्यजन्त्री में प्रकाशित कराये थे। उनके प्रत्येक द्रव्य को कई वैद्यक निघण्टुओं में देखा गया है और उनमें से जो पदार्थ अलभ्य पाये गये वा जिनका निघण्टुओं में भी पता नहीं लगा, उन्हें इन योगों में से निकाल दिया गया है तथा इन योगों के प्रत्येक द्रव्य की तारतम्यानुसार मात्रा भी नियत की गई है। इस प्रकार उक्त योगों को परिमार्जित और संशोधित करके नीचे लिखा जाता है तथा एक योग सर्वऋतुओं के लिए सामान्य हवनसामग्री का भी दिया जाता है। आर्य-पुरुष उन्हें अपने-अपने वित्त, श्रद्धा, उत्साह और सुभीते के अनुसार काम में ला सकते हैं। कहीं-कहीं हवनसामग्री के बनाने में बड़ी असावधानता की जाती है। पंसारी लोग जैसे गले-सड़े द्रव्य दे देते हैं, उन्हीं को सामग्री बनाकर होम दिया जाता है। होम धार्मिक कृत्य है, उसे श्रद्धा और सावधानीपूर्वक करना चाहिए। आहवनीय द्रव्यों का संग्रह बड़ी छान-बीन और सावधानी से करना उचित है। पर्वों पर सदैव यथाशक्ति उत्साहपूर्वक नवीन सामग्री तैयार करके काम में लानी चाहिए। सामग्री का परिमाण भी अपने वित्त और श्रद्धा के अनुसार ही हो सकता है। धनाढ्यों को

श्रावणी और नवसस्येष्टियों (दीपावली और होली) पर ऋतु-अनुकूल सामग्री तथा स्थालीपाक से प्रचुर परिमाण में होम-यज्ञ करना चाहिए। आहुतियों का परिमाण भी बढ़ा देना उचित है, जो कम-से-कम छह ग्राम और अधिक-से-अधिक पचास ग्राम तक हो सकता है। आहुतियों की संख्या भी बढ़ाई जा सकती है। नियत विधान के अतिरिक्त स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, गायत्रीमन्त्र, यजुर्वेद और अथर्ववेद के सौमनस्य और ब्रह्मचर्य आदि उत्तमोत्तम सूक्तों से विशेष आहुतियाँ दी जाएँ।

ऋत्वनुकूल हवनसामग्री

वसन्त-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	छरीला	भूरिछरीला	१२
२	तालीस-पत्र	....	१२
३	पत्रज	....	१२
४	मुनक्का	दाख	३०
५	लज्जावती (पञ्चांग)	छुईमुई	६
६	शीतलचीनी	....	१२
७	कर्पूर	....	१५
८	देवदारु	दयार	३०
९	गिलोय	....	३०
१०	अगर	....	१२
११	केसर	....	१
१२	इन्द्रजौ	....	१२
१३	गुग्गुल	....	३०
१४	चन्दन (श्वेत, लाल, पीला)	....	३६
१५	जावित्री	....	२
१६	जायफल	....	१२
१७	धूपसरल	एक सुगन्धित-द्रव्य लाहौर आदि से प्राप्य	३०
१८	पुष्करमूल (पोहकरमूल)	रेशेदार काले रङ्ग की कड़वी जड़। इसके बदले में कूट लिया जा सकता है	१२
१९	कमलगट्टा	....	१२
२०	मजीठ	....	१२

२१	वनकचूर	कपूरकचरी	१२
२२	दालचीनी	....	१२
२३	गूलर की छाल सूखी	....	३०
२४	तेजबल (छाल और जड़)	छाल और जड़ का स्वाद कुछ चरपरा, छाल का रङ्ग पिलापी लिये हुए श्वेत, हरिद्वार और बद्रीनाथ के निकट इसके वृक्ष होते हैं	१२
२५	शंखपुष्पी (पञ्चांग)	हिन्दी नामान्तर शंखाहुली तथा कौड़ियाली	६
२६	चिरायता	....	१२
२७	खस	....	१२
२८	गोखरू	....	१२
२९	खाँड वा बूरा	....	९०
३०	गोघृत	....	६०
		योग	६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार शमी (जण्ड) की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाए।

ग्रीष्म-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	सुरा	संस्कृतनाम तालपर्णी और मुरामांसी	१२
२	बायबिडंग	....	१२
३	कपूर	....	१५
४	चिरौंजी	....	३०
५	नागरमोथा	....	१२
६	पीला चन्दन	(कलम्बक)	१२
७	छरीला	भूरिछरीला	१२
८	निर्मलीफल	इसमें पानी के स्वच्छ करने का गुण है	१२
९	सतावर	संस्कृतनाम शतावरी	१२
१०	खस	....	१२

११	गिलोय	....	१२
१२	धूपसरल	एक सुगन्धित काष्ठ पञ्जाब से प्राप्य	१२
१३	दालचीनी	....	१२
१४	लवङ्ग	लौंग	१२
१५	गुलसुर्ख	गुलाब के फूल की पत्तियाँ	३२
१६	चन्दन	....	२४
१७	तगर	....	१२
१८	तुम्बरु	....	३०
१९	सुपारी	....	३०
२०	तालीसपत्र	....	१२
२१	पद्माख	एक प्रकार का काष्ठ जिसका बड़ा वृक्ष हिमालय में होता है	१२
२२	दारु हल्दी	....	१२
२३	लाल चन्दन	....	१२
२४	मजीठ	....	१२
२५	शिलारस	एक वृक्ष का पिलापी लिये हुए, भूरा गोंद है, वृक्ष विही के सदृश होता है। संस्कृत नाम सिल्हक, फारसी में मैया तथा अंग्रेजी में Storax कहते हैं	१४
२६	केसर	....	१
२७	जटामाँसी	हिन्दी नामान्तर बालछड़	१२
२८	नेत्रबाला	नाली शाक	१२
२९	इलायची बड़ी	....	१२
३०	उन्नाब	....	१२
३१	आँवले	....	१२
३२	खाँड या बूरा	....	९०
३३	घृत	....	६०
			योग ६००

वर्षा-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	काला अगर	....	१२
२	इन्द्रजौ	....	१२
३	धूपसरल	एक सुगन्धयुक्त काष्ठ पञ्जाब से प्राप्य	१२
४	तगर	....	१२
५	देवदारु	....	३०
६	गुग्गुल	....	३०
७	राल	....	३०
८	जायफल	....	१२
९	गोला	....	३०
१०	तेजपत्र	तज के पत्तों के समान होते हैं	१२
११	कपूर	....	१२
१२	बेल	संस्कृत बिल्व	१२
१३	जटामाँसी	बालछड़	३०
१४	छोटी इलायची	....	६
१५	वच	....	३०
१६	गिलोय	....	१२
१७	तुलसी के बीज तथा पत्ते	....	१२
१८	बायबिडंग	....	१२
१९	श्वेतचन्दन का चूरा	....	३०
२०	नागकेसर	....	१२
२१	चिरायता	....	१२
२२	छुहारे	....	३०
२३	शङ्खाहुली	....	६
२४	मोचरस	सेमल का गोंद	१२
२५	नीम के पत्ते	....	३०
२६	गोघृत	....	६०
२७	खाँड या बूरा	....	९०
		योग	६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार ढाक की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाए।

शरद्-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	चन्दन सफेद	....	३०
२	चन्दन सुर्ख	....	१२
३	चन्दन पीला	....	१२
४	गुग्गुल	....	३०
५	नागकेसर	....	१२
६	इलायची बड़ी	....	१२
७	गिलोय	....	१२
८	चिरौंजी	....	३०
९	गूलर की छाल	....	
	वा सरसों (सर्षप)	श्वेत	३०
१०	दालचीनी	....	३०
११	कपूरकचरी	....	३०
१२	मोचरस	सेमल का गोंद	१२
१३	पित्तपापड़ा, शाहतरा,	इसके क्षुप लाल और नीले फूल के दो प्रकार के होते हैं, लाल फूल का अधकि गुणवाला है, संस्कृत पर्पट	१२
१४	अगर	....	१२
१५	भारङ्गी	....	१२
१६	इन्द्रजौ	....	१२
१७	असगन्ध	....	१२
१८	शीतलचीनी	....	१२
१९	जायफल	....	१२
२०	पत्रज	....	१२
२१	चिरायता	....	१२
२२	केसर	....	१
२३	किशमिश	....	३५
२४	जटामाँसी	बालछड़	३०
२५	तालमखाना	इसके काँटेदार क्षुप वर्षा-ऋतु में तालों में होते हैं	१२

२६	सहदेवी	हिन्दी नामान्तर सहदेई, तुलसी के समान पत्तोंवाली एक घास है।	६
२७	धान की खील	....	१२
२८	कपूर	....	२२
२९	घृत	....	६०
३०	खाँड या बूरा	....	९०
			योग ६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार ढाक की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाए।

हेमन्त-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	कूट	....	१२
२	मूसली काली	....	१२
३	घोड़ावच	सफेदवच, घोड़ावच गुजराती नाम है।	१२
४	पित्तपापड़ा, शहतरा,	इसके क्षुप लाल और नीले फूल के दो प्रकार के होते हैं, लाल फूल का अधिक गुणवाला है, संस्कृत पर्पट।	१२
५	कपूर	....	१२
६	कपूरकचरी	संस्कृत, गन्धपलाशी, अरबी जरम्बाद, एक बेल है, इसकी जड़ को टुकड़े करके सुखा लेते हैं।	२४
७	गिलोय	....	१२
८	पटोलपत्र	हिन्दी नाम परवल	१२
९	दालचीनी	....	१२
१०	भारङ्गी	....	१२
११	सौंफ	....	१२
१२	मुनक्का	....	२०
१३	गुग्गुल	....	३०
१४	अखरोट की गिरी	....	२४

१५	पुष्करमूल	....	१२
१६	छुहारे	....	३०
१७	गोखरू	....	१२
१८	कौंच के बीज,	हिन्दी कौंच	६
१९	बादाम	....	१२
२०	मुलहठी	....	१२
२१	काले तिल	....	३०
२२	जावित्री	....	१२
२३	लाल चन्दन	....	१२
२४	मुश्कबाला	....	६
२५	तालीसपत्र	....	१२
२६	गोला	....	३०
२७	तुम्बरु	....	३०
२८	खाँड या बूरा	....	९०
२९	गोघृत	....	६०
३०	रासना	बंगदेश के प्राचीन आम्र आदि वृक्षों पर इसकी जड़ वृक्ष की छाल के ऊपर जमी रहती है, फूल नीला, बैंजनी, छींटेदार।	६
		योग	६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार आम या खैर की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाए।

शिशिर-ऋतु

संख्या	नाम	विवरण	भाग
१	अखरोट	....	२४
२	कचूर	कपूरकचरी का एक प्रकार है	१२
३	बायबिडंग	....	१२
४	इलायची बड़ी	....	१२
५	मुलहठी	....	१२
६	मोचरस	सेमल का गोंद	१२
७	गिलोय	....	१२
८	मुनक्का	....	३०

९	रेणुका (संभालू)	....	६
१०	काले तिल	....	२४
११	तज	....	१२
१२	चन्दन	....	२४
१३	चिरायता	....	१२
१४	छुहारे	....	२४
१५	तुलसी के बीज तथा पत्ते	....	१२
१६	गुग्गुल	....	३०
१७	चिरौंजी	....	१२
१८	काकड़ासींगी	....	१२
१९	सतावर	संस्कृत नाम शतावरी	१२
२०	दारु हल्दी	....	१२
२१	शङ्खपुष्पी	....	६
२२	पद्माख	....	१२
२३	कौंच के बीज	....	६
२४	जटामाँसी	....	३०
२५	भोजपत्र	....	६
२६	तुम्बरु	तूम्बूर	३०
२७	राल	....	३०
२८	सुपारी	....	१२
२९	घी	....	६०
३०	खाँड या बूरा	....	९०
			योग ६००

नोट—इस ऋतु में सुलभतानुसार गूलर तथा बड़ की समिधाओं का प्रयोग विशेषतः किया जाए।

सर्व-ऋतु-सामान्य हवनसामग्री

संख्या	**नाम**	**विवरण**	**भाग**
१	सफेद चन्दन का चूरा	....	२४
२	अगर	....	१५
३	तगर	....	१५
४	गूगल	....	३०
५	जायफल	....	७

६	जावित्री	....	७
७	दालचीनी	....	१५
८	तालीसपत्र	....	१५
९	पानड़ी	....	१५
१०	लौंग	....	१५
११	बड़ी इलायची	....	१५
१२	गोला	....	३०
१३	छुहारा	....	३०
१४	नागरमोथा	....	१५
१५	गुलसुर्ख	....	३०
१६	इन्द्रजौ	....	१५
१७	कपूर	....	१५
१८	आँवला	....	१५
१९	किशमिश	....	३०
२०	बालछड़	....	३०
२१	नागकेसर	....	७
२२	तुम्बरु	तूंबूर	३०
२३	सुपारी	....	३०
२४	नीम के पत्ते या राल	(राल—साल का गोंद)	३०
२५	बूरा वा खाँड	....	६०
२६	घी	....	६०
			योग ६००

नोट—(१) ऊपर कोई विशेष तोल न लिखकर भाग इसलिए लिखे गये हैं कि यथेष्ट कम-से-कम और अधिक-से-अधिक तोल में सामग्री बनाई जा सके। जैसे यदि एक किलो दो सौ ग्राम सामग्री बनानी हो तो १ भाग २ ग्राम का होगा।

(२) कपूर, घृत, खाँड, मेवे और पञ्चाङ्गवाली ओषधियाँ हवन के समय तुरन्त मिलानी चाहिएँ।

पं० आत्मारामजी ने स्वरचित संस्कारचन्द्रिका में लिखा है कि घृत, दूध, फल, कन्द आदि पुष्टिदायक पदार्थ हैं। सुगन्धित तथा पुष्टिकारक पदार्थ यदि बिना घृत मिलाये अग्नि में जलाये जाएँ तो उनकी सुगन्ध में तीव्रता और सूखापन होने से जुकाम आदि रोग हो सकते हैं। घृत मिलाये जाने पर किसी प्रकार के रोगों की आशंका नहीं रहती और सुगन्ध भी मर्यादित हो जाती है। घी का यह भी गुण है कि वह एक रोगनाशक पदार्थ है और अग्नि को प्रदीप्त भी करता है। बादाम, केसर, नाशपाती, नारियल का तेल आदि पुष्टिकारक पदार्थ हैं। इनके जलाने

से मिष्ट वायु में फैलकर जहाँ अनेक रोगों को दूर करते हैं, वहाँ शरीर को पुष्ट कर बल भी प्रदान करते हैं।

होम के उपर्युक्त चार द्रव्यों का निर्देश उनकी गुणवत्ता के आधार पर तात्त्विक दृष्टि से किया गया है। आजकल गुणवत्ता की उपेक्षा करके मात्रा या परिमाण पर अधिक ध्यान दिया जाता है। परिणामतः अपेक्षित फल की प्राप्ति नहीं होती। केसर और कस्तूरी के बिना भी विधिवत् निर्मित सामग्री वर्त्तमान में ४०-४५ रुपये किलो से कम में नहीं मिल सकती। तब ८-१० रुपये किलोवाली सामग्री में क्या होगा? ऐसी एक किलो सामग्री के स्थान पर विधिवत् बनी शुद्ध पचास ग्राम सामग्री से यज्ञ करने से अधिक लाभ होगा।

ऋत्विज—ऋग्वेद् (१०।७१।११) में ऋत्विजों के सम्बन्ध में लिखा है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥

एतदनुसार चार प्रकार के ऋत्विज् होते हैं—(१) ऋचाओं का पोषण करनेवाला "होता" नामक ऋत्विज्, (२) ऋचाओं का गान करनेवाला उद्गाता, (३) यज्ञ की मात्रा निर्धारित करनेवाला अध्वर्यु, (४) यज्ञ का संचालन करनेवाला ब्रह्मा।

होता का काम यज्ञ की रूपरेखा तैयार करना और तदनुसार उसे विधिवत् सम्पन्न कराना होता है। होता वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठता है। अध्वर्यु वेदी के उत्तर में दक्षिणाभिमुख बैठता है। विधि में किसी प्रकार की त्रुटि न होने पाये, यह देखना अध्वर्यु का काम है। इसलिए उसे सतत जागरूक रहना पड़ता है। उद्गाता का काम मन्त्रों का शुद्ध व सुस्वर पाठ करना होता है। उसे उद्गाता इसलिए कहते हैं, क्योंकि उसके साथ मिलकर ही सब लोग उच्च स्वर में मन्त्रों का गान करते हैं। ब्रह्मा का काम मौन रहकर सारी विधि का निरीक्षण करते रहना होता है। कहीं कोई त्रुटि होने पर कार्य को बीच में रोककर त्रुटि की ओर संकेत करना और उसे ठीक कराना ब्रह्मा का काम होता है, अन्यथा वह चुपचाप सब-कुछ देखता रहता है—"**अकुर्वन्नभिचाकशीति**"।

यजमान—किसी संकल्प या प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर वह यज्ञ का अनुष्ठान करता है, इसलिए उसका आसन पश्चिम दिशा में होता है और वह पूर्वाभिमुख बैठता है। यजमान-पत्नी प्रायः उसके दक्षिण में बैठती है।

पुरोहित—ग्रन्थकार का निश्चित मत है कि 'धर्मात्मा, शास्त्रोक्त विधि को पूर्ण रीति से जाननेहारे, सद्धर्मी, निर्व्यसनी, सुशील, वेदप्रिय, पूजनीय, सर्वोपकारी गृहस्थ की पुरोहित संज्ञा है।'

— संस्कारविधि, जातकर्म-संस्कार

यज्ञ और संन्यासी—सामान्यप्रकरण के आरम्भ में ऋत्विजों का लक्षण करते हुए उसमें वर्ण और आश्रम का उल्लेख नहीं हुआ है, परन्तु मनुस्मृति, रामायण, महाभारत, गीता आदि प्राचीन ग्रन्थों तथा सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि में जहाँ कहीं भी वर्णाश्रमों के कर्त्तव्यों का निर्देश हुआ है, वहाँ सर्वत्र याजन-कर्म केवल ब्राह्मण का कहा गया है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास—इन तीन आश्रमों के कर्त्तव्यों में भी कहीं याजन-कर्म का उल्लेख नहीं हुआ है, अतः ऋत्विक् तथा पुरोहित केवल गृहस्थ ब्राह्मण ही हो सकता है,

अन्य वर्णस्थ वा वानप्रस्थ नहीं।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वर्णाश्रम-विषय के अन्तर्गत संन्यासी के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

"शिखासूत्रादिकं हुत्वा, मुनिर्मननशीलः सन् प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति। पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद् बाह्य क्रियामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न।"

अर्थात् शिखासूत्रादि का होम करके मननशील होकर संन्यास ग्रहण करता है। पहले 'तीन आश्रमियों के अनुष्ठान करने योग्य जो बाह्य क्रियामय है वह सब संन्यासी के लिए नहीं है।

इतना ही नहीं, प्रथम तीन आश्रमियों के लिए विहित पंचमहायज्ञों का उल्लेख कर प्रकारान्तर से संन्यासी के लिए उनका निषेध करते हुए, उनके लिए विहित विशेष प्रकार के पंचमहायज्ञों का विधान करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—**"एवंलक्षणाः पंचमहायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम्"**—संन्यासी के लिए इस प्रकार के विज्ञान और धर्मानुष्ठानवाले ही पंचमहायज्ञ होते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

यज्ञोपवीत का सम्बन्ध बाह्य कर्मकाण्ड की अग्नियों से है। ग्रन्थकार के उपर्युक्त निर्देश के अनुसार संन्यासी इन अग्नियों और तत्सम्बन्धी बाह्य कर्मकाण्ड को त्याग देता है, अतः इन बाह्य यज्ञों का अधिकार प्रदान करनेवाले यज्ञोपवीत के अन्यथासिद्ध हो जाने से वह उसका परित्याग कर देता है।

शतपथब्राह्मण (२।६।१।१८) में स्पष्ट कहा है—

"ते सर्व एव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा इत्थाऽद्य यजमानश्च ब्रह्मा च पश्चात् परीतः पुरस्तादग्नीत्।"

अर्थात् ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, उद्गाता, यजमान आदि ये सब यज्ञोपवीती पश्चिम दिशा को चलते हैं और अग्नीत् पूर्व दिशा को।

इससे स्पष्ट है कि संन्यासी ब्रह्मा आदि कुछ भी बनेगा तो उसे यज्ञोपवीती होना पड़ेगा, अन्यथा विधिहीन होने से यज्ञ निष्फल हो जाएगा और यदि संन्यासी यज्ञोपवीत धारण करेगा तो वह संन्यास की दीक्षा लेते समय यज्ञोपवीत-त्याग की आश्रममर्यादा भङ्ग करने का दोषी होगा।

ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार भी 'यज्ञोपवीती एव याजयेत'। यहाँ आया 'एव' शब्द द्रष्टव्य है। इस वचन से यज्ञोपवीतधारी 'ही' यज्ञ कराने का अधिकारी है, अन्य, अर्थात् अयज्ञोपवीती कदापि नहीं। लाट्यायनश्रौतसूत्र में भी इसी मत का अनुमोदन करते हुए लिखा है—**"सर्वेषां यज्ञोपवीतोदकाचमने नित्ये कर्मोपयाताम्"**। (१।२।४) इसकी व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है—

"सर्वेषां उद्गातृप्रभृतीनां चतुर्णामपि आर्त्विजि उपक्रमवेलायां यज्ञोपवीतमुदकाचमनं च नित्यं कर्मोपयातां कर्म कुर्वताम्।"

अर्थात् यज्ञों में जो होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा आदि रूप से वरण किये गये ऋत्विज हैं उनको कार्य के आरम्भ में यज्ञोपवीत धारण, जल का आचमन आदि कार्य करने चाहिएँ।

यज्ञ में कुछ आहुतियाँ ब्रह्मा को भी देनी होती हैं। यज्ञ के अन्त में प्रायश्चित्ताहुति तो ब्रह्मा को अवश्य देनी पड़ती है। इसके बिना यज्ञ पूर्ण हुआ नहीं माना जाता और 'यज्ञोपवीती एव याजयेत' ऐतरेयब्राह्मण के इस वचन के अनुसार अयज्ञोपवीती आहुति दे नहीं सकता।

इसलिए अयज्ञोपवीती होने से संन्यासी यज्ञ का ब्रह्मा नहीं हो सकता।

ब्रह्मा द्वारा आहुति दिये जाने का विधान गोपथब्राह्मण में इस प्रकार किया है—

''यस्य चैवं विद्वान् ब्रह्मा दक्षिणत उदङ्मुख आसीनो यज्ञ आहुती जुहोतीति ब्राह्मणम्।''

यह प्रमाण ब्रह्मा के आहुति देने का विधान करते हुए प्रकारान्तर से संन्यासी की ब्रह्मा के पद पर नियुक्ति का निषेध भी करता है।

इस विषय में सार्वदेशिक धर्मार्यसभा द्वारा भी व्यवस्था दी हुई है, जो सार्वदेशिक सभा के ७७वें वार्षिक विवरण (वर्ष ८४-८५) में इस प्रकार अंकित है—

''१२. यज्ञ करना ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ तक ही है। संन्यास आश्रम में यज्ञ नहीं है। पुरोहित केवल गृहस्थ होता है—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी पुरोहित-कर्म नहीं करते हैं।''

जिस प्रकार वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों, स्मृतियों आदि में वर्णाश्रम-धर्म के अन्तर्गत ब्राह्मण के कर्त्तव्यों में यज्ञ करने-कराने तथा पौरोहित्य करने का विधान किया गया है, वैसा निर्देश संन्यासी के लिए कहीं नहीं मिलता। शास्त्र के विरुद्ध अपने आचरण का औचित्य सिद्ध करने के प्रयास में कुछ लोग द्रविड़ प्राणायाम करते देखे जाते हैं। **पञ्च जना मम होत्रं जुषन्ताम्।** (ऋ० १०।५३।५) में आये 'पञ्चजन' में वे चार वर्णों के साथ पाँचवें संन्यासी का ग्रहण करते हैं। 'पञ्चजन' से चार वर्ण और संन्यासी अभिप्रेत हैं, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता। गाय, भैंस आदि की गिनती में भेड़, बकरी जैसे तत्सदृश पशु की गणना तो की जा सकती है, मेज़, कुर्सी की नहीं। उसी प्रकार वर्णों के प्रसंग में वर्ण नहीं तो मनुष्यवर्ग के किसी वर्णसदृश विभाग का ग्रहण हो सकता है, आश्रम का नहीं। प्रायः विद्वानों ने कोशों में पाँचवें से निषाद का ग्रहण किया है।

उव्वट के अनुसार—''**चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमः पञ्चजनः तेषां यज्ञाधिकारोऽस्ति।**''

आप्टे ने निषाद का अर्थ किया है—''भारत की एक जंगली आदिम जाति, जैसे— मछुए, शिकारी आदि—'**मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः**' (रामा०) पतित-जाति का मनुष्य, एक वर्णसंकरजाति, विशेषकर शूद्रास्त्री से उत्पन्न ब्राह्मण का पुत्र (मनु० १०।८)। हमारा इस अर्थ के प्रति कोई आग्रह नहीं है, परन्तु वर्णों की गणना में संन्यासी नहीं आ सकता। यज्ञोपवीती न होने से संन्यासी को शूद्रकोटि में नहीं डाला जा सकता।

'यदि पौरोहित्य या यज्ञ के लिए कोई गृहस्थ न मिले तो संन्यासी के यज्ञ या संस्कार कराने में क्या आपत्ति है?' वस्तुतः यह बहानामात्र है। हमने एक गोष्ठी में ऐसा कहनेवाले दो प्रतिष्ठित संन्यासियों से पूछा—'क्या कभी अभ्यर्थी यजमान से आपने यह कहा है कि पहले आप किन्हीं गृहस्थ विद्वान् के पास जाएँ। कोई नहीं मिलेगा तो हम करा देंगे'। दोनों ने स्वीकार किया है कि हम ऐसा कभी नहीं करते। उन्हीं में से एक से हमने कहा कि अमुक स्थान पर आपने यज्ञ क्यों कराया जबकि वहाँ पर एक ऐसे गृहस्थ विद्वान् उपस्थित थे जो आपकी अपेक्षा कहीं बड़े विद्वान् थे। इसपर उनके पास कहने के लिए कुछ नहीं था। विवश हो मौन साध गये।

यज्ञादि करना-कराना ब्राह्मण का शास्त्रोक्त धर्म है। यह उसकी आजीविका भी है। उसपर एक भरे-पूरे परिवार के भरण-पोषण का दायित्व है। उसकी तुलना में एक संन्यासी की

आवश्यकताएँ सर्वथा नगण्य हैं। ऐसी अवस्था में किसी संन्यासी का यज्ञादि में प्रवृत्त होना अनधिकार चेष्टा होने के साथ-साथ क्या एक गृहस्थ विद्वान् के प्रति अन्याय एवम् अत्याचार नहीं है? वस्तुतस्तु इसका एकमात्र कारण उनकी वित्तैषणा है, जिसका कोई अन्त नहीं होता।

पूर्णाहुति—पूर्णाहुति का अधिकार यजमान को होता है। यजमान वह कहलाता है जो ऋत्विग्वरण करता है और अग्न्याधान से लेकर अन्त तक यज्ञ-सम्पन्न करता है। इसलिए अग्न्याधान क्रियारहित व्यक्ति को पूर्णाहुति का अधिकार नहीं है। जिसने आरम्भ नहीं किया वह अन्त या समापन कैसे कर सकता है? प्रायः पूर्णाहुति के समय यज्ञविधान के सभी नियमों को ताक पर रखकर लोगों को बुला-बुलाकर आहुति डालने के नाम पर सामग्री फिकवाना यज्ञ का उपहास करना है। न ऋत्विग्वरण किया, न विधिवत् यज्ञोपवीत धारण किया, (पुरोहितजी ने यज्ञोपवीत डलवा ही दिया तो आसन से उठते ही उतारकर फेंक दिया। जो काम औरंगजेब तलवार के बल पर नहीं करवा सका था उसे आज हम हँसते-खेलते अपने हाथों से कर रहे हैं) न आचमन किया—यहाँ तक कि जूते खोलकर हाथ-पैर भी न धोये और आहुतियाँ डालने लग गये। यह श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ का घोर अपमान है और—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

—गीता १६।२३

मन्त्र-पाठ का प्रयोजन—यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अंग-संचालन के साथ किया हुआ कार्य और कथन केवल वाणी से निःसृत शब्दों से अधिक प्रभावशाली होता है। इसी कारण श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य में लोगों की अधिक रुचि होती है। बालकों को पाठ कण्ठस्थ कराते समय प्रायः इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है। होम करते समय हाथों से आहुति डालते, आचमन व अंग-स्पर्श करते और जलप्रोक्षण करते हैं, आँखों से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं। इस सारी प्रक्रिया के साथ वाणी से मन्त्र बोलने में रस आता है। यही कारण है कि बच्चे माता-पिता के साथ सन्ध्या की अपेक्षा हवन में अधिक चाव से बैठते हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे यज्ञ में बोले जानेवाले मन्त्र उन्हें अनायास कण्ठस्थ हो जाते हैं।

मन्त्र-पाठ से होनेवाले लाभ के विषय में ग्रन्थकार ने लिखा है कि इससे वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है तथा होम से जो लाभ होते हैं, उनका ज्ञान होता है। ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ होता है और वेदमन्त्रों के उच्चारण से तो यज्ञ में सर्वत्र उसकी स्तुति स्वयं होती है।

यद्यपि वेदमन्त्रों का उच्चारण उदात्तादि स्वरों के साथ होता है, तथापि सब वेदों का उच्चारण एक ही प्रकार से नहीं होता। इसलिए जिस वेद का जैसा उच्चारण होता है वैसा ही करना चाहिए। उस उच्चारण में भी न शीघ्रता करनी चाहिए और न विलम्ब। नियत अल्पावधि में पाठ पूरा करने के उद्देश्य से जल्दी-जल्दी घास काटना उचित नहीं है। अशुद्ध उच्चारण करने से ध्यानपूर्वक श्रवण करना श्रेयस्कर है। श्लोकों या गीतों की रीति से मनमाने ढंग से गा-गाकर मन्त्र बोलना भी ठीक नहीं है—**गायन्नैव न कम्पयेत्** (याज्ञवल्क्यशिक्षा)।

ओम् का प्रयोग—महर्षि कात्यायन ने सूत्र-मन्त्र-प्रकाशिका में लिखा है—''**कर्मणा-**

मादिर्मन्त्रादौ प्रणवः स्मृतः'' अर्थात् किसी कर्म में प्रयुक्त मन्त्रभाग, सम्पूर्ण मन्त्र या मन्त्रसमूह के प्रथम मन्त्र के आदि में ओम् का उच्चारण होगा, उसके अन्तर्गत अन्य मन्त्रों में नहीं। उदाहरणार्थ—सन्ध्या में 'अघमर्षण' एक क्रिया है जो तीन मन्त्रों से सम्पन्न होती है। 'मनसा परिक्रमा' एक क्रिया है जो छह मन्त्रों से सम्पन्न होती है। इसी प्रकार 'उपस्थान' एक क्रिया है जो चार मन्त्रों से सम्पन्न होती है। इनमें प्रत्येक क्रिया से सम्बन्धित मन्त्रसमूह के प्रथम मन्त्र के आरम्भ में ही ओम् का प्रयोग होगा, अन्य मन्त्रों में नहीं होगा।

पाठकाल का कोई मन्त्र जब होमकाल में अनेक भागों में विभक्त हो जाता है तो वह प्रत्येक भाग मन्त्र हो जाता है। इसलिए मन्त्रभूत उस प्रत्येक भाग के आदि में ओम् का प्रयोग होगा। उदाहरणार्थ—यजुर्वेद के निम्न दो मन्त्र हैं—

१—अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥ —यजुर्वेद ३।९

२—सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा। सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा॥ —यजुः० ३।१०

यजुर्वेद संहिता में ये दो मन्त्र हैं, परन्तु संस्कारविधि में प्रातःकालीन एवं सायंकालीन होम में ये निम्न प्रकार आठ मन्त्र होकर प्रयुक्त हुए हैं—

१—ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।

२—ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।

३—ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा।

४—ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा।

५—ओम् अग्निर्ज्योयोतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।

६—ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।

७—ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योरतिरग्निः स्वाहा।

८—ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा।

ये आठ मन्त्र हैं। इनकी संख्या एवं गणना पृथक्-पृथक् की गई है, इसलिए प्रत्येक मन्त्र के आदि में ओम् पढ़ा गया है। शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थों में इसी प्रकार का विधान विद्यमान है।

ग्रन्थकार स्वयं वेदपाठी ब्राह्मण थे। उन्होंने गुरु-परम्परा से, शास्त्रीय परिपाटी से वेदपाठ और शिक्षादि का अभ्यास किया था। प्राचीन परिपाटी तथा शास्त्रीय विधान दोनों में सामंजस्य होने से उन्होंने '**अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनामन्त्राः**' के प्रथम मन्त्र के आदि में ही ओ३म् का प्रयोग किया।

होमकाल में मन्त्रान्त में ओम् का प्रयोग—वेदपाठ की समाप्ति पर ओम् का प्रयोग किया जाता है, परन्तु होमकाल में प्रत्येक मन्त्र के अन्त में ओम् का उच्चारण करके आहुति देने का नियम नहीं है। याज्ञिक विधि-विधान में निष्णात प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों के अनुसार इस प्रकार का विधान कहीं नहीं मिलता। कर्मकाण्ड में पारंगत तथा व्यवहारकुशल विद्वानों का भी यही मत है। ग्रन्थकार ने तो अनेक ग्रन्थ पढ़े थे और व्याकरण के तो वे सूर्य ही थे।

गुरूणां गुरु विरजानन्द के साक्षात् शिष्य होने का गौरव उन्हें प्राप्त था। उन्होंने संस्कारविधि, पञ्च-महायज्ञविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका एवं सत्यार्थप्रकाश आदि में, जहाँ-जहाँ होममन्त्र लिखे हैं वहाँ-वहाँ जैसे स्वाहा का पद जोड़ा था वैसे मन्त्र और स्वाहा के बीच में ओ३म् भी जोड़ सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया और न किये जाने का निर्देश किया है।

ब्रह्मा—ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है—

ऋग्वेदेन होता करोति यजुर्वेदेनाध्वर्युः सामवेदेनोद्गाता अथर्वैर्वा ब्रह्मा।

अर्थात् ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, सामवेद से उद्गाता और अथर्ववेद से ब्रह्मा की नियुक्ति करे। ब्रह्मा की नियुक्ति के लिए गोपथब्राह्मण (पूर्व० २।२४) में कहा है—**अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम् अथर्वाङ्गिरोविद् ब्राह्मणम्,** अर्थात् अथर्व से ब्रह्मा होता है, अथर्व का जाननेवाला ब्रह्मा होता है। इसी कारण अथर्ववेद का एक नाम ब्रह्मवेद है। वस्तुतः ऋग्वेद से अथर्ववेद तक चारों वेदों का जाननेवाला ब्रह्मा होता है और इसी से औपचारिक रूप में ब्रह्मा चार मुखवाला कहलाता है।

यज्ञ में प्रवचनादि—यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र परब्रह्म के शब्द एवं उसी की वाणी है। वहाँ उसी का उच्चारण होना चाहिए। गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है—**'माऽयज्ञियं वाचं वदेत्'** (१।६।१८)। यज्ञ में अयज्ञिय वाणी अर्थात् प्राकृत या लौकिक वाणी का प्रयोग न करे। ब्रह्मा के लिए आदेश है—**'ब्रह्मन् मा त्वं वदो बहु'** (यजुः० २३।२५) हे ब्रह्मन्! तू बहुत मत बोला कर। शतपथब्राह्मण में लिखा है—**'स वै वाचंयम एव स्यात्'** (१।७।४।१९) अर्थात् वह (ब्रह्मा) चुपचाप बैठे। तब, ब्रह्मा क्या करे? गृह्यसूत्रों का आदेश है—**'भाषेत यज्ञसंसिद्धिम्'** (गोभिल० १।६।१७)—होता के द्वारा अन्यथा कर्म किये जाने पर उस कर्म की संसिद्धि के लिए निर्देशभर करे और इसके लिए भी वह मानुषी भाषा का प्रयोग न करे—**'व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति।'** (शतपथ० १।२।२।९)। अन्यथा वह **'दक्षिणतोऽग्रेरुदङ्मुखस्तूष्णीमास्ते ब्रह्मा आहोमात्'**—कुण्ड के दक्षिणभाग में उत्तराभिमुख होकर यज्ञ-समाप्ति पर्यन्त चुप होकर निरीक्षण करता रहे। ग्रन्थकार ने भी यजुर्वेदभाष्य में **'भवतन्नः समनसौ०'** (५।३) इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है—''वे यज्ञ प्राकृत मनुष्यों के भाषारूपी वचन से रहित होवें''।

उपर्युक्त शास्त्रवचनों से यज्ञ में वाचालता या ब्रह्मा तक का प्रवचन सर्वथा निषिद्ध है, अतः यज्ञ में यज्ञकर्म से अतिरिक्त बीच-बीच में व्याख्या, भाषण, भजन, कविता आदि किसी भी रूप में मानुषी वाणी का व्यवहार नहीं होना चाहिए। इस व्यवस्था का उल्लंघन होने से शास्त्रीय विधि गौण होकर मनोरंजन की प्रवृत्ति को बल मिलता है और यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म न रहकर मनोरञ्जन का रूप ले-लेता है। यज्ञ की समाप्ति पर अच्छे स्तर पर (जो यज्ञ की गरिमा के अनुरूप हो) व्याख्यान और भजन कराये जा सकते हैं।

ब्रह्मा कौन—आदर्श की दृष्टि से ब्रह्मा चारों वेदों के विद्वान् की संज्ञा है। वर्त्तमान काल में सदा सर्वत्र ऐसा होना सम्भव नहीं तथापि जो व्यक्ति न संस्कृत का विद्वान् है, न जिसे वेदादिशास्त्रों की अच्छी जानकारी है और न जिसे याज्ञिक विधि-विधान का ज्ञान है, उसे ब्रह्मा बनाकर पद का अवमूल्यन नहीं करना चाहिए। यज्ञ का निदेशक, संचालक, व्यवस्थापक

जैसा नाम देकर काम चला लेना चाहिए।

जिस विषय में ग्रन्थकार का स्थिर वा निश्चित मत होता है, वहाँ वे अपने मन्तव्य की पुष्टि में अनेक प्रमाण तथा तर्क प्रस्तुत करते हैं। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ वे विकल्प प्रस्तुत करके शास्त्रवचन उद्धृत कर देते हैं और उसका निर्णय अध्येता के विवेक पर छोड़ देते हैं।

आधुनिक भौतिकी (Physics) की भाषा में ऐसे विषयों का अध्ययन सम्भावना (Probablity) के आधार पर किया जाता है। सांख्यिकीय (Statistics) इसी का एक अंग है, परन्तु इसके आधार पर किसी निश्चित एवं निर्भ्रान्त परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता।

सामान्य प्रकरण—संस्कारविधि गृह्य कर्मशास्त्र है, परन्तु सामान्य प्रकरण केवल संस्कारविधि की दृष्टि से नहीं लिखा गया है, अपितु अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त समस्त श्रौत एवं स्मार्त-कर्मों की दृष्टि से लिखा गया है। यहाँ पात्रलक्षण-प्रकरण तथा यज्ञपात्रों की आकृतियों का भी निर्देश कर दिया गया है, जबकि संस्कारकर्मों में इनका कोई उपयोग नहीं होता। इनका उपयोग दर्शपौर्णमास यज्ञों में ही होता है। यही स्थिति यहाँ पर निर्दिष्ट यज्ञशाला, कुण्डपरिमाण आदि की है।

मन्त्रार्थ—ग्रन्थकार ने अपनी भूमिका में लिखा है—"यहाँ सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है, क्योंकि इस (संस्कारविधि) में कर्मकाण्ड का विधान है, इसलिए विशेषकर क्रिया-विधान लिखा है और जहाँ-जहाँ अर्थ करना आवश्यक है, वहाँ-वहाँ अर्थ भी कर दिया है।" इस प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए हमने भी इस संस्कारभास्कर में उन्हीं मन्त्रों तथा मन्त्रांशों का अर्थ किया है जिनका निर्दिष्ट क्रिया से सीधा सम्बन्ध है, अथवा जिनके अर्थों का जानना संस्कार से सम्बन्धित या प्रभावित व्यक्तियों (संस्कार्य-बालक, माता-पिता, गुरु, पति-पत्नी, स्नातक आदि) तथा इतर इष्टजनों के हित में है। जिन मन्त्रों से केवल आहुति देना अभीष्ट है, उनके अर्थ नहीं किये गये हैं।

॥ ओ३म् ॥

भूमिका[1]

सब सज्जन लोगों को विदित होवे कि मैंने बहुत सज्जनों के अनुरोध करने से श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९३२ कार्तिक कृष्णपक्ष शनिवार के दिन 'संस्कारविधि' का प्रथमारम्भ किया था। उसमें संस्कृतपाठ सब एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करानेवाले मनुष्यों को संस्कार और भाषा दूर-दूर[2] होने से कठिनता पड़ती थी और जो १००० (एक हज़ार) पुस्तक छपे थे, उनमें से अब एक भी नहीं रहा। इसलिए श्रीयुत महाराजे विक्रमादित्य के संवत् १९४० आषाढ़ बदि १३ रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिए विचार किया। अबकी बार जिस-जिस संस्कार का उपदेशार्थ प्रमाण-वचन और प्रयोजन है, वह-वह संस्कार के पूर्व लिखा जाएगा। तत्पश्चात् जो-जो संस्कार में कर्त्तव्य विधि है, उस-उसको क्रम से लिखकर पुनः उस संस्कार का शेष विषय जोकि दूसरे संस्कार तक करना चाहिए, वह लिखा है और जो विषय प्रथम अधिक लिखा था, उसमें से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है और अब की बार जो-जो अत्यन्त उपयोगी विषय है, वह-वह अधिक भी लिखा है।

इसमें यह न समझा जावे कि प्रथम विषय युक्त न था, और युक्त छूट गया था उसका संशोधन किया है, किन्तु उन विषयों का यथावत् क्रमबद्ध संस्कृत के सूत्रों में प्रथम लेख किया था। उसमें सब लोगों की बुद्धि कृतकारी नहीं होती थी, इसलिए अब सुगम कर दिया है, क्योंकि संस्कृतस्थ विषय विद्वान् लोग समझ सकते थे, साधारण नहीं।[3]

इसमें सामान्य विषय, जोकि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिए, वह प्रथम सामान्यप्रकरण में लिख दिया है और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्यप्रकरण

---

१. **विशेष**—इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार की अपनी टिप्पणियाँ भी हैं। उन टिप्पणियों के अन्त में द०स० ऐसा संक्षिप्त नाम काले टाईप में देंगे। शेष टिप्पणियाँ सफेद टाईप में हमारी हैं, एसा जानना चाहिए।

२. संस्कारविधि में जिस शब्द को दो बार पढ़ना होता है, वहाँ उस शब्द के आगे २ का अङ्क लिखा गया है। यथा—जिस २, वह २, उस २। ऐसे सभी स्थानों पर हमने उस-उस शब्द को पाठकों की सुगमता के लिए दो बार छापा है।

३. इस सन्दर्भ से अत्यन्त स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द ने प्रथम संस्करण को अप्रामाणिक नहीं माना। यही स्थिति 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम संस्करण की है। इन दोनों ग्रन्थों के प्रथम संस्करणों में किन्हीं कारणों से जो अप्रामाणिक अंश छप गया था, उसका निर्देश ऋषि दयानन्द ने अपने विज्ञापनों में स्पष्ट कर दिया था। द्र०—'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ ९४, १०९ (द्वि० सं०) के विज्ञापन। इसी प्रकार सं० १९३२ में छपी 'पञ्चमहायज्ञविधि' का सं० १९३४ में परिशोधित संस्करण प्रकाशित कर देने पर भी सं० १९३२ की 'पञ्चमहायज्ञविधि' का विक्रयार्थ उल्लेख सं० १९३९ तक छपे ग्रन्थों की सूची में मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों में जो उपयोगी अंश है, वह अध्ययन योग्य है।

की संस्कारों में अपेक्षित है, उसके पृष्ठ, पंक्ति की प्रतीक उन कर्त्तव्य संस्कारों में लिखी है कि जिसको देखके सामान्यविधि की क्रिया वहाँ सुगमता से कर सकें और सामान्यप्रकरण का विधि[१] भी सामान्यप्रकरण में लिख दिया है, अर्थात् वहाँ का विधि करके संस्कार का कर्त्तव्य कर्म करे और जो सामान्यप्रकरण का विधि लिखा है, वह एक स्थान से अनेक स्थलों में अनेक बार करना होगा। जैसे अग्न्याधान प्रत्येक संस्कार में कर्त्तव्य है, वैसे वह सामान्यप्रकरण में एकत्र लिखने से सब संस्कारों में बारम्बार न लिखना पड़ेगा।

इसमें प्रथम ईश्वर की स्तुति–प्रार्थना–उपासना, पुनः स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ, तदनन्तर सामान्य-प्रकरण, पश्चात् गर्भाधानादि अन्त्येष्टिपर्यन्त सोलह संस्कार क्रमशः लिखे हैं और यहाँ सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है, क्योंकि इसमें कर्मकाण्ड का विधान है, इसलिए विशेषकर क्रिया–विधान लिखा है और जहाँ–जहाँ अर्थ करना आवश्यक है, वहाँ–वहाँ अर्थ भी कर दिया है और मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेद–भाष्य में लिखे ही हैं, जो देखना चाहें वहाँ से देख लेवें। यहाँ तो केवल क्रिया करना ही मुख्य है। जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं, इसलिए संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।

—स्वामी दयानन्द सरस्वती

॥ इति भूमिका ॥

---

१. ग्रन्थकार ने सर्वत्र आर्यभाषा में भी संस्कृत–शब्दों का लिङ्ग संस्कृत–व्याकरण के अनुसार ही प्रयुक्त किया है, यहाँ 'का विधि' लिखा है। 'विधि' शब्द संस्कृतभाषा में पुल्लिङ्ग है । इसी प्रकार सर्वत्र लिङ्ग–प्रयोग के विषय में जानना।

ओ३म्

संस्कारभास्कर

ओ३म् नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय।

अथ संस्कारविधिं वक्ष्यामः

ओं सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्य्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा[१] विद्विषावहै। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

—तैत्तिरीय-आरण्यके, अष्टमप्रपाठके, प्रथमानुवाके

सर्वात्मा सच्चिदानन्दो विश्वादिर्विश्वकृद्विभुः। भूयात्तमां सहायो नस्सर्वेशो न्यायकृच्छुचिः॥१॥
गर्भाद्या मृत्युपर्य्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि। वक्ष्यन्ते तं नमस्कृत्यानन्तविद्यं परेश्वरम्॥२॥

ओं सह नाववतु—यहाँ 'ओम्' मन्त्र का अवयव नहीं है। प्रारम्भ में प्लुत ओङ्कार के उच्चारण का शास्त्रों में विधान है—

'ओमभ्यादाने' (पाणिनि ८।२।८६)। तदनुसार सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में मन्त्र के आरम्भ में प्लुत ओङ्कार पढ़ा गया है। मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनके आरम्भ में 'ओम्' पद का उच्चारण प्राचीनकाल से चला आता है। 'ओङ्कार' तथा 'अथ' शब्द के परम्परागत प्रयोग का माङ्गलिक माना जाना भारतीय साहित्य में प्रसिद्ध है। दर्शनशास्त्रों के प्रारम्भिक सूत्रों तथा अन्य सूत्रग्रन्थों के आदि में माङ्गलिक पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति तथा मङ्गलाचरण-भावना स्पष्ट उपलब्ध है। कार्यारम्भ में परमेश्वर का नामस्मरण सर्वसम्मत मंगलाचरण है। वेद इस बात का आदेश देता है कि कार्यारम्भ के अवसर पर भगवन्नाम का स्मरण करना चाहिए। ऋग्वेद की प्रथम ऋचा **'अग्निमीळे'** (१।१।१) इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अन्यत्र (ऋ० १।५७।४) इसका स्पष्ट निर्देश इन शब्दों में किया गया है—

"इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।" पालक व पूरक है स्तवन जिसका, जिसके स्तवन से हमारा रक्षण होता है और हमारी न्यूनताएँ दूर होती हैं, ऐसे परमैश्वर्यशाली प्रभो! हम आपका ही आश्रय लेकर संसार की सब क्रियाओं को कर रहे हैं। हम तो आपके ही हैं।

प्रारभ्यमान ग्रन्थ के नामनिर्देश में 'अथ' पद का प्रयोग भी इस भावाना का द्योतक है। यद्यपि 'अथ' पद का अर्थ 'प्रारम्भ करना' माना जाता है, परन्तु प्राचीन परम्परा उच्चारणमात्र से इसे माङ्गलिक मानती आई है। अज्ञातकाल से गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा एक श्लोक चला आता है—

---

१. तैतिरीयारण्यक में '०मस्तु मा' ऐसा संहिता पाठ है।

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

कतिपय विद्वानों का मत है कि मङ्गलाचरण की प्रथा मध्यकालिक आचार्यों से चली है, प्राचीन आर्यों की परम्परा में ऐसी मान्यता नहीं रही, परन्तु ग्रन्थकार इससे सहमत नहीं हैं। उनका स्वतन्त्र रचनारूप ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का प्रथम समुल्लास परमेश्वर के शतनाम-विवरण के व्याज से,उसके स्मरणरूप से ग्रन्थ के आदि में विशुद्ध मङ्गलाचरण ही है। ग्रन्थ को आरम्भ करते हुए चालू परम्परा का भी पूरी तरह से पालन किया गया है। समुल्लास के अन्त में वैदिक दृष्टि के अनुसार इसका विवेचन भी प्रस्तुत किया है। मङ्गलाचरण की पौराणिक व तान्त्रिक प्रथा अमान्य है, किन्तु ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में वैदिक मान्यता को बनाये रक्खा है। इन भावनाओं की छाया में यदि यह कहा जाए कि **ओं सह नाववतु** इत्यादि मन्त्र और उसके पश्चात् स्वरचित ११ श्लोक मङ्गलाचरणरूप हैं तो अशास्त्रीय न होगा।

संस्कारविधि का आरम्भ करते हुए वैदिक वाङ्मय के प्रसिद्ध सन्दर्भ 'सह नाववतु०' का उल्लेख किया गया है। जिन भावनाओं के साथ ग्रन्थकार ने इस कार्य का प्रारम्भ किया, यह सन्दर्भ एक प्रकार से उसका प्रतिज्ञावाक्य है, उसके सदुद्देश्य का प्रतीक है। ग्रन्थकार ने इस सन्दर्भ को ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के आरम्भ में भी उद्धृत किया है। वहाँ उन्होंने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"(**सह नाववतु**) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर! आपकी कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करें, (**सह नौ भुनक्तु**) और हम सब लोग परमप्रीति से मिलके उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्ती राज्य आदि सामग्री से आनन्द को आपके अनुग्रह से सदा भोगें, (**सह वीर्यं करवावहै**) हे कृपानिधे! आपके सहाय से हम लोग एक-दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से बढ़ाते रहें, (**तेजस्वि नावधीतमस्तु**) और हे प्रकाशमय! सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर! आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा तथा पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, (**मा विद्विषावहै**) हे प्रीति के उत्पादक! आप ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे हम लोग परस्पर कभी विरोध न करें, किन्तु एक-दूसरे के मित्र होकर सदा वर्तें। (ओं शान्तिः०) हे भगवन्! आपकी कृपा से हम लोगों के तीन ताप—एक 'आध्यात्मिक' जोकि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा 'आधिभौतिक' जो दूसरे प्राणियों से दुःख होता है और तीसरा 'आधिदैविक' जोकि मन तथा इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चंचलता से क्लेश होता है—इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिए।" उक्त सन्दर्भ के अन्त में 'ओ३म्' पूर्वक 'शान्ति' का तीन बार पाठ त्रिविध दुःखों की निवृत्ति के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करना है।

संस्कारविधि में इस मन्त्र का विनियोग गृहस्थाश्रम के प्रकरण में करके इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"हम स्त्री-पुरुष, सेवक-स्वामी, पिता-पुत्र, मित्र आदि मिलके प्रीतिपूर्वक एक-दूसरे की रक्षा करें"। परन्तु यह अर्थ सर्वत्र ठीक नहीं बैठता।

सन्दर्भान्तर्गत सर्वनाम व क्रियापद द्विवचनान्त हैं। वे दो कौन हैं जो इस आशंसा और कामना की सफलता के लिए प्रभु के सामने नतमस्तक प्रार्थनारत हैं? कतिपय विद्वान् दो के रूप में यहाँ गुरु और शिष्य को सामने लाते हैं। अन्य कतिपय इस चर्चा को पति-पत्नी का संलाप बताते हैं। सम्भव है किसी की कल्पना में ऐसा ही कोई अन्य जोड़ा हो, परन्तु ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा आर्याभिविनय में इस सन्दर्भ का जो व्याख्यान किया है, उससे ऐसा कोई जोड़ा उभरकर सामने नहीं आता। उसमें तो सम्पूर्ण मानवसमाज सिमटता प्रतीत होता है। उसे सुविधापूर्वक द्विचन में कहने के लिए सुझाव है। एक इकाई प्रार्थना करनेवाला व्यक्ति है और दूसरी इकाई में उससे अतिरिक्त शेष समस्त मानवसमाज। प्रार्थयिता व्यक्ति अपने साथ में दूसरी इकाई के रूप में समस्त मानवसमाज

वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात्। आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये॥ ३॥
संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते। असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते॥ ४॥
अतः संम्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः। शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्द्धनः॥ ५॥
कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थनतत्परैः। वेदविज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः॥ ६॥
प्रमाणैस्तान्यनादृत्य क्रियते वेदमानतः। जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः॥ ७॥
बहुभिः सज्जनैस्सम्यङ्मानवप्रियकारकैः। प्रवृत्तो ग्रन्थकरणे क्रमशोऽहं नियोजितः॥ ८॥
दयाया आनन्दो विलसति परो ब्रह्मविदितः सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा हीशशरणाऽस्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः॥ ९॥
चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्त्तिकस्यान्तिमे[१] दले। अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया॥ १०॥
बिन्दुवेदाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुचौ मासेऽसिते दले। त्रयोदश्यां रवौ वारे पुनः संस्करणं कृतम्॥ ११॥

सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों के पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना स्थिरचित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगाके करे और सब लोग उसमें ध्यान लगाकर सुनें और विचारें—

को खड़ा देखता है। एक स्वयं वह है और दूसरा मानवसमाज। इन्हीं दो इकाईयों की भावना से द्विवचन का प्रयोग हुआ है। प्रतिज्ञा और उद्देश्य के रूप में स्वीकृत इन भावनाओं के साथ ग्रन्थकार ने मानवसमाज के निर्माणार्थ संस्कारविधि के रूप में एक शतवर्षीय योजना प्रस्तुत की है।

द्विवचनान्त '**नौ**' में वचन व्यत्यय मानकर उसका बहुवचन के रूप में भी अर्थ किया जा सकता है। अन्यथा (**सः**) वह परमेश्वर (**नौ**) हम दोनों ग्रन्थकार तथा अध्येता अथवा प्रार्थयिता तथा समाज की (**अवतु**) रक्षा करे, यह अर्थ भी संगत हो सकता है।

ग्रन्थकार की भावना के अनुरूप इस सन्दर्भ का सार है संसार में सब एक-दूसरे की रक्षा करनेवाले हों, परस्पर सहानुभूतिपूर्वक बर्ताव करें, न्यायपूर्वक मिलकर भोगों को भोगें, अपनी शक्ति का उपयोग पारस्परिक रक्षा तथा प्रत्येक के अभ्युदय के लिए करें। पारस्परिक संघर्ष की स्थिति के उभरने का अवसर कभी न आने दें। सत्य के उद्भावन से ज्ञानराशि की तेजस्विता बनी रहे, परन्तु वह हमारे मिथ्याभिमान का कारण न बनने पाये। अन्ततः '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' के माध्यम से '**वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम**' की स्थिति को प्राप्त करें और यह सब संस्कारों के माध्यम से परिष्कृत समाज में ही सम्भव है।

इस प्रकार मंगलाचरण के पश्चात् वेदाभ्यास में प्रवृत्त करने तथा वेदों की रक्षा करने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने समस्त शुभ कर्मों के आरम्भ में सर्वसाधारण के लिए ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों के पाठ का विधान किया है—

---

१. प्रथम तथा द्वितीय संस्करण के लिए लिखी गई पाण्डुलिपि (रफ कापी) तथा संशोधित कापी में '**कार्तिकस्यान्तिमे दले**' पाठ भीमसेनादि द्वारा बनाया गया। वह २२वें संस्करण तक छपता रहा। '**अन्तिमे दले**' पाठ गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार है, क्योंकि इसकी रचना का आरम्भ बम्बई में हुआ था। उत्तर-भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार संस्कारविधि की रचना का आरम्भ मार्गशीर्ष की अमावास्या वि०सं० १९३२ में हुआ, ऐसा जानना चाहिए।

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनामन्त्राः

[1]ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दु॒रि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद् भ॒द्रन्तन्न[2]ऽआ सु॑व॥ १॥

—यजु:० अ० ३०। मं० ३।[3]

अर्थ—हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, (देव) शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा सुव) दूर कर दीजिए। (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ है, (तत्) वह सब हमको (आ सुव) प्राप्त कीजिए॥ १॥

विश्वानि देव०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—"(देव) हे विज्ञानविद्याप्रद परमेश्वर! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करनेवाले हैं तथा सब आनन्द के देनेवाले हैं। (सवितः) हे सर्वजगदुत्पादक, सर्वशक्तिमन्! आप सब जगत् को उत्पन्न करनेवाले हैं। (नः) हमारे (विश्वानि) सब (दुरितानि) दुःखों और दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परा सुव) दूर कर दीजिए. अर्थात् हमसे उनको और उनसे हमको सदा दूर रखिए और (यद्भद्रं) जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जोकि सब सुखों से युक्त भोग है, उसको हमारे लिए सब दिनों में प्राप्त कीजिए। अतः सुख दो प्रकार का है—एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति से अभ्युदय, अर्थात् चक्रवर्त्तिराज्य, इष्टमित्र, धन, पुत्र, स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिसको मोक्ष कहते हैं और जिसमें ये दोनों सुख होते हैं, उसी को भद्र कहते हैं (तन्न आ सुव) उस सुख को आप हमारे लिए सब प्रकार से प्राप्त करिये। इस अनुष्ठान (वेदभाष्य) में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे।"

इस मन्त्र में सब प्रकार के 'दुरितों' को दूर कर भद्र की प्राप्ति करने की कामना की गई है। यहाँ ईश्वर को 'सवितः देव' कहकर पुकारा गया है। 'सविता' (सवित्) का सम्बन्ध 'परासुव' और 'आसुव' दोनों से है, क्योंकि तीनों शब्द एक ही धातु 'षू प्रेरणे' से निष्पन्न हैं। ऋग्वेद के ५वें मण्डल के ८२वें सूक्त में ९ मन्त्र हैं। इन सबका देवता 'सविता' है और हर मन्त्र में 'सविता' के साथ 'षू'

---

१. 'ओ३म्' यह मन्त्र का पद नहीं है, प्रारम्भ में प्लुत उच्चारण का शास्त्रों में विधान होने से जोड़ा गया है। आगे भी सर्वत्र ऐसा ही समझें।

२. यजुर्वेद में अनुस्वार को पदान्त में भी नित्य परसवर्ण ही होता है। अतः 'भद्रन्तन्न आ' पाठ ही शुद्ध है, 'भद्रं तन्न आ' नहीं। 'संस्कार-विधि' के प्राचीन संस्करण में यहाँ परसवर्ण ही छपा है। यजुर्वेद और पारस्कर गृह्य के सब मन्त्रों में प्राचीन परिपाटी के अनुसार पदान्त अनुस्वार को सर्वत्र परसवर्ण ही होना चाहिए, परन्तु हमने यथामुद्रित पाठ ही रहने दिया है।

३. जिन मन्त्र आदि उद्धरणों के पते द्वितीय संस्करण में दिये हैं उन्हें हम मूलपाठ में रखेंगे और जो अगले संस्करणों में संशोधकों ने दिये हैं उन्हें हम नीचे टिप्पणी में देंगे तथा जिनके पते अशुद्ध दिये गये हैं, या नहीं दिये गये, उनका संशोधन वा निर्देश भी टिप्पणी में ही किया जाएगा।

धातु के किसी-न-किसी रूप का प्रयोग हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि 'सविता' और उससे सम्बन्धित 'परासुव' और 'आसुव' विशेष अर्थों के सूचक हैं। **'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** (यजुः० १।१) इत्यादि श्रुतिवचन हमें शुभ कर्मानुष्ठान के लिए प्रेरित (Impel or motivate) करते हैं। परमेश्वर दुरितों के निराकरण और भद्र की प्राप्ति के लिए प्रेरणा कर शक्ति प्रदान करता है। ईश्वर के प्रेरकत्व पर विश्वास करके प्रार्थयिता उससे शक्ति की याचना करता है। दुरितों के विरुद्ध संघर्ष तो स्वयं ही करना होगा, किन्तु यह विश्वास कि वह अकेला नहीं है—उसके सिर पर कोई है जो उसे लड़खड़ाता देख आगे बढ़कर उसे थाम लेगा—उसकी शक्ति को कई गुना बढ़ा देगा। ऐसी अवस्था में वह अपने कार्य में बाधक तत्त्वों से संघर्ष करता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल होगा। 'इण् गतौ' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके 'दुः' उपसर्गपूर्वक 'दुरित' शब्द बनता है। धात्वर्थ पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि किसी कार्य में प्रवृत्त होने पर मार्ग में आनेवाली समस्त बाधाएँ 'दुरित' कहाती हैं। सायण ने 'दुरितानि' का अर्थ 'पापानि' (ऋग्वेदभाष्य २।२७।५) किया है। आप्टे ने 'दुरित' का अर्थ किया है—Difficult (कठिन), Sinful (पाप), A bad course (बुरा मार्ग)। ये सब 'बाधा' शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं। न्यायदर्शन (१।१।२१) में दुःख का लक्षण करते हुए कहा है—**'बाधनालक्षणं दुःखम्'**। बाधना, पीड़ा, ताप, दुःख—ये सब एक अर्थ को कहते हैं। वह अर्थ है—'प्रतिकूल अनुभूति का होना'। ये अनुभूतियाँ भौतिक पदार्थों तथा सांसारिक प्राणियों के संसर्ग में आने पर होती हैं। दुःखों का पूर्णरूप से अवसान होने की भावना से 'दुरितानि' से पूर्व 'विश्वानि' विशेषण सर्वथा उपयुक्त है। वेदभाष्य द्वारा पाश्चात्य-पौरस्त्य, प्राचीन-अर्वाचीन विद्वानों की सभी प्रकार की भ्रान्त धारणाओं को निरस्त कर वेद के यथार्थ स्वरूप से अवगत कराना, वेद में निहित अद्‌भुत तथा अनन्त ज्ञानराशि को उसपर पड़ी धूल और गर्द-गुबार को झाड़-पोंछकर संसार के समाने प्रस्तुत करना और इस प्रकार हमारी मस्तिष्करूपी भूमि पर खड़ी वेदों के प्रति अनास्था और अश्रद्धा की चट्टानों को तोड़ना कोई सरल कार्य नहीं था। परमेश्वर के साहाय्य के बिना यह अत्यन्त दुष्कर कार्य था। इसलिए ग्रन्थकार ने प्रभु से समस्त विघ्न-बाधाओं को दूर करने की प्रार्थना की। बाधाओं के निःशेष होने पर भद्र की स्थिति उत्पन्न होगी।

मन्त्र में पठित 'भद्रम्' पद का अर्थ—धात्वर्थ (भदि कल्याणे सुखे च) के आधार पर कल्याण या सुख किया जाता है; पर इतना कहने से बात अस्पष्ट रह जाती है। ग्रन्थकार ने आर्षदृष्टि से इस अस्पष्टता को समझकर उक्त पद के अर्थ में 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' पदों के उल्लेख द्वारा उसमें कल्याण व सुख की समस्त धाराओं का समावेश कर दिया है। कल्याण व सुख का कोई अंश अभ्युदय और निःश्रेयस से बाहर नहीं रह जाता।

मन्त्र अनेकार्थक होते हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में दिया गया इस मन्त्र का अर्थ संस्कारविधि में उपलब्ध अर्थ का व्याख्यानरूप होने से उसका पूरक है। २४ अक्षरवाला होने से यह गायत्री मन्त्र है और ग्रन्थकार को सबसे अधिक प्रिय है। दो ग्रन्थों—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा संस्कारविधि—के आरम्भ में उन्होंने इसी मन्त्र से ईश्वरस्तुति की है। यजुर्वेद के भाष्य में उन्होंने प्रत्येक अध्याय का आरम्भ इसी मन्त्र से किया है। अनेक जीवनी लेखकों के अनुसार प्राणों का विसर्जन करते समय भी उन्होंने प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र के साथ-साथ इसी मन्त्र का पाठ किया था।

सन् १९३३ में अमेरीका के शिकागो नगर में विश्व धर्म सम्मेलन (World Fellowship of

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ऽआसीत्।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ २॥

—यजुः० अ० १३। मं० ४॥

अर्थ—जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करहनेहारे सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं। जो (भूतस्य) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एक ही चेतनस्वरूप (आसीत्) था, जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्त्तत) वर्तमान था, (सः) सो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यादि को (दाधार) धारण कर रहा है। हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिए (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें॥ २॥

यऽआ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ऽउ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः।
यस्य॑ [1]छा॒याऽमृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ ३॥

—यजुः० अ० २५। मं० १३॥

Faiths Conference) हुआ था। उसमें सबसे पहले इस बात पर विचार हुआ कि प्रतिदिन सम्मेलन का आरम्भ और समापन ऐसी प्रार्थना से हुआ करे जो सर्वमान्य हो। सम्मेलन में उपस्थित विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने धर्म में मान्य प्रार्थना-मन्त्रों (वाक्यों) को प्रस्तुत किया। उस सम्मेलन में वैदिक धर्म का प्रतिनिधित्व कलकत्ता के पं० अयोध्याप्रसाद वैदिक मिशनरी ने किया था। पण्डितजी ने इस सन्दर्भ में आर्यसमाज में प्रचलित उक्त मन्त्र तथा शान्तिपाठ के मन्त्रों को प्रस्तुत करते हुए उनकी ऐसी विद्वत्तापूर्ण एवं हृदयग्राही व्याख्या की कि उन्हें सर्वसम्मति से सार्वभौम एवं सार्वकालिक सर्वश्रेष्ठ प्रार्थना के रूप में स्वीकार कर लिया गया और एक सप्ताह तक चलनेवाले सम्मेलन की कार्यवाही तदनुसार ही होती रही। एक अन्य निश्चय के अनुसार सम्मेलन के परिसर में सभी लोग हाथ जोड़कर 'नमस्ते' कहकर एक-दूसरे का अभिवादन करते रहे।

हिरण्यगर्भः०—'हिरण्यगर्भ' शब्द बड़ा सारगर्भित है। यह समस्त पद ईश्वर तथा प्रकृति के लिए प्रयुक्त संयुक्त (composite) पद है जिसका अर्थ है—हिरण्य (प्रकृति) को अपने गर्भ में धारण करनेवाला। ''हिरण्यमयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिः'' (सायण० ऋ० १०।१२१।१) अथवा ''हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद् यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते'' (सायण०)। प्रलयावस्था में प्रकृति परमात्मा के गर्भ में समाई रहती है। व्यवहार में न होने से सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रकृति अव्यक्त दशा में अदृश्य रहती है। जैसे मिट्टी के बिना घड़ा और सोने के बिना आभूषण नहीं बन सकते, वैसे ही प्रकृति उपादान के बिना सृष्टि की रचना नहीं हो सकती। बढ़ई लकड़ी से मेज़ बना सकता है, किन्तु स्वयं मेज़ नहीं बन सकता। इसी प्रकार परमेश्वर प्रकृति से सृष्टि की रचना कर सकता है, परन्तु स्वयं सृष्टि नहीं बन सकता। इससे स्पष्ट है कि सृष्टिरचना से पूर्व प्रकृति उपादान

---

१. सब संस्करणों में 'यस्य च्छाया' ऐसा चकारसहित पाठ मिलता है। यजुर्वेद के कतिपय मुद्रित ग्रन्थों में भी चकार दिखाई पड़ता है, परन्तु मूल मन्त्रपाठ चकार-रहित है।

—द्र०—कात्यायनीय यजुःप्रातिशाख्य ४। २६॥

अर्थ—(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता, (बलदाः) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा, (यस्य) जिसकी (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं और (यस्य) जिसका (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, (यस्य) जिसका (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्षसुखदायक है, (यस्य) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिए (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा-पालन करने में तत्पर रहें॥ ३॥

यः प्रा॑ण॒तो नि॑मिष॒तो म॑हि॒त्वैक॒ऽइद्राजा॒ जग॑तो ब॒भूव॑।
यऽईशे॑ऽअ॒स्य द्वि॒पद॒श्चतु॑ष्पदः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ ४॥

—यजुः० अ० २३। मं० ३॥

अर्थ—(यः) जो (प्राणतः) प्राणवाले और (निमिषतः) अप्राणिरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने अनन्त महिमा से (एकः इत्) एक ही (राजा) विराजमान राजा (बभूव) है, (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है, हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिए (हविषा) अपनी सकल उत्तम सामग्री से (विधेम) विशेष भक्ति करें॥४॥

की सत्ता होनी चाहिए। न होती तो सर्गकाल में कहाँ से आ जाती, क्योंकि 'नासतो विद्यते भावः'—अभाव से सद्रूप जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए जो है वह था भी अवश्य, क्योंकि न होता तो कहाँ से हो जाता? इसी प्रकार जो है वह होगा भी अवश्य, क्योंकि जो है उसका नाश कभी नहीं हो सकता—'नाभावो विद्यते सतः'। और जो इस प्रकार तीनों कालों में विद्यमान है, वह नित्य है। इसलिए वह (प्रकृति) सदा रहती है। तब प्रलयकाल में वह प्रकृति कहाँ रहती है? वेद ने बताया कि उस समय वह ईश्वर के गर्भ में अव्यक्त दशा में रहती है। सृष्टि रचना के समय वह व्यक्तावस्था में आ जाती है।

राधाकृष्णन ने लिखा है—"As Aristotle would say, it is the transition from potential being to actual being, or, in Hegal's words, it is the passage from the implicit to the explicit." —*Radhakrishnan : Indian Philosophy, Part II, P. 256-57.*

प्रकृति का अव्यक्त से व्यक्त होना ही सृष्टि की उत्पत्ति होना है।

वेद एकेश्वरवादी है—'पतिरेक आसीत्'। आगे 'यः प्राणतो०' इत्यादि में पुनः कहा है—'एक इत्' अर्थात् 'एक ही'। समस्त सृष्टि एक इकाई (Universe) है और इसके सब नियम भी एक-जैसे (Uniform) हैं—क्योंकि इसका नियामक=विधायक या विधाता एक है। अनेक ईश्वरों की कल्पना पौराणिक है, परन्तु उसका व्यापक प्रचार होने के कारण उसे वेदमूलक माना जाता है। पाश्चात्य विद्वानों के मत में वैदिक ऋषि एक देवता के उपासक न होकर अनेक देवताओं की सत्ता में विश्वास करते थे। एकेश्वरवाद का विचार तो उनके मस्तिष्क में बहुत देर से आया। यह कल्पना केवल इसलिए की गई, क्योंकि मैक्समूलर विकासवाद के विपरीत यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि मानव संस्कृति के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद-जैसा उत्कृष्ट विचार मानव के मस्तिष्क में आ सकता था।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व[1] स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥५॥

—यजुः० अ० ३२। मं० ६॥

अर्थ—(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाववाले (द्यौः) सूर्य आदि (च) और (पृथिवी) भूमि को (दृढा) धारण, (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है, (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोकलोकान्तरों को (विमानः) विशेष मानयुक्त, अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है, हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिए (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें॥५॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥६॥

—ऋ० म० १०। सू० १२१। मं० १०॥

अर्थ—हे (प्रजापते) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा! (त्वत्) आपसे (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए जड़-चेतनादिकों को (न) नहीं (परि

जब उनसे यह कहा जाता है कि वेद में ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'' इस मन्त्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि ईश्वर एक ही है और अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि उस एक ही ईश्वर के विभिन्न नाम हैं, तब पाश्चात्य विद्वान् कह उठते हैं कि यह मन्त्र वेद में पीछे से डाला गया है, परन्तु यह मन्त्र तो ऋग्वेद के आरम्भ (१।१६४।४६) में आया है। फिर भी इसे प्रक्षिप्त माना जाता है, केवल इसलिए कि यह विकासवादी विचारधारा (Theory of Evolution) में फ़िट नहीं बैठता। यजुर्वेद का निम्न मन्त्र भी एकेश्वरवाद का उद्घोष कर रहा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ —यजुः० ३२।१

वह पूर्णपुरुष ब्रह्म, अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, अप् तथा प्रजापति है।

अथर्ववेद (१३।४।१६-२०) में कहा है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स एष एक एकवृदेक एव॥

अर्थात् वह परमेश्वर न दूसरा है, न तीसरा, न चौथा, न पाँचवाँ, न छठा, न सातवाँ, न आठवाँ, न नवाँ और न दसवाँ है—वह एक ही है।

---

१. 'स्वः स्तभितं' अजमेर-मुद्रित पाठ है। यद्यपि 'वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः' (महा० ८।३।३६) के नियम से विसर्ग का विकल्प से लोप कहा है, परन्तु वैदिक विकल्पों के व्यवस्थित होने से 'शुक्ल यजुःप्रातिशाख्य ३।१३' के नियमानुसार यजुः-संहितापाठ में विसर्ग-रहित ही पाठ है। अतएव हमने भी विसर्ग-रहित पाठ रखा है। मन्त्रपाठ में विद्यमान सामान्य अशुद्धियों को हमने ठीक कर दिया है।

बभूव) तिरस्कार करता है, अर्थात् आप सर्वोपरि हैं। (यत्कामाः) जिस-जिस पदार्थ की कामनावाले हम लोग (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें, (तत्) उस-उस की कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे। जिससे (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें॥ ६॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ ७॥

—यजुः० अ० ३२। मं० १०॥

अर्थ—हे मनुष्यो! (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों का (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक, (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक, (सः) वह विधाता सब कामों का पूर्ण करनेहारा, (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोकमात्र और (धामानि) नाम, स्थान, जन्मों को (वेद) जानता है और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुख-दुःख से रहित, नित्यानन्दयुक्त, (धामन्) मोक्षस्वरूप, धारण करनेहारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त होके (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है। अपने लोग मिलके सदा उसकी भक्ति किया करें॥ ७॥

एकेश्वरवाद का इससे अधिक स्पष्ट कथन संसार के किसी धर्मग्रन्थ में नहीं मिलेगा।

ऋग्वेद (७।३२।३३) के निम्न मन्त्र में तो भविष्य में भी एक से अधिक न होने की घोषणा करते हुए कहा है—"**न त्वदन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते**"—हे भगवन्! तुम-जैसा न कोई दिव्य है और न कोई पार्थिव; न कोई हुआ है और न होगा, अर्थात् वह परमेश्वर 'सजातीयविजातीय स्वगतभेदशून्य' है।

'**कस्मै देवाय हविषा विधेम**'—यह वाक्य हिरण्यगर्भ सूक्त में दस ऋचाओं में से पहली नौ ऋचाओं के अन्त में आया है। 'कस्मै' को 'किम्' सर्वनाम का चतुर्थी एक वचन मानकर 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का अर्थ बनता है—'किस देव की उपासना की जाए'? इस अर्थ के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता है कि वैदिक कालीन आर्य बहुदेववादी थे और तबतक अपने किसी एक उपास्य देव के विषय में कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं कर पाये थे, परन्तु मन्त्रों के पूर्वभाग में जो कुछ कहा गया है उसमें उपास्य देव का विवरण प्रस्तुत करके उसकी पहचान बता दी गई है। तब किसकी उपासना करें? यह प्रश्न सर्वथा असंगत हो जाता है।

वस्तुतः 'क' अकारान्त संज्ञा है, देव या राम के समान। 'क' का अर्थ है सुखस्वरूप और इस प्रकार मन्त्रगत वाक्य का अर्थ है—'सुखस्वरूप परमेश्वर की उपासना करें'। साधारणतया 'क' का चतुर्थी विभक्ति एक वचन 'काय' होना चाहिए, परन्तु वेद में बहुल होने से 'छन्दसि बहुलम्' पाणिनि के इस सूत्र से 'कस्मै' रूप बनने में कोई बाधा नहीं है। निरुक्त और शतपथ दोनों इस अर्थ की पुष्टि करते हैं। 'क' प्रजापति का नाम भी है।

पूर्वमीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी ने 'हिरण्यगर्भ' इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए (अध्याय १०, पाद ३, सूत्र १३-१७) उपर्युक्त अर्थ के साथ एक अर्थ यह भी किया है कि 'कस्मै देवाय' का अर्थ है 'एकस्मै'। "कस्मै देवाय हविषा विधेम, इति। एकस्मै देवायेत्यर्थः। एकारलोपेनैतच्छब्द-विज्ञानादर्थप्रत्ययो भवति।" (देखो—जैमिनिसूत्र १०।३।१५ पर शाबरभाष्यम्)। यहाँ छान्दस 'ए'

अग्ने नय॑ सु॒पथा॑ रा॒येऽअ॒स्मान् विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठान्ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम ॥ ८॥

—यजुः० अ० ४०। मं० १६॥

अर्थ—हे (अग्ने) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करनेहारे, (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर! आप जिससे (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं, कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे, धर्मयुक्त, आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइए और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त(एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिए। इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नमः उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें॥ ८॥

॥ इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना-प्रकरणम्॥

का लोप हो गया है। वेद में इस प्रकार के लोपों के अनेक उदाहरण मिलेंगे। 'एकस्मै देवाय' में कोई व्याकरण की खींचातानी भी नहीं हैं, क्योंकि 'एक' सर्वनाम है और अर्थ हुआ कि केवल एक ईश्वर की ही उपासना करनी है, अन्यान्य देवी-देवताओं की नहीं। इस अर्थ का गौरव इस सूक्त के कई और शब्दों से विदित है। सूक्त के अन्त का ही मन्त्र है—'प्रजापते न त्वदन्यः' इति। इसमें 'न अन्यः' ऐसा शब्द आया है, 'और कोई नहीं'। इस सूक्त के अन्य मन्त्रों में भी 'एक' शब्द कई बार आया है। मन्त्रों के पहले चरणों में सूर्य आदि 'हिरण्यों' अर्थात् प्रकाशवाले पदार्थों के नाम गिनाये हैं जो दिव्य होते हुए भी उपास्य नहीं हैं। इस विशेषता को दिखलाने के लिए भी 'एकस्मै देवाय' कहना सर्वथा सार्थक है।

'हविषा' (तृतीयान्त) 'हविष' हु धातु से बना है। उपासना की समस्त सामग्री का नाम 'हविः' है—भौतिक हो या अभौतिक, शारीरिक हो या मानसिक। हमारा मन उपास्यदेव के गुणों के मनन में लगा हो। ग्रन्थकार ने हविष सम्बन्धी मन्त्रों में प्रत्येक में भिन्न-भिन्न की 'हविः' प्रदान की है। इस एक मन्त्र में निम्नलिखित बातें कही गई हैं—

(१) सृष्टि के पूर्व ईश्वर था, (२) प्रकृति उपादान अव्यक्तरूप में ईश्वर के गर्भ में थी, (३) उसने सृष्टि बनाई और अब भी धारण कर रहा है, (४) वह एक ही है, कई नहीं, (५) उसी की उपासना करनी चाहिए, अन्य किसी की नहीं।

वेदमन्त्रों में निहित अर्थों की गहराई और विस्तार के निदर्शनार्थ हमने यहाँ दो ही मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की है। इसी प्रकार अन्य मन्त्रों के अर्थ करने पर वेदों में निहित अथाह ज्ञान की उपलब्धि होने पर 'अनन्ता वै वेदाः' की सिद्धि सहज सम्भव है।

अथ स्वस्तिवाचनम्[1]

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ १॥
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥ २॥
—ऋ० मं० १। सू० १। मं० १, ९॥

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना॥ ३॥
स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥ ४॥
विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥ ५॥
स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि॥ ६॥
स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥ ७॥
—ऋ० मण्ड० ५। सू० ५१। ११-१५॥

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ८॥
— ऋ० म० ७। सू० ३५। १५॥

येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥ ९॥
नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद् देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥ १०॥
सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥ ११॥
को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये॥ १२॥

---

१. स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण के मन्त्रों के पदार्थ और भावार्थ के लिए 'वैदिक नित्यकर्मविधि' ग्रन्थ देखें।

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥ १३॥
य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये॥ १४॥
भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये॥ १५॥
सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥ १६॥
विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये॥ १७॥
अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये॥ १८॥
अरिष्टः स मर्त्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥ १९॥
यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये॥ २०॥
स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य१प्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन॥ २१॥
स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा॥ २२॥

—ऋ० मं० १०। सू० ६३॥[१]

इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽ-आप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माघशꣳसो[२] ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥ २३॥

—यजुः० अ० १। मं० १॥

---

१. ऋक् १०। ६३। ३—१६॥

२. ह्रस्व स्वर से परे दीर्घ ꣳ कार और दीर्घ स्वर से परे ह्रस्व ꣳकार लिखने की प्राचीन परिपाटी है। यहाँ तदनुसार ही निर्देश किया है।

आ नो॑ भ॒द्राः क्रत॑वो यन्तु वि॒श्वतोऽद॑ब्धासो॒ऽअप॑रीतासऽउ॒द्भिदः॑।
दे॒वा नो॒ यथा॒ सद॒मिद् वृ॒धेऽअस॒न्नप्रा॑युवो रक्षि॒तारो॑ दि॒वेदि॑वे॥ २४॥
दे॒वानां॑ भ॒द्रा सु॑म॒तिर्ऋ॑जूय॒तां दे॒वानां॑ꣳ रा॒तिर॒भि नो॒ निव॑र्त्तताम्।
दे॒वानां॑ꣳ स॒ख्यमुप॑सेदिमा व॒यं दे॒वा न॒ऽआयुः॒ प्रति॑रन्तु जी॒वसे॑॥ २५॥
तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑॥ २६॥
स्व॒स्ति न॒ऽइन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वाः स्व॒स्ति नः॑ पू॒षा वि॒श्ववे॑दाः।
स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॒ऽअरि॑ष्टनेमिः स्व॒स्ति नो॒ बृह॒स्पति॑र्दधातु॥ २७॥
भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॒र्यजत्राः।
स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वाꣳस॑स्त॒नूभि॒र्व्य॑शेमहि दे॒वहि॑तं॒ यदायुः॑॥ २८॥

—यजुः० अ० २५। मं० १४,१५,१८,१९,२१॥

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥ २९॥
त्वमग्ने यज्ञानाꣳ होता विश्वेषाꣳ[1] हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥ ३०॥

—साम० छन्द आ० प्रपा० १[2]। मं० १, २॥

ये त्रि॑ष॒प्ताः प॑रि॒यन्ति॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॒ बिभ्र॑तः।
वा॒चस्पति॒र्बला॒ तेषां॑ त॒न्वो॑ अ॒द्य द॑धातु मे॥ ३१॥

—अथर्व० कां० १। सू० १। वर्ग १। अनु० १। प्रपा० १। मं० १॥[3]

॥ इति स्वस्तिवाचनम् ॥

१. सामवेद के कुछ संस्करणों और हस्तलेखों में यजुर्वेद के समान ꣳ देखा जाता है, कुछ में अनुस्वार ही मिलता है।

२. अर्ध प्र० १। दशति १। मन्त्र १, २॥

३. सरल पता—अथर्व० काण्ड १। सू० १। मं० १॥

अथ शान्तिकरणम्[1]

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥ १ ॥
शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ २ ॥
शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः ।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥ ३ ॥
शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम् ।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः ॥ ४ ॥
शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥ ५ ॥
शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥
शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः ।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्व१ः शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥
शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥

---

१. 'संस्कारविधि' के द्वितीय संस्करण में 'शान्तिकरण' पाठ ही है और तदनुसार ही आगे सर्वत्र 'शान्तिकरण' शब्द का ही उल्लेख है। हस्तलेखों में भी 'शान्तिकरण' पाठ ही सर्वत्र है। कर्मकाण्ड के प्राचीन ग्रन्थों में भी 'स्वस्तिवाचन' के साथ 'शान्तिकरण' का ही निर्देश मिलता है। संस्कारविधि के तृतीय संस्करण में 'प्र' बढ़ाकर 'शान्तिप्रकरण' बना दिया, परन्तु आगे ग्रन्थ में सर्वत्र 'शान्तिकरण' पाठ ही छपा है। ग्रन्थ के मध्य में भी अनेक स्थानों पर 'शान्तिकरण' पाठ सप्तम संस्करण तक मिलता है। हमने 'शान्तिकरण' मूल पाठ ही रक्खा है।

शं नो॑ दे॒वः स॑वि॒ता त्राय॑माण॒ः शं नो॑ भवन्तू॒षसो॑ विभा॒तीः।
शं नः॑ प॒र्जन्यो॑ भवतु प्र॒जाभ्य॒ः शं न॒ः क्षेत्र॑स्य॒ पति॑रस्तु श॒म्भुः ॥ १० ॥
शं नो॑ दे॒वा वि॒श्वदे॑वा भवन्तु॒ शं सर॑स्वती स॒ह धी॒भिर॑स्तु।
शम॑भि॒षाच॒ः शमु॑ राति॒षाच॒ः शं नो॑ दि॒व्याः पार्थि॑वा॒ः शं नो॒ अप्याः॑ ॥ ११ ॥
शं नः॑ स॒त्यस्य॒ पत॑यो भवन्तु॒ शं नो॒ अर्व॑न्त॒ः शमु॑ सन्तु॒ गावः॑।
शं न॑ ऋ॒भवः॑ सु॒कृतः॑ सु॒हस्ता॒ः शं नो॑ भवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ १२ ॥
शं नो॑ अ॒ज एक॑पाद् दे॒वो अ॑स्तु॒ शं नोऽहि॑र्बु॒ध्न्य१ः शं स॑मु॒द्रः।
शं नो॑ अ॒पां नपा॑त् पे॒रुर॑स्तु॒ शं न॒ः पृश्नि॑र्भवतु दे॒वगो॑पा ॥ १३ ॥

—ऋ० म० ७। सू० ३५। मं० १-१३॥

इन्द्रो॒ विश्व॑स्य राजति। शं नो॑ऽ अस्तु द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे ॥ १४ ॥
शं नो॒ वात॑ः पवता॒ᳫं शं न॑स्तपतु॒ सूर्यः॑।
शं न॒ः कनि॑क्रदद्दे॒वः प॒र्जन्यो॑ऽ अ॒भि व॑र्षतु ॥ १५ ॥
अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु न॒ः शᳫं रात्री॒ः प्रति॑ धीयताम्।
शं न॑ऽ इन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒ः शं न॒ऽ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या।
शं न॑ऽ इन्द्रापूष॒णा वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शं योः ॥ १६ ॥
शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १७ ॥
द्यौः शान्ति॑र॒न्तरि॑क्ष॒ᳫं शान्ति॑ः पृथि॒वी शान्ति॒राप॒ः शान्ति॒रोष॑धय॒ः शान्ति॑ः।
वन॒स्पत॑य॒ः शान्ति॒र्विश्वे॑ दे॒वाः शान्ति॒र्ब्रह्म॒ शान्ति॒ः सर्व॒ᳫं शान्ति॒ः शान्ति॑रे॒व
शान्ति॒ः सा मा॒ शान्ति॑रेधि ॥ १८ ॥
तच्चक्षु॑र्दे॒वहि॑तं पु॒रस्ता॑च्छु॒क्रमु॒च्चर॑त्। पश्ये॑म श॒रद॑ः श॒तं जीवे॑म श॒रद॑ः श॒तᳫं
शृणु॑याम श॒रद॑ः श॒तं प्र ब्र॑वाम श॒रद॑ः श॒तमदी॑नाः स्याम श॒रद॑ः श॒तं भूय॑श्च
श॒रद॑ः श॒तात् ॥ १९ ॥ — यजुः० अ० ३६। मं० ८, १०-१२, १७, २४॥
यज्जाग्र॑तो दू॒रमु॒दैति॒ दैवं॒ तदु॑ सु॒प्तस्य॒ तथै॒वैति॑।
दू॒र॒ङ्ग॒मं ज्योति॑षां॒ ज्योति॒रेकं॒ तन्मे॒ मन॑ः शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥ २० ॥
येन॒ कर्मा॑ण्य॒पसो॑ मनी॒षिणो॑ य॒ज्ञे कृ॒ण्वन्ति॑ वि॒दथे॑षु॒ धीराः॑।
यद॑पू॒र्वं य॒क्षम॒न्तः प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मन॑ः शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु ॥ २१ ॥

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ २२॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ २३॥
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ २४॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ २५॥

—यजुः० अ० ३४। मं० १-६॥

१ २ ३ २३ ३ १ २र ३ १ २र १ २ ३ १ २
स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते। शंꣳ राजन्नोषधीभ्यः॥ २६॥

—साम० उत्तरा० प्रपा० १। मं० ३॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥ २७॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ २८॥

—अथर्व का० १९। सू० १५। मं० ५, ६॥

॥ इति शान्तिकरणम् ॥§

§ इस स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण को सर्वत्र जहाँ-जहाँ प्रतीक धरें, वहाँ-वहाँ करना होगा।
—द०स०

अथ सामान्यप्रकरणम्

यज्ञदेश—यज्ञ का देश पवित्र, अर्थात् जहाँ स्थल, वायु शुद्ध हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो।

यज्ञशाला—इसी को 'यज्ञमण्डप' भी कहते हैं। यह अधिक-से-अधिक १६ [सोलह] हाथ सम चौरस, चौकोण और न्यून-से-न्यून ८ [आठ] हाथ की हो। यदि भूमि अशुद्ध हो, तो यज्ञशाला की पृथिवी और जितनी गहिरी वेदी बनानी हो, उतनी पृथिवी दो-दो हाथ खोद अशुद्ध [मट्टी] निकालकर उसमें शुद्ध मट्टी भरें। यदि १६ [सोलह] हाथ की सम चौरस हो तो चारों ओर २० [बीस] खम्भे और जो ८ [आठ] हाथ की हो तो १२ [बारह] खम्भे लगाकर उनपर छाया करें। वह छाया की छत्त वेदी की मेखला से १० [दश] हाथ ऊँची अवश्य होवे और यज्ञशाला के चारों दिशा में चार द्वार रक्खें और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा, पताका, पल्लव आदि बाँधें। नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन करें और कुंकुम, हल्दी, मैदा की रेखाओं से सुभूषित किया करें।

मनुष्यों को योग्य है कि सब मङ्गलकार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिए यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें। इसीलिए निम्नलिखित सुगन्धित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुण्ड में देवें।

यज्ञकुण्ड का परिमाण—जो लक्ष आहुति करनी हों, तो चार-चार हाथ का चारों ओर सम चौरस चौकोण कुण्ड ऊपर और उतना ही गहिरा और चतुर्थांश नीचे, अर्थात् तले में १ [एक] हाथ चौकोण लम्बा-चौड़ा रहे। इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों, उतना ही गहिरा-चौड़ा कुण्ड बनाना, परन्तु अधिक आहुतियों में दो-दो हाथ [अधिक] अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में ६ [छह] हस्त परिमाण का चौड़ा और सम चौरस कुण्ड बनाना और जो पचास हज़ार आहुति देनी हों, तो एक हाथ घटावे, अर्थात् तीन हाथ गहिरा-चौड़ा सम चौरस और पौन हाथ नीचे तथा पच्चीस हजार आहुति देनी हों, तो दो हाथ चौड़ा-गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे। दश हज़ार आहुति तक इतना ही, अर्थात् दो हाथ चौड़ा-गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे रखना। पाँच हज़ार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा-गहिरा सम चौरस और साढ़े आठ अंगुल नीचे रहे। यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है। यदि इसमें २५०० [ढाई हज़ार] आहुति मोहनभोग, खीर और २५०० [ढाई हज़ार] घृत की देवें, तो दो ही हाथ का चौड़ा-गहिरा सम चौरस और आध हाथ नीचे कुण्ड रक्खें।

चाहे घृत की हज़ार आहुति देनी हों, तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा-गहिरा सम चौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावें और इन कुण्डों में १५ [पन्द्रह] अंगुल की मेखला अर्थात् पाँच-पाँच अंगुल की ऊँची ३ [तीन] बनावें और ये ३ [तीन] मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी। प्रथम ५ [पाँच] अंगुल ऊँची और ५ [पाँच] अंगुल चौड़ी, इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावें।

यज्ञसमिधा—पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब, बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-छोटी कटवा लेवें, परन्तु ये समिधा कीड़ा लगी, मलिन-देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों। अच्छे प्रकार देख लेवें और चारों ओर बराबर कर बीच में चुनें।

होम के द्रव्य चार प्रकार—(प्रथम—**सुगन्धित**) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि। (द्वितीय—**पुष्टिकारक**) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ उड़द आदि। (तीसरे—**मिष्ट**) शक्कर, सहत, छुवारे, दाख आदि। (चौथे—**रोगनाशक**) सोमलता अर्थात् गिलोय[1] आदि ओषधियाँ।

स्थालीपाक नीचे लिखे विधि से भात, खिचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि सब उत्तम पदार्थ बनावें। इसका प्रमाण—

ओं देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण [वसोः] सूर्यस्य रश्मिभिः ॥[2]

इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि होम के सब द्रव्य को यथावत् शुद्ध कर लेना अवश्य चाहिए, अर्थात् सबको यथावत् शोध-छान, देखभाल सुधार कर करें। इन द्रव्यों को यथायोग्य मिलाके पाक करना। जैसेकि सेर घी के मोहनभोग में रत्तीभर कस्तूरी, मासेभर केशर, दो मासे जायफल-जावित्री, सेरभर मीठा, सब डालकर मोहनभोग बनाना। इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खीचड़ी[3], मोदक आदि होम के लिए बनावें।

चरु अर्थात् होम के लिए पाक बनाने का विधि—'ओम् अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि'[4] अर्थात् जितनी आहुति देनी हों, प्रत्येक आहुति के लिए चार-चार मूठी चावल आदि लेके[5] (**ओम् अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**[6]) अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके पाकस्थाली में डाल अग्नि से पका लेवें। जब होम के लिए दूसरे पात्र में लेना हो, तभी नीचे लिखी आज्यस्थाली में निकालके यथावत् सुरक्षित रक्खें और उसपर घृत सेचन करें।

[यज्ञपात्र]

यज्ञपात्र—विशेषकर चाँदी, सोना[7] अथवा काष्ठ के पात्र होने चाहिएँ। निम्नलिखित प्रमाणे—

अथ पात्रलक्षणान्युच्यन्ते[8]**—बाहुमात्र्यः पाणिमात्रपुष्कराः, षडङ्गुलखातास्त्वग्बिला**

---

१. '**सोमः गिलोय इति भाषा**'। व्युत्पत्तिसार नामक उणादिवृत्ति, हमारा हस्तलेख पृ० ३८।

२. तै० सं० १।२।१।२॥

३. यज्ञ में लवण का निषेध होने से इसमें नमक नहीं डाला जाएगा।

४. तुलना करो—आश्व० गृह्य० १।१०।६॥

५. प्रत्येक आहुति के लिए चार मुट्ठी चावल आदि लेकर जो हव्य पदार्थ बनाया जाता है, उसमें से केवल दो अंगुष्ठ पर्वमात्र हवि से आहुति दी जाती है। शेष हव्य पदार्थ ऋत्विग् और यजमान (पति-पत्नी) द्वारा भक्ष्य होता है।

६. यजुः० १।१३॥

७. 'सोना' क, ख हस्तलेखों में है। यह आवश्यक है। आगे समिदाधान के मन्त्रों के पश्चात् की भाषा में तथा अन्त्येष्टिप्रकरण में 'ओमग्नये स्वाहा' से पूर्व के भाषा सन्दर्भ में भी सोने के पात्रों का उल्लेख मिलता है। पञ्चमहायज्ञविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थ-प्रकाश समु० ३ में यज्ञपात्र के प्रसङ्ग में सोने का भी निर्देश है।

८. आगे वक्ष्यमाण पात्रलक्षण किस ग्रन्थ से उद्धृत किये हैं, यह अज्ञात है। कात्यायन, आपस्तम्ब, शांखायन आदि श्रौतसूत्रों तथा अन्य अर्वाचीन ग्रन्थों में इनका विधान मिलता है, परन्तु परिमाण में परस्पर कुछ भेद है।

ये पात्र 'संस्कारविधि' में प्रयुक्त नहीं होते, फिर भी ग्रन्थकार ने इनका यहाँ निर्देश किया है। आचार्य स्वग्रन्थों में बहुत्र उद्धृत 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त' श्रौतयज्ञों का विधान भी बनाना चाहते थे, जिसे वे पूरा न कर सके। यहाँ पर उद्धृत पात्र श्रौत-दर्शपौर्णमास इष्टि में प्रयुक्त होते हैं।

हंसमुखप्रसेकाः, मूलदण्डाश्चतस्त्रः स्त्रुचो भवन्ति। तत्र पालाशी जुहूः, आश्वत्थ्युपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा, अग्निहोत्रहवणी च।

अरत्निमात्रः खादिरः स्त्रुवः, अंगुष्ठपर्वमात्रपुष्करः, तथाविधो द्वितीयो वैकङ्कतः स्त्रुवः।

वारणं बाहुमात्रं मकराकारम्, अग्निहोत्रहवणीनिधानार्थं कूर्चम्।

अरत्निमात्रं खादिरं खड्गाकृतिवज्रम्।

वारणान्यहोमसंयुक्तानि—तत्रोलूखलं नाभिमात्रम्। मुसलं शिरोमात्रम्। अथवा मुसलोलूखले वार्क्षे[1] सारदारुमये शुभे इच्छाप्रमाणे भवतः। तथा—

खादिरं मुसलं कार्यं पालाशः स्यादुलूखलः। यद्वोभौ वारणौ कार्यौ तदभावेऽन्यवृक्षजौ॥

शूर्पं वैणवमेव वा ऐषीकं नलमयं वाऽचर्मबद्धम्।

प्रादेशमात्री वारणी शम्या।

कृष्णाजिनमखण्डम्।

दृषदुपले अश्ममये।

वारणीं २४ [2]हस्तमात्रीं, २२ अरत्निमात्रीं वा खातमध्यां मध्यसंग्रहीतामिडापात्रीम्।

अरत्निमात्राणि ब्रह्मयजमानहोतृपत्न्यासनानि।

मुञ्जमयं त्रिवृतं व्याममात्रं योक्त्रम्।

प्रादेशदीर्घे अष्टाङ्गुलायते षडङ्गुलखातमण्डलमध्ये पुरोडाशपात्र्यौ।

प्रादेशमात्रं द्व्यङ्गुलपरीणाहं तीक्ष्णाग्रं शृतावदानम्।

आदर्शाकारे चतुरस्त्रे वा प्राशित्रहरणे। तयोरेकमीषतखातमध्यम्।

षडङ्गुलं कङ्कतिकाकारमुभयतःखातं षडवत्तम्।

द्वादशाङ्गुलमर्द्धचन्द्राकारमष्टाङ्गुलोत्सेधमन्तर्द्धानकटम्।

उपवेशोऽरत्निमात्रः।

मुञ्जमयी रज्जुः।

खादिरान् द्वादशाङ्गुलदीर्घान् चतुरङ्गुलमस्तकान् तीक्ष्णाग्रान् शङ्कून्।

यजमानपूर्णपात्रं [3]पत्नीपूर्णपात्रं च द्वादशाङ्गुलदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तारं चतुरङ्गुलखातम्। तथा प्रणीतापात्रञ्च।

आज्यस्थाली द्वादशाङ्गुलविस्तृता प्रादेशोच्चा।

तथैव चरुस्थाली। अन्वाहार्यपात्रं[3] पुरुषचतुष्टयाहारपाकपर्याप्तम्।

समिदिध्मार्थं[4] पलाशशाखामयम्।

---

१. '**वार्क्षे**' पाठ द्वितीय संस्करण में है।

२. हस्त शब्द से पूर्वनिर्दिष्ट २४ संख्या २४ अङ्गुल प्रमाण की बोधक है। २४ अंगुल का हस्त होता है। इसी प्रकार अरत्नि शब्द से पूर्वपठित २२ संख्या २२ अंगुल प्रमाण की बोधक है। **बद्धमुष्टिररत्निः स्यात्** (कोश)।

३. '**पत्नीपूर्णपात्रं**' से लेकर '**अन्वाहार्यपात्रं**' तक पाठ द्वितीय संस्करण में नहीं है। प्रतीत होता है कि दोनों शब्दों के अन्त में '**पात्रं**' समान पाठ होने से अक्षरसंयोजक के दृष्टिदोष से पाठ छूट गया। वह तृतीय सं० में पूरा किया गया।

४. यहाँ पाठभ्रंश प्रतीत होता है। आगे हिन्दी में लिखे विवरण के अनुसार '**समित् इध्म-परिध्यर्थ**' पाठ होना चाहिए।

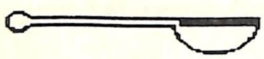
कौशं बर्हिः। ऋत्विग्वरणार्थं कुण्डलाङ्गुलीयकवासांसि।

पत्नीयजमानपरिधानार्थं क्षौमवासश्चतुष्टयम्।

अग्न्याधेयदक्षिणार्थं चतुर्विंशतिपक्षे एकोनपञ्चाशद् गावः, द्वादशपक्षे पञ्चविंशतिः, षट्पक्षे त्रयोदश, सर्वेषु पक्षेषु आदित्येष्टौ धेनुः।[१]

वरार्थं[२] चतस्रो गावः।

स्रुवः ४, अंगुल २४[३]



शम्या प्रादेश १



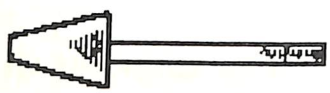
अरणी ४



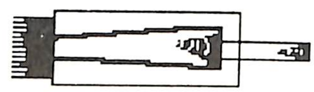
उपल



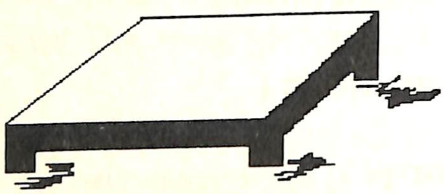
शृतावदान प्रादेशमात्र



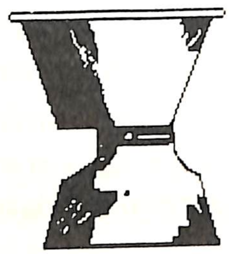
कूर्च बाहुमात्र १



पाटला ४, लम्बा २४ अंगुल



उलूखल नाभिमात्र



मुसल



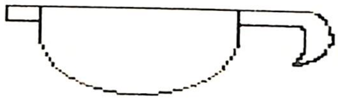
---

१. श्रौत अग्न्याधेय में पवमान, पावक और आदित्यसंज्ञक तीन 'तनूहवि' नामक इष्टियाँ होती हैं। इनमें प्रथम दो इष्टियों की दक्षिणा का विधान करते हुए कात्यायनश्रौतसूत्र (४।१०।१४) में निर्दिष्ट आदित्येष्टि (अदितिदेवतावाली) की १ दक्षिणा मिलाकर चौबीस पक्ष में ४९, बारह पक्ष में २५ और छह पक्ष में १३ गौएँ दक्षिणा देने का विधान किया है। एक पक्ष यह भी है कि नियत संख्या से १ गाय अधिक देनी चाहिए (का० श्रौ० ४।१०।१५)। तदनुसार आदित्येष्टि की गाय मिलाकर क्रमशः ५०, २६, १४ होती हैं, अर्थात् ४९, २५, १३ से आदित्येष्टि की दक्षिणा अलग गिनी जाती हैं। अन्त का **'सर्वेषु पक्षेषु आदित्येऽष्टौ धेनवः'** मुद्रित पाठ भ्रष्ट है। दोनों हस्तलेखों में **'आदित्येऽष्टौ धेनुः'** पाठ है। इसमें ऽ चिह्नमात्र व्यर्थ है। उसे हटाने से शेष पाठ शुद्ध हो जाता है। **'धेनुः'** एकवचन के प्रयोग से एक ही धेनु प्रदेय है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। अथवा यहाँ **'सर्वेषु पक्षेषु आदित्येष्टौ एका धेनुः'** ऐसा विस्पष्ट पाठ होना चाहिए।

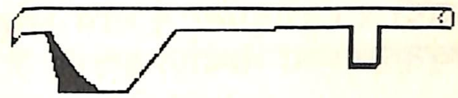
२. संस्कारचन्द्रिका में **'वरार्थं'** के स्थान पर **'वरणार्थं'** पाठ-शोधन दर्शाया है, वह ठीक नहीं है। अग्न्याधान कर्म में अग्न्याधान के अनन्तर चारों ऋत्विजों को **'वरं ददाति'** (का० श्रौ० ४८।८) से वर—अभिलषित वस्तु प्रदान करने का विधान किया है। **'गौर्ब्राह्मणस्य वरः'** (पार० गृ० १।८।२५). नियमानुसार ब्राह्मण को गौ के वर का विधान है, अतः यहाँ चार ऋत्विजों के **'वर'** के लिए चार गायों का विधान किया है। ऋत्विजों के वरणार्थ कुण्डल आदि का विधान पूर्व कर चुके हैं।

३. संस्कृतभाग में स्रुव का परिमाण अरत्नि लिखा है। अरत्नि २२ अंगुल का होता है, अतः 'अं० २४' के स्थान पर 'अं० २२' पाठ होना चाहिए। इसी प्रकार 'स्रुवः' ४ के स्थान में 'स्रुवः २' पाठ होना चाहिए। संस्कृतपाठ में २ स्रुव का ही विधान है।

पूर्णपात्र अ० १२, चौड़ा अंगुल ६



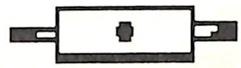
स्रुच सर्व ४, बहुमात्र



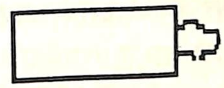
अग्नि १, अं० २४



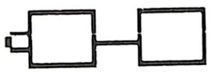
ओवली अं० १२



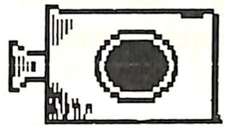
चात्र अं० १२



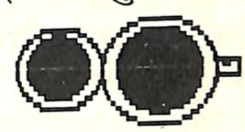
षडवत्त अं० २४



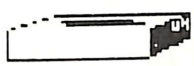
पुरोडाशपात्री



इडा अंगुल २४[1]



अंगुल ६ पोली अंगुल ४ ऊँची अधरारणी



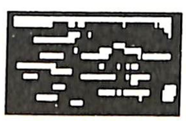
प्राशित्रहरणे दर्पणाकार[2]



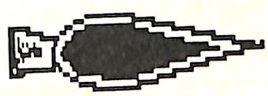
पिष्टपात्री



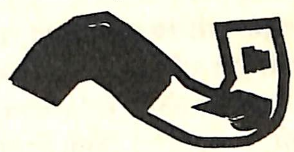
प्रणीता अं० १२



प्रोक्षणी अं० १२



अंगोछा २४ अं० लंबा



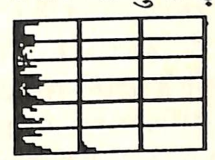
अन्तर्धान १, अं० १२



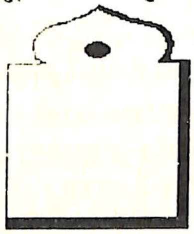
खाँडा अंगुल २४



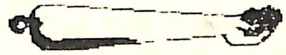
उत्तरारणी टुकड़ा १८



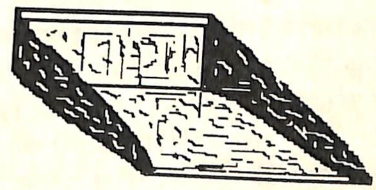
मूलेखात दृषद्



उपवेश १, अं० २४



शूर्प



१. क. हस्तलेख में अंगुल २४ शुद्ध पाठ है। संस्कृत में २४ और २२ का विकल्प दर्शाया है। ख. हस्तलेख तथा अजमेर मुद्रित में अंगुल १२ अपपाठ है।

२. प्राशित्रहरण के समीप उसका ढक्कन है, अतः इसका परिमाण भी चित्र में उतना ही दिखाना चाहिए। प्राशित्रहरण में द्विर्वचन ऊपर नीचे के पात्रों की दृष्टि से है, वैसे दोनों मिलकर एक पात्र माना जाता है।

[१]समिध पलाश की १८ हस्तमात्र[२], इध्म[३] परिधि ३ पलाश की बाहुमात्र।

सामिधेनी समित् प्रदेशमात्र। समीक्षण लेर ५[४]।

शाटी १। दृषदुपल[५] १ दीर्घ अंगुल १२ पृ० ५३[६]। उपल अंगुल ६। नेतु[७] व्याम=हाथ ४, त्रिवृत् तृण वा गोबाल का।

अथ ऋत्विग्वरणम्

यजमानोक्तिः—'ओमावसोः सदने सीद'[८]।

इस मन्त्र का उच्चारण करके ऋत्विज् को कर्म कराने की इच्छा से स्वीकार करने के लिए प्रार्थना करे।

ऋत्विगुक्तिः—'ओं सीदामि'।

ऐसा कहके जो उसके लिए आसन बिछाया हो उसपर बैठे।

यजमानोक्तिः—'अहमद्योक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे'।

ऋत्विगुक्तिः—'वृतोऽस्मि'।

ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों के पाठ के पश्चात् यज्ञ का आरम्भ यजमान की 'ओमावसोः सदने सीद' (हे भगवन्! यज्ञ के आसन पर आकर बैठिए) इस उक्ति से होता है। इसपर ऋत्विज् के 'ओं सीदामि' कहने पर पूर्वनियोजित पुरोहित, यजमान आदि अपना-अपना आसन ग्रहण करते हैं। शिष्टाचार के नाते यह आवश्यक है कि जिसके द्वारा हम यज्ञ-जैसा श्रेष्ठतम कर्म कराना चाहते हैं अथवा किसी सभा की अध्यक्षता कराना चाहते हैं उससे इस निमित्त प्रार्थना करें।

---

१. यह पाठ ख. हस्तलेख वा संस्करण २ में यज्ञ के चित्रों के पीछे ही निर्दिष्ट है। तृतीय संस्करण में छपाई की सुविधा की दृष्टि से यज्ञपात्रचित्रों से पूर्व कर दिया गया। तब से अब तक अस्थान में ही छप रहा है।

२. क. हस्तलेख में 'हस्तत्र' पाठ है। इसमें 'मा' शब्द लेखकप्रमाद से छूट गया है। तृतीय ख. हस्तलेख में 'त्र' को काटकर '३' बना दिया है। उससे सारा पाठ अशुद्ध हो गया। कात्या० श्रौत० १। ३। १८ की विद्याधर शास्त्रीकृत टीका में इध्म=समित् का एक हाथ परिमाण ही लिखा है। अन्य आचार्य २ प्रादेश (११×२=२२ अंगुल अरत्नि) प्रमाण मानते हैं।

३. ख. हस्तलेख और मुद्रित संस्करणों में '१८ हस्त ३ इध्म परिधि ३' पाठ है। इसके अनुसार यहा २४ संख्या कही है। यहाँ वस्तुतः हमारे द्वारा उपरिनिर्दिष्ट क. हस्तलेख का पाठ ठीक है।

४. समीक्षण पद से यहाँ इध्म=समित् बाँधने की रस्सी अभिप्रेत है। लेर ५=लड़ी ५। इध्म बाँधने की रस्सी अयुग्म=३,५,७,९ लड़ीवाली बनाने का विधान है—'**अयुग्धातूनि यूनानि।**' का०श्रौ० १।३।१४॥

५. यहाँ केवल 'दृषद्' का निर्देश होना चाहिए। उपल का निर्देश आगे किया है।

६. यह पृष्ठ संख्या इस संस्करण की है। यहाँ संस्करण २ में 'पृष्ठ १५' का निर्देश है। पृष्ठ १५ पर दृषद् उपल का निर्देश नहीं है, वहाँ यज्ञ-समिधा का निर्देश है। यह संख्या कुछ संस्करणों में बदलती भी रही है। यथा संस्क० ७ में 'पृष्ठ सं० १७' दी है। हमारे विचार में संस्करण २ में निर्दिष्ट १५ पृ० संख्या प्रेस कापी के उस पृष्ठ की संख्या है, जिसपर दृषद् का चित्र था। इसे न समझकर उत्तर संस्करणों में परिवर्तन होता रहा है।

७. 'नेतु' यह प्रादेशिक भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है—दही बिलोने की मथानी की रस्सी। इसे कहीं 'नेति' भी कहते हैं। इसका संस्कृत नाम 'नेत्र' है। अग्न्याधान में इससे अरणी-मन्थन किया जाता है। क. हस्तलेख में 'व्याम' शब्द है। मूल संस्कृतपाठ में भी 'व्याम' शब्द है। दोनों हाथ फैलाने पर जितना परिमाण होता है, वह 'व्याम' कहाता है। यह चार हाथ के बराबर होता है। अजमेर-मुद्रित संस्करणों में 'व्यास' पाठ मिलता है। 'व्यास' पाठ होने पर अर्थ होगा—'लम्बाई हाथ ४'।

८. तुलना—गोभिलगृह्य० १।५।१५

ऋत्विजों के लक्षण—अच्छे विद्वान्, धार्मिक, जितेन्द्रिय, कर्म करने में कुशल, निर्लोभ, परोपकारी, दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, सुशील, वैदिक मत वाले, वेदवित् एक, दो, तीन अथवा चार का वरण करें।

जो एक हो तो उसका पुरोहित, और जो दो हों तो ऋत्विक् पुरोहित, और तीन हों तो ऋत्विक् पुरोहित और अध्यक्ष, और जो चार हों तो होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा।

इनका आसन वेदी के चारों ओर, अर्थात् होता का वेदी से पश्चिम आसन पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिण मुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख, और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिए और यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख, अथवा दक्षिण में[१] आसन पर बैठके उत्तराभिमुख रहे। और इन ऋत्विजों को सत्कारपूर्वक आसन पर बैठना, और वे प्रसन्नतापूर्वक आसन पर बैठें और उपस्थित कर्म के बिना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें।

[१. आचमन-अङ्गस्पर्श]

और अपने-अपने जलपात्र से सब जने, जोकि यज्ञ करने को बैठे हों, वे इन मन्त्रों से तीन-तीन **आचमन** करें, अर्थात् एक-एक से एक-एक बार आचमन करें। वे मन्त्र ये हैं—

[२]**ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥** इससे एक।

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥ इससे दूसरा।

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥[३] इससे तीसरा आचमन करके, तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल-स्पर्श करके **अङ्गों का स्पर्श** करें—

सबके आसन ग्रहण कर लेने पर यजमान संस्कार कराने के लिए पुरोहित का वरण करता है।

संकल्पोच्चारण

ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्तिविषय के अन्तर्गत संकल्पोच्चारण की विधि को आर्यों के आदिसृष्टि के इतिहास से लेकर बोलते रहने को प्रशस्य बताया है। वहाँ का पाठ इस प्रकार है—

'ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीय प्रहरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्त्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते च।'

तदनन्तर पुरोहित के निर्देशन में आचमन तथा अङ्गस्पर्शादि में प्रवृत्त हों। वस्तुतः विधिविशारद पुरोहित की अनुपस्थिति में याज्ञिक प्रक्रिया का विधिवत् संचालन सम्भव नहीं।

आचमन कितने होते हैं? बौधायनसूत्र (४।७।३) में लिखा है—'त्रिराचमेत्'। इसी प्रकार गोपथ में कहा है—'त्रिःआचमति'। इसकी व्याख्या में बौधायन में लिखा है—'प्रथमे यत् पिबति तेन ऋग्वेदं प्रीणति। द्वितीयेन यजुर्वेदं प्रीणति। यत्तृतीयं तेन सामवेदं प्रीणति (४।७।४)। इस प्रकार यजमान ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद को तृप्त करके अपने को त्रयीविद्या से संयुक्त करता है।

---

१. इस विकल्प की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिए—ग्रन्थकार के मतानुसार यदि यजमान आहुति दे, तो वह पश्चिम में बैठे और यदि प्राचीन मतानुसार केवल त्यागमात्र करे ('इदं न मम' ही बोले) तो वह दक्षिण में बैठे।

२. यहाँ से लेकर 'इन्द्राय स्वाहा' तक के मन्त्रों का अर्थ 'वैदिक नित्यकर्मविधि' पृष्ठ ८१—८५ तक देखें।

३. तुलना—आश्व० गृह्य० १।२४।१२, २१, २२॥ वहाँ 'स्वाहा' पद नहीं है।

ओं वाङ्म आस्येऽस्तु ॥ इस मन्त्र से मुख।

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र।

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों आँखें।

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों कान।

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों बाहु।

ओम् ऊर्वोर्मऽओजोऽस्तु ॥ इस मन्त्र से दोनों जंघा और

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥[१]

इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल-स्पर्श करके मार्जन करना। (पुनः) पूर्वोक्त समिधाचयन वेदी में करें। पुनः—

[अग्न्याधान[२]]

ओं भूर्भुवः स्वः ॥[३]

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला, अथवा घृत का दीपक जला, उससे कपूर में लगा, किसी एक पात्र में धर, उसमें छोटी-छोटी लकड़ी लगाके यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा, यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे। वह मन्त्र यह है—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ —यजुः० अ० ३। मं० ५॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर, उसपर छोटे-छोटे काष्ठ और थोड़ा कपूर धर, अगला मन्त्र पढ़के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे—

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥
—यजुः० अ० १५। मं० ५४॥

आचमन के इन तीन मन्त्रों में अविनाशी (अमृत) परमेश्वर को अपना बिछौना (उपस्तरण) तथा ओढ़ना (अपिधान), अर्थात् सब प्रकार से अपना रक्षक बतलाते हुए उपासक प्रभु से प्रार्थना करता है कि सचाई से प्राप्त किया हुआ धन और यश मेरी शोभा बढ़ाएँ, अर्थात् जो कुछ मुझे मिले वह सुपथ से प्राप्त हो।

परन्तु उपनयन-संस्कार में पहले आचमनादि और तत्पश्चात् ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना आदि का विधान किया है। ऐसा क्यों? उपनयन संस्कार के समय ब्रह्मचारी आचार्य के साथ वेदपाठ में भाग लेता है। वेदवाणी के लिए यज्ञोपवीती होना आवश्यक है और यज्ञोपवीत धारण करने के लिए आचमन तथा अङ्गस्पर्श आदि करना अनिवार्य है। इस कारण उपनयन-संस्कार में पहले आचमनादि

---

१. द्रष्टव्य—पारस्करगृह्य० १।३।२५॥ अत्राह कर्कः—साकाङ्क्षत्वाद् 'अस्तु' इत्यध्याहारः। 'मे' इत्यस्य च सर्वत्रानुषङ्गः। अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूरित्यत्र 'सन्तु' इत्यध्याहारः। एतन्नियमे प्रतिमन्त्रं पाठकल्पना द्रष्टव्या।

२. आज्याहुतिपर्यन्त अग्न्याधान-सम्बन्धी मन्त्र हैं। ३. गोभिलगृह्य० १।१।११॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे, तब चन्दन की अथवा ऊपरिलिखित पलाशादि की तीन लकड़ी आठ-आठ अंगुल की घृत में डुबा, उनमें से एक-एक निकाल नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ावें। वे मन्त्र ये हैं—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-वर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे— इदं न मम ॥१ ॥[1] इस मन्त्र से एक।

ओं स॒मिधा॒ग्निं दु॑वस्यत घृ॒तैर्बो॑धय॒ताति॑थिम्। आस्मि॑न् ह॒व्या जु॑होतन॒ स्वाहा॑॥ इदमग्नये—इदं न मम ॥२ ॥ इससे, और

ओं सुस॑मिद्धाय शो॒चिषे॑ घृ॒तं ती॒व्रं जु॑होतन। अ॒ग्नये॑ जा॒तवे॑दसे॒ स्वाहा॑॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम ॥३ ॥ इस मन्त्र से अर्थात् इन दोनों से दूसरी।

ओं तन्त्वा॑ स॒मिद्भि॑रङ्गिरो घृ॒तेन॑ वर्धयामसि। बृ॒हच्छो॑चा यविष्ठ्य॒ स्वाहा॑॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदं न मम ॥४ ॥ —यजुः० अ० ३। मं० १, २, ३ ॥[2]

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवें।

क्रिया और तत्पश्चात् स्तुतिप्रार्थनोपासन का विधान किया गया है।

८-८ अंगुल की तीन समिधा—अग्न्याधान के पश्चात् घृत में डुबोकर मन्त्रपूर्वक जिन तीन समिधाओं का प्रयोग होता है वे 'सामधेनी समित्' कहाती हैं। वे जहाँ तक हो सके, चन्दन की और बालिश्तभर या आठ अंगुल की होनी चाहिएँ। प्राणतोषिणी में इनके बारे में लिखा है—

आर्द्रत्वचां समच्छदां तर्जन्यंगुलीवर्त्तुलाम्। ईदृशीं होमयेत्प्राज्ञः प्राप्नोति विपुलां श्रियम्॥

गीली त्वचा (छिलके) से अच्छी तरह आवृत और तर्जनी अंगुली के समान गोल समिधा होम में प्रयुक्त होने से यजमान अत्यधिक श्री को प्राप्त होता है।

गीली समिधा का अर्थ घी में डूबी हुई है। ग्रन्थकार ने सामिधेनी समिधाओं को घी में डूबोकर रखने का आदेश दिया है जिससे उनके ऊपर का छिलका घृत से पूर्णतः सिक्त हो जाए।

गायत्री सब छन्दों की माता है। सब मन्त्रों में गायत्री ही ओत-प्रोत है। उसी के आधार पर सब छन्द बने कहे जाते हैं, अतः गायत्री ही समस्त विश्व की समिधा व प्राण है। गायत्री त्रिपदा—तीन चरण की होने से यज्ञाग्नि की आत्मा है। प्राणरूप सामिधेनी समिधाएँ भी तीन हैं। जैसे त्रिपदा गायत्री का प्रत्येक पद आठ अक्षरों का होता है, वैसे ही यज्ञ की तीन मुख्य समिधाओं में से प्रत्येक समिधा आठ अंगुल की होती है। समिदाधान के लिए ग्रन्थकार लिखते हैं—"तीन लकड़ी घृत में डुबा, उनमें से एक-एक निकाल, एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा चढ़ावें। वे मन्त्र ये हैं"—मन्त्र चार हैं, पर समिधाएँ तीन हैं। तब एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा चढ़ाने की बात कैसे बनेगी? इसीलिए शायद लिख दिया—"'समिधाग्निम्०' इससे और 'सुसमिद्धाय०' इस मन्त्र से, अर्थात् इन दोनों से

---

१. स्वाहा-पर्यन्त मन्त्र आश्व० गृह्य० १।१०।१२॥ 'इदं...इदं न मम' अंश सर्वत्र मन्त्र से बहिर्भूत होता है। यह यज्ञ में स्वस्वत्व-निवृत्तिपूर्वक देवतास्वत्वापादन के लिए यजमान द्वारा बोला जाता है।

२. यजुर्वेद में इन मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' पद नहीं है। इसी प्रकार 'इदं...इदन्न मम' भी पूर्ववत् मन्त्र से बहिर्भूत अंश है। ऐसे ही सर्वत्र समझें। स्वाहा पद का योग होने पर पूर्वपद के स्वर को हमने संहिता-स्वर के अनुसार कर दिया है।

इन मन्त्रों से समिदाधान करके होम का शाकल्य, जोकि यथावत् विधि से बनाया हो, सुवर्ण, चाँदी, काँसा आदि धातु के पात्र अथवा काष्ठ-पात्र में वेदी के पास सुरक्षित धरें। पश्चात् ऊपरिलिखित घृतादि जोकि उष्ण कर छान, पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिलाकर पात्रों में रक्खा हो, उसमें से कम-से-कम ६ मासाभर घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो, अधिक-से-अधिक छटांक-भर की आहुति देवें, यही आहुति का प्रमाण है।

उस घृत में से चमसा कि जिसमें छह मासा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भरके नीचे लिखे मन्त्र से पाँच आहुति देनी—

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम ॥५ ॥

तत्पश्चात् वेदी के पूर्व दिशा आदि, और अञ्जलि में जल लेके चारों ओर छिड़कावे[1]। उसके ये मन्त्र हैं—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥ इस मन्त्र से पूर्व।

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ इससे पश्चिम।

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥[2] इससे उत्तर और—

दूसरी।'' परन्तु 'एक-एक मन्त्र से एक-एक' तथा 'दोनों से एक' परस्पर विरोधी कथन हैं। इस विसंगति को दूर करने अथवा सामंजस्य स्थापित करने के लिए विद्वज्जन द्रविड़ प्राणायाम अथवा शीर्षासन करके दूर की कौड़ी लाने का प्रयास करते रहते हैं, परन्तु एक मन्त्र को कम किये बिना संगति बिठाना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

वस्तुतस्तु ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में पहले 'अयन्त इध्म आत्मा०' इस मन्त्र का निर्देश न करके कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार 'समिधाग्निम्०', 'सुसमिद्धाय०' तथा 'तन्त्वा समिद्भिः०' इन तीन मन्त्रों से समिधा देने का विधान किया था। तत्पश्चात् सम्भवतः बालाजी विट्ठल गावसकर विरचित 'वेदोक्त संस्कारप्रकाश' को देखकर आश्वलायनगृह्यसूत्र के अनुसार 'अयन्त इध्म आत्मा०' इस मन्त्र से समिधा डालने का विधान किया और हस्तलेख के हाशिये पर बढ़ा दिया, परन्तु समयाभाव के कारण तत्सम्बन्धी वाक्यों में अपेक्षित संशोधन वे नहीं कर पाये, परन्तु किसी एक मन्त्र को हटाये बिना सन्तोषजनक समाधान सम्भव नहीं होगा। 'अयन्त इध्म आत्मा०' में 'इध्म' को अग्नि की आत्मा बतलाते हुए कहा गया है—'तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान्'—इस समिधा से प्रदीप्त हो, बढ़ और हमें भी बढ़ा। 'इध्म' शब्द यज्ञ में प्रयुक्त ईंधन या लकड़ी के लिए परिभाषित है। इसलिए इस मन्त्र से एक—पहली समिधा चढ़ाई जानी चाहिए। 'समिधाग्निं दुवस्यत०' तथा 'तन्त्वा समिद्भिः' इन दोनों मन्त्रों में भी समिधा चढ़ाये जाने का स्पष्ट संकेत विद्यमान है। 'सुसमिद्धाय शोचिषे०' इस मन्त्र के भाष्य में ग्रन्थकार ने लिखा है—''(सुसमिद्धाय) सुष्ठु सम्यगिद्धो दीप्तस्तस्मिन् (तीव्रम्) सर्वदोषाणां निवारणे तीक्ष्णस्वभावम् (घृतम्) आज्यम् (जुहोतन) प्रक्षिपत'' (यजुर्भाष्य ३। २), अर्थात् अच्छी तरह प्रदीप्त अग्नि में सब दोषों का निवारण करने में तीक्ष्ण स्वभाववाले घी को डालो।

---

१. यह पाठ कुछ विपर्यसित हो गया है। यह इस प्रकार होना चाहिए—''तत्पश्चात् अञ्जलि में जल लेके वेदी के पूर्व दिशा आदि और चारों ओर छिड़कावें।''

२. गोभिलगृह्य० १।३।१-३॥

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥

—यजुः०अ० ३०। मं० १॥

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावे।

इसके पश्चात् **सामान्यहोमाहुति** गर्भाधानादि प्रधान संस्कारों में अवश्य करें। इसमें मुख्य होम के आदि और अन्त में[१] जो आहुति दी जाती हैं, उनमें से यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग में जो एक आहुति, और यज्ञकुण्ड के दक्षिणभाग में दूसरी आहुति देनी होती है, उनका नाम "**आघाराहुति**" है और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियाँ दी जाती हैं, उनका नाम "**आज्यभागाहुति**" है। सो घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा, मध्यमा, अनामिका से स्रुवा को पकड़के—

ओम् अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥[२]

इस मन्त्र से वेदी के **उत्तरभाग अग्नि में।**

ओं सोमाय स्वाहा॥ इदं सोमाय—इदं न मम॥[२]

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिणभाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी। तत्पश्चात्—

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम॥[३]

ओम् इन्द्राय स्वाहा॥ इदमिन्द्राय—इदं न मम॥[४]

इन दोनों मन्त्रों[५] से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी।

इस प्रकार यह मन्त्र घृत की आहुति का निर्देश करता है, समिधा चढ़ाने में इसका विनियोग नहीं हो सकता। इस पुष्ट आधार पर इसे निकाल देने पर तीन मन्त्र रह जाते हैं और एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा डालने में कोई असामंजस्य नहीं रहता। सुधीजनपूर्वाग्रह से मुक्त होकर इस सारे प्रसङ्ग पर विचार करें। ऋषियों ने तर्क को आचार्यस्थानीय माना है।

लेखन या मुद्रणकाल में अथवा अन्यथा हुई भूल के विषय में तर्काचार्य से परामर्श करना कोई अपराध नहीं है।

सामान्य प्रकरण का विधि-विधान प्रायः सर्वत्र एक-जैसा है। उसमें प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थ भी अनेकत्र उपलब्ध हैं। पिष्टपेषण करके समय और शक्ति का अपव्यय क्यों किया जाए?

---

१. अर्थात् 'आघाराहुति' प्रधानहोम के आदि में तथा 'आज्यभागाहुति' प्रधानहोम के अन्त में दी जाती है, ऐसा प्राचीन श्रौतकारों का मत है।

२. यजुः० १०।५; २२।६; २७; गोभिलगृह्य० १।८।५॥

३. यजुः० २२।३२॥

४. यजुः० २२।६, २७॥

५. कर्मकाण्ड के प्राचीन आर्षग्रन्थों को, जिन्हें ऋषि दयानन्द प्रमाण मानते हैं, देखने से विदित होता है कि 'संस्कारविधि' में इस प्रकरण में 'आघाराहुति' और 'आज्यभागाहुति' के मन्त्र और उनकी आहुतियों से सम्बद्ध निर्देश की पंक्तियाँ ऊपर नीचे अस्थान में छप गई हैं। [द्र०—कात्या० श्रौत०—पूर्वाधार (३।१।१२); उत्तराधार (३।२।१); आज्यभाग (३।३।१०) टीकाएँ भी । आप० श्रौ० पूर्वाधार (२।१२।७); उत्तराधार (२।१४।१); आज्यभाग (२।१८।१, ५, ६) टीकाएँ भी । आज्यभागाहुति—गोभिलगृह्य० (१।८।४, ५)]। इनमें प्रथम आघार के मन्त्र—

उसके पश्चात् चार आहुति अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति देके[१], जब प्रधान होम अर्थात् जिस-जिस कर्म में जितना-जितना होम करना हो करके, पश्चात् भी पूर्णाहुति से पूर्व पूर्वोक्त चार (आघारावाज्यभागा०[२]) देवें।

[३]पुनः शुद्ध किये हुए उसी घृत में से स्रुवा को भरके प्रज्वलित समिधाओं पर व्याहृति की चार आहुति देवें—

[४]ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदं न मम॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय—इदं न मम॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदं न मम॥[५]

ये चार घी की आहुति देकर, स्विष्टकृत् होमाहुति एक ही है, यह घृत की अथवा भात[६] की देनी चाहिए। उसका मन्त्र—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदं न मम॥[७]

इससे एक आहुति करके, प्राजापत्याहुति करें। यह नीचे लिखे मन्त्र को मन में बोलके देनी चाहिए—

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम ॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय—इदं न मम ॥

'इन दो मन्त्रों से वेदी के मध्य भाग में दो आहुतियाँ देनी' पाठ होना चाहिए, और पश्चात् आज्यभागाहुति से सम्बद्ध—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदं न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के उत्तरभाग में ।

ओम् सोमाय स्वाहा ॥ इदं सोमाय—इदं न मम ॥

इसी प्रकार पाठ का वैपरीत्य इन मन्त्रों से पूर्व की भाषा में भी हो गया है । आघाराहुतियों तथा आज्यभागाहुतियों के स्थान और प्रकार के लिए 'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' देखें ।

१. यहाँ 'चार आहुति......देके' पाठ कोष्ठक में होना चाहिए, क्योंकि यह पाठ 'उसके पश्चात्' पाठ की व्याख्यारूप है।

२. अर्थात् 'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा' इन चार मन्त्रों से दी जानेवाली आहुतियाँ।

३. यहाँ से लेकर सामान्यप्रकरण के अन्त तक उन मन्त्रों वा आहुतियों का संग्रह है, जिनका अगले संस्कारों में यथास्थान निर्देश किया गया है, अर्थात् यहाँ क्रम विवक्षित नहीं है ।द्र०—आगे पृष्ठ ६१ की 'परन्तु किस-किस.....लिखेंगे' पंक्ति (१५-१६)।

४. यहाँ से लेकर 'भवतन्नः' पृष्ठ ६२ तक के मन्त्रों का अर्थ 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित 'वैदिक नित्यकर्म विधि' पृष्ठ १६५-१७९ तक देखें ।

५. द्र०—**महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात्** ॥ गोभिलगृह्य० १।८।१४॥

६. यह पाकद्रव्य का उपलक्षण है ।

७. आश्व० १।१०।२२॥ वहाँ 'विद्यात्' के स्थान में 'विद्वान्' पाठ मिलता है । कलकत्ता-मुद्रित एक प्राचीन संस्करण में 'विद्यात्' पाठ भी मिलता है ।

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम॥[१]

इससे मौन करके एक आहुति देकर चार आज्याहुति घृत की देवें। परन्तु ये नीचे लिखी आहुति चौल, समावर्त्तन और विवाह में मुख्य हैं, वे चार मन्त्र ये हैं—

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥१॥
ओं भूर्भुवः स्वः। अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥२॥
ओं भूर्भुवः स्वः। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्।
दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥३॥

—ऋ० मं० ९। सू० ६६। मं० १९-२१॥

ओं भूर्भुवः स्वः। प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम॥४॥

—ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं० १०॥

इनसे घृत की चार आहुति करके ''अष्टाज्याहुति'' निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गल-कार्यों में आठ आहुति देवें, परन्तु किस-किस संस्कार में कहाँ-कहाँ देनी चाहिएँ, यह विशेष बात उस-उस संस्कार में लिखेंगे। वे आठ आहुति-मन्त्र ये हैं—

ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः। यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदं न मम॥१॥

ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ। अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदं न मम॥२॥

—ऋ० मं० ४। सू० १। मं० ४, ५॥

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय। त्वामवस्युराचके स्वाहा॥
इदं वरुणाय—इदं न मम॥३॥ —ऋ० मं० १। सू० २५। मं० १९॥

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा॥ इदं वरुणाय—इदं न मम॥४॥

—ऋ०मं० १। सू० २४। मं० ११॥

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदं न मम॥५॥[२]

ओम् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमया असि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये अयसे—इदं न मम॥६॥[३]

---

१. द्र०—पार० गृह्य० १।११।३॥

२. कात्यायनश्रौत० २५।१।११॥ 'इदं.....इदं न मम' अंशरहित पाठ है।

३. कात्यायनश्रौत० २५।१।११॥

ओम् उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय। अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम॒ स्वाहा॑॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च—इदं न मम ॥७॥

—ऋ० म० १। सू० २४। मं० १५॥

ओं भव॑तन्न॒ः सम॑नसौ॒ सचे॑तसावरे॒पसौ॑। मा य॒ज्ञꣳ हिꣳसिष्टं॒ मा य॒ज्ञप॑तिं जातवेदसौ शि॒वौ भ॑वतम॒द्य न॒ः स्वाहा॑॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदं न मम॥८॥

—यजुः० अ० ५। मं० ३॥

सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे। न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे, किन्तु मध्यभाग जैसाकि जिस वेद का उच्चारण है, करे। यदि यजमान न पढ़ा हो, तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्यकर्त्ता जड़, मन्दमति, काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो, तो वह शूद्र है, अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो, तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करें, और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावें। पुनः निम्नलिखित मन्त्र से पूर्णाहुति करें। स्रुवा को घृत से भरके—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा[1] ॥

इस मन्त्र से एक आहुति देवें। ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति देके, जिसको दक्षिणा देनी हो देवें, वा जिसको जिमाना हो जिमा, दक्षिणा देके सबको विदाकर स्त्री-पुरुष हुतशेष घृत, भात वा मोहनभोग को प्रथम जीमके पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें।[2]

मङ्गलकार्य

अर्थात् गर्भाधानादि संन्यास-संस्कार पर्यन्त पूर्वोक्त [कार्य] और निम्नलिखित सामवेदोक्त महावामदेव्यगान अवश्य करें[3]। वे मन्त्र ये हैं—

ओं भूर्भुवः स्वः। कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥ १॥

ओं भूर्भुवः स्वः। कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु॥ २॥

ओं भूर्भुवः स्वः। अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतये॥ ३॥

महावामदेव्यम्[4]

काऽ५या। नश्चा३ यित्रा३ आभुवात्। ऊ। ती सदावृधः स। खा। औ३ होहायि। कया२३ शचायि। ष्ठयौहो३। हुंमा२। वाऽ२र्तो३ऽ५हायि॥ (१)॥

---

१. श० ४।२।२।२; ५।२।३।१॥

२. 'दक्षिणा देना, जिमाना, विदा करना, और स्वयं भोजन करना' कार्य आगे लिखे 'महावामदेव्यगान' के पश्चात् किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए। 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' यह मीमांसकों का न्याय है।

३. द्रष्टव्य—'अपवृक्ते कर्मणि वामदेव्यगानं शान्त्यर्थं शान्त्यर्थम्' ॥ —गोभिलगृह्य० १।९।२५॥

४. इस गान के डेढ़ मन्त्र में 'इत्रा' 'चाइ' 'हाइ' ऐसा पूर्व संस्करणों में छपा है। अगले डेढ़ मन्त्र में 'हायि' 'जरायि' ऐसा यकार सहित इकार है। हमने एकरूपता के लिए 'यित्रा' 'चायि' 'हायि' ऐसा पाठ कर दिया है। हस्तलिखित ग्रन्थों में ऐसे स्थानों पर तीन प्रकार का पाठ मिलता है—'इ' 'ई' 'यि'। यह भेद शाखाभेद से व्यवस्थित है।

काऽ५स्त्वा। सत्यो३मा३दानाम्। मा। हिष्ठोमात्सादन्ध। सा। औ३होहायि। दृढा२३ चिदा। रुजौहो३। हुंमा२। वाऽ२सो३ऽ५हायि॥ (२)॥

आऽ५भी। षुणा३: सा३खीनाम्। आ। विता जरायि तॄ। णाम्। औ२३ हो हायि। शता२३म्भवा। सियोहो३ हुंमा२। ताऽ२ यो३ऽ५हायि॥ (३)॥

—साम० उत्तरार्चिके। अध्याये १। खं० ४।[5] मं० १, २, ३॥

यह [महा] वामदेव्यगान होने के पश्चात् गृहस्थ स्त्रीपुरुष, कार्यकर्त्ता सद्धर्मी, लोकप्रिय, परोपकारी, सज्जन, विद्वान् वा त्यागी, पक्षपातरहित संन्यासी, जो सदा विद्या की वृद्धि और सबके कल्याणार्थ वर्तनेवाले हों उनको नमस्कार, आसन, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, धन आदि के दान से उत्तम प्रकार से यथासामर्थ्य सत्कार करें। पश्चात् जो कोई देखने ही के लिए आये हों, उनको भी सत्कारपूर्वक विदा कर दें।

अथवा जो संस्कार-क्रिया को देखना चाहें, वे पृथक्-पृथक् मौन करके बैठे रहें, कोई बातचीत हल्ला-गुल्ला न करने पावें। सब लोग ध्यानावस्थित प्रसन्नवदन रहें। विशेष कर्मकर्त्ता और कर्म करानेवाले शान्ति, धीरज और विचारपूर्वक क्रम से कर्म करें और करावें।

यह सामान्यविधि अर्थात् सब संस्कारों में कर्त्तव्य है॥

॥ इति सामान्यप्रकरणम्॥

---

५. द्वितीय संस्करण तथा कतिपय अन्य संस्करणों में 'खं० ३' छपा है, वह अशुद्ध है। खण्ड के आगे 'त्रिक ३' पाठ भी चाहिए।

अथ गर्भाधानविधिं वक्ष्यामः

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।

—मनुस्मृति-द्वितीयाध्याये, श्लोकः १६ ॥

अर्थ—मनुष्यों के शरीर और आत्मा के उत्तम होने के लिए निषेक अर्थात् गर्भाधान से लेके श्मशानान्त अर्थात् अन्त्येष्टि=मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर का विधिपूर्वक दाह करने पर्यन्त १६ संस्कार होते हैं।

शरीर का आरम्भ गर्भाधान और शरीर का अन्त भस्म कर देने तक सोलह प्रकार के उत्तम संस्कार करने होते हैं। उनमें से प्रथम गर्भाधान-संस्कार है।

गर्भाधान[1] उसको कहते हैं कि जो **''गर्भस्याऽऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येन वा कर्मणा, तद् गर्भाधानम्''** गर्भ का धारण, अर्थात् वीर्य का स्थापन गर्भाशय में स्थिर करना जिससे होता है।

जैसे बीज और क्षेत्र के उत्तम होने से अन्नादि पदार्थ भी उत्तम होते हैं, वैसे उत्तम, बलवान् स्त्री-पुरुषों से [उत्पन्न] सन्तान भी उत्तम होते हैं। इससे पूर्ण युवावस्था [पर्यन्त] यथावत् ब्रह्मचर्य का पालन और विद्याभ्यास करके, अर्थात् न्यून-से-न्यून १६ वर्ष की कन्या और २५ वर्ष का पुरुष अवश्य हो और इससे अधिक वयवाले होने से अधिक उत्तमता होती है, क्योंकि बिना सोलहवें वर्ष के गर्भाशय में बालक के शरीर को यथावत् बढ़ने के लिए अवकाश और गर्भ के धारण-पोषण का सामर्थ्य कभी नहीं होता और २५ वर्ष के बिना पुरुष का वीर्य भी उत्तम नहीं होता। इसमें यह प्रमाण है—

प्रायः सूत्रकारों ने संस्कारों की शृंखला का आरम्भ विवाहसंस्कार से किया है। विवाहसूत्र में बँधनेवाले तो गर्भाधान से लेकर समावर्त्तन-संस्कार तक संस्कृत होकर आये हैं। वे तो जैसे बनने थे बन चुके। सोलह संस्कारों की योजना तो मानव-निर्माण की योजना है। यह निर्माण-कार्य आत्मा के गर्भ में प्रवेश के साथ होता है। वही उसकी आधारशिला है। इसलिए ग्रन्थकार ने लीक से हटकर गर्भाधान को प्रथम स्थान दिया है। उसी से संस्कारविधि का आरम्भ होता है। गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध गृहस्थ में होनेवाले क्रियाकलापों से है, अतः उनमें मुख्यतः गृहस्थ में होनेवाले संस्कारों का ही उल्लेख हुआ है और इनके सम्पादनार्थ विवाह के समय गृह्याग्नि की स्थापना का विधान किया गया है। मानव धर्मशास्त्र के आदिप्रवर्त्तक भगवान् मनु ने लिखा है—

निषेकादिश्मशानन्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥ —मनु० २।१६॥

मनुष्यों के शरीर और आत्मा के उन्नत होने के लिए निषेक से लेकर श्मशान, अर्थात् मृत्यु

---

१. गर्भाधान का ही पुत्रेष्टि नाम भी है। द्र०—पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्तव्यम्।
—ऋ० भा० भू० पृष्ठ १२०, रा० ला० क० ट्रस्ट संस्करण।

के पश्चात् अन्त्येष्टि अर्थात् मृतक के शरीर का विधिपूर्वक दाह करने तक सोलह संस्कार होते हैं।

निषेक तथा चतुर्थीकर्म भी गर्भाधान के ही अपर नाम हैं। निषेक का अधिकार पति-पत्नी को ही है। जब लोकापवादभीत राम के आदेशानुसार लक्ष्मण सीता को वाल्मीकि के आश्रम के निकट छोड़कर लौटने लगा तो सीता बोली—

श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः।
प्रजानिषेकं मयि वर्त्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति॥ —रघुवंश १४।६०॥

तुम जाकर सभी सासों से मेरा प्रणाम कहकर निवेदन करना कि मेरे गर्भ में आपके पुत्र का तेज है, इसलिए आप लोग हृदय से उसकी कुशल मनाते रहें।

गर्भावतरण—

क्षेत्रभूता समा नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्। क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्॥
—मनु० ९।३३

क्षेत्ररूप नारी और बीजरूप पुरुष होता है। इसलिए क्षेत्र और बीज दोनों के मिलने से ही सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इसलिए—

''गर्भस्याऽधानं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन्येन वा कर्मणा तद् गर्भाधानम्''।

अथर्ववेद (६।११।२) में कहा है—

पुंसि रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत्॥

अर्थात् पुरुष में जो वीर्य होता है विवाह के बाद वह निश्चयपूर्वक स्त्री में गर्भाधान की क्रिया से सींचा जाता है और वही वीर्य फिर सन्तान की प्राप्ति करानेवाला होता है। इसलिए 'शुक्रशोणित-जीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति।' (चरक० शा० ४।२)—वीर्य, रज तथा जीव इन तीनों के गर्भाशय में संयुक्त होने का नाम गर्भ है। इससे वीर्य के साथ ही जीव का गर्भाशय में प्रविष्ट होना प्रमाणित है। सुश्रुत-संहिता (३।३-४) में गर्भाक्रान्ति (गर्भावतरण) को स्पष्ट करने के लिए भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है—शुक्र एवं शोणित दोनों पञ्चभूतात्मक होते हैं। शुक्र, शोणित एवं जीव से संयुक्त—मिश्रित पदार्थ का नाम 'बीज' है। इसी से शरीर का निर्माण होता है। स्त्री तथा पुरुष के संयोग के समय वायु शरीर से तेज (उष्णिमा) को उत्पन्न करती है। ''तप्ताङ्गारसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।'' यह तेज वायु के साथ मिलकर शुक्र को क्षरित करता है। क्षरित शुक्र शरीर के सब अवयवों को साथ लेकर योनि में पहुँचता है। वहाँ आर्त्तव के साथ मिल जाता है। इसके पश्चात् अग्नेय तथा सोम गुण के सम्बन्ध से बनता गर्भाशय में पहुँचता है।

शुक्र सिर से नख तक के सम्पूर्ण अवयवों का सार है। इसमें सब शरीर के अवयव मिले रहते हैं। इस शुक्र के साथ ही जीवात्मा भी अवतरण करता है। आत्मा के साथ पूर्वजन्म के कर्म भी शरीर में अवतरित होते हैं। इस शुक्र को नियमित करनेवाले केन्द्र सुषुम्णा तथा मस्तिष्क हैं। शुक्र के साथ पौरुषग्रन्थि तथा अन्य ग्रन्थियों के भी स्राव मिले रहते हैं। यह शुक्र डिम्ब के साथ मिलकर गर्भ को बनाता है।

सौम्यं शुक्रमार्त्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्यणुना विशेषेण, परस्परोपकारात् (परस्परानुग्रहात्) परस्परानुप्रवेशाच्च। —सुश्रुत० शा० ३।३

शुक्र सौम्य (सोमगुणभूयिष्ठ) है और आर्त्तव आग्नेय (अग्निगुणबहुल) है। अग्नि और जल इन दो के अतिरिक्त पृथिवी आदि शेष भूतों का भी अत्यन्त सूक्ष्मरूप से सम्पर्क है, क्योंकि—पृथिवी आदि भूत परस्पर—एक-दूसरे का उपकार करते हैं, एक-दूसरे के अनुग्राहक हैं, एक-दूसरे में घुसे हुए हैं, इसलिए इन तीन कारणों से इनका इनमें प्रवेश है। प्रश्नोपनिषद् (प्रश्न १।३-४) में बताया है—

कत्य के पुत्र कबन्धी ने पिप्पलाद ऋषि से पूछा—"भगवन्! सृष्टि के आरम्भ में प्रजा (जो कुछ भी पैदा हुआ है)—किससे उत्पन्न होती है?"

ऋषि ने उत्तर दिया—"प्रजापति को जब प्रजा की उत्पत्ति की कामना हुई तो उसने तप किया। तत्पश्चात् 'स मिथुनमुत्पादयते' उसने मिथुन=जोड़े—को उत्पन्न किया। ये मिथुन हैं—'रयि' और 'प्राण'। सूर्य तथा चन्द्र प्राण तथा रयि हैं। प्राण धन-शक्ति (Positive) है, रयि ऋण-शक्ति (Negative) है। इन्हीं के संयोग से विविध प्रकार की सृष्टि होती है। सृष्टि में अनेकता (Multiplicity) है। यह अनेकता द्वित्त्व (Duality) के बिना नहीं हो सकती।

गर्भाधान से पूर्व—

वस्तुतः बालक के निर्माण की प्रक्रिया गर्भाधान से आरम्भ हो जाती है, परन्तु जैसे मकान बनाने से पहले उसकी योजना बनाकर उसके लिए अपेक्षित उत्तम कोटि की सामग्री का होना नितान्त आवश्यक है, वैसे ही उत्तम सन्तान प्राप्त करने के लिए उसके उपादान रज-वीर्य का उत्तम कोटि का होना नितान्त आवश्यक है। चरक-संहिता (शारीरस्थान ८१।३४) में लिखा है—"**यथा हि बीजमनुपतप्तं तप्तं स्वां-स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयते**" अर्थात्—जैसे भला-बुरा बीज बोया जाएगा, फल भी वैसा ही होगा। जैसे व्रीहि को बोने से व्रीहि और जौ बोने से जौ उत्पन्न होता है, वैसे ही स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य जैसा होगा वैसी ही सन्तान होगी।

जिस प्रकार की सन्तान की इच्छा हो उसी प्रकार की तैयारी माता-पिता को करनी चाहिए, मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जिस सूक्ष्म शरीर को लेकर चलता है वह पहले पिता के वीर्य में पहुँचकर निवास पाता है। तत्पश्चात् माता के गर्भ में प्रवेश करता है। दूसरे शब्दों में—बच्चा पहले पिता के गर्भ में विकास पाता है, फिर माता के गर्भ में, भेद केवल इतना है कि माता का गर्भाशय और प्रकार का है, पिता का और प्रकार का। पिता के शरीर में वीर्यकोश पुत्र का गर्भाशय है। यही भावी सन्तान का पहला शरीर है। इसलिए वह जिस प्रकार का भोजन करेगा, वहाँ उसी प्रकार का शरीर तैयार होगा। यह तो रहा भौतिक पक्ष, परन्तु इस भौतिक शरीर पर पिता के मन का भी प्रभाव पड़ेगा। उसमें पिता के प्रत्येक विचार और कार्य की प्रतिच्छाया रहेगी, अतः पिता को सोच लेना चाहिए कि जिस प्रकार की सन्तान की उसे इच्छा है उसी प्रकार का उसका आचरण होना चाहिए। पिता की हृदय की सारी भावनाएँ साररूप में वीर्य के उस कण में होती है जिसे जीव ने अपना पहला शरीर बनाया है। इसी को आधुनिक चिकित्साशास्त्र में स्पर्मेटोज़ा (Spermatoza) कहते हैं। इस प्रकार गर्भाधान का सूत्रपात स्त्रीसंयोग से पहले पिता के शरीर में हो चुका होता है। ऐतरेय उपनिषद् का निम्न वचन इस विषय में द्रष्टव्य है—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रसस्तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूत मात्मन्मेवात्मानं

बिभर्ति। तद्यथा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म॥ —२।१

तात्पर्य यह है कि गर्भ पहले पुरुष के शरीर में होता है। वहाँ यह रेतस् या वीर्य कहाता है। वीर्य ही उसका शरीर होता है। वहाँ वह पिता के समस्त अङ्गों से तेज को खींचता और अपने में धारण करता है। फिर पिता के गर्भ से गर्भाधान द्वारा माता के गर्भ में जाता है। यह उसका पहला जन्म है।

पिता के शरीर में बच्चे का शरीर एक निश्चित अवस्था से आगे नहीं बढ़ सकता। इसके लिए अधिक अवकाश व भोजन और विकास के लिए अपेक्षित समय चाहिए। यह सब उसे माता के शरीर में ही मिल सकता है, अत: पिता का कर्त्तव्य है कि यथासमय इस धरोहरको अपने शरीर से निकालकर माता को सौंप दे। अथर्ववेद ६।११।२ में लिखा है—"**पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनुषिच्यते**"। इस प्रत्यारोपण (Transplantation) के लिए उसे स्त्रीप्रसंग की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रक्रिया का नाम गर्भाधान है। अन्तत: सन्तान का जन्म माता से होता है। इसलिए उसकी एक संज्ञा 'जाया' है। इस प्रसंग में मनुस्मृति में लिखा है—

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥

—मनु० ९।८

पति वीर्यरूप में स्त्री में प्रवेश करके गर्भ होकर सन्तानरूप से संसार में उत्पन्न होता है। 'जाया' शब्द 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से 'जनेर्यक्' (उणादि० ४।१११) सूत्र से यक् प्रत्यय स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय से सिद्ध होता है। 'जायते यस्यां सा जाया' अथवा 'जायन्ते यस्यामपत्यानि सा जाया'=पत्नी—जिसमें सन्तान उत्पन्न होती है वह जाया कहलाती है। जाया की यह परिभाषा पर्याप्त प्रचलित रही है। यथावत् भाव ऐतरेयब्राह्मण ७।१३ की भाषा में द्रष्टव्य है—"**पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासे जायते पुनः**"। गोपथब्राह्मण में कहा है—"**आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते।**"

—गोपथ० पूर्व० १।२

निरुक्त में स्पष्ट शब्दों में कहा है—'आत्मा वै पुत्रनामासि' (निरुक्त ३।१।४), क्योंकि 'अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे' सन्तान माता-पिता के अङ्ग-अङ्ग का निचोड़ होती है।

गर्भाधान के लिए तैयारी—यूरोप आदि देशों में यह पाया गया कि जो बच्चे अगस्त से अक्टूबर के बीच पैदा हुए उनमें से अनेक विकृत बुद्धिवाले, हीन बुद्धिवाले तथा स्वल्पजीवी हुए। परीक्षण करने पर पता चला कि उन देशों में नवम्बर से जनवरी के बीच शीताधिक्य के कारण मदिरापान अधिक होता है और भोजन में भी तामस पदार्थों की अधिकता होती है। परिणामत: इस अवधि में गर्भ में आये बालक विविध रोगों से ग्रस्त होते हैं। इसलिए गर्भाधान से बहुत पहले से माता-पिता के खान-पान का शुद्ध, सात्त्विक, आरोग्यवर्धक तथा बल-बुद्धि को बढ़ानेवाला होना आवश्यक है। प्राचीन काल में आर्य लोग इस काम के लिए १३ दिन पहले से तैयारी करते थे और ऋतुबन्द होने के पश्चात् जिस रात्रि में गर्भाधान करना निश्चत होता था उससे पहले दिन यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों में विशेषरूप से प्रवृत्त रहते थे।

गर्भाधान संस्कार बालक का नहीं, बालक बनाने का संस्कार है। इससे धर्मभाव यथावत् बना रहना चाहिए। गर्भाधान की क्रिया के समय माता-पिता की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति जैसी

शुद्ध, पवित्र होगी, बालक का शरीर और मन भी वैसा ही बनेगा, अत: गर्भाधान के समय माता-पिता के मन का स्वस्थ एवं धर्मान्वित होना आवश्यक है। इसी को लक्ष्य कर सुश्रुत-संहिता में लिखा है—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुरुषौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥

अर्थात् स्त्री-पुरुष जैसे आहार-विहार तथा चेष्टा आदि से युक्त होकर परस्पर समागम करते हैं उनकी सन्तान भी वैसी ही होती है।

बीज और क्षेत्र—खेत में बीज डालने से पहले कृषकभूमि को इस योग्य बनाता है कि उसमें डाला हुआ बीज व्यर्थ न जाए। यदि किसी साँचे में कोई वस्तु ढालनी हो तो सामग्री डालने से पहले यह देखना आवश्यक है कि साँचा ठीक तरह से बना हुआ है। इसी प्रकार वीर्यरूपी सामग्री डालने से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि गर्भाशयरूपी साँचा इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। चरक० शरीर० (८।८-१०) में गर्भाधान के अयोग्य स्त्री का उल्लेख करते हुए कहा है—

अतिबालमतिवृद्धामतिरोगिणीमन्येन वा विकारेणोपसृष्टां वर्जयेत्। पुरुषेऽप्येत एव दोषाः॥

तत्रात्यशिता क्षुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्त्ता क्रुद्धा चान्यञ्च पुमांसमिच्छन्ती मैथुने चातिकामा वा गर्भं न धत्ते विगुणं वा प्रजां जनयति॥

अत्यन्त अल्पवयस्का तथा अतिवृद्धा, चिररोगिणी अथवा किसी अन्य विकारयुक्त स्त्री गर्भाधान के अयोग्य होती है। जिस पुरुष में ये दोष हों वह भी गर्भाधान के योग्य नहीं होता, अत: सर्वदोषवर्जितौ स्त्रीपुरुषौ संसृज्येयाताम्॥

जिस स्त्री ने अति भोजन किया हुआ हो, जो प्यासी, भयभीत, विमना (दु:खित मन अथवा मैथुन न चाहनेवाली), शोकग्रस्त, क्रोधवाली, अन्य पुरुष में अनुरक्त या अतिकामी हो—ऐसी स्त्री भी गर्भाधान के अयोग्य होती है। ऐसी स्त्री में गर्भ ही नहीं रहता। यदि रह जाए तो गिर जाता है अथवा उसके कुरूप अथवा विगुण (दुष्ट) सन्तान पैदा होती है।

इसलिए सर्वथा निर्दोष स्त्री-पुरुषों को सन्तानोत्पत्ति के लिए गर्भाधान में प्रवृत्त होना चाहिए।

भीता, विमना स्त्री में गर्भाधान करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न सन्तान का उदाहरण हमें महाभारत में सहज ही उपलब्ध है। माता सत्यवती के आदेश से व्यासजी विचित्रवीर्य की विधवा अम्बिका तथा अम्बालिका में नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने में प्रवृत्त हुए। जब वे अम्बिका में गर्भाधान करने के लिए उसके पास पहुँचे तब—

तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत्॥ —आदिपर्व १०५।५॥

व्यासजी के काले शरीर और पिंगल जटाओं तथा भूरे रंग की दाढ़ी-मूँछों को देखकर अम्बिका ने भय के मारे अपने नेत्र बन्द कर लिये। परिणामत: प्रसव का समय आने पर उसने अन्धे पुत्र (धृतराष्ट्र) को जन्म दिया। तत्पश्चात् महर्षि ने नियोग की संयमपूर्ण विधि से अम्बालिका से समागम किया। व्यास को देखकर—

सापि
विवर्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत॥ —१०५।१५॥

वह भी कान्तिहीन तथा पाण्डुरंग की-सी हो गई। परिणामतः समय आने पर अम्बालिका ने पाण्डु रंग के पुत्र (पाण्डु) को जन्म दिया।

तत्पश्चात् ऋतुकाल आने पर सत्यवती ने अपनी बड़ी बहू अम्बिका को एक बार फिर व्यासजी से समागम के लिए नियुक्त किया, परन्तु व्यासजी के कुत्सित रूप और गन्ध का स्मरण कर देवकन्या के समान सुन्दरी अम्बिका ने सत्यवती की आज्ञा नहीं मानी, तथापि सास की बात रखने के लिए उसने—

ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम्। प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता॥ २४॥

अप्सरा के समान सुन्दरी अपनी एक दासी को अपने ही आभूषणों से विभूषित करके काले-कलूटे व्यास के पास भेज दिया। दासी ने उन्हें सादर प्रणाम किया और उनकी आज्ञा पाकर शय्या पर बैठी। कठोर व्रत का पालन करनेवाले व्यास जब उसके साथ शयन करके उठे तब इस प्रकार बोले—

अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः। धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः॥ २७॥

तेरे उदर में एक अत्यन्त श्रेष्ठ बालक आया है। यह लोक में धर्मात्मा तथा बुद्धिमानों में श्रेष्ठ होगा। यही बालक विदुर हुआ जो कृष्णद्वैपायन व्यास का पुत्र था।

तीनों स्त्रियों की गर्भाधान के समय की स्थिति के अनुसार व्यासजी ने गर्भाधान की क्रिया की समाप्ति पर ही सत्यवती को बतला दिया था कि गर्भस्थ बालक कैसा होगा। इसलिए भीता अथवा विमना स्त्री में गर्भाधान कभी नहीं करना चाहिए।

गर्भाधान की अवस्था—वर्त्तमान में प्रचलित विवाह की आयु को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—बाल-विवाह, किशोर-विवाह तथा युवा-विवाह। वस्तुतस्तु विवाह योग्य आयु अथवा गर्भाधान योग्य अवस्था का निर्धारण आयुर्वेद का विषय है। बालविवाह से अभिप्राय किशोर अवस्था से पहले का विवाह है। बालक में किशोर अवस्था का आरम्भ तब होता है जब उसमें वीर्य बनना शुरू हो जाता है। बालिका में किशोरी अवस्था का आरम्भ तब होता है जब उसे मासिक धर्म होने लगता है। इस अवस्था में संयोग होने से सन्तान उत्पन्न हो सकती है। इस दृष्टि से विवाह की अवस्था वह है जिसमें प्राणिशास्त्र (Biology) के अनुसार प्रजनन हो सकता है, परन्तु उनका शरीर और मानसिक विकास पूर्ण न होने से उनके रज-वीर्य में परिपक्वता न आने के कारण सन्तान के जीवित व हृष्ट-पुष्ट होने की सम्भावना कम होती है। इसलिए आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ सुश्रुत के निर्माता भगवान् धन्वन्तरि की व्यवस्था 'पञ्चविंशे ततो वर्षे०' इत्यादि को ही ग्रन्थकार ने मान्यता प्रदान की है। बालविवाह तथा किशोरविवाह दोनों का निषेध करके सुश्रुत ने न्यून-से-न्यून १६ वर्ष वयवाली स्त्री में न्यून-से-न्यून २५ वर्ष की वयवाले पुरुष के द्वारा गर्भधान का विधान किया है। इस नियम का उल्लंघन करने से जहाँ शरीर की धातुओं का विकास रुक जाता है, वहाँ गर्भ तथा सन्तान-सम्बन्धी अनेक आशंकाएँ हो जाती हैं। जैसे—गर्भ का न ठहरना, गर्भस्राव, गर्भपात, दुर्बल सन्तान का जन्म, जन्म के पश्चात् शीघ्र मृत्यु, सन्तान का सतत रोगी रहना, मस्तिष्क का समुचित विकास न होना आदि।

विवाह एवं गर्भाधान की आयु के सम्बन्ध में अहमदाबाद से प्रकाशित 'Times of India' के ९ फ़रवरी १९९० के अंक में दिया यह विवरण द्रष्टव्य है—"Cochin—Dr. Raj Choudhary,

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥ १॥

—सुश्रुते सूत्रस्थाने, अ० ३५।१०॥

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥ २॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ ३॥

—सुश्रुते सूत्रस्थाने, अ० १०।४७-४८॥

ये सुश्रुत के श्लोक हैं। शरीर की उन्नति वा अवनति का विधि जैसा वैद्यकशास्त्र में है, वैसा अन्यत्र नहीं। जो उसका मूल विधान है, वह आगे वेदारम्भ में लिखा जाएगा, अर्थात् किस-किस वर्ष में कौन-कौन धातु किस-किस प्रकार का कच्चा वा पक्का, वृद्धि वा क्षय को प्राप्त होता है, यह सब वैद्यकशास्त्र में विधान है। इसलिए गर्भाधानादि संस्कारों के करने में वैद्यकशास्त्र का आश्रय विशेष लेना चाहिए।

अब देखिए सुश्रुतकार परमवैद्य कि जिनका प्रमाण सब विद्वान् लोग मानते हैं, वे विवाह और गर्भाधान का समय न्यून-से-न्यून १६ वर्ष की कन्या और २५ वर्ष का पुरुष अवश्य होवे, यह लिखते हैं।

जितना सामर्थ्य २५वें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है, उतना ही सामर्थ्य १६वें वर्ष में कन्या के शरीर में हो जाता है। इसलिए वैद्य लोग पूर्वोक्त अवस्था में दोनों को समवीर्य अर्थात् तुल्य सामर्थ्यवाले जानें॥ १॥

सोलह वर्ष से न्यून अवस्था की स्त्री में २५ वर्ष से कम अवस्था का पुरुष यदि गर्भाधान

Director of Chitranjan National Cancer Research Institute, Calcutta, delevering the Platinum Jubillee Lecuture, of the medical and veterinary sciences section of the Indian Science congress, said—"Girls married before the age of sixteen were found to develop cancer of cervix more. Also, the mother of six children has twice as much chance of suffering from this cancer than a mother of one."

समत्वागतवीर्यौ—रजोदर्शन की आयु पूरी तरह नियत नहीं है। यदि माता-पिता या अभिभावक ध्यान रक्खें तो बालिकाएँ छोटी अवस्था में रजस्वला न हों। यदि उन्हें स्त्री-पुरुष की कामचेष्टा देखने का अवसर न मिले, एकान्त दर्शन, एकान्त सम्भाषण आदि से उन्हें दूर रक्खा जाए, उत्तेजक पदार्थों का सेवन न कराएँ, सजावट-शृंगार की भावना उत्पन्न न होने पाये, सुन्दरता का गर्व न हो, कामोत्तेजक साहित्य पढ़ने और वैसे दृश्य देखने को न मिलें तो कन्याएँ देर से रजस्वला हों। वर्त्तमान में फिल्मों के कारण जो वातावरण बन रहा है और दूरदर्शन के माध्यम से प्रसारित होनेवाले परिवार-नियोजन, गर्भनिरोध, गर्भापात आदि से सम्बन्धित विज्ञापनों के देखने-सुनने से जिस प्रकार की कुत्सित भावनाएँ उभर रही हैं, उनसे लड़कियाँ छोटी आयु में रजस्वला होने लगी हैं। बहुधा धनी परिवारों की लड़कियाँ जल्दी रजस्वला होती हैं, क्योंकि उन्हें परिश्रम नहीं करना पड़ता। भड़कीले वस्त्र पहनती हैं, सौन्दर्य साधनों के प्रयोग से उनकी शृंगारिक भावना और तज्जन्य वासना भड़कती है। अश्लील नाच-गानों से भरपूर आधुनिक पार्टियों में आलिङ्गन-चुम्बन आदि के वातावरण में उनका ब्रह्मचर्य कब तक टिक सकता है? सभ्यता का अभिमान करनेवाली जातियों की लड़कियाँ जल्दी रजस्वला होती हैं। नगरों की अपेक्षा गाँवों की लड़कियाँ देर से रजस्वला होती हैं।

करता है, तो वह गर्भ उदर में ही बिगड़ जाता है॥ २॥

और जो उत्पन्न भी हो तो अधिक नहीं जीवे, अथवा कदाचित् जीवे भी तो उसके अत्यन्त दुर्बल शरीर और इन्द्रिय हों। इसलिए अत्यन्त बाला अर्थात् सोलह वर्ष की अवस्था से कम अवस्था की स्त्री में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिए॥ ३॥

चतस्त्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। आषोडशाद् वृद्धि-राचतुर्विंशतेर्यौवनमाचत्वारिंशतः सम्पूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति॥[1]

अर्थ—सोलहवें वर्ष से आगे मनुष्य के शरीर के सब धातुओं की वृद्धि और पच्चीसवें वर्ष से युवावस्था का आरम्भ, चालीसवें वर्ष में युवावस्था की पूर्णता अर्थात् सब धातुओं की पूर्णपुष्टि, और उससे आगे किंचित्-किंचित् धातु=वीर्य की हानि होती है, अर्थात् चालीसवें वर्ष सब अवयव पूर्ण हो जाते हैं। पुनः खान-पान से जो उत्पन्न वीर्य धातु होता है, वह कुछ-कुछ क्षीण होने लगता है।

चतस्त्रोऽवस्थाः शरीरस्य—'आचतुर्विंशतेः' के स्थान में सत्यार्थप्रकाश आदि में 'आपञ्चविंशतेः' पाठ है। यहाँ भी भाषार्थ में 'पच्चीसवें वर्ष से' पाठ होने से प्रतीत होता है कि 'आचतुर्विंशतेः' पाठ मुद्रण-प्रमादजन्य है। सुश्रुत का एक प्राचीन पाठ और है जो प्राचीन ग्रन्थों में वृद्ध-सुश्रुत के नाम से उद्धृत मिलता है, जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

आजकल सुश्रुत संहिता में इस प्रकार पाठ मिलता है—

''वयस्तु त्रिविधं—बाल्यं मध्यं वृद्धमिति। तेऽपि त्रिविधाः क्षीरपाः क्षीरान्नदा अन्नादा इति। तेषु संवत्सराः क्षीरपा द्विसंवत्सराः क्षीरान्नादाः परतोऽन्नादा इति। षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति। तत्र आविंशतेर्वृद्धिः आत्रिंशतो यौवनं, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसम्पूर्णता अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत्सप्ततिरिति। सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाण-धात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलिपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियासु असमर्थं जीर्णागारमिव अभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते। —सूत्रस्थान ३५।२५

अर्थात्—वयः तीन प्रकार का होता है—बाल्य, मध्य और वृद्ध। उनमें से १६ वर्ष से कम वयवाले बालक होते हैं। उनमें भी तीन भेद हैं—(१) क्षीरप=केवल दूध पीनेवाले, (२) क्षीरान्नाद=क्षीर अर्थात् दूध और अन्न खानेवाले, (३) अन्नाद=अन्न खानेवाले। एक वर्ष तक की आयुवाले क्षीरप, दो वर्ष तक वाले क्षीरान्नाद और इससे आगेवाले अन्नाद होते हैं। सोलह और सत्तर वर्षों के बीच मध्य वय होता है। उसके चार भेद हैं—वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता तथा हानि। उनमें बीस वर्ष तक वृद्धि, तीस वर्ष तक यौवन, चालीस वर्ष तक सब धातुओं और इन्द्रियों के बल और वीर्य की पूर्णता, इसके बाद सत्तर वर्ष की आयु तक कुछ-कुछ घटती। सत्तर वर्ष के बाद

---

१. तुलना—सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३५।२५॥ सुश्रुत में सम्प्रति उपलब्ध पाठ इससे भिन्न है। ऋषि दयानन्द ने यही पाठ सं०वि० प्रथम संस्करण पृष्ठ १०१; द्वितीय संस्करण पृष्ठ ८३ (वेदारम्भ संस्कार में); सत्यार्थ-प्रकाश समु० ३ और पूना-प्रवचन (व्याख्यान ३, पृष्ठ २२ रा०ला०क०ट्र०सं०) में भी उद्धृत किया है। इन स्थानों में 'आपञ्चविंशते०' पाठ है। यहाँ भाषार्थ में 'पच्चीसवें वर्ष से' पाठ होने से प्रतीत होता है कि 'आचतुर्विंशतेः' पाठ मुद्रण-प्रमादजन्य है। सुश्रुत का एक प्राचीन पाठ और है, जो प्राचीन ग्रन्थों में वृद्ध-सुश्रुत के नाम से उद्धृत मिलता है। यह पाठ अभी तक छपा नहीं है, उसे देखना चाहिए।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि शीघ्र विवाह करना चाहें, तो कन्या १६ वर्ष की और पुरुष २५ वर्ष का अवश्य होना चाहिए। मध्यम समय कन्या का बीस वर्षपर्यन्त और पुरुष का चालीसवाँ वर्ष, और उत्तम समय कन्या का चौबीस वर्ष और पुरुष का अड़तालीस वर्षपर्यन्त का है।

जो अपने कुल की उत्तमता, उत्तम सन्तान, दीर्घायु, सुशील, बुद्धिबल–पराक्रमयुक्त, विद्वान् और श्रीमान् करना चाहें, वे सोलहवें वर्ष से पूर्व कन्या और पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुत्र का विवाह कभी न करें। यही सब सुधार का सुधार, सब सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करनेवाला कर्म है कि इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रखके अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिससे उत्तम सन्तान होवें।

ऋतुदान का काल

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतस्सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥ १॥

वृद्ध कहाता है। उस अवस्था में धातुओं और इन्द्रियों के बल–वीर्य तथा उत्साह क्षीण हो रहे होते हैं। प्रतिदिन झुर्रियाँ, सफ़ेद बाल तथा गंजापन बढ़ता है, खाँसी, दमा आदि उपद्रवों से परेशान रहता है। सभी इन्द्रियों की क्रियाओं में असमर्थ, पुराने घर की भाँति, बरस चुके बादल की तरह नष्ट हो रहा होता है।

वर्त्तमान संस्करणों में सूत्रस्थान ३५।४६–५० में शरीर की अवस्थाओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

वयस्तु त्रिविधं बालं मध्यं वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षा बालाः। षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयस्तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति। तत्राविंशतेर्वृद्धिरात्रिंशतो यौवनमाचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसम्पूर्णता। अत ऊर्ध्वमीषद् हानिर्यावत् सप्ततिरिति।

अर्थात्—अवस्था तीन प्रकार की होती है—बाल, मध्य और वृद्ध। इनमें १६ वर्ष तक बाल्यावस्था रहती है। १६ से ७० तक मध्य अवस्था रहती है। फिर उसके (मध्य के) ये भेद हैं—वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता, हानि। उसमें बीस वर्ष तक वृद्धि, तीस वर्ष तक यौवन, चालीस तक सम्पूर्णता अर्थात् सब धातु, उपधातु, इन्द्रियों और बल की सम्पूर्णता। इसके आगे ७० वर्ष तक की अवस्था तक क्रमशः घटती होती रहती है। इसमें और पूर्वोद्धृत विवरण में विस्तारभेद है, मूलतः दोनों एक हैं।

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में ग्रन्थकार ने लिखा है—''दूसरी (यौवन) २५वें वर्ष के अन्त और २६वें वर्ष के आदि में यौवन का आरम्भ होता है। तीसरी (सम्पूर्णता) जो २५वें वर्ष से ४०वें वर्ष पर्यन्त धातुओं की पुष्टि होती है।'' एतदनुसार २५।२६ से ४० वर्ष के बीच दूसरी (यौवन) और तीसरी (सम्पूर्णता) दोनों अवस्थाएँ युगपत् रहती हैं। इस प्रकार ग्रन्थकार के लेख का सुश्रुत के मूल सन्दर्भ और उसके अर्थ से सामंजस्य नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि लिपिकर ने यहाँ मध्य वयवाला वर्णन उद्धृत कर दिया है। दोनों के आशय में कोई विशेष अन्तर नहीं है। स्मृतियों में भी इस प्रकार के वचन मिलते हैं। तद्यथा—हारीतस्मृति में आता है—

आषोडशाद् भवेद् बाल आपञ्चत्रिंशं युवा नरः। मध्यमा सप्ततिर्यावत् परतो वृद्ध उच्यते॥

—अध्याय ५

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः। चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्भिर्गर्हितैः॥ २॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या। त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥ ३॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु। तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्॥ ४॥
पुमान्पुंसोऽधिके. शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः। समे पुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥ ५॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचार्येव भवति यत्रतत्राश्रमे वसन्॥ ६॥

—मनुस्मृति अ० ३॥[1]

अर्थ—मनु आदि महर्षियों ने ऋतुदान के समय का निश्चय इस प्रकार से किया है कि सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे और अपनी स्त्री के बिना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रक्खे। वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़के अन्य पुरुषों से सदैव पृथक् रहे। जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है, जैसेकि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती, वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो, तब पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के १६ दिनों में पौर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे, उसको छोड़ देवे। इनमें स्त्री-पुरुष रतिक्रिया कभी न करें॥ १॥

अथवा इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि ग्रन्थकार ने शरीर की मध्यकालिक अवस्था का यह विभाजन वैवाहिक उपयोगिता की दृष्टि से किया है। उनके द्वारा किये गये इस सन्दर्भ के व्याख्यान से इस भावना की पुष्टि हो जाती है कि २५ से ४० वर्ष के बीच के १५ वर्ष के अन्तराल में युवावस्था का परिपाक होकर सम्पूर्णता की अवस्था प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर धीरे-धीरे शरीर की शक्ति की क्षीणता आरम्भ हो जाती है। यही किञ्चित्-परिहाणि की अवस्था है। यह विभाजन वैवाहिक उपयोगिता के सन्दर्भ में किया गया है, इसकी पुष्टि अगले सन्दर्भ तथा उसके विवेचन से भी होती है।

ऋतुदान का काल—		**१६ रात्रियाँ**
निषिद्ध अथवा निन्दित रात्रियों की संख्या	—	
प्रथम की चार रात्रियाँ	—	४
११वीं व १३वीं रात्रियाँ	—	२
अष्टमी व चतुर्दशी	—	२
पौर्णमासी व अमावस्या	—	२
		कुल = १०

इस प्रकार ऋतुदान के लिए श्रेष्ठ या विहित रात्रियाँ ६ रह जाती हैं, १० नहीं जैसाकि यहाँ लिखा है। तिथियाँ घट-बढ़ जाने पर यह संख्या कभी-कभी ५ या ७ भी हो सकती है।

पर्वों के दिनों में निषेध—पूर्णमासी आदि पर्वों के अवसरों पर विशेष यज्ञों एवं धार्मिक कृत्यों के आयोजन तथा वेदादि शास्त्रों के अध्ययन का विधान है—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा। दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि॥ —मनु० ४।२५

---

१. श्लोक ४५-५०॥

स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल १६ रात्रि का है, अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके सोलहवें दिन तक ऋतुसमय है। उनमें से प्रथम की चार रात्रि अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से लेके चार दिन निन्दित हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे, अर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे। न वह स्त्री कुछ काम करे, किन्तु एकान्त में बैठी रहे, क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है। रजः अर्थात् स्त्री के शरीर से एक प्रकार का विकृत उष्ण रुधिर, जैसाकि फोड़े में से पीव वा रुधिर निकलता है, वैसा है॥ २॥

और जैसे प्रथम की चार रात्रि ऋतुदान देने में निन्दित हैं, वैसे ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि भी निन्दित हैं। और बाकी रहीं दश रात्रि, सो ऋतुदान देने में श्रेष्ठ हैं॥ ३॥

गृहस्थ प्रतिदिन—दिन-रात के आदि और अन्त में अर्थात् प्रातः-सायं सन्धिवेलाओं में अग्निहोत्र करे और आधे मास के अन्त में दर्शयज्ञ अर्थात् अमावास्या का यज्ञ करे तथा इसी प्रकार मास पूर्ण होने पर पूर्णिमा के दिन यज्ञ करे।

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि। दर्शमस्कन्दयन्पर्वं पौर्णमासं च योगतः॥ —मनु० ६।९

अर्थात्—वानप्रस्थ विधिपूर्वक दैनिक यज्ञों को और विशेष अवसरों पर किये जानेवाले अमावास्या और पूर्णिमा आदि पर्वों पर किये जानेवाले पर्वयज्ञों को भी न छोड़ते हुए निष्ठापूर्वक किया करे। परम्परा से अष्टमी तिथि को अर्धपर्व कहे जाने से उसमें भी अपने को पवित्र रखने की दृष्टि से सम्भोगवर्जन युक्त है।

'वैतानिक' शब्द से विस्तृत अर्थात् विशेष अवसरों पर किये जानेवाले यज्ञ अभिप्रेत हैं। इन धार्मिक कृत्यों के पालन के अवसर पर जितेन्द्रिय रहना—संयमपूर्वक रहना नितान्त आवश्यक है। अजितेन्द्रिय अवस्था में इन धार्मिक कर्मों का अनुष्ठान करने पर भी अभीष्ट फल की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ —गीता

पूर्णिमा आदि के अवसर पर स्त्रीगमन का निषेध शास्त्रोक्त ही नहीं विज्ञानसम्मत भी है। समुद्र में ज्वारभाटा सबसे अधिक पूर्णिमा में और सबसे कम अमावास्या में हुआ करता है। मध्यम ज्वारभाटा तब होता है जब जल का उतार-चढ़ाव मध्यम होता है। यह दोनों अष्टमियों का समय होता है। यह सब सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षण-विकर्षण के नियमानुसार होता है। 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'—जैसे सूर्य और चन्द्रमा का प्रभाव समुद्र पर और गौणरूप से नदी-नालों, तालाबों और ओषधि-वनस्पति आदि पर पड़ता है, वैसे ही प्राणियों के रक्त पर भी पड़ता है, क्योंकि रक्त में जलीय अंश प्रधान है। चन्द्रमा का प्रभाव पुरुष की अपेक्षा स्त्री पर अधिक पड़ता है। उक्त तिथियों में स्त्री-पुरुष की वीर्य आदि धातुएँ विषम होती हैं, अतः यदि इन पर्वों की रात्रियों में स्त्री-सम्पर्क किया जाता है तो वैषम्यापन्न शुक्र-शोणित विकृत होकर स्वास्थ्य में विकार उत्पन्न कर देते हैं और यदि ऐसे अवसर पर गर्भस्थिति हो जाती है तो तज्जन्य सन्तान रक्तविकार, हृदय-दोष, प्राणशक्ति में दुर्बलता आदि रोगों से ग्रस्त हो सकती है।

इस प्रकार पूर्णमासी और अमावास्या के दिन मनुष्य-शरीर के रस-रक्त में क्षोभ या वृद्धि होती

है और शुक्ल तथा कृष्ण अष्टमी को मानवीय शरीर के रस-रक्त में ह्रास होने से निर्बलता होती है। इनके अतिरिक्त दो चतुर्दशी भी अर्थात् एक अमावस्या से पहला दिन और एक पूर्णिमा से पहला दिन यज्ञ-याग की तैयारी के दिन होने से ब्रह्मचर्यव्रत के लिए वांछनीय होने के कारण वर्जित किये गये प्रतीत होते हैं।

परन्तु मनुजी ने ११वीं तथा १३वीं रात्रियाँ भी निषिद्ध मानी हैं। कारण? पाश्चात्य डॉक्टर सहस्त्रों परीक्षणों के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि ११वीं और १३वीं रात्रि में गर्भस्थिति की आशा बहुत क़म होती है। ऐसी अवस्था में समागम करने से यदि वीर्य व्यर्थ जाता है या व्यर्थ जाने की अधिक सम्भावना होती है तो वैसा करने में कोई क्यों प्रवृत्त हो? इस प्रकार चिकित्सा वैज्ञानिक आर्षसिद्धान्त के निकट आ रहे हैं।

पुत्र-पुत्री—चरक-संहिता (शारीरस्थान ८।६) के अनुसार—''स्नानात् प्रभृतियुग्मेष्वहः सुसंवसेतां पुत्रकामौ तौ चायुग्मेषु दुहितृकामौ''—अर्थात् यदि पुत्र की इच्छा हो तो ऋतुस्नान के दिन से युग्म दिनों में स्त्रीगमन करे और पुत्री की इच्छा हो तो अयुग्म दिनों में स्त्री-प्रसंग करे। रजोदर्शन के बाद की प्रथम चार रात्रियाँ छोड़ कर ६, ८, १०, १२, १४, १६ युग्म रात्रियाँ हैं और ५, ७, ९, १५ अयुग्म रात्रियाँ हैं। मनुस्मृति के अनुसार भी—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियाऽयुग्मासु रात्रिषु। तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥

—३।४८

सुश्रुत (शारीर० ३।१२) में भी यही कहा है—

युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽबला। पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं व्रजेत्॥

ऋतुकाल में युग्म दिनों में मैथुन करने से पुत्र उत्पन्न होता है और अयुग्म दिनों में संयोग करने से कन्या उत्पन्न होती है। इसलिए सन्तान के इच्छुक पुरुष को चाहिए कि वह पवित्र होकर पुष्पकाल (ऋतुकाल) में सहवास करे।

अग्निवेशगृह्यसूत्र (२।७।६) में लिखा है—''षोडश्यां लभतेपुत्रं ब्रह्मकीर्तनतादृशं तदूर्ध्वमुपयमं नास्ति कामभोगैव केवलम्''—अर्थात् १६वीं रात्रि में स्त्री से समागम करने से ब्रह्मकीर्तन जैसा पुत्र मिलता है। उसके पश्चात् सन्तानार्थ स्त्री-समागम वर्जित है। तब स्त्री समागम करना केवल काम-चेष्टा है। गर्भाधान सम्बन्धी इन नियमों का सम्बन्ध फलित ज्योतिष से न होकर सामान्यतः आयुर्वेद से और विशेषतः गर्भशास्त्र (Eugenics) तथा पदार्थविद्या से है। इस विषय में अष्टांगहृदय (शारीरस्थान १।२७) भी द्रष्टव्य है।

आयुर्वेदशास्त्र तथा धर्मशास्त्र के इस सिद्धान्त को कितने स्पष्ट शब्दों में आधुनिक चिकित्साशास्त्रियों ने स्वीकार कर मान्यता प्रदान की है, यह दिल्ली के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के ३० जून १९८९ के अंक में प्रकाशित इस समाचार से प्रमाणित है—

BOSTON, JUNE 29—The odds of having a baby boy instead of a girl increase greatly if couples conceive their child late in the woman's menstrual cycle, a study shows. The research disclosed that when couples have sex two days after ovulation, which occurs midway in the monthly cycle, two thirds are boys.

The research answers a question that has puzzuled philosophers and physicians for centuries whether the time of intercourse affects the sex of the child.

जिनको पुत्र की इच्छा हो, वे छठी, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं—ये छह रात्रि ऋतुदान में उत्तम जानें, परन्तु इनमें भी उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ हैं। और जिनको कन्या की इच्छा हो, वे पाँचवीं, सातवीं, नववीं और पन्द्रहवीं—ये चार रात्रि उत्तम समझें*। इससे पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतुदान देवे॥४॥

पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्त्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा बन्ध्या स्त्री, क्षीण और अल्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा रहकर गिर जाना होता है॥५॥

"The study provides strong confirmation for the theory that variations in sex proportion are associated with conceptions occuring on different days of menstrual cycles", the report said.

The study was conducted by Susan Harlapp at the Hebrem University Jerusalam and was published in Thursday's New England Journal of Medicine.

The study examined 3656 infants born to women who said they conceived on the five days around ovulation. Overall, 53% of the babies were boys. But of the 145 women who said they became pregnant two days after ovulation, 66% of the children were boys. —Hindustan Times, Delhi, 30.6.89.

अर्थात् वैज्ञानिक सहस्त्रों बच्चों के बारे में खोज और परीक्षण करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भारतीय मनीषियों द्वारा पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति-विषयक गर्भाधान के सन्दर्भ में नियत रात्रियों का सिद्धान्त सर्वथा विज्ञान-सम्मत है।

परन्तु जिन मनु ने युग्म-अयुग्म रात्रियों में सहवास के आधार पर सन्तान के पुत्र-पुत्री का सिद्धान्त निर्धारित किया वही अगले श्लोक में कहते हैं—

पुमान्पुंसकोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः। समेऽपुमान् पुंस्त्रियो वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥

—३।४९॥

पुरुष के वीर्य अधिक होने से पुत्र और स्त्री के आर्त्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष या वन्ध्या स्त्री तथा क्षीण या अल्पवीर्य होने से गर्भ का न रहना अथवा गिर जाना होता है।

विदेह के अनुसार—

युग्मेषु दिनेष्वासां भवत्यल्पतरं रजः। संयोगं तत्र वा गच्छेत् पुमांसं सा प्रसूयते॥

अयुग्मेषु दिनेष्वासां भवेद् बहुतरं रजः। संयोगं तत्र या गच्छेत् सा तु कन्यां प्रसूयते॥

इस प्रकार विदेह ने दोनों में समन्वय करते हुए कहा है कि युग्म रात्रियों में वीर्य के बलवान् होने से पुत्र होता है अयुग्म रात्रियों में रज के बलवान् होने से कन्या होती है।

शरीर के निर्माण में उपादानकारण रज और वीर्य हैं। इसलिए पुत्र या पुत्री की उत्पत्ति का मुख्य आधार वे ही होने चाहिएँ। यहाँ अधिक शब्द से मात्राधिक्य नहीं, सामर्थ्याधिक्य अभिप्रेत है। पुरुष के वीर्य में अधिक सामर्थ्य अथवा पुरुष के बीज के अधिक शक्तिशाली होने पर पुत्रोत्पत्ति होती है। पुरुष की तुलना में स्त्री-बीज के अधिक शक्तिशाली होने पर कन्या, दोनों के समान

---

* रात्रिगणना इसलिए की है कि दिन में ऋतुदान का निषेध है। —द०स०

शक्तिशाली होने पर लड़के-लडकी का जोड़ा अथवा नपुंसक सन्तान होती है। यह केवल बलाबल का प्रश्न है। यह वही नियम है जो सृष्टि में सर्वत्र पाया जाता है, अर्थात् यदि दो विरुद्ध शक्तियाँ परस्पर मिलें तो इनमें से जो अधिक बलवान् होगी वह अधिक प्रभावी होगी। यदि पुरुष आयु और बल में स्त्री से अधिक है तो सन्तान अधिकतर नर होगी और यदि पुरुष से स्त्री बल में अधिक होगी तो कन्याएँ अधिक होंगी। मूल बात यह है कि जो शुक्राणु जितना प्रबल होगा, वह उतना ही पहले डिम्ब में प्रवेश करेगा। पुरुष शुक्रकीट अधिक प्रबल होंगे तो वे दौड़कर पहले प्रवेश कर जाएँगे और यदि स्त्री को जन्म देनेवाले कीट प्रबल होंगे तो पहले वे प्रवेश कर जाएँगे। यहाँ भी सामर्थ्य की अधिकता ही पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति का निर्धारण करेगी।

मनु मन्तव्य पर हम यहाँ राजस्थान के चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाओं के भूतपूर्व निदेशक डॉ० सत्यदेव आर्य द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण उद्धृत कर रहे हैं—

"मनु का यह मन्तव्य कि—

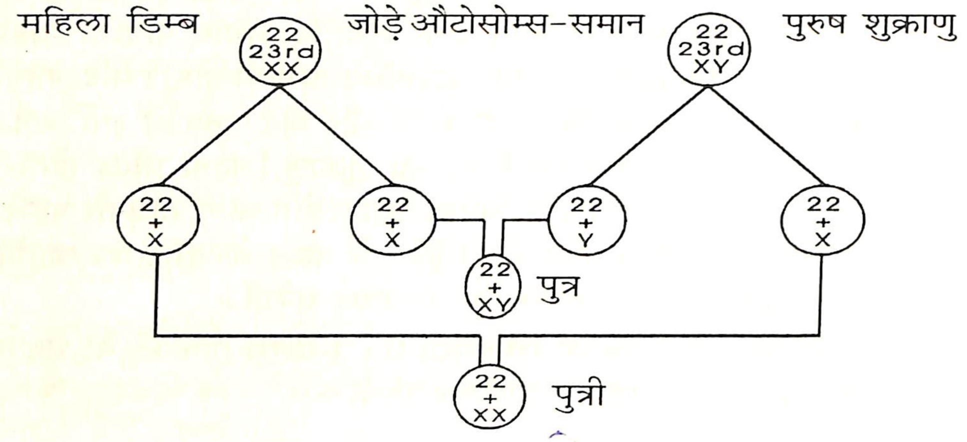
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु। तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥

—मनु० ३।४८

अर्थात् युग्म रात्रियों में सहवास से पुत्र और अयुग्म में पुत्री उत्पन्न होती है, अतः पुत्र की इच्छावाले दम्पती युग्म रात्रियों में सहवास करें। युग्म रात्रियों से तात्पर्य है २ से विभाजनीय संख्यावाली रात्रियाँ जैसे २, ४, ८, १२, १४ आदि। युग्म व अयुग्म रात्रियों का सम्बन्ध डिम्बक्षरण—Ovulation से है, अर्थात् डिम्बक्षरण के बाद युग्म/अयुग्म रात्रि=२ या १ दिन बाद की रात्रि।

सामान्यतया महिला में डिम्बक्षरण, अर्थात् डिम्बग्रन्थि (Ovary) से डिम्ब का निकास, दूसरी महावारी प्रारम्भ होने के १४ दिन पूर्व होता है, जैसे यदि उसका मासिक धर्म नियमित रूप से २८ दिन का है तो डिम्बक्षरण २८-१४=१४वें दिन होगा और यदि आगे-पीछे ३० या २६ दिन का है तो ३०-१४=१६वें दिन या २६-१४=१२वें दिन होगा। डिम्बक्षरण के २ दिन पूर्व व २ दिन पश्चात् अर्थात् कुल ४ दिन का समय ही सामान्यतया गर्भस्थिति का होता है, इससे आगे-पीछे नहीं। अब हमें यह जान लेना है कि डिम्बक्षरण के २ दिन बाद अर्थात् युग्म रात्रि में सहवास से पुत्र और एक दिन बाद अर्थात् अयुग्म रात्रि में पुत्री होना कैसे सम्भव हो पाता है।

डिम्ब ग्रन्थि से डिम्बक्षरण के बाद उसे फैलोपी नली (Fallopion Tube) में यथा स्थान आकर स्थित होने में ४८ घण्टे लगते हैं और १२ घण्टे तक यह यहाँ शुक्राणु की प्रतीक्षा में रहता है। इस अवधि में यदि इसका शुक्राणु से मिलन न हो सके और यह संषेचित (Fertilise) न हो सके तो क्षतिग्रस्त हो जाता है। महिला के डिम्ब में व पुरुष के शुक्राणु में क्रमशः २३-२३ जोड़े गुण-सूत्र (Chromosomes) होते हैं जिनमें २२ जोड़े तो समान—ऑटोसोम्स (Autosomes) के होते हैं जो सन्तान में माता-पिता के पैतृक संस्कार प्रसारित करते हैं तथा २३ वाँ जोड़ा लैङ्गिक होता है जो सन्तान का लिङ्ग निर्धारित करता है। महिला डिम्ब में लैङ्गिक गुण-सूत्र समान X-X किस्म के होते हैं पर पुरुष शुक्राणु में X व Y किस्म के। X व Y गुण-सूत्र के शुक्राणु वीर्य में लगभग बराबर की संख्या में ही होते हैं। जब डिम्ब में X गुण-सूत्र के शुक्राणु का मिलन होता है तो पुत्री गर्भ और Y गुण-सूत्र के शुक्राणु का मिलन होता है तो पुत्र गर्भ ठहरता है। इस सिद्धान्त को निम्न रेखाचित्र से सुभीते से समझा जा सकता है—



अब हमें यह देखना है कि (X+Y) या (X+X) का स्वेच्छा से मिलन कैसे सम्भव हो। Y गुण-सूत्र के शुक्राणु हल्के, चुस्त व तेज गति के होते हैं पर अधिक सक्षम नहीं होते; १२ घण्टे तक ही जीवित रह पाते हैं, अत: इस अवधि में ही इन्हें डिम्ब तक पहुँच जाना चाहिए। विपरीत X गुण-सूत्र के शुक्राणु भारी, सुस्त व धीमी गति के होते हैं और अधिक सक्षम भी—१२ घण्टे के बाद भी जीवित रह पाते हैं, अत: ये धीमी गति से आगे बढ़ते हुए १२ घण्टे के बाद भी डिम्ब को संषेचित कर पाते हैं। चूँकि पुत्रोत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि Y गुण-सूत्र के शुक्राणु ही डिम्ब तक पहले पहुँचें और इसे संषेचित करें; अत: गर्भाधान डिम्बक्षरण के ४८ घण्टे बाद अर्थात् दूसरी रात्रि में—युग्म रात्रि में—ही हो, जिससे डिम्ब स्थिति के १२ घण्टे के अन्दर-ही-अन्दर Y शुक्राणु X शुक्राणुओं से पहले डिम्ब तक पहुँच सके। यदि ऐसा नहीं होकर गर्भाधान डिम्बक्षरण के २४ घण्टे बाद ही अर्थात् पहले ही दिन की अयुग्म रात्रि में होता है तो, चूंकि डिम्ब तब तक फैलोपी नली में स्थित नहीं हो पाता, अत: ये १२ घण्टे की प्रतीक्षा करने के बाद नष्ट हो जाते हैं और X शुक्राणुओं की बन आती है। वे अपनी धीमी गति से आगे बढ़ते हुए डिम्ब के स्थित होने तक उसके पास पहुँच ही जाते हैं और उसे संषेचित कर पाते हैं; इस स्थिति में पुत्री गर्भ रहता है। डिम्ब में केवल एक ही शुक्राणु जो पहले उस तक पहुँच जाता है, प्रवेश कर पाता है—शेष नहीं, क्योंकि संषेचित होते ही डिम्ब एक ऐसा पदार्थ निकालता है जो उसके चारों ओर तुरन्त ही अप्रवेश्य झिल्ली बना देता है जिससे अन्य कोई शुक्राणु उसमें प्रवेश न पा सके।

पुत्र या पुत्री-उत्पत्ति का यही वैज्ञानिक आधार है और इसी पर मनु महाराज ने सदियों पूर्व युग्म / अयुग्म रात्रियों में सहवास से पुत्र / पुत्री की उत्पत्ति का जो मत व्यक्त किया वह सरासर सही है।

डिम्बक्षरण की सही तिथि का बोध कैसे हो इसके लिए महिला को अपनी महावरी अवधि का हिसाब रखकर बोध कर लेना चाहिए। उसमें से १४ दिन घटाकर डिम्बक्षरण की तिथि का सही पता लगाया जा सकता है। पुष्टि में महिला का तापमान भी विशिष्ट महत्व रखता है। डिम्बक्षरण के साथ ही उसका तापमान ०.५°F बढ़ जाता है जो ४८ घण्टे तक बढ़ा ही रहता है। महावारी प्रारम्भ

जो पूर्व निन्दित आठ रात्रि कह आये हैं, उनमें जो स्त्री का संग छोड़ देता है, वह गृहाश्रम में बसता हुआ भी ब्रह्मचारी ही कहाता है॥ ६॥

उपनिषदि गर्भलम्भनम्॥ —यह आश्वलायनगृह्यसूत्र[1] का वचन है॥

जैसा उपनिषद्[2] में गर्भस्थापन-विधि लिखा है, वैसा करना चाहिए, अर्थात् पूर्वोक्त समय विवाह करके जैसाकि सोलहवें और पच्चीसवें वर्ष विवाह करके ऋतुदान लिखा है, वही उपनिषद् में भी विधान है।

होने के दिन से ही महिला को प्रतिदिन प्रातः उठते ही, बिस्तर ही में बिना मुँह धोये या कुल्ला किये, अपना तापमान लेना होता है। थर्मामीटर ४-५ मिनट तक मुँह में रखना होता है। प्रतिदिन का रेकॉर्ड रखना होता है। जिस दिन तापमान बढ़े वही डिम्बक्षरण की तिथि होनी चाहिए।''

उपनिषदि—आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।१३।१) में यह पूरा वाक्य इस प्रकार है—''उपनिषदि गर्भलम्बनं पुंसवनमनवलोभनं च''। नारायणकृतवृत्ति में इसकी व्याख्या में लिखा है—'गर्भो ऽभ्यते येन कर्मणा निषिक्तं वीर्यममोघं भवति तद्गर्भलम्भनम्'।

गर्भस्थापन-विधि का उल्लेख उपनिषद् (बृहदारण्यक, अध्याय ६, ब्राह्मण ४) में हुआ है। 'मन्थ-कर्म' करनेवाला 'पुत्र-कर्म' करे, सन्तानोत्पत्ति करे, ताकि उत्तम कोटि की सन्तान उत्पन्न हो। इस ब्राह्मण में जो कुछ आगे लिखा है, उसे कुछ लोग अश्लील मानते हैं। मैक्समूलर ने इस स्थल को अश्लील समझकर इसका अनुवाद अंग्रेज़ी में न करके लेटिन में किया था, परन्तु उसमें अश्लीलता कुछ भी नहीं है। आपाततः ऐसा उसके ठीक अर्थ न समझने के कारण प्रतीत होता है। वस्तुतः किसी स्थल का ठीक अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब उसे पूर्वापर प्रसंग से जोड़कर पढ़ा जाए। इस ब्राह्मण से पहले तृतीय ब्राह्मण में 'मन्थ-कर्म' का वर्णन है। 'मन्थ-कर्म' में ओषधियों तथा फलों के रसों को मिलाकर उसमें उच्च विचारों की भावना दी जाती है। फिर उसे पीकर यह भावना जाग्रत् की जाती है कि जो भावनाएँ 'मन्थ' में डाली गई हैं वे पीनेवाले में आ जाएँ। 'मन्थ' पीनेमात्र से तो ऊँची भावनाएँ क्या आएँगी? परन्तु उच्च विचारों को जाग्रत् करने का यह एक भौतिक माध्यम है। फिर 'मन्थ-कर्म' करनेवाला 'पुत्र-कर्म' करे, अर्थात् उसी-जैसे ऊँचे विचारोंवाली सन्तान उत्पन्न करने का प्रयत्न करे। यह इस चतुर्थ ब्राह्मण के आरम्भ में लिखा है और इस ब्राह्मण के अन्त में लिखा है कि इस प्रकार जिस माता के पुत्र हो वह वीर्यवती है, उसने वीर पुत्र को जन्म दिया है। उस पुत्र के कान में कहे—'वेद' तेरा नाम है। जो पिता हो वह 'अतिपिता' हो, 'अति-पितामह' हो, अर्थात् उच्च गुणों में पिता से आगे निकल जाए, पितामह से भी आगे निकल जाए। आगे-पीछे के इन स्थलों को देखकर इस ब्राह्मण में क्या कहीं अश्लीलता का स्थान रह जाता है? यह एक उच्च कोटि के संस्कार—एक यज्ञ का वर्णन है। इसके उपक्रम में कहा है—

''महाभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है, जलों का ओषधि, ओषधियों का रस पुष्प, पुष्पों का रस फल, फलों का रस पुरुष और पुरुष का रस वीर्य है॥ १॥''

---

१. आश्व० गृह्य १।१३।१॥

२. बृह० उ० अ० ६। ब्रा० ४॥ उपनिषद् से यहाँ बृहदारण्यक अभिप्रेत है। बृहदारण्यक के दो पाठ हैं—काण्व और माध्यन्दिन। काण्व पाठ में अ० ६। ब्रा० ४; तथा माध्यन्दिन शत० १४।९।४ में गर्भाधान का प्रकरण है। माध्यन्दिन बृह० उप० पृथक् अभी तक नहीं छपी है, अतः ब्राह्मण का पता दिया है।

अथ गर्भाधानं स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वं स्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा आदित्यं गर्भमिति ॥ —यह पारस्करगृह्यसूत्र का वचन है ॥

ऐसा ही गोभिलीय और शौनक[१] गृह्यसूत्रों में भी विधान है।

इसके अनन्तर स्त्री जब रजस्वला होकर चौथे दिन के उपरान्त पाँचवें दिन स्नान कर रज-रोगरहित हो, उसी दिन (**आदित्यं गर्भमिति**) इत्यादि मन्त्रों से जैसा जिस रात्रि में गर्भस्थापन करने की इच्छा हो, इससे पूर्व दिन में सुगन्धादि पदार्थों सहित पूर्व सामान्यप्रकरण के लिखित प्रमाणे हवन करके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देनी। यहाँ पत्नी पति के वाम-भाग[२] में बैठे, और पति वेदी के पश्चिमाभिमुख पूर्व दक्षिण वा उत्तर दिशा में यथाभीष्ट मुख करके बैठे। और[३] ऋत्विज भी चारों दिशाओं में यथामुख बैठें—

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्राश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ २ ॥

अथ गर्भाधानम्—"अथ गर्भाधानं.........गर्भमिति" को यहाँ मूलतः पारस्करगृह्यसूत्र का वचन लिखा है, परन्तु आजकल जितने भी पार० गृह्य० मिलते हैं, उनमें यह पाठ नहीं मिलता। तथापि जिस प्रकार ग्रन्थकार ने उक्त वचन को पार० गृह्य० का लिखा है, वैद्य रामगोपाल शास्त्री के अनुसार ठीक वैसे ही वैदिक बृहत्कोष (Vedic Concordance) में इसमें आये 'आदित्यं गर्भम्' (यजुः १३।४१) को लक्ष्य करके ब्लूमफील्ड ने पता दिया है—'पार० गृ० अध्याय १, कण्डिका १३'। गर्भाधान प्रकरण भी इसी प्रथमाध्याय की १३वीं कण्डिका में सब पारस्कर गृह्यसूत्रों में मिलता है। इससे निश्चय होता है कि ब्लूमफ़ील्ड के पास उपलब्ध पार० गृह्य० के हस्तलेख में यह वचन १३वीं कण्डिका में विद्यमान था। वैभव प्रेस मुम्बई से विक्रम संवत् १९७४ में पार० गृह्य० का जो संस्करण ईडर प्रदेशान्तर्गत मुडेटि ग्राम निवासी पं० दुर्गाशंकर ने छपवाया था उसमें भी यह मन्त्र गर्भाधान प्रकरण में कात्यान परिशिष्ट मानकर दिया था। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इन तीन ग्रन्थों के प्रमाणों से निश्चय होता है कि यह पाठ पार० गृह्यसूत्र में है। ब्लूमफ़ील्ड ने तो स्पष्टरूप से इसे पारस्कर का वचन माना है, परन्तु अन्य दो ग्रन्थों में यह पाठ कात्यायन परिशिष्ट के अन्तर्गत माना है। ग्रन्थकार ने भी संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में इसे कात्यायन-पारस्करगृह्यसूत्र का वचन लिखा है और द्वितीय संस्करण में केवल पारस्कर का वचन लिखा है।

हो सकता है खोज करने पर कात्यायन और पारस्कर ये दो नाम एक ही आचार्य के सिद्ध

---

१. शौनकगृह्यसूत्र अभी तक छपा नहीं है । हस्तलिखित ग्रन्थों के बृहत् सूची-पत्र निर्माता आफ्रेख्ट ने इसका निर्देश स्वसूची-ग्रन्थ में किया है ।

२. यज्ञ-कर्म में पत्नी का स्थान सामान्यरूप से पुरुष के दक्षिणभाग में नियत है, परन्तु उसके अपवादरूप में गर्भाधान, नामकरण और निष्क्रमण में पत्नी को वामभाग में बिठाने का विशेष विधान है।

३. यहाँ प्रेसकापी तथा रफ कापी में यह पाठ है—'पति वेदी से पश्चिम में पूर्वाभिमुख अथवा वेदी से दक्षिण और उत्तराभिमुख बैठे तथा स्त्री भी', और यही पाठ उचित है । यजमान के लिए सामान्य-प्रकरण में भी दक्षिण वा पश्चिम में बैठने का ही विधान है ।

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ ३॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ ४॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायचश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः —इदन्न मम॥ ५॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ६॥

ओं वायो प्राश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ ७॥

ओं चन्द्र प्राश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ ८॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ ९॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम॥ १०॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्राश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ११॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ १२॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ १३॥

ओं सूर्य प्राश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ १४॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम॥ १५॥

हो जाएँ।

गर्भाधान से पूर्व स्नान—इसी 'अथ गर्भाधानं स्त्रियः०' की व्याख्या में पहले "इसके अनन्तर.... आहुति देनी" और तत्पश्चात् बीस आहुतियाँ तथा सामान्यप्रकरणोक्तादि सभी आहुतियाँ देने के बाद पुनः "जो इन मन्त्रों से आहुति देते समय.........मर्दन करके स्नान करे" यह निर्देश किया है।

बीस मन्त्रों का सार-संक्षेप—इन बीस मन्त्रों में पाँच-पाँच मन्त्रों का एक-एक पंचक है। मन्त्रों के पहले पंचक में 'यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूः'—यह पद आया है। दूसरे पंचक में 'यास्याः पतिघ्नी तनूः'—यह पद आया है। तीसरे पंचक में 'यास्याः अपुत्र्या तनूः'—यह पद आया है और चौथे

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १६॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ १७॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ १८॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ १९॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः —इदन्न मम॥ २०॥[१]

इन बीस मन्त्रों से बीस आहुति देनी* और बीस आहुति करने से यत्किंचित् घृत बचे, वह काँसे के पात्र में ढाँक के रख देवे। इसके पश्चात् भात की आहुति देने के लिए यह विधि करना, अर्थात् एक चाँदी वा काँसे के पात्र में भात रखके उसमें घी, दूध और शक्कर मिलाके कुछ थोड़ी देर रख के जब घृत आदि भात में एक रस हो जाएँ, पश्चात् नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक आहुति अग्नि में देवे और स्रुवा का शेष घृत आगे धरे हुए काँसे के उदकपात्र में छोड़ता जावे—

पंचक में 'यास्याः अपसव्या तनूः'—यह पद आया है। मन्त्रों में शेषभाग सबमें समान है।

पहले पाँच मन्त्रों में अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य तथा इन सबको एक साथ सम्बोधित करके उन देवों से प्रार्थना की गई है कि हमारे पास धर्मानुकूल प्राप्त लक्ष्मी-धन-दौलत रहे—अधर्म से अर्जित पापी लक्ष्मी न रहे।

अगले पाँच मन्त्रों में स्त्री का 'पतिघ्नी तनूः' न रहे—अर्थात् पत्नी विधवा न हो, यह प्रार्थना की गई है। तीसरे पंचक में स्त्री 'अपुत्र्याः तनूः' न रहे—अर्थात् स्त्री निस्सन्तान न हो—यह प्रार्थना की गई है। चौथे पंचक में स्त्री 'अपसव्या तनूः' अर्थात् पति के प्रतिकूल चलनेवाली न हो—यह प्रार्थना की गई है। इस प्रकार प्रत्येक पंचक का आशय यह है कि पत्नी के शरीर में जो भी दोष हो उनका निवारण हो जाए।

सन्तान पर पिता की अपेक्षा माता का प्रभाव अधिक होता है। गर्भावस्था में पिता केवल वंशानुक्रमण (Heredity) का ज़िम्मेदार है, परन्तु माता वंशानुक्रमण के साथ-साथ पर्यावरण (Environment) के लिए भी ज़िम्मेदार है, क्योंकि उसने अकेले नौ मास तक सन्तान को अपने भीतर रखकर उसका निर्माण करना है। इसलिए उसका शारीरिक (भौतिक) तथा मानसिक (आध्यात्मिक) दोनों दृष्टियों से स्वस्थ एवं बलिष्ठ होना आवश्यक है।

---

* ये २० आहुति देते समय वधू अपने दक्षिण हाथ से वर के दक्षिण स्कन्ध पर स्पर्श कर रक्खे। —**द०स०**

---

१. द्र०—गोभिलगृह्य० २।५।२-४; तथा मन्त्रब्रा० १।४।१-५॥ वहाँ इनका निर्देशमात्र है, इनकी ऊहा करके ५ मन्त्रों के बीस मन्त्र किये जाते हैं। दोनों ग्रन्थों की टीकाओं में इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है।

ओम् अग्नये पवमानाय स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥ १॥[1]

ओम् अग्नये पावकाय स्वाहा॥ इदमग्नये पावकाय—इदन्न मम॥ २॥[2]

ओम् अग्नये शुचये स्वाहा॥ इदमग्नये शुचये—इदन्न मम॥ ३॥[3]

ओम् अदित्यै स्वाहा॥ इदमदित्यै—इदन्न मम॥ ४॥[4]

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥ ५॥[4]

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम॥ ६॥

इन छह मन्त्रों से उस भात की आहुति देवें। तत्पश्चात् पूर्व सामान्यप्रकरणोक्त ६१-६२ पृष्ठलिखित आठ मन्त्रों[5] से अष्टाज्याहुति देनी। उन ८ [आठ] मन्त्रों से ८ [आठ], तथा निम्नलिखित मन्त्रों से भी आज्याहुति देवें—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते स्वाहा॥ १॥

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति। गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा स्वाहा॥ २॥

हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा॥ ३॥

—ऋ० मं १०। सू० १८४॥

'इन बीस आहुतियों को देते समय वधू (पत्नी) अपने दक्षिण हाथ से वर (पति) के दक्षिण स्कन्ध का स्पर्श किये रक्खे' इस प्रकार का निर्देश गर्भाधान में दोनों के प्रगाढ़ प्रेम और इस कर्म में उनकी सहभागिता को विशेषरूप से प्रदर्शित करना प्रतीत होता है।

विष्णुर्योनिम्—(विष्णुः) धारण करनेवाली परमात्मशक्ति (ते योनिम्) तेरी योनि=गर्भस्थान को (कल्पयतु) सुदृढ़ करे, (त्वष्टा) रचनेवाला (रूपाणि) गर्भ के रूपों को (पिंशतु) बारीकी से गढ़े (प्रजापतिः) प्राणियों का स्वामी (आ सिंचतु) गर्भ को ऐसे सींचे जैसे किसान खेत को सींचता है। (धाता) विश्व को धारण करनेवाला प्रभु (ते गर्भं दधातु) तेरे गर्भ को धारण करे, डिगने न दे॥१॥

गर्भं धेहि—हे (सिनीवालि) भौतिक दृष्टि से अन्नपूर्णा तथा (सरस्वति) आध्यात्मिक दृष्टि से सरस्वती—निरुक्त ११। ३१ (गर्भं धेहि) गर्भ को धारण कर (अश्विनौ देवौ) प्राण-अपान (ते गर्भं) तेरे गर्भ का (आधत्ताम्) पोषण करें॥ २॥

हिरण्ययी अरणी—(अश्विनौ) अश्विनीदेव (यं) जिस अग्निरूप गर्भ को (अरणी) अरणियों द्वारा (हिरण्ययी निर्मन्थतः) मन्थन करके उत्पन्न सोने के समान अग्नि के सदृश (तं ते गर्भं) रज-वीर्य के मन्थन से उत्पन्न तेरे गर्भ का (दशमे मासि) दसवें महीने में (सूतवे) उत्पन्न होने के लिए (हवामहे) हम आह्वान करते हैं॥ ३॥

---

१. द्र०—आप० श्रौत० ५।२॥५॥ भाष्य भी देखें। २. ऐ० ब्रा० ७।७।३॥

३. द्र०—यजुः० २२।२०; पार० गृह्य० १।२ की हरिहर टीकान्तर्गत पद्धति में उक्त चारों मन्त्र पठित हैं।

४. द्र०—पारस्करगृह्य० १।११।३॥

५. 'त्वं नो अग्ने०' से लेकर 'भवतन्नः' तक के आठ मन्त्रों से।

रेतो मूत्रं वि जंहाति योनिं प्रविशदिंन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृंतऽउल्बं जहाति जन्मंना।
ऋतेनं सत्यमिंन्द्रियं विपानंꣳ शुक्रमन्धंसऽ इन्द्रंस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहां॥ ४॥
यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्॥
पश्येम शरदः शतं जीवेंम शरदः शतꣳ शृणुंयाम शरदः शतं प्रब्रंवाम
शरदः शतमदींनाः स्याम शरदः शतं भूयंश्च शरदः शतात् स्वाहां॥ ५॥ —यजुर्वेदे॥
यथेयं पृंथिवी मही भूतानां गर्भमादधे। एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहां॥ ६॥
यथेयं पृंथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतींन्। एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहां॥ ७॥
यथेयं पृंथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन्। एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहां॥ ८॥
यथेयं पृंथिवी मही दाधार विष्ठिंतं जगत्। एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहां॥ ९॥
—अथर्व० कां० ६। सू० १७॥

रेतो मूत्रं वि जहाति—(इन्द्रियम्) गर्भोत्पत्ति के लिए पुरुषेन्द्रिय (योनिं प्रविशत्) योनि में प्रविष्ट होता हुआ (रेतः) वीर्य को (वि जहाति) पृथक् छोड़ता है और (मूत्रम्) मूत्र को पृथक् छोड़ता है। (जरायुणा आवृतः गर्भः) जरायु=जेर से ढका-लिपटा हुआ गर्भ (जन्मना उल्बं जहाति) जन्म लेने पर खोल को छोड़ देता है। (ऋतेन सत्यमिन्द्रियम्) ऋत् और सत्य=सत्याचरण से युक्त उसकी इन्द्रिय (इन्द्रस्य इन्द्रियम्) परमैश्वर्यवाले व्यक्ति की इन्द्रिय है और उसका (शुक्रम्) वीर्य (अन्धसः विपानम्) अन्धकार से छूटकर पवित्र हुआ है। (इदम्) यह वीर्य (पयः अमृतं मधु) दूध, अमृत और मधु के समान है॥ ४॥

यत्ते सुसीमे—(सुमीमे) हे सुकेशी! (यत् ते हृदयम्) यह जो तेरा हृदय (दिवि चन्द्रमसि श्रितम्) द्युलोक के चन्द्रमा में स्थित है—चन्द्रमा के समान आह्लादयुक्त है (तत् अहम् वेद) इस बात को मैं जानता हूँ। (तत् मां विद्यात्) वह तेरा मन मुझे भी वैसा ही जाने—अर्थात् जैसा मैं अनुभव करता हूँ वैसा ही तू भी अनुभव कर। इस प्रकार हम दोनों (पश्येम शरदः शतम्) सौ वर्ष तक एक-दूसरे को देखें (जीवेम शरदः शतम्), सौ वर्ष तक एकसाथ मिलकर जिएँ, (शृणुयाम् शरदः शतम्) सौ वर्ष तक एक-दूसरे की बात सुनें, (प्रब्रवाम शरदः शतम्) सौ वर्ष तक परस्पर प्रेमालाप करते रहें, (अदीनाः स्याम शरदः शतम्) सौ वर्ष तक अदीन=सम्पन्न रहें, (भूयश्च शरदः शतात्) सौ वर्ष से भी अधिक काल तक ऐसे ही रहते रहें॥ ५॥

यथेयं पृथिवी—(यथेयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह विस्तृत पृथिवी (भूतानां गर्भ आदधे) समस्त प्राणियों को मानो अपने गर्भ में धारण कर रही है (एव) इसी प्रकार (ते गर्भो अनुध्रियताम्) तेरा गर्भ धारण हो (सवितवे सूतुम्) वह गर्भ सविता के लिए हो, अर्थात् सूर्य के समान तेजस्वी हो॥ ६॥

यथेयं पृथिवी—(यथा इयं मही पृथिवी) जैसे यह महान् पृथिवी (इमान् वनस्पतीन् दाधार) वनस्पतियों को अपने गर्भ में धारण कर रही है। (एव ते गर्भः ध्रियताम्) इसी प्रकार तेरा गर्भ सुरक्षित हो, (सवितवे अनुसूतुम्) सविता=भगवान् के लिए उत्पन्न हो—'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'॥७॥

आगे ८वें तथा ९वें मन्त्रों में यही सब क्रमशः पर्वतों तथा सम्पूर्ण जगत् को लक्ष्य करके कहा गया है।

इन ९ मन्त्रों से नव आज्य और मोहनभोग की आहुति देके, नीचे लिखे मन्त्रों से भी ४ चार घृताहुति देवें—

ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ २॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय-इदन्न मम॥ ३॥

ओम् अग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥

इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम॥ ४॥

पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से घृत की आहुति देनी—

ओम् अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणोऽत्यरीरिचं देवा गातुविदः स्वाहा॥

इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः—इदन्न मम॥ १॥[1]

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥ २॥

इन कर्म और आहुतियों के पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे (ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं०) इस मन्त्र से एक स्विष्टकृत् आहुति घृत की देवें।

जो इन मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे धरे हुए काँसे के उदकपात्र में इकट्ठा करते गये हों, जब आहुति हो चुकें, तब उन आहुतियों के शेष घृत को वधू लेके स्नानघर में जाकर उस घी का पग के नख से लेके शिरपर्यन्त सब अङ्गों पर मर्दन करके स्नान करे। तत्पश्चात् शुद्ध वस्त्र से शरीर पोंछ, शुद्ध वस्त्र धारण करके कुण्ड के समीप आवे। तब दोनों वधू-वर कुण्ड की प्रदक्षिणा करके सूर्य का दर्शन करें। उस समय—

ओम् आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
परिवृङ्धि हरसा माभिमंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः॥ १॥[2]
सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः॥ २॥
जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति। पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः॥ ३॥
चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः। चक्षुर्धाता दधातु नः॥ ४॥
चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः। सं चेदं वि च पश्येम॥ ५॥
सुसंदृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य। वि पश्येम नृचक्षसः॥ ६॥[3]

इन मन्त्रों से परमेश्वर का उपस्थान करके, वधू—

ओम् *अमुक गोत्रा शुभदा अमुक§ नाम्नी अहं भो भवन्तमभिवादयामि।

ऐसा वाक्य बोलके अपने पति को वन्दन अर्थात् नमस्कार करे। तत्पश्चात् स्वपति के पिता पितामहादि और जो वहाँ अन्य माननीय पुरुष तथा पति की माता तथा अन्य कुटुम्बी और सम्बन्धियों की वृद्ध स्त्रियाँ हों, उनको भी इसी प्रकार वन्दन करे।

---

* इस ठिकाने वर के गोत्र अथवा वर के कुल का नामोच्चारण करे॥ —द०स०

§ इस ठिकाने वधू अपना नाम उच्चारण करे॥ —द०स०

---

१. पार० गृह्य १।२।११॥ २. यजुः० १३।४१॥ ३. ऋ० १०।१५८।१-५॥

इस प्रमाणे वधू वर के गोत्र की हुए अर्थात् वधू पत्नीत्व और वर पतित्व को प्राप्त हुए, पश्चात् दोनों पति-पत्नी शुभासन पर पूर्वाभिमुख वेदी के पश्चिम भाग में बैठके वामदेव्यगान करें।

तत्पश्चात् यथोक्त* भोजन दोनों जने करें और पुरोहितादि सब मण्डली को सन्मानार्थ यथाशक्ति भोजन कराके आदर-सत्कारपूर्वक सबको विदा करें।

इसके पश्चात् रात्रि में नियत समय पर जब दोनों का शरीर आरोग्य, अत्यन्त प्रसन्न और दोनों में अत्यन्त प्रेम बढ़ा हो, उस समय गर्भाधान क्रिया करनी। गर्भाधान क्रिया का समय प्रहर रात्रि

गर्भाधान का समय—गर्भाधान के लिए १० दिनों का नहीं १० रात्रियों का विधान किया गया है। दिन में स्त्री-प्रसंग स्त्री-पुरुष और, कालान्तर में भावी सन्तान के शरीर और मन दोनों के लिए हानिकारक है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—"अहोरात्रौ वै प्रजापतिः। तस्य अहरेव आपो रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते" (१।१३) अर्थात्—दिन और रात का जोड़ा ही प्रजापति है। उसका दिन ही प्राण है तथा रात्रि ही

---

* उत्तम सन्तान करने का मुख्य हेतु यथोक्त वधू-वर के आहार पर निर्भर है। इसलिए पति-पत्नी अपने शरीर-आत्मा की पुष्टि के लिए बल और बुद्धि आदि की वर्द्धक सर्वौषधि का सेवन करें। सर्वौषधि ये हैं—दो खण्ड आंबाहल्दी, दूसरी खाने की हल्दी, चन्दन, मुरा (यह भी नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), शिलाजीत, कपूर, मुस्ता, भद्रमोत। इन सब ओषधियों का चूर्ण करके सब सम भाग लेके उदुम्बर के काष्ठपात्र में गाय के दूध के साथ मिला उनका दही जमा और उदुम्बर ही के लकड़े की मंथनी से मंथन करके उसमें से मक्खन निकाल, उसको ताय, घृत करके उसमें सुगन्धित द्रव्य केशर, कस्तूरी, जायफल, इलायची, जावित्री मिलाके, अर्थात् सेर भर दूध में छटाँकभर पूर्वोक्त सर्वौषधि मिला सिद्ध कर घी शेष रहे पश्चात् एक सेर में एक रत्ती कस्तूरी और एक मासा केशर और एक-एक मासा जायफलादि भी मिलाके नित्य प्रातःकाल उस घी में से ५९ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागहुति ४ चार और पृष्ठ ८३ में लिखे हुए (विष्णुर्योनिं०) इत्यादि ७ सात मन्त्रों के अन्त में स्वाहा शब्द का उच्चारण करके जिस रात्रि में गर्भस्थापन क्रिया करनी हो, उसके दिन में होम करके उसी घी को दोनों जने खीर अथवा भात के साथ मिलाके यथारुचि भोजन करें। इस प्रकार गर्भस्थापन करें तो सुशील, विद्वान्, दीर्घायु, तेजस्वी, सुदृढ़ और नीरोग पुत्र उत्पन्न होवे। यदि कन्या की इच्छा हो तो जल में चावल पका पूर्वोक्त प्रकार घृत गूलर के एक पात्र में जमाये हुए दही के साथ भोजन करने से उत्तम गुणयुक्त कन्या भी होवे, क्योंकि—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।[१] —यह छान्दोग्य [उपनिषद्] का वचन है॥

अर्थात् शुद्ध आहार, जोकि मद्यमांसादिरहित घृत, दुग्धादि, चावल, गेहूँ आदि के, करने से अन्तःकरण की शुद्धि, बल, पुरुषार्थ, आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है।

इसलिए पूर्ण युवावस्था में विवाह कर इस प्रकार विधि कर प्रेमपूर्वक गर्भाधान करें तो सन्तान और कुल नित्यप्रति उत्कृष्टता को प्राप्त होते जाएँ। जब रजस्वला होने के समय में १२-१३ दिन शेष रहें, तब शुक्लपक्ष में १२ दिन तक पूर्वोक्त घृत मिलाके इसी खीर का भोजन करके १२ दिन का व्रत भी करें और मिताहारी होकर ऋतु-समय में पूर्वोक्त रीति से गर्भाधान क्रिया करें, तो अत्युत्तम सन्तान होवें। जैसे सब पदार्थों को उत्कृष्ट करने की विद्या है, वैसे सन्तान को उत्कृष्ट करने की यही विद्या है। इसपर मनुष्य लोग बहुत ध्यान देवें, क्योंकि इसके न होने से कुल की हानि [और] नीचता और होने से कुल की वृद्धि और उत्तमता अवश्य होती है।

—द०स०

---

१. छा० उ० ७।२६।२॥

के गये पश्चात् प्रहर रात्रि रहे तक है। जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे तब दोनों स्थिरशरीर, प्रसन्नवदन, मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिकादि सब सूधा शरीर रखें। वीर्य का प्रक्षेप पुरुष करे। जब वीर्य स्त्री के शरीर में प्राप्त हो, उस समय अपना पायु, मूलेन्द्रिय और योनीन्द्रिय को ऊपर संकोच और वीर्य को खैंचकर स्त्री गर्भाशय में स्थिर करे। तत्पश्चात् थोड़ा ठहरके स्नान करे। यदि शीतकाल हो तो प्रथम केसर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची डाल गर्म कर रखे हुए शीतल दूध का यथेष्ट पान करके पश्चात् पृथक्-पृथक् शयन करें। यदि स्त्री-पुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाए कि गर्भ स्थिर हो गया तो उसके दूसरे दिन, और जो गर्भ रहे का दृढ़ निश्चय न हो तो एक महीने के पश्चात् रजस्वला होने के समय स्त्री रजस्वला न हो तो निश्चित जानना कि गर्भ स्थित हो गया है। अर्थात् दूसरे दिन वा दूसरे महीने के आरम्भ में निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें*—

रयि है, अतः जो दिन में सहवास करते हैं वे सचमुच अपने प्राणों को ही क्षीण करते हैं तथा जो रात्रि में सहवास करते हैं उनका यह सहवास भी ब्रह्मचर्य ही है। दिन में सूर्यमूलक ऊष्मा होने से किया हुआ गर्भाधान प्राणों की, बल की हानि करनेवाला होता है। इसका कुफल कालान्तर में सन्तान को भी भुगतना पड़ता है, अतः माता-पिता बननेवालों को इस विषय में पूरी तरह सावधान रहना चाहिए।

दिन के समय गर्भाधान के कारण उष्णता में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से कोई भी रोग हो सकता है। सायं व प्रातः प्रदोषवेला में गर्भाधान करना सर्वथा निषिद्ध है। उस समय ऐसा करने से नेत्र-ज्योति क्षीण होती है और बल घटता है। इसलिए गर्भाधान के लिए भोजन के लगभग ढाई घण्टे बाद रात्रि के १० बजे से लेकर प्रातः ४ बजे तक का समय उपयुक्त है।

गर्भाधान से निवृत्त होने के ५-७ मिनट बाद ही पुरुष को मूत्रत्याग अवश्य करना चाहिए जिससे यदि मूत्रनली में वीर्य का कुछ अंश रह गया हो तो वह निकल जाए। वीर्य के मूत्रनली में रह जाने पर सुज़ाक आदि रोगों से ग्रस्त होने का भय बना रहता है।

विधिपूर्वक मैथुन—येन-केन प्रकारेण पेट भर लेना और बात है और हितभुक्, मितभुक् तथा

---

* यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जाएँ अर्थात् दो बार दो महीनों में गर्भाधानक्रिया निष्फल हो जाए, गर्भस्थिति न होवे तो तीसरे महीने में ऋतुकाल समय जब आवे तब पुष्यनक्षत्रयुक्त ऋतुकाल दिवस में प्रथम प्रातःकाल उपस्थित होवे, तब प्रथम प्रसूता गाय की दही दो मासा और यव के दाणों को सेकके पीसके दो मासा लेके इन दोनों को एकत्र करके पत्नी के हाथ में देके उससे पति पूछे—"किं पिबसि"? इस प्रकार तीन बार पूछे और स्त्री भी अपने पति को "पुंसवनम्" इस वाक्य को तीन बार बोलके उत्तर देवे और उसका प्राशन करे। इसी रीति से पुनः-पुनः तीन बार विधि करना। तत्पश्चात् सङ्खाहूली व भटकटाई ओषधि को जल में महीन पीसके उसका रस कपड़े में छानके पति-पत्नी के दाहिने नाक के छिद्र में सिंचन करे और पति—

ओम् इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती। अस्या अह बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम्॥[१]

इन मन्त्र से जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रार्थना करके यथोक्त ऋतुदान-विधि करे, यह सूत्रकार[२] का मत है।

—द०स०

---

१. पार० गृह्य० १।१३।१॥

२. अर्थात् पारस्करगृह्यसूत्रकार (१।१३।१) का मत है।

ऋतभुक् होकर सुसंस्कृत तथा स्वादिष्ट भोजन द्वारा तृप्त होना और बात है। अनपढ़-गंवार भी अपना काम चलाते हैं, परन्तु उनके और शिक्षित पुरुष के व्यवहार में हर दृष्टि से अन्तर होता है। इसी प्रकार संसार में ऐसे कौन स्त्री-पुरुष होंगे जो यौन अथवा मैथुन प्रक्रिया से सर्वथा अनभिज्ञ हों, क्योंकि—

'अहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्', परन्तु इस कर्म में विधिवत् प्रवृत्त होनेवालों की संख्या अधिक नहीं होगी।

गृहस्थों के लिए गर्भाधान की विधि का निर्देश करना नितान्त आवश्यक था। इसे न जानने के कारण अनेक स्त्री-पुरुष सन्तान-सुख से वंचित रहते हैं। युवावस्था में कामासक्त दम्पती मैथुन के समय क्या-क्या उलट-पुलट क्रियाएँ करते हैं, इसके लिखने की आवश्यकता नहीं। इसलिए बीजरूप से सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले जगन्नियन्ता परमेश्वर ने गृहस्थों का मार्गदर्शन करने के लिए साक्षात् वेद में गर्भाधान की विधि का संकेत कर दिया। कालान्तर में इस विद्या में निष्णात आचार्यों ने उसका विकास और विशदीकरण किया। इसी शास्त्रोक्त विधि से गर्भाधान करने से अविकलांग, सुन्दर तथा हृष्ट-पुष्ट सन्तान उत्पन्न हो सकती है।

आयुर्वेद के सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थद्वय में से एक चरकसंहिता (शा० ८।७) में लिखा है कि गर्भाधान के समय स्त्री को अपना शरीर उत्तान होकर सीधा रखना चाहिए—

''न न्युब्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत। न्युब्जाया वातो बलवान् स योनिं पीडयति। पार्श्वगताया दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा संच्युतोऽपि दधाति गर्भाशयम्। वामे पार्श्वे पित्तं तदस्या पीडितं विदहति। रक्तशुक्रं तस्मादुत्ताना सती बीजं गृह्णीयात्। तस्या हि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः।

अर्थ—कुबड़ी या करवट से लेटी हुई स्त्री से संग न करे। कुबड़ी होकर शयन कर रही से संग करे तो वायु कुपित होकर योनि को पीड़ित करता है। दाहिनी ओर करवट से सोई स्त्री से संग करने पर उसका कफ़ गिरकर गर्भाशय को ढक लेता है। बाईं करवट से सोई स्त्री से संग करने पर उसका पित्त पीड़ित होकर रुधिर और वीर्य को दूषित कर देता है। इसलिए सीधी लेटी हुई स्त्री वीर्य को ग्रहण करे, क्योंकि ऐसा करने से वात, पित्त और कफ़ अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह्यसूत्र तथा आयुर्वेद के अध्ययन से समागम की यही विधि ठीक सिद्ध होती है जिसका उल्लेख ग्रन्थकार ने यहाँ किया है।

गर्भाधान की स्थिति—यजुर्वेद १९।८८ में लिखा है—

मुख॑ᳪ सदस्य शिर इत्सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती।
चप्यं न पायुर्भिषगस्य वालो वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी॥

भावार्थ—स्त्री-पुरुष गर्भाधान के समय में परस्पर मिल, प्रेम से पूरित होकर, मुख के साथ मुख, आँख के साथ आँख, मन के साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसन्धान करके गर्भ का धारण करें जिससे कुरूप वा वक्रांग सन्तान न हो।

शतपथ ब्राह्मण में वेद के इस विधान को और भी स्पष्ट किया है—

अथ यामिच्छेत्। गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखेन मुखं सन्धायापान्याभि प्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति॥
—शत० १४।९।४।१०

गर्भाधान की ऐसी ही रीति बृहदारण्यकोपनिषद् ६।३।११ में लिखी हुई है।

पारस्करगृह्यसूत्र में चतुर्थीकर्म (=गर्भाधान) के विषय में एक मन्त्र लिखा है—

प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधाम्यस्थिभिरस्थीनि मासैर्मांसानि त्वचा त्वचमिति। —पार० १।११।५

हे स्त्रि! मैं तेरे प्राणों के साथ अपने प्राणों को, अस्थियों के साथ अस्थियों को, मांसों के साथ मांसों को और त्वचा के साथ त्वचा को जोड़ता हूँ।

स्नान और गर्भाधान—स्नान और गर्भाधान से सम्बन्धित अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा है—

आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः।

अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च॥ —अथर्व० १४।१।३९॥

(अस्यै) इस वधू के लिए (ब्राह्मणाः) वेदों के विद्वान्, वैद्य (स्नपनीः) स्नान के योग्य (आपः) जलों को (आहरन्तु) लाएँ। (अवीरघ्नीः) और वीर पुत्रों का हनन न करनेवाले जलों को (उद् अजन्तु) उत्कृष्ट बनाकर लाएँ। (अर्यम्णः) ईश्वर को जाननेवाले पति के (अग्निम्) तेज को, वीर्य को (पर्येतु) यह वधू प्राप्त करे। (पूषन्) हे पुष्टपति! (श्वशुरः देवरश्च) वधू के श्वसुर, देवर आदि (प्रतीक्षन्ते) इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

स्नपनीः=गर्भाधान में गर्भाधान से पूर्व स्नान की विधि।

अर्यम्णः=अर्यं स्वामिनं मिमीते मन्यते जानातीति अर्यमा (दयानन्द-उणादि १।१५९)

गर्भाधान संस्कार में गर्भाधान से पूर्वस्नान की विधि है जिसे 'स्नपनी' कहा जाता है। अथर्ववेद के उक्त मन्त्र के अनुसार इस जल को वेदज्ञ वैद्य वधू के स्नान के निमित्त उत्कृष्ट ओषधियों से तैयार करके लाते हैं। इससे गर्भ स्थापित होने में सहायता मिलती है। गर्भस्थ बच्चे का नाश नहीं होता, हृष्ट-पुष्ट होकर जन्म लेता है। चरकसंहिता में लिखा है कि "गर्भवती स्त्री इन्द्रायण, ब्राह्मी, सफ़ेद दूब, नीली दूब, पाटला, गिलोय, हरड़, नीम, खरेटा, शतमूली—इन ओषधियों के साथ सिद्ध किये हुए दूध और घी का पान करे तथा इन ओषधियों के साथ सिद्ध किये गये जल से स्नान किया करे" (गर्भस्थापनीय प्रकरण)।

स्नान के पश्चात् वधू ईश्वरज्ञ पति की अग्नि अर्थात् तेज को अपने गर्भाशय में धारण करे। मन्त्र में पति को अर्यमा कहा है। गर्भाधान के समय पति परमेश्वर का ध्यान करता हुआ सात्त्विक भावना से गर्भाधान करे, वैषयिक भावना से नहीं।

पति के वीर्य को तेज कहा है—तेजः=Semen, seed, verile (Apte)। जब राम के आदेशानुसार सीता को निर्जन वन में असहायावस्था में छोड़कर लक्ष्मण लौटने लगे तो सीता ने राम के प्रति दिये गये अपने सन्देश में कहा था—

किंवा तवात्यन्तवियोगमोघे, कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्।

स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजः त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः॥ —रघुवंश १४।६५॥

यदि मेरे गर्भ में आया हुआ आपका यह तेज बाधक न होता, जिसकी रक्षा करना आवश्यक है तो मैं आपसे सदा के लिए बिछुड़ गये अपने प्राण छोड़ देती।

यह सबके अनुभव का विषय है कि स्वप्नावस्था में हम आँखों के बिना देखते हैं, कानों के बिना सुनते हैं और पाँवों को हिलाये बिना दौड़ते हैं। यह सब कैसे होता है? वस्तुतः स्थूलशरीर

के भीतर एक सूक्ष्म शरीर है जो भौतिक देह के नष्ट हो जाने पर भी बना रहता है। सूक्ष्मशरीर जीवात्मा के साथ तब तक बना रहता है जब तक मुक्ति नहीं हो जाती या प्रलयकाल नहीं आता। सूक्ष्मशरीर का स्थूलशरीर के साथ सम्बन्ध नाभि-प्रदेश से होता है। उसी के द्वारा गर्भस्थ बालक का पोषण और विकास होता है। उस अवस्था में माता जो कुछ देखती, सुनती, करती है वह सब माता के माध्यम से गर्भस्थ बालक के सूक्ष्मशरीर में अंकित (Record) होता रहता है। गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन प्रसवपूर्व संस्कार हैं, जिन्हें मनु ने 'गार्भ' नाम दिया है, क्योंकि ये तीनों गर्भ के भीतर रहते हैं। इस अवधि में पड़े मात-पिता के संस्कारों का प्रभाव अमिट रहता है। वेदारम्भ से वह आचार्यवान् होने लगता है। चरक ऋषि के अनुसार 'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'— संस्कार करना पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर (दुरितानि परासुव) उनकी जगह सद्‌गुणों का आधान (भद्रमासुव) करना है। यह जड़ व चेतन दोनों में होता है। वैदिक संस्कृति में निर्दिष्ट १६ संस्कार मानव-निर्माण की शतवर्षीय (शतायुर्वै पुरुषः) योजना है।

गर्भस्थिति—यदि गर्भ ठहर जाता है तो—**'गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिराः संकुच्याऽङ्गान्यास्ते जरायुवृतोऽन्तः कुक्षौ'** (चरक, शा० ६।२१)—गर्भगत बालक माता के पृष्ठ (मेरुदण्ड) की ओर मुख करके तथा ऊर्ध्वशिरा अंगों को संकुचित करके जरायु से ढका हुआ कोख में पड़ा रहता है।

'व्यपगतपिपासाबुभुक्षस्तु खलु गर्भः परतन्त्रवृत्तिर्मातरमाश्रित्य वर्तयति'। —चरक० शा० ६।२२

गर्भ को भूख-प्यास कुछ नहीं लगती। वह माता के आश्रित होकर रहता है।

गर्भस्थिति के लक्षण—सद्योगृहीतगर्भा स्त्री के शरीर में ये चिह्न प्रकट होते हैं—

तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि श्रमो ग्लानिः पिपासा।
सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः॥
स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा। अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः॥
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात्। प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते॥

—सुश्रुत शा० ३।१३-१५

(श्रम) थकावट, ग्लानि (जी मिचलाना), प्यास, टाङ्गों में शिथिलता, शुक्र और शोणित का पक जाना और योनि स्फुरण (Pulsation)। यह वही स्फुरण है जिसे वेद में कहा है—'सोऽस्फुरत्। यह स्फुरण जीवनभर रहता है। इसी से शरीर की—गर्भ की वृद्धि होने लगती है। स्तनमुखों का काला होना, आँखों की पलकों का विशेषरूप से बन्द होना, वमन होना, सुगन्ध से उद्विग्नता (घबराहट) होना, मुख से लार बहना या थूकते रहना गर्भिणी के लक्षण हैं।

प्रायः युवावस्था आने पर प्रतिमास ऋतुस्राव होने लगता है। गर्भावस्था में ऋतु-स्राव नहीं होता। इसलिए गर्भ-स्थिति का सबसे पहला लक्षण यह है कि स्त्री का ऋतुस्राव बन्द हो जाता है। जब गर्भाधान होने के एक मास बाद ऋतुस्राव न हो तो समझ लेना चाहिए कि गर्भावस्था को एक मास बीत गया है। गर्भस्थित होने के एक मास बाद लगभग प्रातःकाल में गर्भिणी को वमन होने लगती है। इसका कारण यह है कि गर्भावस्था में शरीर में जो नये-नये परिवर्त्तन होने लगते हैं, शरीर के लिए वे सब अपरिचित होते हैं। इनके साथ तादात्म्य स्थापित करने में शरीर को कुछ समय लगता है। जब तक यह तादात्म्य स्थापित नहीं हो जाता तब तक कुछ बेचैनी, कुछ वमन, या खटास या

पित्त का आना अनुभव होता है। भावी सन्तान को भोजन देने के लिए स्तन बढ़ने लगते हैं। प्रायः तीसरे मास से पेट बढ़ने लगता है। चौथे या पाँचवें मास में बच्चे का फड़कना अनुभव होने लगता है। इससे गर्भस्थ सन्तान के हृदय की गति का आभास होता है।

पुत्र या पुत्री के लक्षणः—

''द्वितीये मासे घनः सम्पद्यते पिण्डः पेशी अर्बुदं वा।

पिण्डः पुमान् स्त्री चेत् पेशी नपुंसकं चेदर्बुदमिति॥'' —सुश्रुत० शा० ३।१८

यदि घन पिण्डाकार (गोल) हो तो पुरुष, यदि पेशी के आकार (लम्बा=चार कोनोंवाला) हो तो स्त्री और यदि अर्बुद (सिम्बल के फूल—Tumour के आकार का) हो तो नपुंसक समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त—यदि गर्भ में पुत्र हुआ तो

१—गर्भ की दक्षिण कुक्षि भारी होती है और चलने-फिरने में भी उसका दाहिना पैर भारीपन से उठता है।

२—गर्भिणी का दक्षिण स्तन कुछ बड़ा होता है और दूध भी पहले उसी में आता है।

३—गर्भिणी प्रायः पुरुषवाचक पदार्थों के खाने में अधिक रुचि रखती है, जैसे—आम, सेब, सन्तरा, केला, नारियल, बादाम, छुहारे आदि।

४—पुत्रगर्भा स्त्री मन में प्रसन्नता तथा उत्साह से भरी रहती है, परन्तु शरीर से दिन-पर-दिन दुर्बल होती जाती है और गर्भाधान के छह महीने के बाद मुरझाई-सी प्रतीत होने लगती है। उसके चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है।

उक्त चिह्नों या लक्षणों के विपरीत होने पर गर्भ में पुत्री है, यह समझना चाहिए।

मनचाही सन्तान—जिस-जिस गुणवाली सन्तान अभीष्ट हो उसके प्राप्त करने की युक्ति बौधायन-गृह्यसूत्र (प्र० १, अ० ७) में इस प्रकार लिखी है—**''अथ यदि कामयेत—'श्रोत्रियं जनयेयम्' इति, आ-अरुन्धत्युपस्थानं कृत्वा द्विरात्रमक्षारालवणाशिनावधश्शायिनौ ब्रह्मचारिणावासाते॥ ९॥ अहतानां च वाससां परिधानं सायंप्रातश्चालंकरणमिषुप्रतोदयोश्च धारणमग्निपरिचर्या च॥ १०॥ चतुर्थ्यां पक्वहोम उपसंवेशनं च'॥ ११॥ अथ यदि कामयेत—'अनूचानं जनयेयम्' इति, द्वादशरात्रमेतद् व्रतं चरेत्॥ १२॥ व्रतान्ते पक्वहोमः उपसंवेशनं च'॥ १५॥ अथ यदि कामयेत 'भ्रूणं जनयेयम् इति' चतुरो मासानेतद् व्रतं चरेत्॥ १६॥ व्रतान्ते पक्वहोम उपसंवेशनं च॥ १९॥ अथ यदि कामयेत—'देवं जनयेयम् इति' संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्॥ २०॥ व्रतान्ते पक्वहोम उपसंवेशनं च''॥ २१॥** अर्थात् यदि यह इच्छा हो कि श्रोत्रिय को उत्पन्न करूँ तो तीन दिन तक पति-पत्नी क्षारलवणरहित भोजन करें, नीचे सोएँ और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करें। शुद्ध, निर्दोष वस्त्रों का परिधान, सायं-प्रातः अलंकार-धारण और इषु तथा भाला धारण कर अग्निहोत्र करें। चौथी रात्रि पके पदार्थों का होम करें और सम्भोग करें। यदि यह इच्छा हो कि अनूचान को उत्पन्न करूँ तो बारह दिन तक इस व्रत को करें। व्रत के अन्त में पक्वहोम तथा सम्भोग और यदि यह कामना हो कि भ्रूण उत्पन्न करूँ तो चार मास इस व्रत को करें और व्रतान्त में पक्वहोम और सम्भोग करें और यदि यह चाहें कि देव को उत्पन्न करूँ तो एक वर्ष व्रत करें। व्रतान्त में पक्वहोम और सम्भोग।

श्रोत्रिय आदि संज्ञा किन की है, इसका विवरण भी बौधायनगृह्यसूत्र में उपलब्ध है। तदनुसार—

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदान् किंचिदधीय ब्राह्मणः॥ २॥ एकां शाखामधयी श्रोत्रियः॥ ३॥ अङ्गाध्याय्यनूचानः॥ ४॥ कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः॥ ५॥ सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः॥ ६॥ चतुर्वेदाद् ऋषिः॥ ७॥ अत ऊर्ध्वं देवः॥ ८॥ (प्र० १॥ अ० १॥) अर्थात् जिसका केवल यज्ञोपवीत हुआ है और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है और जिसने वेदों का कुछ भाग पढ़ा है वह ब्राह्मण है। एक शाखा पढ़ने से श्रोत्रिय, अङ्गोंसहित पढ़ने से अनूचान, कल्पसहित पढ़ने से ऋषिकल्प, सूत्रभाष्यादि पढ़ने से भ्रूण, चारों वेदों के पढ़ने से ऋषि और इससे ऊपर देव होता है। इससे स्पष्ट है कि अपेक्षित गुणों से युक्त सन्तान उत्पन्न करना माता-पिता के अपने हाथों में है।

इतिहास में भी आता है कि अपने समान गुणयुक्त सन्तान उत्पन्न करने के लिए सपत्नीक श्रीकृष्ण ने उपमन्यु ऋषि के आश्रम में १२ वर्ष तक तप किया था—"**व्रतं चचार धर्मात्मा कृष्णो द्वादशवार्षिकम्**" (महा० अनु० १३६।१०)। इससे उन्हें प्रद्युम्न-जैसा पुत्र प्राप्त हुआ जो कृष्ण से इतना मिलता था कि कहते हैं कि रुक्मणी के लिए भी दोनों में भेद करना आसान नहीं था।

सूर्यदर्शन—सूर्यदर्शन से सम्बन्धित छह मन्त्रों में जो कुछ कहा गया है उसका सार-संक्षेप इस प्रकार है—सन्तान ऐसी हो जो लाखों में एक कही जा सके, जिसे माता-पिता अपने अनेक जन्मों के संचित पुण्यकर्मों का फल कह सकें। जो 'शरदःशतम्' ही नहीं 'भूयश्च शरदः शतात्' को चरितार्थ करनेवाली हो। उसकी पृथिवीलोक, द्युलोक और अन्तरिक्षलोक के उपद्रवों से रक्षा हो। सृष्टि के सब पदार्थों में भगवान् के दर्शन करनेवाली हो। सृष्टि के एक ही रूप को नहीं, उसके हर रूप को, सृष्टि के वास्तविक रूप को हम देख सकें। शुभ और अशुभ कर्म जिनसे सृष्टि का सुन्दर या विकृत रूप बनता है, हमारे ही कर्मों से बनता है। कर्म करनेवाले हम हैं। परमेश्वर तो कर्मानुसार फल देनेवाला है।

गोत्रोच्चारण—गुरुजनों को अपने नाम और गोत्र का उच्चारण करते हुए यहाँ निर्दिष्ट शब्दों में अभिवादन करना प्राचीन परिपाटी है। इसके महत्त्व को प्रदर्शित करनेवाला एक रोचक प्रसङ्ग सत्यकाम जाबल के नाम से प्रसिद्ध उपाख्यान के रूप में छान्दोग्योपनिषद् में मिलता है।

पति आदि को प्रणाम—यह सच है कि ऊसर भूमि में बोया गया अच्छा बीज भी व्यर्थ जाता है, तथापि उत्पाद्य पदार्थ का श्रेष्टत्व भूमि की अपेक्षा बीज पर अधिक निर्भर करता है। यह देखा गया है कि एक ही खेत में बोये गये अनेक प्रकार के बीज अपना भिन्न-भिन्न स्वरूप स्थिर रखते हैं। यही कारण है कि अपना खेत चाहे कैसा ही हो, अच्छी फ़सल पाने के लिए किसान अच्छे-से-अच्छा बीज पाने के लिए प्रयत्न करता है। इससे स्पष्ट है कि उर्वरा भूमि भी बीज के सहायक होने में मानो उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करती है और उसे नमस्कार करती है।

गर्भाधान की क्रिया के द्वारा भूमि में बीज डालने के पश्चात् पुरुष प्रायः निश्चिन्त होकर बैठ जाता है, परन्तु उस बीज को धारण करनेवाली भूमि उसे आत्मसात् करके दस मास तक उसका पोषण-रक्षण करते हुए निर्माण करने का पूरा दायित्व उसी को वहन करना पड़ता है। इस निमित्त वह अपने को स्वाहा कर देती है। किसी अनिन्द्य सुन्दरी प्रेमिका को उसके प्रेमी ने जब विवाहोत्तर माँ के रूप में देखा तो पूछा—'तुम्हारा वह सौन्दर्य कहाँ गया?' तो उसने पालने में पड़े नवजात शिशु की ओर संकेत करके कहा—'वह देखो झूले में झूल रहा है।' इस दुरूह किन्तु पवित्र कार्य में उसे सबके आशीर्वाद और शुभकामनाओं का सम्बल चाहिए। उसे पाने के लिए वह सबसे पहले

अपने परम सहायक पति को और तत्पश्चात् परिवार के अन्यान्य गुरुजनों को प्रणाम करके उनका आशिर्वाद प्राप्त करना अपना कर्त्तव्य समझती है।

गोत्रपरिवर्तन तथा पतित्व व पत्नीत्व की प्राप्ति—''इस प्रमाणे............पतित्व को प्राप्त हुए पश्चात्'' से ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तक न स्त्री का गोत्र बदला है और न वे स्त्री व पुरुष पत्नी व पति बने हैं। यह सब अब गर्भाधान के अवसर पर गर्भाधान की क्रिया से पूर्व होने जा रहा है। इस विषय में निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार अपेक्षित है—

१—गोत्र-परिवर्तन करना और स्त्री-पुरुष को पत्नीत्व-पतित्व प्राप्त करना विवाहसंस्कार का विषय है, गर्भाधानसंस्कार का नहीं।

२—विवाहसंस्कार के आरम्भ में कन्यादान के नाम से अभिहित विधि को करते हुए कन्या का हाथ वर के हाथ में थमाते हुए कन्या का पिता वर से कहता है—

'अमुक गोत्रोत्पन्नामिमामकुनाम्नीं कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान्।'

इसपर वर कहता है—'प्रतिगृह्णामि' मैं ग्रहण करता हूँ।

स्त्री का और पुरुष का परस्पर चार प्रकार का सम्बन्ध होता है—पिता-पुत्री, माँ-बेटा, बहन-भाई और पति-पत्नी।

यहाँ पिता अपनी पुत्री को वर के हाथ में निश्चितरूप से पत्नी के रूप में दे रहा है। इसलिए वर के 'प्रतिगृह्णामि' कहते ही वे दोनों पति-पत्नी बन जाते हैं और इस प्रकार पति की पत्नी हो जाने से उसका गोत्र स्वतः बदल जाता है। प्रकरणस्थ शेष सभी क्रियाएँ आनुषङ्गिक, सहवर्त्ती, गौण अथवा औपचारिक हैं।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार ने अनेक स्थलों में दोनों को पति-पत्नी नाम से प्रस्तुत किया है। तद्यथा—

(१) 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय' इस मन्त्र का अर्थ करते हुए—''तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ जरावस्था को प्राप्त हो।''

''आपको मैं और मुझको आप आज से पति-पत्नीभाव करके प्राप्त हुए हैं।''

(२) 'भगस्ते हस्तम्' इस मन्त्र के अर्थ में—''(त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी पत्नी (असि) है और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा गृहपति (गृहपति) हूँ।''

(३) 'ममेयमस्तु' मन्त्रार्थ में कहा है—''मेरी पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो।'' (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शतं शरदः) सौ शरद् ऋतु अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त (शं जीव) सुखपूर्वक जीवन धारण कर।

मेरे लिए आपके बिना इस जगत् में दूसरा कोई पति नहीं है।

(४) 'इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी' इस मन्त्र का अर्थ करते हुए—''मैं भी इस मेरे पति को प्रजा से बढ़ाया करूँगी।''

(५) ''इयं नारी उपब्रूते''—यह स्त्री पति के समीप कहती है कि (मे पतिः) मेरा पति (आयुष्मानस्तु) दीर्घायु हो।

(६) सप्तपदी के अन्त में लिखा है—''वर-वधू दोनों गाँठ बाँधे हुए।'' गठ-बन्धन पति-पत्नी होने पर ही होता है।

(७) वस्तुतः कन्यादान के पश्चात् वर द्वारा दिये गये वस्त्रों को पहनने के साथ जब दोनों

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः स्वाहा॥ १॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति। एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा स्वाहा॥ २॥
दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि। निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि स्वाहा॥ ३॥
—ऋ० मं० ५। सू० ७८। मं० ७-९॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽ एजति।
एवायं दशमास्योऽ अस्रज्जरायुणा सह स्वाहा॥ १॥
यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी।
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहा॥ २॥
—यजुः० अ० ८। मं० २८, २९॥

पुमाꣳस सौ मित्रावरुणौ पुमाꣳस सावश्विनावुभौ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे स्वाहा॥ १॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः।
पुमाꣳस सं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताꣳस स्वाहा॥ २॥
—सामवेदे॥[1]

इन मन्त्रों से आहुति देकर पूर्वलिखित सामान्यप्रकरण की शान्त्याहुति देके, पुनः ६२ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे पूर्णाहुति देवें। पुनः स्त्री के भोजन-छादन का सुनियम करे। कोई मादक मद्य आदि, रेचक हरीतकी आदि, क्षार अतिलवणादि, अत्यम्ल अर्थात् अधिक खटाई, रूक्ष चणे आदि, तीक्ष्ण, अधिक लालमिर्ची आदि स्त्री कभी न खावे, किन्तु घृत, दुग्ध, मिष्ट, सोमलता अर्थात् गुडूच्यादि

एक साथ 'समञ्जन्तु विश्वेदेवाः०' इस मन्त्र को पढ़ते हैं तो मानो यज्ञमण्डप से पृथक् कक्ष में पति-पत्नी के रूप में स्थिर हुए सम्बन्ध की सार्वजनिक रूप में घोषणा कर रहे होते हैं। ग्रन्थकार इस मन्त्र के अर्थ में लिखते हैं—''आप हम दोनों को निश्चय करके जानें कि अपनी प्रसन्नतापूर्वक गृहाश्रम में रहने के लिए एक-दूसरे को स्वीकार करते हैं।''

इस सबके होते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि कभी के वर और वधू अभी तक पतित्व और पत्नीत्व को प्राप्त नहीं हुए थे। सप्तपदी के बाद तो संवैधानिक दृष्टि से भी उन्हें पति-पत्नी मान लिया जाता है।

यथा वातः पुष्करिणीम्—इन सात मन्त्रों में जीवशास्त्रीय अनुभव (Biological experience) को अनेक बार दुहराया गया है। जब गर्भस्थ शिशु हिलने-डुलने लगता है तब समझा जाता है कि उसका यथाक्रम विकास हो रहा है। उस समय गर्भिणी के उदर में कम्पन अनुभव होने लगता है। उस कम्पन को लक्ष्य करके इन मन्त्रों में कहा गया है कि जैसे वायु का झोंका उठने पर समुद्र में लहरें उठती हैं, वन में वृक्ष-वनस्पति झूलने लगती हैं, कुछ ऐसा ही अनुभव गर्भिणी को होता

---

१. यहाँ सामवेद शब्द से साहचर्यलक्षणा (उ० न्यायसूत्र वा वात्स्यायनभाष्य २।२।६१) से सामवेद का मन्त्रब्राह्मण अभिप्रेत है (ऐसा ही आगे पृष्ठ१०० पर भी समझें)। मन्त्रब्राह्मण १।४।८, ९॥ मन्त्रों में 'स्वाहा' पद नहीं है। सत्यव्रतसामश्रमी के संस्करण में ꣳकार मिलता है, अन्यत्र अनुस्वार देखा जाता है।

ओषधि, चावल, मिष्ट, दधि, गेहूँ, उर्द, मूँग, तूअर आदि अन्न और पुष्टिकारक शाक खावें। उसमें ऋतु-ऋतु के मसाले—गर्मी में ठण्डे सफेद इलायची आदि और सर्दी में केशर, कस्तूरी आदि डालकर खाया करें। युक्ताहार-विहार सदा किया करें। दूध में सुंठी और ब्राह्मी ओषधि का सेवन स्त्री विशेष किया करे, जिससे सन्तान अतिबुद्धिमान् रोगरहित शुभ गुण-कर्म-स्वभाववाला होवे॥

॥ इति गर्भाधानविधिः समाप्तः ॥

है। इस अनुभव को इन मन्त्रों में 'एजतु' कहा है। 'एजतु' शब्द 'एजृ कम्पने' धातु से निष्पन्न होता है। गर्भ कम्पन करता है, लहर उठती है—यही गर्भिणी का जीवशास्त्रीय अनुभव है। इन मन्त्रों में प्रार्थना की गई है कि माता के पेट में दस मास तक सोनेवाला जीव जरायु के साथ सुरक्षित एवं अविकलांग सहजभाव से बाहर आ जाए, उसे किसी प्रकार का कष्ट न हो।

अथ पुंसवनम्

'पुंसवन' संस्कार का समय गर्भस्थिति-ज्ञान हुए समय से दूसरे वा तीसरे महीने में है। उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिए, जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे। यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जावें, तबतक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे। भोजन-छादन, शयन-जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे, जिससे वीर्य स्थिर रहे और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे।

मनुस्मृति (२।२) में गर्भाधान संस्कार का प्रवर्तन करते हुए 'गार्भैः' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस बहुवचनान्त प्रयोग से प्रतीत होता है कि मनु को इस शब्द से सभी गर्भसम्बन्धी या गर्भकालीन संस्कार अभिप्रेत हैं। जन्म से पहले ९-१० मास का समय गर्भस्थ बालक के निर्माण में लगता है। जिस प्रकार खेत को तैयार करके बीजारोपण से लेकर कटाई तक—समय-समय पर खाद-पानी देना, निलाई करना, भूमिगत कीड़ों से, पशु-पक्षियों से, टिड्डियों से, चोरों से, आँधी-वर्षा से रक्षा करना आदि सभी कुछ खेती के अन्तर्गत है, वैसे ही बालक के निर्माण की प्रक्रिया गर्भाधान से लेकर जातकर्म तक निरन्तर एक त्रिक है। जातकर्म-संस्कार से पूर्व क्रमशः गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन इन तीन संस्कारों का विधान है। इन्हीं की 'गर्भ' संज्ञा है। इस प्रकार आनुषंगिकरूप में गर्भाधान में पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन का अन्तर्भाव है।

'अथ पुंसवनम्' (पार० १।१४।१) का अर्थ है—अथ=गर्भाधान के पश्चात् पुंसवनम्=पुंसवन संस्कार होता है। 'पुमान् सूयते यस्मात् इति पुंसवनम्'—जिससे सन्तान स्वस्थ एवं बलिष्ठ हो उसे 'पुंसवन' कहते हैं। तदनुसार जिस संस्कार के द्वारा पुमान्=स्वस्थ तथा शक्तिशाली सन्तान उत्पन्न होने में सहायता मिले वह पुंसवन संस्कार होता है। गर्भस्थ शिशु की रक्षा करना तथा उसे उत्तम संस्कारों से युक्त करना ही इस संस्कार का प्रयोजन है। निर्दिष्ट ओषधियाँ भी इसमें सहायक होंगी।

''यावत् बालक का जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जाएँ तबतक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर....... दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे'' इस लेख में 'यावत्' के स्थान में अधिकता का अर्थ सूचक 'और' शब्द उपयुक्त होगा। 'दो महीने' मात्र के कारण तीसरे मास में गर्भाधान होने पर अगली सन्तान के पहली सन्तान के एक वर्ष बाद ही उत्पन्न होने की सम्भावना होगी। प्रतिवर्ष एक बालक को जन्म देनेवाली स्त्री कितने दिन स्वस्थ रहकर जीएगी? इसलिए संस्कार-चन्द्रिका के लेखक विद्वद्वरेण्य पं० आत्मारामजी के अनुसार यहाँ 'दो महीने' के स्थान पर 'दो वर्ष' होना चाहिए। यही ग्रन्थकार की भावना के अनुरूप होगा। अथवा 'गर्भस्थिति से यावत् बालक का जन्म हुए पश्चात् दो महीने (=कुल एक वर्ष) न बीत जाएँ तब तक स्त्री-पुरुष दोनों ब्रह्मचारी रहकर.......' तो होना ही चाहिए। यहाँ लेखन अथवा मुद्रणकाल में असावधानी के कारण कुछ भूल हो गई प्रतीत होती है।

पुंसवन-संस्कार कब? सुश्रुत (१।१४।२) के अनुसार 'पुरास्पन्दत इति। मासे द्वितीये तृतीये

वा'—बच्चे के गर्भ में स्पन्दन (=हिलने-डुलने से) पुरा (=पूर्व)। इस प्रकार दूसरे अथवा तीसरे मास में यह संस्कार होना चाहिए। चरकसंहिता में लिखा है—'तृतीय मासे सर्वेन्द्रियाणि सर्वङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते' (शरीर० ४।११) तीसरे महीने में सब इन्द्रियाँ और सब अङ्गावयव एकदम प्रकट हो जाते हैं। 'चतुर्थे गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावः' चौथे मास में हृदय धड़कने लगता है। इसी से वह हिलने-डुलने लगता है। इसलिए उससे पहले दूसरे अथवा तीसरे मास में पुंसवन-संस्कार का विधान किया है। पुत्र हो या पुत्री—पुंसवन-संस्कार सबके लिए है, क्योंकि उसका एकमात्र प्रयोजन गर्भस्थ सन्तान को पौरुषवाली—हृष्ट-पुष्ट और बलवान् बनाना है। उसे पुमान् (पुरुष) बालक की उत्पत्ति में सहायक मानना युक्तियुक्त नहीं है।

गर्भस्थ शिशु पुरुष और स्त्री दोनों हो सकते हैं और गर्भाधान से अन्त्येष्टिपर्यन्त सभी संस्कार दोनों के लिए निर्दिष्ट हैं। पुंसवन नाम में 'पुम्' शब्द लक्षणा से बल-वीर्य-पराक्रम को लक्षित करता है यह मानना युक्त होगा। यह अर्थ उभयविध शिशु के लिए सार्थक हो सकता है। बालक-बालिका में समदृष्टि रखनेवाले ग्रन्थकार को यही अर्थ अभिप्रेत था । ऋग्वेद ३।२९।१३ का भाष्य करते हुए उन्होंने 'पुमांसम्' का अर्थ 'पुरुषार्थयुक्तं नरम्' और यजुर्वेद २५।४५ में 'पुंसः' का अर्थ 'पुंस्त्वयुक्तान् पुरुषार्थिनः जनाः' किया है। शतपथब्राह्मण (२।५।२।६) के आधार पर 'वीर्यं पुमान्' वीर्य को पुमान् बताया है। निरुक्त में दो स्थलों पर इसकी निरुक्ति दर्शाई है—'पुमान् पुरुषमना भवति पुंसतेर्वा' (९।१४), 'पुंसः=पितॄन्' (३।३५)। इससे स्पष्ट है कि 'पुमान्' शब्द से उन्हें 'पुरुष सन्तान' ही अभिप्रेत नहीं है। संस्कार के आरम्भ में जो प्रयोजन लिखा है, वह आनुषंगिक है, व्यावहारिक है।

प्रायः लोग यह समझते हैं कि पुंसवन-संस्कार का विधान पुत्र की प्राप्ति (उत्पत्ति) को लक्ष्य में रखकर किया गया है। वे यह भूल जाते हैं कि पुत्र होगा या पुत्री, इसका निश्चय तो गर्भ ठहरने के साथ हो जाता है। गर्भस्थिर हो जाने पर उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता। पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति में निर्णायक चार कारण बताये जाते हैं—

१—स्त्री के आर्तव की अधिकता (प्रबलता) से कन्या और पुरुष के वीर्य की अधिकता से पुत्र और दोनों के समान होने पर नपुंसक सन्तान होती है—"**तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभययोनिर्नपुंसकमिति।**"

२—युग्म रात्रियों में समागम होने पर पुत्र तथा अयुग्मरात्रियों में समागम होने पर कन्या की उत्पत्ति होती है।

३—स्त्री के दायें डिम्ब से आये बीज (Ovum) से पुत्र और बायें डिम्ब से आये बीज से कन्या की उत्पत्ति होती है।

४—पुरुष के दायें अण्डकोश से आये बीज (Sperm) से पुत्र की और बायें अण्डकोश से आये बीज से कन्या की उत्पत्ति होती है।

इन सबका सम्बन्ध गर्भधान की क्रिया से है। जो कुछ हो सकता है वह गर्भधान की क्रिया के समय अथवा उसके पूर्व ही हो सकता है, बाद में कुछ नहीं हो सकता। गर्भाधान की क्रिया में स्त्री के रज के एक्स (X) कीटाणु के साथ मिलनेवाले पुरुष के वीर्य के एक्स और वाई (Y) कीटाणु में से जो भी मिल गया सो मिल गया। उसे लौटाया या बदला नहीं जा सकता। इसलिए

गर्भस्थ बालक का लिंग बदलने के उद्देश्य से पुंसवन-संस्कार करना व्यर्थ है। आधुनिकचिकित्सा-विज्ञान का भी यही मत है।

दूसरी ओर वेदादि शास्त्रों में अनेकत्र पुमान् सन्तान अर्थात् पुत्रलाभ की कामना की गई है। तद्यथा—'पुमांसं पुत्रमाधेहि' (अथर्व० ६।१६।१०), 'पुमांसं जनय' (अथर्व० ३।२३।३) 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' (ऋ० १०।८५।४५), 'पुमान् गर्भस्तवोदरे' तथा 'पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्' (सामवेदे=सामब्राह्मण १।४।८९ तथा गोभिलगृह्यसूत्र)। यहाँ सामवेद शब्द से साहचर्यलक्षणा (द्रष्टव्य न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य २।२।६१) से सामवेद-ब्राह्मण अभिप्रेत है। लोक में भी प्रायः पुत्र की कामना देखी जाती है और पुत्रलाभ के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्न किया जाता है। 'पुमान्' का अर्थ वीर्यवान् होता है, इसे नकारा नहीं जा सकता। 'पुमान् स्त्रिया' इस पाणिनिसूत्र के अनुसार 'बालक' की भाँति पुत्र को भी उभयलिंगी माना जा सकता है। तदनुसार 'पुत्र' शब्द में पुत्री का अन्तर्भाव मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। तथापि सर्वत्र पुत्रोत्पत्ति की ही कामना से इन मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।

गोपथब्राह्मण (१।३।७) में स्त्री और पुरुष में भेद दर्शाते हुए कहा है—**'पुमांसः शमश्रुवन्तोऽश्मश्रुवः स्त्रियः'**। यहाँ पुमान् शब्द स्पष्टतः पुत्र को लक्ष्य करके कहा गया है। अथर्ववेद कहता है—'जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं कृन्' (८।६।२५) इसका भाष्य करते हुए अथर्ववेद के अधिकृत भाष्यकार प्रो० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ने लिखा है—''हे पिंग सर्षप (पीली सरसों) गर्भस्थ पुमान् को स्त्रीरूप में परिणत न कर देना।'' इसपर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है—''कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि जो पुमान् था, वह कालान्तर में स्त्री घोषित हो जाता है—लिंग परिवर्तन हो जाता है।'' इस सम्भावना को दूर करने के लिए यथासमय उपचार अपेक्षित है। अथर्ववेद का ही एक अन्य मन्त्र इस प्रकार है—

शमीमश्वत्थ आरुढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्र स्त्रीष्वा भरामसि॥ —६।११।१

चतुर्वेदभाष्यकार जयदेव मीमांसातीर्थ ने इसके भाष्य में लिखा है कि कई विद्वानों के मत में शमीवृक्ष के ऊपर उगा हुआ पीपल पुत्र उत्पन्न करने की ओषधि है। ग्रन्थकार ने यहाँ आश्वलायन-गृह्यसूत्र का वचन उद्धृत किया है—''**अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीता-मोषधीं नस्तः करोति।**'' इसका अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है—''गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा या उसकी पत्ती लेके स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुँघावे और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गुडुच जो गिलोय या ब्राह्मी ओषधि खिलावे।'' सामान्यतः इसकी पुष्ट करते हुए अथर्ववेद ३।२३।६ में कहा है—''तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः''—हे नारि! वे दिव्य ओषधियाँ तेरी और तेरे गर्भ की पुत्रलाभ के लिए रक्षा करें। ग्रन्थकार ने आश्वलायनगृह्यसूत्र को उद्धृत करते हुए उसका अर्थ भी प्रस्तुत किया, परन्तु उस क्रिया के प्रयोजन या परिणाम के विषय में कुछ नहीं लिखा। प्रो० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ने 'शमीमश्वत्थ०' इस मन्त्र के भाष्य में लिखा है—''शमीवृक्ष पर अश्वत्थवृक्ष आरुढ़ हुआ (यहाँ शमी द्वारा शान्त प्रकृति स्त्री अर्थात् पत्नी का और अश्वत्थ द्वारा दृढाङ्ग पति का वर्णन है)। उस कर्म में पुमान् पुत्र का उत्पत्ति कर्म किया गया। वह कर्म निश्चय से पुत्र की उत्पत्ति कराता है। उसे (रेतस् को) हम स्त्रियों में स्थापित करते हैं।

'स्त्रीषु' तथा 'आभरामसि' के बहुवचनान्त होने से भिन्न-भिन्न परिवार की नाना पत्नियाँ और पति

अभिप्रेत हैं।

प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् सातवलेकरजी ने इस मन्त्र के भाष्य में विस्तार से लिखा है—"निश्चय से पुत्र की उत्पत्ति होने के लिए एक उपाय इस सूक्त (अथर्व० ६।११) में कहा है, वह ओषधि प्रयोग का उपाय यह है—

(१) शमीवृक्ष पर उगा और बढ़ा हुआ पीपल का वृक्ष होता है, वह पीपल पुत्ररूप गर्भ को धारण करानेवाला होता है, अर्थात् इसका औषध बनाकर यदि स्त्री सेवन करेगी तो वह स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेवाली बनेगी। (२) यह पीपल निश्चय से पुत्र उत्पन्न करनेवाला है। (३) इसके सेवन से निश्चय से पुत्र उत्पन्न होता है। (४) पुत्र-उत्पत्ति के लिए इस पीपल के औषध को स्त्रियों को देना चाहिए।

शमी के वृक्ष पर उगे पीपलवृक्ष के पञ्चाङ्ग का चूर्ण करके मधु के साथ सेवन किया जावे अथवा अन्य दूध आदि द्वारा सेवन किया जावे। इसके सेवन से स्त्री का गर्भाशय पुरुषगर्भ बनाने में समर्थ होता है। जिस स्त्री को लड़कियाँ ही लड़कियाँ होती हों उस स्त्री को यह औषध देने से उसके गर्भाशय में परिवर्त्तन होकर, पुरुषगर्भ उत्पन्न करने की शक्ति आ सकती है।

पुंसवन और स्त्रैषूय—पुरुष उत्पन्न होने का नाम 'पुंसवन' और लड़की उत्पन्न होने का नाम 'स्त्रैषूय' है। ये दोनों नाम इस सूक्त में प्रयुक्त हुए हैं। जो पुरुष निश्चय से पुरुषसन्तान चाहते हैं वे इस औषध का प्रयोग करें। इस मन्त्र के श्लेष अर्थ से और भी एक आशय व्यक्त होता है, वह देखने योग्य है—

१—अश्व+त्थ:—अश्व का अर्थ वाजी है। वाजीकरण का अर्थ पुरुष को पुरुषशक्ति से युक्त करना है। अश्व शब्द का अर्थ यहाँ घोड़े के समान पुरुषधर्म से युक्त और समर्थ पुरुष है। (अश्व) घोड़े के समान जो (त्थ=स्थ:) रहता है, ऐसा बलवान् पुरुष।

२—शमी—मन की शक्तियों को न उछलने देनेवाली स्त्री, अर्थात् धर्मानुकुल गृहस्थधर्म नियमों का पालन करनेवाली स्त्री।"

स्वामी डॉ० सत्यप्रकाश ने भी इस मन्त्र का विनियोग इसी अर्थ में किया है—

"Ashvattha (holy fig tree) mounted on a shami (mimosa sima). There a male birth is assured. That is certainly the obtainment of a son. That we administer to women."

चरकसंहिता (शारीरस्थान ८।३५-३६) के अनुसार ओषधि को दाएँ नथुने द्वारा पीने से पुत्र-प्राप्ति और बाएँ नथुने द्वारा पीने से कन्या-प्राप्ति होती है। लगभग यही बात सुश्रुतसंहिता (शारीरस्थान २।३४) में कही गई है—"लब्धगर्भायाश्च एतेषु अह:सु लक्ष्मणवटशुङ्गासहदेवी विश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेण अभिघुत्य त्रीन् चतुरो वा बिन्दून् दद्याद् दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च तन्निष्ठीवेत्।" अर्थात्—जिसने गर्भ धारण कर लिया है, उसके लिए इन्हीं दिनों में लक्ष्मणा, वटशुङ्गा, सहदेवी और विश्वेदेवा—इनमें से किसी एक ओषधि को दूध के साथ महीन पीसकर उसकी तीन वा चार बूँदें उस स्त्री की नाक के दाहिने छिद्र में डाल दें। यदि पुत्र की इच्छा हो तभी ऐसा करें। स्त्री को चाहिए कि वह ओषधि को थूके नहीं।

पीयूषपाणि स्वामी सर्वानन्द सरस्वती आयुर्वेद में निष्णात हैं। उन्होंने बताया कि जिनके पुत्र

अत्र प्रमाणानि

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ। पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे॥ १॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान्देवो बृहस्पतिः। पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताम्॥ २॥

—सामवेदे॥[1]

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि॥ १॥
पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत्॥ २॥
प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह॥ ३॥

—अथर्व० का० ६। सू० ११॥[2]

इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिए।

इसमें आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण—

नहीं होता उनकी मैं ओषधियों से चिकित्सा करता हूँ और लगभग ७५ प्रतिशत सफलता मिलती हैं।

इन प्रमाणों के आधार पर यह मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती कि पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति में उपयुक्त ओषधियाँ भी सहायक हैं। जहाँ तक युग्म-अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान का सम्बन्ध है और इसमें वीर्य या आर्तव के सामर्थ्य की भूमिका है, वह भी इससे मिथ्या सिद्ध नहीं हो जाता। युग्म रात्रि हो और उसमें स्त्री का आर्तव प्रबल हो। इसी प्रकार अयुग्म रात्रि हो, किन्तु उस समय पुरुष-वीर्य प्रबल हो तो दोनों में से कौन अधिक प्रभावी होगा, निश्चितरूप से कोई नहीं जान सकता। इसी प्रकार की स्थिति स्त्री के डिम्ब और पुरुष के अण्डकोश के सम्बन्ध में भी हो सकती है। इसलिए केवल गर्भाधान के आधार पर पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति के विषय में कोई अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता।

प्रमाणानि—

१—पुमांसौ मित्रावरुणौ—हे सुभगे! परमात्मा करे कि दिन और रात तेरे लिए उत्पादन शक्तिवाले हों और प्राण व अपान दोनों उत्पादनशक्ति से युक्त हों। अग्नि और वायु उत्पादक शक्तिसम्पन्न हों। तेरे पेट में गर्भ भी उत्पादक शक्तिवाला हो।

२—पुमानग्निः—हे देवि! ऐश्वर्यवाला दिव्य गुणयुक्त बड़े-बड़े पदार्थों का स्वामी परमात्मा तेरे लिए उत्पादक शक्तिवाला हो और तू ईश्वर-कृपा से वीर्यवान् सन्तान को जन्म दे और उस सन्तान के पीछे भी वीर्यवान् सन्तान उत्पन्न हो।

३—शमीमश्वत्थ—पहले व्याख्यात हो चुका है।

४—पुंसि वै रेतो—पुरुष में निश्चय से वीर्य होता है, वह स्त्रियों में सींचा जाता है। वह पुत्र-प्राप्ति का साधक होता है, यह प्रजापति ने कहा है।

५—प्रजापतिरनुमतिः—प्रजापालक पिता अनुकूल मति धारण करे। गर्भवती स्त्री समर्थ होवे।

---

१. द्र०—पृष्ठ ९४ टि० १ का पूर्वभाग। मन्त्रब्राह्मण १।४।८, ९॥ सत्यव्रत सामश्रमी संस्करण; गोभिलगृह्य० २।६।३, १०॥

२. मन्त्र १-३॥

अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति॥ १ ॥

प्रजावज्जीवपुत्राभ्यां हैके॥ २ ॥[1]

गर्भ के दूसरे वा तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेके स्त्री के दक्षिण नासापुट से सुँघावे और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गुडच जो गिलोय वा ब्राह्मी ओषधि खिलावे।

ऐसा ही पारस्करगृह्यसूत्र का प्रमाण है—

अथ पुꣳसवनं पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा॥[2]

इसके अनन्तर 'पुंसवनं' उसको कहते हैं, जो पूर्व ऋतुदान देकर गर्भस्थिति से दूसरे वा तीसरे महीने में पुंसवन-संस्कार किया जाता है। इसी प्रकार गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रों में भी लिखा है।

अथ क्रियारम्भः—पृष्ठ ३६ से ४८वें पृष्ठ के शान्तिकरणपर्यन्त कहे प्रमाणे (विश्वानि देव०) इत्यादि चारों वेदों के मन्त्रों से यजमान और पुरोहितादि ईश्वरोपासना करें और जितने पुरुष वहाँ उपस्थित हों, वे भी परमेश्वरोपासना में चित्त लगावें और पृष्ठ ४३ में कहे प्रमाणे स्वस्तिवाचन तथा पृष्ठ ४६ में लिखे प्रमाणे शान्तिकरण करके पृष्ठ ४९ में लिखे प्रमाणे यज्ञदेश, यज्ञशाला तथा पृष्ठ ४९ में यज्ञकुण्ड, पृष्ठ ४९-५० में यज्ञसमिधा, होम के द्रव्य और स्थालीपाक आदि करके और पृष्ठ ५८ में लिके प्रमाणे (अयन्त इध्म०) इत्यादि, (ओम् अदिते०) इत्यादि ४ [चार] मन्त्रोक्त कर्म और आघारावाज्यभागाहुति[3] ४ तथा व्याहृति आहुति[4] ४ और पृष्ठ ६१ में (ओं प्रजापतये स्वाहा), पृष्ठ ६० में (ओं यदस्य कर्मणो०) लिखे प्रमाणे २ [दो] आहुति देकर नीचे लिखे हुए दोनों मन्त्रों से २ [दो] आहुति घृत की देवें—

ओम् आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा॥ १ ॥
ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्।
तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा॥ २ ॥[5]

इन दोनों मन्त्रों को बोलके २ [दो] आहुति किये पश्चात् एकान्त में पत्नी के हृदय पर हाथ

ऐसा होने पर पुत्र गर्भ ही यहाँ धारण होता है, अन्य परिस्थिति में स्त्रीगर्भ धारण होता है।

ओषधि खिलाना—गर्भ को स्थिर रखने के लिए दक्षिण नासापुट में ओषधि सुँघाने और खिलाने का निर्देश किया गया है। मुख्य ओषधि न्यग्रोध है। न्यग्रोध वटवृक्ष का अपर नाम है। वट विशेषरूप से व्रण के लिए हितकारी है, रक्त-पित्त-नाशक है, टूटे को जोड़ता है। स्त्रियों की योनि के दोषों को दूर करता है और गर्भ को पुष्ट करता है। गिलोय ज्वरनाशक है। पित्त, कफ़, खाज, अरुचि, वमन, तृषा और दाह को दूर करता है। गर्भावस्था में जो-जो उपद्रव आते हैं, गिलोय उन सबकी अव्यर्थ ओषधि है।

एकान्त में पत्नी के हृदय का स्पर्श—भरी सभा में से उठा एकान्त में ले-जाकर किसी से कुछ

---

१. आश्व० गृह्य० १।१३।५, ६॥
२. पार० गृह्य० १।१४।१, २॥
३. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि।
४. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि॥
५. आश्व० गृह्य० १।१३।६॥

धरके यह निम्नलिखित मन्त्र पति बोले—

ओम् यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ। मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं माहं पौत्रमघं नियाम् ।।[१]

तत्पश्चात् पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे सामवेद का महावामदेव्यगान गाके जो-जो पुरुष वा स्त्री संस्कार-समय पर आये हों, उनको विदा कर दे।

पुनः वटवृक्ष के कोमल कूपल और गिलोय को महीन बाँट, कपड़े में छान, गर्भिणी स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुँघावे। तत्पश्चात्—

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ऽआसीत्।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ १॥

—यजुः० अ० १३। मं० ४॥

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त॒ताग्रे॑।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य देव॒त्वमा॒जान॒मग्रे॑॥ २॥

—यजुः० अ० ३१। मं० १७॥

इन २ [दो] मन्त्रों को बोलके पति अपनी गर्भिणी पत्नी के गर्भाशय पर हाथ धरके यह मन्त्र

कहना असाधारण बात है। यह किसी के प्रति आत्मीयता और विश्वास की पराकाष्ठा है। एक ओर एकान्त में ले-जाने से पहले दो मन्त्रों से आहुति देते हुए वह सार्वजनिक रूप से कहता है कि मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि जिस प्रकार बाण तरकश में सुरक्षित रहता है और समय पर बाहर निकलता है ऐसे ही तेरा गर्भ तेरी योनि में सुरक्षित रहकर दश मास पूरे करके उत्पन्न हो (दशमास्यः जायताम्) और जब उत्पन्न हो तो पूरी तरह हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ हो। वह यह भी घोषणा करता है कि वह अपने जीवन में ऐसा कोई काम नहीं करेगा जिससे उसे या गर्भस्थ बालक को कोई हानि पहुँचे या उसके वियोग में उसे रोना पड़े। इस प्रकार वह दोनों की रक्षा की पूरी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेता है। तत्पश्चात् वह पत्नी के हृदय का स्पर्श करते हुए उसे विश्वास दिलाता है—'हे शोभन केशोंवाली! प्रजापालन की दृष्टि से तेरे भीतर जो हित की भावना है उसका मुझे पूरा ज्ञान है और मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा जिससे मुझे किसी भी रूप में सन्तान-सम्बन्धी दुःख प्राप्त हो।

तत्पश्चात् वे सभामण्डप में आकर सामवेद के गान के अनन्तर सबको विदा करते हैं और गर्भरक्षा के निमित्त निर्दिष्ट ओषधियों के सेवन की क्रिया करते हैं।

पेट पर हाथ रखना—पेट पर हाथ रखने से पूर्व जिन दो मन्त्रों ('हिरण्यगर्भ०' तथा 'अद्भ्यः सम्भृतः०') को बोला जाता है उनमें पहले में कहा है कि स्त्री गर्भ को तुच्छ वस्तु न समझे। जैसे परमेश्वर सूर्य-चन्द्र आदि से युक्त ब्रह्माण्ड को धारण कर उत्पन्न करता है वैसे ही पृथिवी पर स्त्री गर्भ-धारण कर सृष्टि का संचालन करने का महान् कार्य करती है। गर्भ की महत्ता इससे बढ़कर क्या हो सकती है कि स्वयं परमेश्वर को भी 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है।

दूसरे मन्त्र में बतलाया है कि जल, स्थल, सूर्य आदि पदार्थ अपने प्रकृतिरूपी गर्भ से उत्पन्न हुए हैं और उस गर्भ को धारण करनेवाला परमात्मा है। पति-पत्नी को सन्तान उत्पन्न करने-जैसे महान् कार्य को करते हुए अपने को गौरवान्वित अनुभव करना चाहिए, मानो वे ईश्वर के कार्य में उसके सहयोगी ही हैं।

---

१. आश्व० गृह्य० १।१३।७॥

बोले—

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ।
स्तोमऽआत्मा छन्दाᳬस्यङ्गानि यजूᳬषि नाम।
साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः।
सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत॥ —य० अ० १२। मं० ४॥

इसके पश्चात् स्त्री सुनियम, युक्ताहार-विहार करे। विशेषकर गिलोय, ब्राह्मी ओषधि और सुंठी को दूध के साथ थोड़ी-थोड़ी खाया करे और अधिक शयन और अधिक भाषण, अधिक खारा, खट्टा, तीखा, कड़वा, रेचक हरड़े आदि न खावे। सूक्ष्म आहार करे। क्रोध, द्वेष, लोभादि में न फँसे, चित्त को सदा प्रसन्न रक्खे इत्यादि शुभाचरण करे॥

॥ इति पुंसवनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

पति के पत्नी के पेट पर हाथ रखने से उसके उसमें भागीदार होने और उसकी रक्षा में अपना पूर्ण सहयोग देने का भाव व्यक्त होता है। 'सुपर्णोऽसि' इत्यादि मन्त्र में गर्भस्थ सन्तान की उपमा सुपर्ण से की गई है। इस सर्वांगसुन्दर पक्षी के समान यह बालक संसाररूपी आकाश में शोभायमान हो विचरण करे, यह कामना की गई है। यहाँ 'ते शिरः त्रिवृत्' कहकर यह संकेत किया गया है कि जीवन की सफलता अथवा सम्पूर्णता ज्ञान, कर्म और उपासना के समुच्चय द्वारा ही सम्भव है। मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति इसी के द्वारा सम्भव होगी।

जहाँ तक ग्रन्थकार का सम्बन्ध है वे ओषधियों द्वारा गर्भस्थ शिशु के लिंग-परिवर्त्तन की बात से सहमत प्रतीत नहीं होते। 'अथ प्रमाणानि' के अन्तर्गत जिन मन्त्रों को उन्होंने यहाँ उद्धृत किया है, उन्हीं को अन्यान्य विद्वानों ने लिंग-परिवर्त्तन के समर्थन में प्रस्तुत किया है, परन्तु ग्रन्थकार ने स्पष्ट लिखा है—'इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिए।'' इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि इन ओषधियों के प्रयोग से स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य की गुणवत्ता में अन्तर पड़ जाए और उसके परिणामस्वरूप रज या वीर्य की प्रबलता के कारण लड़के या लड़की का जन्म हो परन्तु उस दशा में भी जो कुछ होना होगा, वह पुंसवन के अवसर पर न होकर गर्भाधान के समय होगा।

सृष्टिक्रम को देखते हुए यही युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि स्त्री-पुरुषों की संख्या बराबर होनी चाहिए। लोग प्रायः पुरुष सन्तान चाहते हैं और जिन ओषधियों के प्रयोग से ऐसा हो सकता है वे दुर्लभ नहीं है। कुछ ही वर्षों में धरती पर पुरुष-ही-पुरुष मिलेंगे, स्त्रियाँ तो आटे में नमक के बराबर रह जाएँगी, पर क्या यह व्यवहार्य है?

ईश्वर को सृष्टि में सन्तुलन बनाये रखना है। भूगोल पर सदा से जितनी संख्या पुरुषों की है लगभग उतनी ही स्त्रियों की है और रहेगी। अखिल भारतीयस्तर पर भारत में १९९१ की जनसंख्या के अनुसार १००० पुरुषों के पीछे ९२९ स्त्रियाँ थी। १९८१ में यह संख्या ९३४ थी। कमी का कारण भ्रूण-लिंग-परीक्षण के कारण होनेवाला गर्भपात बताया गया है।

गर्भाधान (गर्भस्थिति) के बाद पुंसवन-संस्कार लड़की की जगह लड़का पाने के उद्देश्य से करना व्यर्थ है। जो कुछ हो सकता है वह गर्भाधान की क्रिया से पहले ही हो सकता है और वह हम गर्भाधान के प्रकरण में कह आये हैं।

अथ सीमन्तोन्नयनम्

अब तीसरा संस्कार 'सीमन्तोन्नयन' कहते हैं। जिससे गर्भिणी स्त्री का मन सन्तुष्ट, आरोग्य, गर्भ स्थिर, उत्कृष्ट होवे और प्रतिदिन बढ़ता जावे। इसमें आगे प्रमाण लिखते हैं—

चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्॥१॥

आपूर्यमाणपक्षे यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्॥२॥

अथास्यै युग्मेन शलालुग्रप्सेन[1] त्र्येण्या च शलल्या त्रिभिश्च कुशपिञ्जूलैरूर्ध्वं सीमन्तं व्यूहति भूर्भुवःस्वरोमिति त्रिः। चतुर्वा॥ —यह आश्वलायनगृह्यसूत्र॥[2]

पुंसवनवत् प्रथमे गर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा॥ —यह पारस्करगृह्यसूत्र का प्रमाण॥[3]

अथ=पुंसवन के पश्चात् सीमन्तोन्नयनम्=सीमन्तोन्नयन-संस्कार होता है। 'सीमन्तःकेशेषु' अष्टाध्यायी के इस सूत्र के अनुसार केशों को विभक्त करनेवाली मध्य रेखा सीमन्त कहाती है, उसका ऊपर की ओर उठाना=उन्नयन करना सीमन्तोन्नयन कहाता है। यह संस्कार स्त्री का मन प्रसन्न रखते हुए गर्भस्थ बालक के सामान्यतः शारीरिक और विशेषतः मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिए होता है।

चरक (शारीरस्थान ४।२) में लिखा है—'शुक्रशोणितसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति' अर्थात् रज-वीर्य तथा जीव का संयोग होकर कुक्षि में प्राप्त होने का नाम गर्भ है। इसलिए जिन संस्कारों के माता-पिता होंगे, उन्हीं संस्कारों से युक्त सन्तान होगी। माता-पिता के रज-वीर्य में एक ऐसा तत्त्व रहता है जो उनके शरीर तथा मन के गुणों को लेकर सन्तान में पहुँचता है। इसलिए माता-पिता के शारीरिक तथा मानसिक गुण सन्तान में संक्रमित होते हैं। नर के उत्पादक कोष्ठ (वीर्यकण=sperms) उसके शरीर से निकलकर मादा के गर्भाशय में प्रविष्ट होकर उसके उत्पादक कोष्ठ (रजःकण=ova) में मिल जाते हैं और इस प्रक्रिया से प्राणी का जन्म होता है। उत्पादक बीज या तत्त्व का ही अपर नाम जीन्स (genes) है। ये ही जीन्स प्राणी की शारीरिक व मानसिक रचना का आधारभूत कारण हैं।

सन्तानों में संस्कारों का संक्रमण किस प्रकार होता है, अर्थात् भिन्न-भिन जातियों के प्राणियों में पैतृक तथा जातीय गुण किस विधि से वंशानुवंश संक्रमित होते हैं तथा समय-समय पर जो नये गुण भी प्राणी में उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी क्या प्रक्रिया है, इत्यादि विषयों पर वैज्ञानिक जगत्

---

१. आश्व० गृह्य० में 'शलाटुग्लप्सेन' पाठ है। आपस्तम्बगृह्य० (खं० १४, सू० ३ भीमसेन सं०) में 'शलालुग्लप्सेन', और पारस्करगृह्य० (१।१५।४) में 'सढालुग्रप्सेन' पाठ मिलता है। टीकाकार तीनों का एक ही अर्थ करते हैं, अतः तीनों की तुलना से 'शलालुग्रप्सेन' पाठ भी ठीक है।

२. आश्व० गृह्य० १।१४।१, २, ४, ५॥

३. पार० गृह्य० १।१५।२, ३॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्र में भी लिखा है।

गर्भमास से चौथे महीने में शुक्लपक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो, उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करें और पुंसवन-संस्कार के तुल्य छठे, आठवें महीने में पूर्वोक्त पक्ष, नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा के दिन सीमन्तोन्नयन-संस्कार करें।

इसमें प्रथम ३६-६३ पृष्ठ तक का विधि करके (अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि पृष्ठ ५८ में लिखे प्रमाण वेदी से पूर्वादि दिशाओं में जल सेचन करके—

ओं देव॑ सवितः॒ प्र सु॑व य॒ज्ञं प्र सु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केत॑न्नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाच॑न्नः स्वदतु॒ स्वाहा॑॥ —य० अ० ३०। मं० ७॥

इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल-सेचन करके आघारावाज्यभागाहुति[1] ४ [चार] और

में बड़े-बड़े अन्वेषण हो रहे हैं। वर्त्तमान में आनुवंशिक परम्परा-प्राप्ति (Heredity) के क्षेत्र में जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उनमें चार्ल्स डार्विन, गाल्टन, वाइज़मैन तथा उदीयमान भारतीय वैज्ञानिक हरगोविन्द खुराना के नाम उल्लेखनीय हैं।

संस्कारपद्धतिकार सीमन्तोन्नयन को स्त्रीसंस्कारार्थ मानते हैं। इसका प्रयोजन क्षेत्रभूता नारी को संस्कृत करना है। सुश्रुतसंहिता (शा०अ० ३।३१) के अनुसार—

''मातुस्तु खलु रसवहानां नाड्यां गर्भनाभिर्नाडी-प्रतिबद्धा, सा मातुराहाररसवीर्यमभिवहति। तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। असंजाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागमानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहान्तं तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति।''

माता की रसवहा नाड़ी में गर्भ की नाभिनाड़ी बँधी होती है। वह गर्भनाभिनाड़ी माता के आहार-रस-वीर्य को बालक में पहुँचाती है। इस नाड़ी द्वारा उपस्नेहन—पोषण मिलने से गर्भ बढ़ता है। योनि में शुक्रसिंचनरूपी गर्भाधान-क्रिया से प्रारम्भ करके जब तक सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गों का विभाग पूर्ण नहीं हो जाता तब तक शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में तिर्यग्रूप में व्याप्त रसवहा धमनियों द्वारा ही उपस्नेहन होने से गर्भ जीवित रहता है।

गर्भस्य शिशु के विकासक्रम में—''पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः, सप्तमे सर्वाङ्ग प्रत्यङ्ग-विभागः प्रव्यक्ततरः, अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजस्तत्र जातश्चेन्न जीवेत्''॥ ३०॥ पाँचवें मास में मन अधिक प्रवृद्ध हो जाता है, छठे में बुद्धि, सातवें में सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग का विभाजन अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। आठवें में ओज अस्थिर रहता है। इस मास में जन्म लेनेवाला बालक जीता नहीं। ओज जब माता में पहुँचा हो तब यदि शिशु का प्रसव होता है तो मरा होता है। यदि ओज शिशु में हो तो वह निर्बल होने के कारण अधिक समय नहीं जीता। इसलिए कहा जात है—'**अष्टमे मासे जातस्य हरन्त्योजो निशाचराः**'। इसलिए चौथे से आठवें मास तक का समय विशेष सावधानी का होता है।

सुश्रुत (शारीरस्थान, अध्याय ६) के अनुसार खोपड़ी पाँच भागों में विभक्त है, उसकी सन्धियों को भी सीमन्त कहते हैं। खोपड़ी मस्तिष्क का पर्याय है। इस प्रकार मानसिक अथवा बौद्धिक शक्तियों का विकास करना इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है। मस्तिष्क या मन का विकास चौथे मास में

---

१. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि चार।

व्याहृति आहुति[१] ४ [दोनों] मिलके ८ आठ आहुति पृष्ठ ५९-६० में लिखे प्रमाणे करके—

ओम् प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥[२]

अर्थात् चावल, तिल और मूँग इन तीनों को समभाग लेके—

ओम् प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥[३]

अर्थात् धोके इनकी खिचड़ी बना[४] उसमें पुष्कल घी डालके निम्नलिखित मन्त्रों से ८ आठ आहुति देवें—

होने लगता है और पाँचवें महीने में गर्भस्थ बालक अधिक जाग्रत् व प्रबुद्ध हो जाता है। इसलिए अनेक विकल्पों में से ग्रन्थकार ने आश्वलायन के मत को स्वीकार करते हुए लिखा है—'चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्'।

'पुंसवनवत्' (१।१५।२)—पारस्कर के इस सूत्र की हरिदत्तादिकृत टीका में लिखा है—

सकृत् संस्कृतसंस्काराः सीमन्तेन द्विजस्त्रियः। यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत् ॥

एतदनुसार प्रथम गर्भ में ही सीमन्तोन्नयन आवश्यक है, परन्तु ग्रन्थकार के अनुसार इसे प्रत्येक गर्भ में किया जाना चाहिए जो सर्वथा युक्त है। शास्त्रकारों ने स्त्री को क्षेत्रभूता कहा है। सभी कृषक जानते हैं कि अच्छी फ़सल प्राप्त करने के लिए प्रत्येक फ़सल के आरम्भ में खेत को संस्कृत करना पड़ता है। कभी-कभी फ़सल के मध्य में भी खादादि देना पड़ता है। इसी प्रकार प्रत्येक बालक को संस्कृत करने के लिए समय पर इस संस्कार का करना अनिवार्य है। कर्काचार्य आदि ने तो स्पष्ट लिखा है कि ऐसा न करने पर द्वितीय आदि गर्भों में तो इस संस्कार का लोप होगा। इसलिए यह पक्ष इष्ट नहीं है।

जैसे माता के शरीर से बालक के पञ्चभौतिक स्थूलशरीर का निर्माण होता है वैसे ही उसके विचारों से उसके सूक्ष्म शरीर अर्थात् संस्कारों का निर्माण होता है। मता-पिता के खान-पान का, रहन-सहन का, स्थिति-परिस्थिति का और एक-एक शब्द का जो उसके कानों में पड़ता है और एक-एक दृश्य का जो उसकी आँखों में प्रतिबिम्बित होता है, बालक के अवचेतन मन पर प्रभाव पड़ता है। जब तक सन्तान माता के पेट में बढ़ रही होती है, तब तक उसके सम्पूर्ण क्रिया-कलाप

---

१. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि चार।

२. 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र का ऊहित पाठ।

३. 'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' मन्त्र का ऊहित पाठ।

४. यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि पूर्व आज्याहुति करके यज्ञ के बीच में ही खिचड़ी बनाने बैठे और खिचड़ी बन जाने पर अगली आहुतियाँ देवे। यहाँ **'पाठक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्'** इस मीमांसा (५।१।२) तथा का० श्रौ० (१।५।४) के न्याय के अनुसार यज्ञकर्म आरम्भ करने से पूर्व खिचड़ी बनाकर रखनी चाहिए। ऋषि दयानन्द ने अपना ग्रन्थ प्राचीन शैली पर ही लिखा है, अतः यहाँ क्रिया के पौर्वापर्य का ज्ञान प्राचीन कर्मकाण्डीय न्यायों के अनुसार समझना चाहिए। इस दृष्टि से संस्कारविधि में प्रयुक्त 'करके' प्रयोग सर्वत्र अव्यवहित पूर्वकालता का बोधक है, यह नहीं समझना चाहिए। प्राचीन सूत्रग्रन्थों में **'पाठक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्'** नियम से 'क्त्वा' प्रत्यय-बोधित पौर्वकालिकता की बाधा होती है। तदनुसार सामान्यप्रकरण में स्विष्टकृदाहुति से पूर्व 'करके' पद का प्रयोग होने पर भी वह व्याहृत्याहुति से उत्तर ही कर्त्तव्य नहीं है, अपितु अर्थक्रमानुसार प्रत्येक कर्म के प्रधानहोम के पश्चात् की जानी चाहिए।

ओं धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं वाजिनीवतः स्वाहा॥ इदं धात्रे—इदन्न मम॥ १॥
ओं धाता प्रजानामुत राय ईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजान।
धाता कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे धात्र इद्धव्यं घृतवज्जुहोत स्वाहा॥ इदं धात्रे—इदन्न मम॥ २॥[1]
ओं राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यं स्वाहा॥
इदं राकायै—इदन्न मम॥ ३॥

उसके चित्त में अंकित होकर संचित होते रहते हैं। इसपर ध्यान न जाने के कारण ही, जब बालक के बड़ा होने पर उनके उभरने—व्यक्त होने पर हम चकित होकर कह उठते हैं—'यह ऐसा कैसे हो गया'!

गर्भस्थ बालक के आठवें महीने तक पहुँचते-पहुँचते स्त्री 'दौहृदया' या 'दौहृदिनी' हो जाती है—एक उसका अपना हृदय और एक गर्भस्थ बालक का हृदय। बालक का हृदय रस लाने-ले-जानेवाली धमनियों से माता के हृदय से जुड़ा होता है। उस समय माता की जो इच्छा होती है, उसे गर्भस्थ बालक की इच्छा समझना चाहिए। इसीलिए सुश्रुत में कहा है—

येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे वा विमानना। प्रजायते सुतस्यापि तस्मिन् तस्मिन्तथैन्द्रिये॥

गर्भवती स्त्री की जिस बात में अनिच्छा होती है, उसकी सन्तान की भी उस बात में अनिच्छा हो जाती है और जिस बात में गर्भवती स्त्री की इच्छा रहा करती है, उस बात में उसकी सन्तान की भी इच्छा बन जाती है। गर्भवती स्त्री का प्रसन्नचित्त रहना आवश्यक है। सुश्रुतसंहिता (शारीर ३।१९-२०) में लिखा है—

इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी। गर्भाबाधभयात्तांस्तान्भिषगाहृत्य दापयेत्॥ १९॥
या प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयत गुणान्वितम्। अलब्धदौहृदागर्भे लभेतात्मनि वा भयम्॥ २०॥

गर्भवती स्त्री इन्द्रियों के जिन-जिन विषयों का भोग करना चाहती हो, वैद्य को चाहिए कि गर्भहानि के भय से उन-उन पदार्थों को लाकर गर्भिणी को देवे। गर्भवती स्त्री की इच्छा पूरी होने पर गुणवान् पुत्र उत्पन्न होता है और स्त्री की इच्छा पूरी न होने पर गर्भ अथवा अपने में (स्त्री में) ही विकार आ जाता है।

रघुवंश के तीसरे सर्ग में दिलीप द्वारा पत्नी सुदक्षिणा की चाह को पूर्ण करने का वर्णन कालिदास ने किया है। इसी प्रकार गर्भिणी सीता की वन की शोभा देखने की इच्छा पूरी करने के बहाने रामचन्द्रजी ने उसे वन में छुड़वा दिया था।

वस्तुतः गर्भाधान तथा जातकर्म-संस्कारों के बीच पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन की एक अविच्छिन्न शृंखला है जिनके बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती।

गर्भवती के लिए निर्देश—गर्भवती स्त्री पहले दिन से ही शुरू करके प्रतिदिन प्रसन्न रहे। पवित्र गहनों को पहने, श्वेत वस्त्र धारण करे, शान्त मन और सबका भला चाहनेवाली हो; देवता, ब्राह्मण

---

१. निर्देश आश्व० गृह्य० १।१४।३॥ आश्व० श्रौत० ६।१४।१६। मन्त्रपाठ ऋ० खिलसू० संख्या ३, मन्त्र ७, ८। 'स्वाहा.......इदन्न मम' पदरहित। सातवलेकर सं०॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।

ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा स्वाहा॥ इदं राकायै—इदन्न मम॥ ४॥

—ऋ० म० २। सू० ३२। मं० ४, ५॥

नेजमेष परा पत सुपुत्रः पुनरा पत। अस्यै मे पुत्रकामायै गर्भमा धेहि यः पुमान्त्स्वाहा॥ ५॥

यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमा दधे। एवं त गर्भमा धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा॥ ६॥

विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम्। पुमांसं पुत्राना धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा॥ ७॥[१]

इन ७ सात मन्त्रों से खिचड़ी[२] की ७ सात आहुति देके, पुनः (भूर्भुवः स्वः। प्रजापते न त्व०) पृष्ठ ६१ में लिखित इससे एक, सब मिलाके ८ आठ आहुति देवें और पृष्ठ ६१ में लिखे प्रमाणे (ओम् प्रजापतये०) मन्त्र से एक भात की और पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे (ओम् यदस्य कर्मणो०) मन्त्र से एक खिचड़ी की आहुति देवें। तत्पश्चात् (ओम् त्वन्नो अग्ने०) पृष्ठ ६१-६२ में लिखे प्रमाणे

तथा गुरु की सेवा करनेवाली हो। दुर्गन्ध और कुत्सित दृश्यों से दूर रहे। बेचैन करनेवाली बातों को न सुने। सूखे या बासी अन्न को न खाये, न घर से निकले, न ख़ाली मकान में जाए। चैत्य, श्मशान और वृक्ष के नीचे न सोये। क्रोध करना, ऊँचे चिल्लाना छोड़ दे। जिन बातों से गर्भ को हानि पहुँचने की आशंका हो उनसे दूर रहे। सवारी पर न चढ़े और मादक द्रव्यों का सेवन न करे। माता का प्रभाव बालक पर इनता पड़ता है कि सुश्रुत (शारीरस्थान ३।१६) में लिखा है कि—

दोषाभिघातैःगर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते। सः स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते॥

अर्थात् किसी भी शारीरिक दोष के कारण गर्भवती स्त्री का जो भी अङ्ग पीड़ित होता है, गर्भस्थ शिशु का वही-वही अङ्ग पीड़ित होने लगता है।

गर्भिणी के लिए सावधानियाँ—कहीं भी चोट लगने से, गर्भ में कोई दबाव पड़ने से, गढ़े, कुँए या पहाड़ के विकट स्थानों को देखने से गर्भपात हो सकता है। गर्भिणी के अत्यधिक हिलने से या भयङ्कर शब्द अथवा अप्रिय बात सुनने से भी अकस्मात् गर्भपात हो सकता है। सदा उत्तान पड़ी रहने से नाड़ी गर्भस्थ शिशु के गले में लिपटकर उसकी मृत्यु का कारण बन सकती है।

गर्भवती स्त्री के उकड़ू बैठने, ऊँचे-नीचे स्थानों में घूमने, कठोर आसन पर देर तक बैठे रहने, मल-मूत्र के वेग को रोकने और गरम तथा तीक्ष्ण वस्तुओं का सेवन करने से भी गर्भ नष्ट हो सकता या उसका स्राव हो सकता है।

चरकसंहिता में लिखा है—"गर्भवती स्त्री यदि नग्न सोये या इधर-उधर फिरती रहे तो उसकी सन्तान पागल हो सकती है। यदि वह लड़ने-झगड़नेवाली होगी तो सन्तान को मृगी हो सकती है। यदि मैथुन में रत रहेगी तो सन्तान कामी उत्पन्न होगी। यदि निरन्तर शोकमग्न रहेगी तो सन्तान भीरु, निर्बल और अल्पायु होगी। यदि पर-धनलोलुप होगी तो चोर, ईर्ष्यालु, आलसी और कुकर्मी सन्तान को जन्म देगी। यदि वह क्रोधी होगी तो सन्तान क्रोधी, छली, चुग़लख़ोर होगी। यदि वह बहुत सोएगी तो सन्तान आलसी, मूर्ख और मन्दाग्नि होगी। बहुत मीठा खाएगी तो सन्तान प्रमेही और बहुत खट्टा

---

१. निर्देश आश्वगृह्य० १।१४।३॥ स्वाहा पदरहित मन्त्रपाठ। ऋ० खिल सू० संख्या ३४। मं० १-३। सात० सं०।

२. यह लवणरहित होनी चाहिए।

८ [आठ] घृत की आहुति और (ओम् भूरग्नये०) पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे ४ [चार], व्याहृतिमन्त्रों से ४ [चार] आज्याहुति देकर पति और पत्नी एकान्त में जाके उत्तमासन पर बैठ पति पत्नी के पश्चात्=पृष्ठ की ओर बैठ—

ओम् सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु।
दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः॥ १॥ —य०अ० ६। मं० २२॥
मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम्।
कविः सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥ २॥ —य०अ० ७। मं० २४॥
ओम् अयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव। पर्णं वनस्पतेऽनु त्वाऽनु त्वा सूयताꣳरयिः॥ ३॥

खाएगी तो सन्तान त्वग्रोग से ग्रस्त होगी। अधिक नमक खाएगी तो सन्तान के बाल जल्दी सफ़ेद होंगे और चेहरे पर सलवटें पड़ेंगी। अधिक चटपटी चीजें खाएगी तो सन्तान दुर्बल, अल्पवीर्य, बाँझ या नपुंसक होगी। इच्छाओं के प्रसङ्ग में सुश्रुत में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है—

कर्मणा चोदितं जन्तोर्भवितव्यं पुनर्भवेत्। यथा तथा दैवयोगाद् दौर्हृदं जनयेद्धृदि॥
—शारीर० ३।२८

पूर्वजन्म के कर्मों के कारण ही भविष्य (अगला जन्म) बनता है। इसी प्रकार दैवयोग (प्राक्तन कर्मों) के अनुरूप ही दोहद (गर्भिणी की इच्छा) पैदा होती है।

तात्पर्य यह है कि जैसे गर्भगत जीव के कर्म होते हैं, गर्भिणी के मन में स्वाभाविक रूप से वैसी ही इच्छाएँ उद्‌भूत होती हैं। जीव की अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही यह ईश्वरीय व्यवस्था है। गीता में योगभ्रष्ट को लक्ष्य करके एक प्रश्न उठा कि यदि कोई योगाभ्यासी मोक्ष प्राप्त किये बिना मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उसका अभ्यास क्या व्यर्थ हो जाएगा? श्रीकृष्ण ने शङ्का का समाधान करते हुए कहा—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। शुचीनां श्रीमतां गहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्॥

किया हुआ पुरुषार्थ निष्फल नहीं होगा। योगभ्रष्ट का अगला जन्म पवित्रात्मा पुरुषों के अथवा योगियों के घर में होगा जिससे उसे अपनी इच्छा की पूर्त्ति का सु-अवसर मिले, इसी निमित्त उसकी इच्छा माता की इच्छा बनकर अभिव्यक्त होती है। कल्पना करो कि कोई जीव क्षत्रिय बनने की इच्छा लिये हुए मरा है। ईश्वरीय व्यवस्थानुसार वह उस गर्भ में आकर्षित किया जाएगा जहाँ उन संस्कारों को पूर्ण करने में सहायता मिल सके, क्योंकि—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
—गीता ८।६

जिस समय वह जीव माता के गर्भ में निवास करेगा उस समय से माता के संस्कार क्षत्रियत्व की ओर झुककर बालक के वैसा बनने में सहायक बनेंगे। उस समय यदि कोई उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश देगा तो वह उसे सुन तो लेगी पर पेट में बैठे दूसरे मन के विपरीत होने से वह उसके मन में नहीं बैठेगा। इसके विपरीत यदि कोई उसे महाभारत की कथा सुनाएगा तो वह उसे ध्यानावस्थितदगतेन मनसा सुनकर आत्मसात् कर लेगी। यही कारण है कि किसी समय श्रेष्ठ माता-

ओं येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि॥ ४॥[1]
ओं राकामहꣳ सुहवांꣳ सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरꣳ शतदायमुख्यम्॥ ५॥
ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषꣳ सुभगे रराणा॥ ६॥
किं पश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः॥ ७॥[2]

पिता के अन्यथा प्रयत्न करने पर भी उनकी सन्तान दुष्ट और दुराचारी निकल जाती है और कभी साधारण श्रेणी के माता-पिता की सन्तान असाधारण गुणों को लेकर उत्पन्न होती है।

शुक्लपक्ष में—सीमन्तोन्नयन-संस्कार के लिए शुक्लपक्ष में 'मूल आदि पुरुष-नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा' की स्थिति का काल उपयुक्त माना है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ग्रन्थकार ने लिखा है कि मन और ज्ञानेन्द्रियों को ईश्वर प्रकाश के परमाणुओं से रचता है और सीमन्तोन्नयन संस्कार का प्रयोजन भी मानसिक तथा ज्ञानप्राप्ति की साधनभूत बुद्धि की शक्तियों का विकास करना है। मन के साथ

---

१. मन्त्रब्राह्मण १।५।१, २॥ सामश्रमी संस्करण। पूर्व मन्त्र में गुणविष्णु का पाठ 'वनस्पते नुत्त्वा नुत्त्वा' है।

२. ये मन्त्र मन्त्रब्रा० १।५।३-५ से उद्धृत हैं। प्रतीत होता है कि हस्तलेख में लिखते समय पाठ आगे-पीछे, हो गया, अतः संस्करण २-१७ तक पाठ निम्न प्रकार अस्त-व्यस्त छपा मिलता है।

ओं राकामहꣳ सुहवाꣳ सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु।
उपागहि सहस्रपोषꣳ सुभगे रराणा॥ ५॥
ओं किं पत्मना सीव्यत्वपः सूच्या च्छिद्यमानया ददातु वीरꣳ शतदायमुक्थ्यम्॥ ६॥
ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमनाश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः॥ ७॥

(ऐसा ही अपपाठ संस्कारविधि के प्रथम संस्कारण पृष्ठ २६ मन्त्र संख्या ३-५ में भी छपा है। सम्भवतः इसी कारण द्वि०सं० में भी अपपाठ हुआ है)।

यहाँ मन्त्र ५ में 'बोधतु' के आगे मन्त्र ६ के उत्तरार्द्ध का 'उपागहि........रराणा' भाग और मन्त्र ७ के आरम्भ का 'किं प' भाग अस्थान में जुड़ गया है। 'किं प' भाग का मं० ७ के 'श्यसि' से सम्बन्ध स्पष्ट है—'किं पश्यसि'। मन्त्र ५, ६ ऋग्वेद २।३२।४, ५ में भी आते हैं। उसके अनुसार उतने भाग पर स्वरचिह्न सं० २ से ही मिलते हैं, शेष भाग स्वररहित छपा है। संस्करण १० में ऋग्वेद का पता तो दे दिया है, परन्तु पाठ संस्करण १७ तक अशुद्ध ही छपता रहा। संस्करण २१ में मन्त्र ५, ६ का पाठ ऋग्वेद के समान करके 'किं पश्यसि' मन्त्र को यहाँ से हटाकर आगे अन्त्य भाग में 'प्रजां पश्यामि' के स्थान पर जोड़कर 'प्रजां पशून् सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः पश्यामि' ऐसा बना दिया है।

वस्तुतः ग्रन्थकार ने ये मन्त्र मन्त्रब्राह्मण से ही उद्धृत किये थे, क्योंकि इनमें सत्यव्रतसामश्रमी संस्करण के अनुसार ꣳकार मिलता है। ऋग्वेद में ꣳकार नहीं होता। यद्यपि मन्त्र ५ के अन्त में 'शतदायमुक्थ्यम्' पाठ है, तथापि वहाँ मन्त्रब्राह्मण का 'शतदायुमुख्यम्' पाठ ही होना चाहिए, क्योंकि आगे-पीछे वहाँ मन्त्रब्राह्मण के ही पाठ हैं। मन्त्र ५-६ में स्वरचिह्न संस्करण २ में ऋग्वेद के अनुसार दे दिये हैं (सं० १ में स्वरचिह्न नहीं हैं)। २१वें संस्करण में ऋग्वेदीय पाठ छापा है, वह ठीक नहीं है।

इन मन्त्रों को पढ़के पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगन्ध तेल डाल, कंघे से सुधार, हाथ में उदुम्बर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका वा कुशा की मृदु छीपी वा शाही पशु के काँटे से अपनी पत्नी के केशों को स्वच्छ कर पट्टी निकाल और पीछे की ओर जूड़ा सुन्दर बाँधकर यज्ञशाला में आवें। उस समय वीणा आदि बाजे बजवावें। तत्पश्चात् पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे सामवेद का[१] गान करें। पश्चात्—

चन्द्रमा का विशेष सम्बन्ध पुरुषसूक्त के इस मन्त्र में भी बताया है—"**चन्द्रमा मनसो जातः०**"।

जब चन्द्रमा पुरुष नक्षत्र से युक्त होता है तो ऋतु प्रायः विषम नहीं होती। आर्य लोगों ने जो नक्षत्र आदि जड़ पदार्थों को पुरुष वा स्त्रीसंज्ञक कहा है तो उनमें पुरुषत्व और स्त्रीत्व की कुछ विलक्षणताओं के कारण ही कहा है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार स्तन और लम्बे केश ये दोनों चिह्न कोमलताप्रधान स्त्रीत्व के बोधक हैं। जल स्वभाव से कोमल है, इसलिए जिन नक्षत्रों में जल अधिक है वा अधिक जल उत्पन्न करने की शक्ति है वे तारे—नक्षत्र स्त्रीसंज्ञक कहे गये हैं और जो सूर्य के समान तेजस्वी होने के कारण रसवृद्धि के कारण नहीं हैं, उन्हें पुरुषवाचक माना गया है। शुक्लपक्ष वृद्धि तथा प्रकाश=ज्ञान का प्रतीक है और प्रकाशयुक्त होने से किसी भी प्रकार की गतिविधियों में सहायक है। चन्द्रमा स्त्रीसंज्ञक होने से जल की वृद्धि का कारण है। जब चन्द्रमा किसी पुरुषवाची नक्षत्र से युक्त होता है तो ऋतु में समता होती है, क्योंकि पुरुषवाची नक्षत्र अपना प्रभाव चन्द्र के विपरीत शोषण करने के लिए डालता है। कोमलता और कठोरता अर्थात् जलशक्ति तथा तेजशक्ति मिलकर वातावरण को विषमतारहित कर देते हैं।

खिचड़ी में चावल, तिल और मूँग—ये तीनों पौष्टिक पदार्थों के प्रतीक हैं। यह पुष्कल घी डालकर बिना नमक की बनती है। यदि एक आहुति का प्रमाण एक तोला है तो आठ तोले खिचड़ी चाहिए और उसमें चार गुना घी डालना चाहिए।

केशों का जूड़ा—स्त्री को केशिनी होना चाहिए, यह उनका प्रसाधन किये जाने से व्यञ्जित होता है। विश्वभर में स्त्रियाँ केशिनी होती हैं, क्योंकि केशों से उनके सौन्दर्य में वृद्धि होती है। स्त्री के लम्बे-लम्बे बालोंवाली होने का वर्णन साक्षात् वेदों में पाया जाता है—'तमुग्रवः केशिनीः सं हि रेभिरे' (ऋ० १।१४०।८); 'आ वा मृताय केशिनीरनूषत' (ऋ० १।१५१।६); 'केशदृंहिणीः' (ऋ० ६।२१।३); 'केशवर्धनीम्' (ऋ० ६।२१।३)। इन मन्त्रों में आये 'केशिनी' और 'केशवर्धनी' शब्दों का अर्थ यह है कि स्त्रियाँ केशोंवाली तथा सुन्दर और लम्बे केश बढ़ानेवाली हों।

यहाँ पति के जूड़ा बाँधने से पत्नी का शृंगार करना अभिप्रेत नहीं है। शृंगार करना अभीष्ट होता तो यह कार्य पति की अपेक्षा किसी सैलून (saloon) में भेजकर केशसज्जा विशेषज्ञ (Hair-dresser) से कराया जा सकता था अथवा घर की ही इस कार्य में दक्ष स्त्रियाँ कर सकती थीं या स्त्री स्वयं भी कर सकती थी। नायन से भी कराया जा सकता था। वस्तुतस्तु यहाँ गर्भवती के केशों की सज्जा और रक्षा के साथ-साथ गर्भस्थ शिशु के मस्तिष्क की रक्षा भी अपेक्षित है। सन्तान की प्राप्त्यर्थ किये जा रहे इस महान् उद्योग में स्त्री को पदे-पदे पति से सम्मान, प्रेम और सहयोग की अपेक्षा होती है। इस अवसर पर पति द्वारा किया जा रहा पत्नी का शृंगार उसी की अभिव्यक्ति है, उसी

---

१. अर्थात् महावामदेव्य साम का।

ओम् सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः। अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यम् असौ *[1] ॥

आरम्भ में इस मन्त्र का गान करके, पश्चात् अन्य मन्त्रों का गान करें।

तत्पश्चात् पूर्व आहुतियों के देने से बची हुई खिचड़ी में पुष्कल घृत डालके गर्भिणी स्त्री अपना

का प्रतीक है। पति के इस कला में निपुण न होने की अवस्था में पति उसका उपक्रम कर देगा, पूर्त्ति पत्नी स्वयं कर लेगी।

जब किसी महत्त्वपूर्ण या बड़े भवन का निर्माण होता है तो उसका शिलान्यास किसी सम्मानित वा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति या नेता को आमन्त्रित करके उसके हाथों से कराया जाता है। शिलान्यास का अर्थ है—जैसे-तैसे दो-चार ईंटे रख देना। विधिवत् उसका निर्माण तो मज़दूर, मिस्त्री आदि ही करते हैं। किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा उसका शिलान्यास कराये जाने से उस भवन का महत्त्व तो बढ़ता ही है, उसका विधिवत् निर्माण करने-कराने-करवाने में सहयोगी सभी को प्रोत्साहन मिलता है। 'मेरे जीवन में एक दिन ऐसा भी आया था जब मेरे पति ने मेरा जूड़ा बाँधकर मेरा शृंगार किया था और इस रूप में मेरे साथ यज्ञशाला में प्रवेश कर सबके सामने मुझे सम्मानित किया था' इस बात को स्मरण कर कौन स्त्री हर्षविभोर होकर गौरवान्वित अनुभव नहीं करेगी?

जैसा पहले कहा जा चुका है, इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य गर्भगत बालक के मस्तिष्क का विकास करना है। इसलिए इस संस्कार के माध्यम से बालक के मस्तिष्क को विशेषरूप से प्रभावित करने के लिए ही गर्भिणी के सिर पर तेल लगाने और कंघी करने का निर्देश किया गया है। आँवले या मेंहदी, नारियल या तिल का तेल, जिसमें सुगन्धि के लिए नारंगी या चन्दन का तेल उचित मात्रा में मिला हो, उपयुक्त होगा। अति सुगन्धित तेल भी हानि पहुँचाते हैं। इसलिए शुद्ध आँवले या नारियल का तेल लगाकर ही कंघी करनी चाहिए। कंघी करने से बालों का मल व विकार दूर होता है और सिर को आराम मिलता है। गर्भिणी के सिर पर कंघी करने से गर्भगत बालक के बाल भी सुन्दर व कोमल बनते हैं।

सोम एव नो रजा०—यह पास्करगृह्यसूत्र का वचन है। इसके आगे वहाँ लिखा है—''यां नदीमुपावसिता भवति तस्या नाम गृह्णाति'' (१।१५।९)—जिस नदी के पास निवास करना है, 'असौ' के स्थान पर उसका नाम ले। पास बहनेवाली नदी का नाम लेने पर नदी के आस-पास के सुन्दर-शान्त दृश्य का मन पर अंकित होना स्वाभाविक है। मन्त्र का भाव है कि हमारा जीवन चन्द्रमा की तरह शान्त हो और नदी की तरह मर्यादित हो। चाँद में पूर्णिमा और अमावस आते हैं तो जीवन में आशा-निराशा आती हैं। नदी में बाढ़ और सूखे की स्थितियाँ आती हैं तो जीवन में पर्याय से उत्थान-पतन आते हैं। प्रत्येक स्थिति में हमारा जीवन सन्तुलित बना रहे।

कंघी की नोक से नाक की सीध में माँग निकल सकती है, किन्तु यहाँ गूलर या अर्जुनवृक्ष की शलाका वा साही के काँटे से बालों की पट्टी निकाल पीछे की ओर (घोंसले की नाईं बीच में ऊपर की ओर नहीं) जूड़ा बनाने का विधान किया है। गूलर की शलाका से चीर निकलवाने से यह संकेत देना भी अभिप्रेत हो सकता है कि गर्भस्थ शिशु लड़का है, क्योंकि चौथे मास तक

---

* यहाँ किसी नदी का नाम उच्चारण करे। —द०स०

---

१. पार० गृह्य० १।१५।८

प्रतिबिम्ब उस घी में देखे। उस समय पति स्त्री से पूछे—'**किं पश्यसि**'? स्त्री उत्तर देवे—"**प्रजां पश्यामि**"।

तत्पश्चात् एकान्त में वृद्ध, कुलीन, सौभाग्यवती, पुत्रवती, गर्भिणी अपने कुल की और ब्राह्मणों की स्त्रियाँ बैठें। प्रसन्नवदन और प्रसन्नता की बातें करें और वह गर्भिणी स्त्री उस खिचड़ी को खावे और वे वृद्ध समीप बैठी हुई उत्तम स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें—

'ओम् वीरसूस्त्वं भव, जीवसूस्त्वं भव, जीवपत्नी त्वं भव॥[१]

ऐसे शुभ, माङ्गलिक वचन बोलें। तत्पश्चात् संस्कार में आये हुए मनुष्यों का यथायोग्य सत्कार करके स्त्री स्त्रियों और पुरुष पुरुषों को विदा करें॥

॥ इति सीमन्तोन्नयनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

उसके शरीरांग स्पष्ट हो जाते हैं। उत्पत्ति आदि के क्रम में मनुष्यों की उपमा वृक्षों से दी जाती है। जब कन्या रजस्वला होती है तो कहा जाता है कि वह पुष्पवती हुई है। जब स्त्री सन्तानवाली होती है तो कहा जाता है कि वह फलवती है। गूलर में एक ऐसी विलक्षणता है जो अन्य किसी फल में नहीं पाई जाती। गूलर के अन्दर भी असंख्य जीवित कृमि पाये जाते हैं। आयुर्वेद में इसीलिए इसे जन्तुफल भी कहते हैं। जिस प्रकार गूलर के भीतर सजीव प्राणी रहता है और फूलता-फलता है, उसी प्रकार तेरे गर्भ में सजीव बालक बढ़े।

घृत में मुख देखना—प्रश्न हो सकता है कि मुँह तो दर्पण या जल में भी देखा जा सकता है, फिर इस निमित्त घी की क्या आवश्यकता है? हवन में घी के जलने से जो भाप बनती है वह वातावरण को प्राणवान् बना देती है। उसका स्पर्श और उससे उठनेवाली गन्ध मनुष्य के मन-मस्तिष्क को जो शाक्ति प्रदान करती है उसे हर कोई अनुभव करता है। घृत में मुख देखते समय गर्म घी से जो भाप उठेगी वह गर्भवती के मूर्द्धा के लिए एक पुष्ट हुलास (नस्वार) का काम देगी। गर्भवती के द्वारा गर्भस्थ बालक भी अपना लाभांश प्राप्त करेगा। इससे उसके रूप में निखार आएगा और मस्तिष्क को भी शक्ति मिलेगी।

स्वभावतः पुरुष की अपेक्षा स्त्री अधिक रूपवती होती है कि उससे सुन्दर सन्तान उत्पन्न हो, इसलिए वह अपने रूप को निहार कर ही प्रसन्न होती है, वह अपने प्रतिबिम्ब में अपनी भावी सन्तान का दर्शन करती जान पड़ती है।

'किं पश्यसि!' पति के इस प्रश्न के उत्तर में स्त्री उत्तर देती है—'प्रजां पश्यामि' मैं सन्तान को देखती हूँ। गर्भाधान से लेकर जातकर्म तक माता को=गर्भवती को जो कुछ करना है, उसका केन्द्रबिन्दु उसकी सन्तान है। इसलिए उसका उत्तर सर्वथा सटीक है। अर्जुन को दीखनेवाली मछली की आँख की तरह उसे अन्य कुछ दिखाई नहीं देता, इसलिए वह पहले इतना ही कहती है—'प्रजां पश्यामि।' पर अर्जुन तो अकेला था, जबकि वह इस घर की सम्राज्ञी है (सम्राज्ञी श्वसुरे भव)। इसलिए अपनी स्थिति के अनुरूप वह आगे कहती है—"पशून् पश्यामि, सौभाग्यं पश्यामि, पत्युः दीर्घायुः पश्यामि"—घर में गाय आदि पशुओं को देखती हूँ, घर में सौभाग्य उमड़ पड़ा है, उसे देख रही हूँ और देख रही हूँ पति की दीर्घायु को।

---

१. द्र०—गोभिलगृह्य० २।७।१२॥

अथ जातकर्म-संस्कारविधिः

इसका समय, प्रमाण और कर्मविधि इस प्रकार करें।

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति॥ इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्र[1] का प्रमाण है।

इसी प्रकार आश्वलायन, गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रों में भी लिखा है।

जब प्रसव होने का समय आवे, तब निम्नलिखित मन्त्र से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करे—

ओम् एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति।

एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह॥ १॥ —यजुः० अ० ८। मं० २८॥

इससे मार्जन करने के पश्चात्—

ओम् अवैतु पृश्निशेवलꣳ शुने जराय्वत्तवे।

नैव माꣳसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमव जरायु पद्यताम्॥[2]

गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन—इन तीन गार्भ (जन्मपूर्व) संस्कारों को जन्मोत्तर संस्कारों से जोड़नेवाला यह जातकर्म संस्कार है जो जन्म के पश्चात् किये जानेवाले कर्मों का निर्देश करने के साथ-साथ बालक को संस्कृत करने की दिशा में अपेक्षित कर्त्तव्यों का निर्देश करता है।

सोष्यन्तीम्—प्रसवेच्छु स्त्री को बालक का पिता जल से सिंचित करता है।

एजतु दशमास्यः—जल छिड़कते हुए वह 'एजतु' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए कामना करता है कि दश मास का यह गर्भ जरायुसहित नीचे आने के लिए ऐसे गति करे जैसे वायु गति करती है, जैसे समुद्र कम्पन करता है। वह गर्भ जरायु के साथ गर्भाशय से नीचे की ओर सरके।

दशमास्यो गर्भः—लोक में गर्भ का गर्भाशय में नौ मास तक रहने के पश्चात् जन्म लेना माना जाता है, परन्तु वेद में और आयुर्वेद शास्त्र में सर्वत्र दश मास के पश्चात् जन्म लेना कहा गया है। वस्तुतस्तु गर्भ प्रायः २८० दिन तक गर्भ में रहने के बाद गर्भाशय से बाहर आता है। चान्द्रमास में २८ दिन होते हैं, अतः जब दस मास कहा जाए तो दश चान्द्रमास समझने चाहिएँ और जब नौ मास अथवा नौ मास और नौ दिन कहा जाए तो सौर मास जानने चाहिएँ।

ऋग्वेद में लिखा है—

दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि। निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥

—ऋ० ५।७८।९

हे मनुष्यो! वे ही सन्तान उत्तम होते हैं जो दश महीनेपर्यन्त गर्भ में स्थिर होकर प्रकट होते हैं। ऐसे बालक ही पूर्णरूप से आयु को भोगते हैं और नीरोग रहकर दीर्घायु होते हैं।

अवैतु पृश्निः—जरायु के गर्भस्थ बालक से पृथक् होते समय स्त्री का पति इस मन्त्र को बोलता

---

१. पार० गृह्य० १।१६।१॥ २. पार० गृह्य० १।१६।२॥

इस मन्त्र का जप करके पुनः मार्जन करे।

कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत्॥[1]

जब पुत्र का जन्म होवे तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिका, कान, आँख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर कोमल वस्त्र से पोंछ, शुद्ध कर पिता के गोद में बालक को देवें। पिता जहाँ वायु और शीत का प्रवेश न हो, वहाँ बैठके एक बीताभर नाड़ी को छोड़, ऊपर सूत से बाँधके उस बन्धन के ऊपर से नाड़ीछेदन करके किञ्चित् उष्ण जल से बालक को स्नान करा, शुद्ध वस्त्र से पोंछ, नवीन शुद्ध वस्त्र पहिना जो प्रसूताघर के बाहर पूर्वोक्त प्रकार कुण्ड कर रखा हो अथवा तांबे के कुण्ड में समिधा पूर्वलिखित प्रमाणे चयन कर पूर्वोक्त सामान्यविध्युक्त पृष्ठ ५६-५७ में कहे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान करके, अग्नि को प्रदीप्त करके सुगन्धित घृतादि वेदी के पास रखके, हाथ-पग धोके एक पीठासन अर्थात् शुभासन पुरोहित* के लिए कुण्ड के दक्षिण भाग में रक्खे, वह उसपर उत्तराभिमुख बैठे और यजमान अर्थात् बालक का पिता हाथ-पग धोके वेदी के पश्चिम भाग में आसन बिछा, उसपर उपवस्त्र ओढ़के पूर्वाभिमुख बैठे तथा सब सामग्री अपने और पुरोहित के पास रखके पुरोहित पद के स्वीकार के लिए बोले—

ओम् आ वसोः सदने सीद॥

तत्पश्चात् पुरोहित—

ओम् सीदामि॥

बोलके आसन पर बैठके, पृष्ठ ५८ में लिखे प्रमाणे (अयं त इध्म० ४ चार मन्त्रों से वेदी में चन्दन की समिदाधान करे और प्रदीप्त समिधा पर पूर्वोक्त सिद्ध किये घी की पृष्ठ ५९-६० में लिखे

है—''पृश्निः.........पद्यतामिति'', अर्थात्—रंगबिरंगी तथा चिकनी जेर कुत्ते के खाने के लिए नीचे आये-बाहर निकले। न तो वह जेर मांस से मोटी हो और न किसी अङ्ग में अटकनेवाली हो, अपितु वह बाहर नीचे गिरे।

नाल काटना—सुश्रुत (शारीर १०।१२) के अनुसार ''नाभि नाडीमष्टाङ्गुलीमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्''—नाभि-नाड़ी को नाभि से आठ अंगुल नापकर धागे से बाँधकर काट देवे। नाड़ी काटने की ऐसी ही प्रक्रिया चरकसंहिता (शा० ८।७३) में लिखी है। ग्रन्थकार ने यहाँ 'एक बीता' छोड़ने को लिखा है। बीता या बित्ता=हाथ की सब अंगुलियों को फैलाकर अंगूठे के सिरे से कानी अंगुली के सिरे तक की बालिश्त। यह आठ अंगुल के लगभग ही बैठता है।

पुरोहित—ग्रन्थकार के अनुसार विद्वान् गृहस्थ ही पौरोहित्य के लिए अधिकृत है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी को पुरोहित या ब्रह्मा के पद पर नियुक्त करना शास्त्रविरुद्ध है।

घृत, मधु व स्वर्ण के गुण—यहाँ घृत और मधु को मिलाकर स्वर्ण की शलाका से बालक

---

* धर्मात्मा शास्त्रोक्त विधि को पूर्णरीति से जाननेहारा, विद्वान्, सद्धर्मी, कुलीन, निर्व्यसनी, सुशील, वेदप्रिय, पूजनीय, सर्वोपकारी गृहस्थ की 'पुरोहित' संज्ञा है॥ —द०स०

---

१. आश्व० गृह्य० १।१५।१॥

प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति**[१] ४ [चार] और **व्याहृति आहुति**[२] ४ [चार] दोनों मिलके ८ [आठ] आज्याहुति देनी। तत्पश्चात्—

ओं या तिरश्चीं निपद्यते अहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहम्।

सꣳराधन्यै देव्यै देष्ट्र्यै स्वाहा॥ इदं संराधन्यै—इदन्न मम॥ १॥

ओं विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्धाता पुनराहरत्।

परेहि त्वं विपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम स्वाहा॥ इदं धात्रे—इदन्न मम॥ २॥[३]

इन दोनों मन्त्रों से २ [दो] आज्याहुति करके, पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे **महावामदेव्यगान** करके, ३६-४२ पृष्ठ में लिखे प्रमाणे **ईश्वरोपासना**[४] करें।

तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बरोबर[५] मिलाके, जो प्रथम सोने की शलाका कर रखी हो, उससे

को चटाने और उसकी जिह्वा पर 'ओ३म्' लिखने का विधान किया है। यहाँ हम आयुर्वेद (सुश्रुत, सूत्रस्थान अध्याय ४५) के अनुसार इन पदार्थों के गुणों का उल्लेख कर रहे हैं जिससे सुधीजन उनकी उपादेयता से आश्वस्त हों—

घृत—सौम्य, मृदु, मधुर और चिकना। उन्माद, उदावर्त (आधासीसी), अपस्मार (मिरगी), शूल, ज्वर और वायु-पित्त को शमन करनेवाला है। अग्नि, स्मृति, मति, बुद्धि, मेधा, कान्ति, स्वर, लावण्य, सुकुमारता, ओज, तेज, बल, वीर्य, आयु—इन सबको बढ़ानेवाला है। नेत्रों को हितकर, पवित्र, विषनाशक और विषैले जन्तुओं (germs) का हरण करनेवाला है।

मधु—मधुर, कषाय (कसैला), अनुरस, औषध के गुण को बढ़ानेवाला, रूक्ष, शीतल, जठराग्नि को उद्दीप्त करनेवाला, रंग-रूप को निखारनेवाला, बलकारक, हल्का, कोमल, शरीर को मोटा न होने देनेवाला, हृदय को प्रिय, उत्तेजक, जोड़ों को जोड़नेवाला, शोधनकर्ता, घावों को भरनेवाला है। यह वाजीकरण, नेत्रों को प्रसन्न करनेवाला, निर्मल, रोम-रोम में पहुँचनेवाला, पित्त-कफ़-मेद-प्रमेह-हिचकी, श्वास-खाँसी, अतिसार, उल्टी, तृषा, कृमि, विष—इन दोषों का नाश करता है। वात-पित्त-कफ़ इस त्रिदोष को दूर करता है।

घृत और मधु की इतनी उपयोगिता को देखकर ही वैदिक संस्कृति में बच्चे को पैदा होते ही उसका इनसे परिचय करा दिया जाता है। गर्भगत बालक की आँतों में 'मेकोनियम' नाम का मल चिपक जाता है। घृत और मधु का योग उसे निकाल देता है।

स्वर्ण—वीर्यवर्धक, मेधा, स्मृति और आयु को बढ़ानेवाला है। घृत और शहद के साथ मिलकर इसके परमाणु अपूर्वता उत्पन्न करते हैं।

---

१. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

२. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

३. मन्त्रब्रा० १।५।६, ७॥

४. 'विश्वानि देव०' आदि ८ मन्त्रों से।

५. 'बरोबर' यह गुजराती भाषा का शब्द है। इसका अर्थ होता है—यथायोग्य=उचित। मधु और घृत की बराबर मात्रा होने पर वह विष हो जाता है, ऐसा आयुर्वेदशास्त्रज्ञों का मत है। यथोचित मात्रा एक तोला मधु और आधा तोला घृत होना चाहिए।

बालक की जीभ पर "**ओ३म्**" यह अक्षर लिखके उसके दक्षिण कान में "**वेदोऽसीति**" तेरा गुप्त नाम वेद है' ऐसा सुनाके पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा-थोड़ा चटावे—

ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेदं सवित्रा प्रसूतं मघोनाम्।

आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन्॥ १ ॥[१]

[२]**ओम् भूस्त्वयि दधामि॥ २ ॥**

अंगुली से चटाने से अंगुली की अदृश्य अस्वच्छता एवं अपवित्रता भी चूसे जाने की सम्भावना बनी रहेगी, जबकि स्वर्ण-शलाका उसके लिए हितकर होगी।

बरोबर—किसी भाषा में निष्णात हो जाने पर भी व्यक्ति के व्यवहार में मातृभाषा का कुछ-न-कुछ प्रभाव बना ही रहता है। ग्रन्थकार के लेखन में बरोबर, जमणा (दाहिना), चत्ता, करनेहारा आदि ऐसे ही प्रयोग हैं।

प्रसव पीड़ा—श्रम करने और प्रसन्न रहनेवाली स्त्रियों को प्रसवकाल में अधिक कष्ट नहीं होता। कितनी ग्रामीण स्त्रियाँ जंगल में प्रसव क्रिया करके सन्ध्या समय हँसती-खेलती लौट आती हैं। शहरों की स्त्रियाँ जो श्रम नहीं करती अधिक कष्ट पाती हैं। जब प्रसव समय आता है तो गर्भ नीचे को सरकता है। जो वस्तु दस मास से एक जगह टिकी हुई थी, उसे वहाँ से हटने में कुछ समय तो लगेगा ही। यदि एकदम सरककर आ जाता तो वहाँ नौ-दस मास तक कैसे टिका रह सकता। घर की बड़ी-बूढ़ियाँ और चतुर व अनुभवी दाइयाँ उस पीड़ा को कम करने में काफ़ी सहायक होती हैं।

ओ३म्—स्वर्ण शलाका से जिह्वा पर ओ३म् लिखना बालक को अध्यात्म में प्रवेश देना है। जिसने गुरुजनों व बन्धु-बान्धवों की उपस्थिति में बालक की जिह्वा पर ओ३म् लिखा है, क्या वह उसके आध्यात्मिक विकास की ओर से आँखें मूँद लेगा? उसने संस्कार का आयोजन किया है, जिह्वा पर ओ३म् लिखना उसे संस्कृत करने की दिशा में पहला क़दम है।

जब बालक बड़ा होगा और आये दिन हो रहे इस प्रकार के समारोहों में सम्मिलित होगा तो क्या उसे अपने उस दिन की याद नहीं आएगी जब उसके माता-पिता ने भी इस समय उसके सामने दुहराई जा रही आशाओं-आकांक्षाओं को संजोकर परमेश्वर के सर्वोत्तम नाम को मानो जिह्वा के निमित्त से उसके हृदय-पटल पर सोने में डुबाई क़लम से स्वर्णक्षरों में लिखा था। दूसरे शब्दों में उन्होंने ईश्वर की साक्षी में अपने आत्मज को एक संस्कारित नागरिक बनाने की शपथ ली थी। मुझे उनकी शपथ की लाज रखनी है।

वेदोऽसि—वेद का अर्थ साधारणतया ज्ञान है। यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से वेद

---

१. आश्व० गृह्य० १।१५।१॥

२. इस मन्त्र से पूर्व चतुर्थ संस्करण से 'मेधां ते मित्रावरुणौ' (मन्त्रब्रा० १।५।९) इत्यादि मन्त्र अधिक छप रहा है। संस्कारविधि की रफ कापी में यह मन्त्र लिखकर काटा हुआ है तथा प्रेस कापी में नहीं है। द्वितीय और तृतीय संस्करण मे भी नहीं है, परन्तु तृतीय संस्करण में छठे मन्त्र के पश्चात् 'छह' के स्थान में 'सात' पाठ छपा है (मन्त्र ६ ही छपे है)। सम्भवतः इसी से भ्रान्त होकर चतुर्थ संस्करण में उक्त मन्त्र बढ़ाया गया है।

ओं भुवस्त्वयि दधामि॥ ३॥

ओं स्वस्त्वयि दधामि॥ ४॥

ओं भूर्भुवः स्वस्सर्वं त्वयि दधामि॥ ५॥[१]

ओं सद॑स॒स्पति॒मद्भु॑तं प्रि॒यमिन्द्र॑स्य॒ काम्य॑म्। स॒निं मे॒धाम॑यासिष॒ꣳ स्वाहा॑॥ ६॥[२]

इन प्रत्येक मन्त्र से छह बार[३] घृत-मधु प्राशन कराके तत्पश्चात् चावल और जव को शुद्ध कर पानी से पीस, वस्त्र से छान, एक पात्र में रखके हाथ के अंगूठा और अनामिका से थोड़ा-सा लेके—

ओम् इदमाज्यमिदमन्नमिदमायुरिदममृतम्॥[४]

इस मन्त्र को बोलके बालक के मुख में एक बिन्दु छोड़ देवे। यह एक गोभिलीयगृह्यसूत्र का मत है, सबका नहीं।

पश्चात् बालक का पिता बालक के दक्षिण कान में मुख लगाके निम्नलिखित मन्त्र बोले—

ओं मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती। मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥ १॥[५]

ओम् अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि॥ २॥

ओं सोम आयुष्मान्त्स ओषधीभिरायुष्माँस्तेन० *॥ ३॥

ओं ब्रह्माऽऽयुष्मत् तद् ब्राह्मणैरायुष्मत् तेन०॥ ४॥

ओं देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन०॥ ५॥

ओम् ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन०॥ ६॥

ओं पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन०॥ ७॥

ओं यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्माँस्तेन०॥ ८॥

ओं समुद्र आयुष्मान्त्स स्रवन्तीभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽ युष्मन्तं करोमि॥ ९॥[६]

शब्द का प्रयोग ज्ञान के साधनरूप ग्रन्थमात्र के लिए किया जा सकता है, तथापि वह श्रेष्ठतम आद्य ज्ञान के आधारभूत ऋगादि ग्रन्थविशेष के लिए रूढ़ हो गया है। पाणिनि ने अपने धातुपाठ में विद् धातु के अर्थ ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारना (विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विद् सत्तायम्, विद्लृ लाभे) ये चार अर्थ माने हैं। इस प्रकार वेद शब्द का अर्थ अत्यन्त गम्भीर और व्यापक बन जाता है। ज्ञान अथवा चेतनता वास्तव में जीवात्मा का सबसे बड़ा गुण है—ऐसा गुण जो उसे सम्पूर्ण जड़ जगत् से यहाँ तक कि अपने शरीर से भी विलक्षणता प्रदान करता है। बालक के कर्मरूपी

---

* यहाँ पूर्व मन्त्र का शेषभाग (त्वा०) इत्यादि उत्तर मन्त्रों के पश्चात् बोले॥ —द०स०

---

१. पार० गृह्य० १।१६।४।

२. यजु० ३२।१३॥ यजुर्वेद में ही 'स्वाहा' पदयुक्त पाठ है। ऋग्वेद १।१८।६; सामवेद पू० (२)।४।७ में 'स्वाहा' पाठ नहीं है, अतः १०वें संस्करण से जो ऋग्वेद का पता छपता है, वह अशुद्ध है।

३. अर्थात् एक-एक से एक-एक बार करके छह बार।

४. तु०—मन्त्रब्रा० १।५।८; गोभिलगृह्य २।७।१८॥ दोनों ग्रन्थों में 'इयमाज्ञेदमन्न०' पाठ है।

५. आश्व० गृह्य १।१५।२॥ ६. पारस्करगृह्य० १।१६।६॥

इन नव मन्त्रों का जप करे। इसी प्रकार बाएँ कान पर मुख धर ये ही नव मन्त्र पुनः जपे।

इसके पीछे बालक के कन्धों पर कोमल स्पर्श से, अर्थात् बालक के स्कन्धों पर हाथ का बोझ न पड़े, इस प्रकार हाथ धरके निम्नलिखित मन्त्र बोले—

ओम् इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥ १॥[1]
अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः।
अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्॥ २॥[2]

ओम् अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥३॥[3]

इन तीन मन्त्रों को बोले। तत्पश्चात्—

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽ अस्तु त्र्यायुषम्॥[4]

इस मन्त्र का तीन बार जप करे।

तत्पश्चात् बालक के स्कन्धों पर से हाथ उठा ले और जिस जगह पर बालक का जन्म हुआ हो वहाँ जाके—

ओं वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्॥ १॥[5]

इस मन्त्र का जप करे। तथा—

यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ। वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम्॥ २॥
यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदामृतस्येह नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम्॥ ३॥
इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे[6] **प्रजापती। यथायं न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि॥ ४॥**
यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम्। तदहं विद्वाꣳस्तत् पश्यन्माहं पौत्रमघꣳ रुदम्॥ ५॥[7]

इन मन्त्रों को पढ़ता हुआ सुगन्धित जल से प्रसूता के शरीर का मार्जन करे।

ईश्वर-रचित ग्रामोफ़ोन में ध्वनि द्वारा अंकित 'वेद' शब्द अमिट रहेगा। अवचेतन मन में पड़ा यह शब्द उद्बोधक मिलने पर जाग्रत् हुए बिना नहीं रहेगा। ज़रा बड़ा होने पर उसे पता चलेगा कि वेद शब्द उसने तब सुना था जब अन्य कोई भी शब्द उसके कानों में प्रवेश नहीं कर पाया था। परिणामतः जैसे योगियों अथवा संस्कारी जीवों को संस्कारों की स्फुरणा होती है, वैसे ही जब-जब वह वेद शब्द सुनेगा तब-तब उसका भीतर का संस्कार जाग्रत् होगा और वेद के प्रति असीम राग उसके मन में उत्पन्न करेगा। यदि अभिमन्यु माता के पेट में पड़ा अर्जुन से सुनकर चक्रव्यूह में घुसने का तरीक़ा सीख सकता था; यदि अष्टावक्र गर्भावस्था में वेदान्त की शिक्षा ग्रहण कर सकता था, यदि मदालसा की आठ सन्तानें गर्भावस्था में ही माता से '**शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमाया**

---

१. ऋ० २।२१।६॥ २. ऋ० ३।३६।१०॥ ३. आश्व० गृह्य० १।१५।३॥
४. यजुः० ३।६२॥ ५. पार० गृह्य० १।१६।१७॥
६. 'प्रजायै मे' पद लेखक-प्रमाद से त्रुटित हैं। हमने मन्त्र-पाठानुसार ये पद बढ़ाये हैं।
७. मन्त्रब्रा० १।५।१०-१३॥

कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि। आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ[१] ॥ ६ ॥

स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ[२] ॥ ७ ॥

इन मन्त्रों को पढ़के बालक को आशीर्वाद देवे। पुनः—

अङ्गादङ्गात् सꣳस्त्रवसि हृदयादधिजायसे। प्राणं ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥ ८ ॥[३]

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे। वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ९ ॥

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। आत्माऽसि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम् ॥ १० ॥

पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥ ११ ॥[४]

इन मन्त्रों को पढ़के पुत्र के शिर का आघ्राण करे अर्थात् सूँघे। इसी प्रकार जब-जब परदेश से आवे वा जावे, तब-तब भी इस क्रिया को करे, जिससे पुत्र और पिता-माता में अति प्रेम बढ़े।

ओम् इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः। सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान्वीरवतोऽ करत् ॥[५]

इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करके, प्रसूता स्त्री को प्रसन्न करके, पश्चात् स्त्री के दोनों स्तन किञ्चित् उष्ण, सुगन्धित जल से प्रक्षालन कर पोंछके—

परिवर्जितोऽसि' इस लोरी को सुन-सुनकर ब्रह्मर्षि बन सकती थी, तो एक बालक कोरी स्लेट पर '**ओ३म्**' लिखवाकर और तब तक बिल्कुल ख़ाली कान में '**वेदोऽसि**' डलवाकर ईश्वर और वेद के प्रति आस्थावान् क्यों नहीं बन सकता?

सिर सूँघना—आज कल प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः गाल, ओष्ठ आदि को हाथ से स्पर्श अथवा चुम्बन की रीति प्रचलित है, परन्तु शरीर के किसी भी अंग को चुम्बन द्वारा प्यार करना उचित नहीं है। यदि चुम्बक के शरीर में कोई विषैला तत्त्व होगा तो उसके सूक्ष्म परमाणु चुम्बित के शरीर में प्रवेश करके उसे रोगग्रस्त कर देंगे। इसलिए प्राचीन ऋषियों ने माथा सूँघने की विधि प्रचारित की थी। इस विधि में थूक का स्पर्श न होने से रोग के संक्रमित होने का भय नहीं होता। पुत्र, शिष्य आदि बड़ों को प्रणाम करते और बड़े नमन करनेवाले का माथा सूँघते थे, इसका उल्लेख महाभारत आदि में अनेकत्र मिलता है। अब इस शिष्टाचार में कमी आ रही है। अब सिर पर हाथ रखने या फेरने की रीति प्रचलित हो गई है। इसमें चुम्बन-विधि का दोष नहीं है, क्योंकि रोग के तत्त्व जैसे थूक में होते हैं, वैसे हाथ की त्वचा में नहीं होते।

स्तन्यपान—परम कृपालु प्रभु ने बालक के भोजन की इतनी सुन्दर व्यवस्था कर रक्खी है कि उसे पाने के लिए उसे कहीं जाना नहीं पड़ता। ज्यों ही स्नेहसिक्त माता बालक को अपनी छाती से लगाती है त्यों ही दूध उसके मुँह में जा पहुँचता है। माता के जिस शरीर से बालक का निर्माण हुआ है, उसी शरीर से निःसृत दूध से उत्तम भोजन बालक के लिए और कौन-सा हो सकता है? आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार '**मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत् परं देहवृद्धये**'—जननी का दूध ही बालक के

---

१. यहाँ 'असौ' के स्थान में 'हे बालक!' अथवा 'हे बालिके!' ऐसा पढ़ें। इसी प्रकार आगे भी।

२. मन्त्रब्रा० १।५।१४, १५॥

३. मन्त्रब्रा० १।५।१६॥

४. मन्त्रब्रा० १।५।१७-१९॥

५. पार० गृह्य० १।१६।१९॥

शरीर की पुष्टि एवं वृद्धि के लिए सर्वोत्तम होता है। यदि प्रमादवश जननी दूध न पिलाना चाहे तो उसे समझा-बुझा कर दूध पिलाने के लिए तैयार किया जाए। इस प्रसङ्ग में सुश्रुतसंहिता (शा० १०।२६-२७) के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिनः। भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये॥ २६॥

पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने। दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा॥ २७॥

बालक की जन्मदात्री को सम्बोधित करके कहा गया है—"हे सुभगे! तुम्हारे स्तनों में दूध को वहन करनेवाले चारों समुद्र बालक की वृद्धि के लिए हों। हे शुभानने! जिस प्रकार देवता अमृत का पान करके दीर्घायु हुए, उसी प्रकार तुम्हारा अमृतरूपी दूध पीकर बालक दीर्घायु हो।

आगे कहा है—"**अतोऽन्यथा नाना स्तन्योपयोगस्यासात्म्याद् व्याधिजन्म भवति।**" २८॥ अर्थात् इसके विपरीत नाना (भिन्न-भिन्न) दूध का उपयोग करने से—असात्म्य होने के कारण रोग उत्पन्न होते हैं।

दिल्ली के सफ़दरजंग अस्पताल में १ से ७ अगस्त १९९३ तक विश्व स्तनपान सप्ताह मनाया गया। गोष्ठी के समापन पर जारी की गई विज्ञप्ति में कहा गया कि ६ महीने तक की आयु के बच्चों के लिए माँ का दूध सम्पूर्ण आहार है। इसके अतिरिक्त उसे किसी भी खाने-पीने की चीज़ या दूसरे दूध की आवश्यकता नहीं है। शिशु के जन्म के आधे घण्टे के भीतर ही स्तनपान आरम्भ कर देना चाहिए। बच्चे के लिए कोलस्ट्रोल—पहले दो तीन दिन आनेवाला गाढ़ा पीले रंग का दूध बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह दूध बच्चे की अनेक रोगों से रक्षा करता है। इसके कारण इनफैक्शन भी नहीं होती। डिब्बाबन्द दूध किसी भी प्रकार माता के दूध की बराबरी नहीं कर सकता। फिर जिस स्नेह से ममतामयी माँ बालक को दूध पिलाती है, वैसा स्नेह बालक को कहाँ से मिल सकता है? और बालक को अपनी छाती से लगाकर माँ जिस तृप्ति और आनन्द का अनुभव करती है उससे वंचित होकर कौन माता सुखी होगी? प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र के अतिरिक्त आधुनिक चिकित्सा-शास्त्री भी एक स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि जननी की छाती से दूध पीना बालक और उसकी माता दोनों के लिए अत्यन्त हितकर हैं। इस सन्दर्भ में अहमदाबाद से टाइम्स आफ इण्डिया के १३ जनवरी १९८९ में प्रकाशित यह वक्तव्य द्रष्टव्य है—

"Breast feeding may help save not only the baby but also the mother from certain forms of cancer, according to two separate studies conducted by scientists separately. The studies published by the National Cancer Institute of America indicate that after being breast fed for more than six months, chances of the baby and its mother getting cancer are lowered considerably."

अर्थात् अमेरीका की नेशनल कैंसर इंस्टीट्यूट में हुए अनुसन्धानों से पता चला है कि माता की छाती से छह मास तक दूध पीते रहने के बाद बालक और उसकी माता के कैंसर रोग से पीड़ित होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। नयी खोजों के अनुसार माता की छाती से दूध पीनेवाले बालक के पोलियो आदि रोगों से ग्रस्त होने का डर नहीं रहता। जबतक बालक दूध पीता रहता है तबतक स्त्री के गर्भवती होने की सम्भावना कम होती है।

स्तन्यपान के सन्दर्भ में जो मन्त्र यहाँ पढ़े गये हैं उनमें कहा गया है—

ओम् इमथ्ठ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।

उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियः सदनमा विशस्व॥[१]

इस मन्त्र को पढ़के दक्षिण स्तन प्रथम बालक के मुख में देवे। इसके पश्चात्

ओं यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधावसुविद्यः सुदत्रः।

येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः॥[२]

इस मन्त्र को पढ़के वाम स्तन बालक के मुख में देवे। तत्पश्चात्—

ओम् आपो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ। एवमस्याथ्ठ सूतिकायाथ्ठ सपुत्रिकायां जाग्रथ॥[३]

इस मन्त्र से प्रसूता स्त्री के शिर की ओर एक कलश जल से पूर्ण भरके दश रात्रि तक वहीं धर रक्खे।

तथा प्रसूता स्त्री प्रसूत-स्थान में दश दिन तक रहे। वहाँ नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से भात और सरसों[४] मिलाके दश दिन तक बराबर आहुतियाँ देवे—

---

१. हे अग्नि के समान तेजस्वी बालक! चारों ओर से जहाँ दूध का समुद्र उमड़ा पड़ा है वहाँ दूध से स्थूल हो रहे ऊर्जा तथा बल देनेवाले इस माता के स्तन को मुख में पकड़ कर पी। मधु के समान दूध से उमड़ रहे स्तन का सेवन कर। मधु के समुद्र के समान लहराते हुए सदन में प्रवेश कर।

२. हे ज्ञानमयी देवी! जो तेरा स्तन बालक को शान्तिप्रद है, सुखदायक है, दुग्धरूप रत्न का धारण करनेवाला है, जो दुग्धरूपी धन का देनेवाला है, जो देना-ही-देना जानता है, जिससे तू वरणयोग्य अंगों को पुष्ट करती है, उस स्तन को बालक को धारण करने के लिए प्रस्तुत कर।

प्रथम मन्त्र से दक्षिण-स्तन और द्वितीय मन्त्र से वाम-स्तन बालक के मुख में देने का निर्देश किया गया है।

जल से पूर्ण कलश रखना—प्रसूता स्त्री निर्बल होने से आने-जाने अर्थात् श्रम करने में असमर्थ होती है, इसलिए उसकी आवश्यकताओं के लिए अपेक्षित जल की आपूर्त्ति के लिए जल से भरा एक कलश उसके पास रख दिया जाता है। यह कलश प्रसूता के सिर की ओर रक्खा जाता है जिससे सिर की ओर आनेवाली विकृत वायु का जल में शोषण होता रहे। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी प्रसूतिगृह में विशेष सफ़ाई अपेक्षित होती है। उसके लिए भी वहाँ भरपूर जल हर समय उपलब्ध रहना चाहिए। कलश का जल प्रतिदिन बदलते रहना चाहिए। मस्तिष्क की ओर जोकि समस्त देवों=ज्ञानेन्द्रियों का आधार है, जल से भरा कलश पावनत्व प्रदान करता है। गर्भस्थिति काल में मल की सफ़ाई के लिए गर्म ओषधियाँ दी जाती हैं। कहीं उनसे नवप्रसूता का मस्तिष्क प्रभावित न हो जाए, एतदर्थ भी दश रात्रि तक जल रक्खा जाता है। उससे मस्तिष्क को ठण्डक मिलती रहती है। उस अवस्था में शीतवीर्य ओषधि खिलाई नहीं जा सकती।

सरसों की आहुति—आयुर्वेद के परम प्रामाणिक ग्रन्थ चरकसंहिता (सूत्रस्थान, चतुर्थ अध्याय) में सरसों को खाजनाशक, शिरोविरोचनीय (दिमाग़ के बलग़म को निकालनेवाला) और मलबन्धक

---

१. यजुः० १७। ८७॥

२. शत० ब्रा० १४। ९। ४। २८॥ १०वें संस्करण में पता ऋ० १।१६४।४९ छपा है, परन्तु पाठ यही है। शताब्दी संस्करण में ऋग्वेदानुसारी पाठ बना दिया गया है। २५वें संस्करण में पाठ शतपथानुसारी छापकर स्वर ऋग्वेदानुसारी [उदात्त, अनुदात्त स्वरित तीनों] दे दिये। शतपथ में केवल उदात्त स्वर का ही संकेत होता है, अतः शतपथ के पाठ पर ऋग्वेदीय स्वर-संकेत देना अशुद्ध है। पारस्कर में संकेतित पाठ स्वशाखीय शतपथानुसारी है।

३. पार० गृह्य० १। १६। २२॥ ४. यहाँ पीली सरसों अभिप्रेत है।

ओम् शण्डामर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः। मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा॥ इदं शण्डामर्काभ्यामुपवीराय शौण्डिकेयायोलूखलाय मलिम्लुचाय द्रोणेभ्यश्च्यवनाय—इदन्न मम॥ १॥

ओम् आलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा॥ इदमालिखतेऽनिमिषाय किंवदद्भ्य उपश्रुतये हर्यक्षाय कुम्भीशत्रवे पात्रपाणये नृमणये हन्त्रीमुखाय सर्षपारुणाय च्यवनाय—इदन्न मम॥ २॥[1]

इन मन्त्रों से १० दिन तक होम करके पश्चात् अच्छे-अच्छे विद्वान्, धार्मिक, वैदिक मत वाले बाहर खड़े रहकर और बालक का पिता भीतर रहकर आशीर्वादरूपी नीचे लिखे मन्त्रों का पाठ आनन्दित होके करें—

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः।
अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः॥ १॥

—अथर्व० का० ६। अनु० ४। सू० ४१॥[2]

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ २॥

—अथर्व० का० १२। अनु० २। मं० २३॥[3]

विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम्॥ ३॥

—अथर्व० का० १८। अनु० ३। मं० ६१॥[4]

॥ इति जातकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

लिखा है तथा इसके तेल को कटु, उष्ण, रक्तपित्त को दूषित करनेवाला, कफ़, शुक्र तथा वायु को हरनेवाला तथा खुजली, कुष्ठ आदि त्वचा के रोगों को नष्ट करनेवाला लिखा है। रक्तपित्त का दूषक तथा शुक्र का हरनेवाला सरसों का तेल तभी होता है यदि खाने में सेवन किया जाए।

राक्षसबाधा की निवृत्ति के लिए वैद्यक ग्रन्थों में होम का प्रयोग लिखा है। वेदादि शास्त्रों में असुर उन कृमियों को कहा गया है जो प्रसूतिगृह में घुसकर अपने विष से प्रसूता और उसकी सन्तान के प्राणहरण की चेष्टा करते हैं। अथर्व ८।६।२३ में इनके विषय में स्पष्ट कहा है—"य आमं मांसमदन्ति गर्भान् खादान्ति"—ये कच्चे मांस को खाते और गर्भों को नष्ट करते हैं। 'असु'=प्राणों को 'र'=हर लेने से असुर=राक्षस कहाते हैं। अथर्व० ६।६,२०,२४,२५ सूक्तों में इन्हें नष्ट करने के लिए पीली सरसों को उपयोगी बताया है। यहाँ ग्रन्थकार ने प्रसवागार में १० दिन तक सायं-प्रातः दो बार भात और सरसों को मिलाकर उससे हवन करने का निर्देश किया है। चावल एक श्रेष्ठ पौष्टिक एवं वीर्यवर्द्धक अन्न है और सरसों (विशेषतः पीली) परमौषध है। प्रसूता के कमरे में मिट्टी का तेल कदापि नहीं जलाना चाहिए। वहाँ सरसों के तेल का दिया जलाया जा सकता है।

गुजरात में सरसों के स्थान में अरण्डी का तेल जलाते हैं, वह भी ठीक है।

---

१. पार० गृह्य० १।६।२६॥
२. सरल और पूरा पता—अथर्व० ६।४१।१॥
३. सरल और पूरा पता—अथर्व० १२।२।२३॥
४. सरल और पूरा पता—अथर्व० १८।३।६१॥

अथ नामकरणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्—नाम चास्मै दद्युः ॥ १ ॥

घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरम् ॥ २ ॥

चतुरक्षरं वा ॥ ३ ॥

द्व्यक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः ॥ ४ ॥

संसार में जितने भी जड़-चेतन पदार्थ हैं, उनकी पहचान उनके नाम-रूप से होती है। रूप तो परमेश्वर ने दे दिया, परन्तु बिना नाम के हम उनका व्यवहार नहीं कर सकते। लोक में हम देखते हैं कि जो किसी वस्तु का निर्माण करता है, वही अनिवार्यतः उसका नामकरण भी करता है, तभी लोग उस वस्तु से परिचय प्राप्त कर पाते हैं। वेद में कहा है—"**बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः**" (ऋ० १०।७७।१) परमेश्वर सब नामों को धारण करता हुआ पद और संज्ञा की आवश्यकता प्रकट करता है। नाम वेद में हैं और उनसे व्यक्त होनेवाले पदार्थ सृष्टि में हैं। ऋग्वेद १०।८२।३ में आये 'देवानां नामधा' से स्पष्ट है कि स्वयं परमात्मा ने वेद में सब पदार्थों के नाम रक्खे हैं। प्रत्येक पदार्थ के अनुरूप उसका नाम खोजना मनुष्य का काम है। मनुस्मृति में स्पष्ट कहा है—

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संज्ञाश्च निर्ममे ॥

—मनु० १।२१

भगवान् वेदव्यास की भी यही सम्मति है—"**शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**" (वेदान्त० १।३।२८) सब आकृतियों के नाम वेद के आश्रय से ही रक्खे गये हैं। अपने व्यवहार के लिए एक को दूसरे से पृथक् कर उनकी पहचान करने के लिए नामकरण-संस्कार का विधान किया गया है—यथा नाम तथा गुण एवं यथा गुण तथा नाम।

अत्र प्रमाणम्—आचार्यादि मिलकर कहते हैं—"नाम चास्मै दद्युः" अब इस बालक का नाम रक्खें।

घोषवदाद्यन्तरन्तः—इत्यादि का विशदीकरण स्वयं ग्रन्थकार ने संस्कार के अन्त की ओर टिप्पणी में कर दिया है।

संस्कार का समय—प्रसवोपरान्त स्त्री की शारीरिक स्थिति अत्यन्त दुर्बल होती है, नवजात शिशु के लिए भी माता के वातानुकूलित गर्भ की तुलना में बाह्य वातावरण अपरिचित होने से अनुकूल नहीं होता। ऐसी दशा में जच्चा-बच्चा दोनों को अपने को नई परिस्थिति (प्रसव के बाद स्त्री का भी दूसरा जन्म हुआ कहा जाता है) के अनुकूल बनाने में कुछ काल अपेक्षित है। एतदर्थ कम-से-कम ११ दिन का समय नियत है। हो सकता है कि तबतक स्त्री पूरी तरह स्वस्थ न हो पाये। इसलिए आवश्यकतानुसार १०१ दिन और दूसरे वर्ष के दो विकल्प और दे दिये गये हैं। ११वें

युग्मानि त्वेव पुंसाम्॥ ५॥

अयुजानि स्त्रीणाम्॥ ६॥

अभिवादनीय च समीक्षेत तन्मातापितरौ विदध्यातामोपनयनात्॥ ७॥ इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रेषु॥[१]

दशम्यामुत्थाप्य[२] पिता नाम करोति—द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्, अयुजाक्षरमाकारान्तꣳ स्त्रियै[३]। शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य॥[४]

दिन दूसरा दशक और १०१वें दिन दूसरा शतक आरम्भ होता है। उसके आगे दूसरे वर्ष का जन्मदिन अपवाद ही होता है। यह गोभिल (गृह्यसूत्र, प्र० २, कां० ७) का मत है—**''जननाद्दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणम्''**। इस विषय में गदाधर कारिका में लिखते हैं—

एकादशे द्वादशे वा मासे पूर्णेऽथवा परे॥ अष्टादशेऽहनि तथा वदन्त्येके मनीषिणः।

शतरात्रे व्यतीते वा पूर्णे संवत्सरेऽ थवा॥

इनमें ११, १२, १८ दिन, एक मास, १०१वें दिन तथा वर्ष पूरा होने पर नामकरण का विधान किया है। इसमें ये तीनों भी आ जाते हैं, जिनका विधान यहाँ ग्रन्थकार ने किया है। प्रायः ११वें या १०१वें दिन नामकरण की परम्परा है।

युग्मानि त्वेव पुंसाम्, अयुजानि स्त्रीणाम्—पुरुषों का नाम दो या चार अक्षरोंवाला और स्त्रियों का विषमाक्षर—तीन या पाँच अक्षरोंवाला होना चाहिए, परन्तु प्राचीन काल में अनेकानेक प्रतिष्ठित एवं महत्त्वपूर्ण नाम शास्त्रीय निर्देश के विपरीत मिलते हैं। तद्यथा-गौतम, कपिल, कणाद, अशोक, विदुर, नारद, अर्जुन, आदित्य, अंगिरा, जनक, वसिष्ठ, दिलीप, सीता, अनसूया, गङ्गा, श्रुतकीर्ति, यशोधरा आदि।

सबसे विचित्र बात तो इस विषय में यह है कि इस नियम के प्रवर्त्तक स्वयं अश्वल का नाम पुरुष होते हुए विषमाक्षर है। इस नियम का पालन कम और उल्लंघन अधिक हुआ प्रतीत होता है। यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार ने पारस्कर का मत उद्धृत किया है, हो सकता है अन्य मत भी रहे होंगे, परन्तु यहाँ उद्धृत नामावलि को देखकर यह कहे बिना नहीं रह सकते कि पारस्कर की अपेक्षा उनका प्रचलन बहुत अधिक था। सिद्धान्तरूप में पारस्कर का मत ग्राह्य प्रतीत होता है।

नाम के साथ शर्मा-वर्मा आदि—ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में उपनयन-संस्कार के अन्तर्गत आश्वलायनगृह्यसूत्र से यह प्रमाण प्रस्तुत किया है—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। गर्भाष्टमे वा। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्।

—अ० गृ० १।१८।१-४

आश्वलायनगृह्यसूत्र के ये वचन मनुस्मृति के निम्न श्लोक के अनुसार हैं—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपवीतकम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

—मनु० २।३६

---

१. आश्व० गृह्य० १।१५।४-१०॥

२. पार० गृह्य० में 'मुत्थाप्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता' पाठ है।

३. पार० गृह्य० में 'स्त्रियै तद्धितम्' पाठ है।

४. पार० गृह्य० १।१७।१-४॥

इसी प्रकार गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्र में भी लिखा है॥

नामकरण—अर्थात् जन्मे हुए बालक का सुन्दर नाम धरे।

इस श्लोक से वर्णव्यवस्था का जन्ममूलक होना सिद्ध होता है, जबकि मनु उसे गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित मानते हैं। इन शब्दों का ऊहित अर्थ करने पर इस शङ्का का समाधान हो जाता है। तदनुसार ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य तथा वैश्यस्य का अर्थ क्रमशः ब्राह्मण का बालक, क्षत्रिय का बालक, वैश्य का बालक होगा। जबतक बालक की शिक्षा गुरुकुल में पूर्ण नहीं हो जाती और परीक्षोपरान्त आचार्य द्वारा उसका वर्ण निर्धारित नहीं हो जाता तबतक उसे जन्मना ज्ञात वर्णस्थ मानने में कोई असामंजस्य नहीं है।

तत्पश्चात् उन्होंने मनुस्मृति अध्याय २ के ३७वें श्लोक को उद्धृत किया है—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

इस श्लोक का अर्थ लिखते हुए वे कहते हैं—'जिसको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हो तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म या गर्भ से पाँचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म या गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म या गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करे। इस प्रकार उन्होंने 'ब्रह्मवर्चसकामस्य विप्रस्य' का अर्थ 'ब्रह्मवर्चस' की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मण का, 'राज्ञो बलार्थिनः' का अर्थ बल की इच्छा करनेवाले क्षत्रिय का तथा 'अर्थिनो वैश्यस्य' का अर्थ धन की इच्छा करनेवाले वैश्य का किया है। यहाँ शङ्का हो सकती है कि इतने अल्पवयस्क बच्चों के लिए 'इच्छुक' शब्द सार्थक नहीं है। वस्तुतः ये प्रयोग बच्चे के सन्दर्भ में माता-पिता की इच्छा व आकांक्षा के अनुरूप हैं।

प्रत्येक मनुष्य में प्रत्येक अवस्था में कुछ विशिष्ट गुण-कर्म-स्वभाव परिलक्षित होते हैं। प्रायः अपने माता-पिता से संक्रामित गुण-कर्म-स्वभाव का बीज बालकों के हृदय में होता है। शर्मा, वर्मा आदि उपपद बालकों को स्मरण कराते रहेंगे कि अपने माता-पिता की आशा-आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए हमें वैसा बनने का प्रयास करना है। आचार्य लोग भी इस दिशा में प्रयास करेंगे और एतदर्थ उन्हें प्रेरणा करते रहेंगे। शतप्रतिशत नहीं तो ७० प्रतिशत अनुकूल परिणाम निकलने की सम्भावना हो सकती है। उनकी देखा-देखी 'दास' पद संयुक्त ब्रह्मचारी भी **'दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्'** से प्रेरणा पाकर विद्वान् बन सकता है।

यदि उन्हें उपयुक्त शिक्षा मिले तो द्विजों में तदनुरूप उनके विकास की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए जबतक कोई सन्तान अपने को अन्यथा सिद्ध न कर दे तबतक उसका यही वर्ण माना जाता है जो उसके माता-पिता का होता है।

इसी व्यवस्था के अनुसार जो माता-पिता अपने बालक को ब्राह्मण आदि बनाना चाहते हैं और जिन में तत्तत् वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाव बीजरूप में विद्यमान हैं, उन्हें विकसित करने की प्रेरणा देते रहने के उद्देश्य से अपने बालकों के नाम के साथ शर्मा आदि उपपद लगाएँ तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हमारी इस मान्यता को मनुस्मृति के निम्न श्लोकों से बल मिलता है—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥

शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्॥

—मनु० २।३१-३२

नामकरण का काल—जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११ ग्यारहवें वा १०१ एक सौ एकवें अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो, नाम धरे।

जिस दिन नाम धरना हो उस दिन अति प्रसन्नता से इष्ट-मित्र, हितैषी लोगों को बुला यथावत् सत्कार कर क्रिया का आरम्भ यजमान—बालक का पिता और ऋत्विज करें।

इन श्लोकों पर कुल्लूकभट्ट की टीका इस प्रकार है—"**ब्राह्मणादीनां यथाक्रमं मङ्गलबल-धननिन्दावाचकानि शुभबलवसुदीनादीनि नामानि कर्त्तव्यानि।**"

इदानीमुपपदनियमार्थमाह—

एषां यथाक्रमं शर्मरक्षापुष्टिप्रेष्यवाचकानि कर्त्तव्यानि शर्मवर्मभूतिदासादीनि उपपदानि कार्याणि। उदाहरणानि तु शुभशर्मा, बलवर्मा, वसुभूतिः दीनदासः इति। उवाच यमः—

"**शर्मदेवश्च विप्रस्य वर्मत्राता च भूभुजः। भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारये॥**"

विष्णुपुराणेऽप्युक्तम्—

"**शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम्। गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥**"

मनु के दोनों श्लोकों का अर्थ इस प्रकार है—

ब्राह्मण का मङ्गलसूचक शब्द से युक्त, क्षत्रिय का बलसूचक शब्द से युक्त, वैश्य का धनसूचक शब्द से युक्त और शूद्र का पालनीय—रक्षणीय ('सन्' प्रत्यय के योग से 'गुपु रक्षणे' धातु से निष्पन्न) सूचक शब्द से युक्त नामकरण करना चाहिए। ॥ २ । ३१ ॥ ब्राह्मण का शर्मा शब्द से युक्त, क्षत्रिय का रक्षा शब्द से युक्त, वैश्य का पुष्टि शब्द से युक्त और शूद्र का प्रेष्य (दास) शब्द से युक्त उपनाम (उपाधि) रखना चाहिए॥ २ । ३२ ॥

मनु के उपर्युक्त प्रथम श्लोक में इच्छित वर्णानुसार व्यक्तिगत गुणों या प्रवृत्तियों के आधार पर नाम रखने का विधान है, जबकि द्वितीय श्लोक में व्यक्तियों के वर्णगत कर्मों के आधार पर नामकरण करने को कहा गया है। भाव या तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

यहाँ शूद्र को 'प्रेष्यसंयुतम्' कहा है। अमरकोश में उसे 'वार्तावाहम्' (सन्देश लेजानेवाला), भारवाहम्' (भार ढोनेवाला), 'भृत्य' (भृञ् भरणे) आदि दास या सेवक के पर्यायों में गिना है। किसी भी प्रकार का सेवक नीच या घृणित व्यक्ति नहीं हो सकता, वह रक्षणीय अथवा पालनीय अवश्य है। कुमारसम्भव (६।५८) में पार्वती के पिता हिमालय ने अपने को ऋषियों का 'प्रेष्य' अर्थात् सेवक या दास्य बताया है, अतः यहाँ 'रक्षणीय या पालनीय' होने से शूद्रवर्णस्थ को 'जुगुप्सितम्' कहा गया है। चपरासी से लेकर बड़े-से-बड़ा अफ़सर सरकारी नौकर (Government servant) कहलाता है। इससे चपरासी घृणित नहीं बन जाता। समाज के अंगभूत चारों ही वर्ण सेवक हैं' —ज्ञान से सेवा करनेवाले ब्राह्मण को शर्मा, बाहुबल से सेवा करनेवाले क्षत्रिय को वर्मा, कृषि और व्यापार (धन) से सेवा करनेवाले वैश्य को गुप्त तथा साधारण सेवक को दास कह दिया गया। यह केवल निदर्शनार्थ है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकार की विभिन्न योग्यताएँ रखनेवालों के लिए अन्य कोई उपाधियाँ नहीं रही होंगी या भविष्य में नहीं होंगी। वर्त्तमान में बुद्धिजीवी (Intellectuals), सेना (Army), उद्योगपति या व्यापारी (Industrialists or Businessmen) तथा श्रमजीवी (Labour) जैसे नाम प्रचलित हैं।

पुन: पृष्ठ ३६–४८ में लिखे प्रमाणे सब मनुष्य **ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** और सामान्य प्रकरणस्थ सम्पूर्ण विधि[१] करके **आघारावाज्यभागाहुति**[२] ४ [चार] और **व्याहृति आहुति**[३] ४ [चार] और पृष्ठ ६१–६२ में लिखे प्रमाणे (**त्वन्नो अग्ने०**) इत्यादि ८ [आठ] मन्त्रों से ८ [आठ] आहुति, अर्थात् सब मिलाके १६ घृताहुति करें।

तपश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान करा, शुद्ध वस्त्र पहनाके उसकी माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से आ दक्षिणभाग में होकर बालक का मस्तक उत्तर दिशा में रखके बालक के पिता के हाथ में देवे और स्त्री पुन: उसी प्रकार पति के पीछे होकर उत्तरभाग में पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पिता उस बालक को उत्तर में शिर और दक्षिण में पग करके अपनी पत्नी को देवे। पश्चात् जो उसी संस्कार के लिए कर्त्तव्य हो, उस प्रथम प्रधानहोम को करे। पूर्वोक्त प्रकार घृत और सब शाकल्य सिद्ध कर रक्खे। उसमें से प्रथम घी का चमचा भरके—

ओम् प्रजापतये स्वाहा ॥[४]

इस मन्त्र से एक आहुति देकर पीछे जिस तिथि, जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेके उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ [चार] आहुति देनी, अर्थात् एक तिथि, दूसरी तिथि के देवता, तीसरी नक्षत्र और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से, अर्थात् तिथि, नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोलके ४ [चार] घी की आहुति देवे। जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो तो—

तद्धितप्रत्ययान्त—माता-पिता या गोत्र आदि के नाम पर रक्खे जानेवाले नाम तद्धित कहलाते हैं, जैसे—पाण्डव, कौन्तेय, राघव, भार्गव, वासुदेव, जानकी आदि। इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि नाम रखने का उद्देश्य पूरा नहीं होता, क्योंकि उससे व्यक्तिविशेष का बोध नहीं होता। 'कौन्तेय' कहने से पता नहीं चलता कि पाँच भाइयों में से किसके लिए इसका प्रयोग हुआ है। रघुकुल से सम्बन्धित कोई भी व्यक्ति राघव कहला सकता है। यद्यपि यह राम के लिए रूढ़ हुआ कहा जाता है, परन्तु भरत ही नहीं स्वयं दशरथ भी राघव थे, उनका ग्रहण क्यों नहीं हो सकता? यदि जनक के दो पुत्रियाँ होती तो मात्र जानकी कहने से किसका बोध होता। इसलिए तद्धितप्रत्ययान्त नाम नहीं रखना चाहिए।

नाम एक ऐसा शब्द है जो मृत्यु-पर्यन्त साथ रहता है। मृत्यु-पर्यन्त ही नहीं, मृत्यु के बाद भी चलता है। सामान्य बोल-चाल में कहा जाता है—मनुष्य चला जाता है, नाम रह जाता है। इसी से मुहावरे के तौर पर उसे 'नामशेष' कहा जाता है। सदा साथ देनेवाले नाम का चुनाव करना हमारे हाथ में है। इसलिए नाम का चुनाव करते समय बड़ी सावधानी और सूझबूझ से काम लेना चाहिए। नाम का प्रयोग बोलकर होता है, इसलिए नाम में सबसे बड़ा गुण यह होना चाहिए कि वह आसानी से बोला जा सके और सुनने में प्यारा भी लगना चाहिए। उसके लिए नाम में लगनेवाले अक्षर कोमल होने चाहिएँ। नाम सार्थक तो होना ही चाहिए, प्रेरक हो तो और भी अच्छा है। यथा नाम तथा गुण—युद्ध

---

१. अर्थात् जलसेचन पर्यन्त। अगले कर्म का निर्देश आगे किया है।

२. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

४. इस आहुति का संकेत गोभिलगृह्य० २।८।१२ में है।

ओं प्रतिपदे स्वाहा। ओं ब्रह्मणे स्वाहा। ओम् अश्विन्यै स्वाहा। ओम् अश्विभ्यां स्वाहा॥ *[१]

*** तिथिदेवता[२]—१-ब्रह्मन्। २-त्वष्टृ ३-विष्णु। ४-यम। ५-सोम। ६-कुमार। ७-मुनि। ८-वसु। ९-शिव[३]। १०-धर्म। ११-रुद्र। १२-वायु। १३-काम। १४-अनन्त[३]। १५-विश्वेदेव। ३०-पितर॥—द०स०**

नक्षत्रदेवता[२]—अश्विनी-अश्वी। भरणी-यम। कृत्तिका-अग्नि। रोहिणी-प्रजापति। मृगशीर्ष-

से पीठ दिखाकर भागनेवाले का नाम युधिष्ठिर होगा अथवा प्रायः झूठ बालनेवाले का नाम सत्यदेव या सत्यपाल होगा तो परिचित जनों को यह कहने का अवसर तो होगा—'अरे, अपने नाम की तो शर्म कर'। इसी से मिलते-जुलते प्रसङ्ग में 'मेरा नाम बदल देना' कहा जाता है।

स्वभावतः मण्डप में उपस्थित लोगों की यह जानने की उत्सुकता होगी कि बच्चे का जन्म कब हुआ। जब तिथि का नाम लेकर आहुति दी जाएगी तो उनकी यह जिज्ञासा शान्त हो जाएगी। तत्पश्चात् जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ उस नक्षत्र तथा उस तिथि व नक्षत्र के देवता का नाम लेके ये चार आहुतियाँ दी जाती हैं। आहुति पूजा का पर्याय नहीं है। आहुति देने के कई प्रयोजन हैं—कहीं वह उपदेशार्थ, कहीं सम्मानार्थ और कहीं स्मरणार्थ दी जाती हैं। यहाँ तिथि की आहुति जन्मतिथि के स्मरणार्थ दी गई है। ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्त-शिरोमणी में लिखा है—**'तन्यन्ते कलया यस्मात्तास्तिथयः स्मृताः।'** अर्थात् चन्द्र की कला से जिसका परिमाण किया जाता है, उसे तिथि कहते हैं। जिनको यहाँ तिथिदेवता कहा गया है, वे तिथियों की संख्या के बोधक शब्दरूप संकेत हैं जो भिन्न-भिन्न ज्योतिषियों ने अपनी-अपनी सुविधा के लिए कल्पित कर रक्खे हैं। संस्कृत में श्लोक रचना करनेवाले कविजन संवत् की संख्या देने में अङ्कों का उपयोग न करके शब्दों द्वारा उनका बोध कराते हैं, जैसे—राम, मुनि, चन्द्र आदि। संस्कारविधि के प्रारम्भ करने आदि का संवत् ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के आरम्भ में स्वरचित श्लोकों में इसी प्रकार दिया है।

रात को गगनमण्डल में चमकते हुए जो असंख्य तारे दिखाई पड़ते हैं, वे नक्षत्र हैं। दिन में सूरज के तेज के कारण हम उन्हें देख नहीं पाते। यद्यपि नक्षत्र असंख्य हैं तथापि हमारे सौरमण्डल का काम जिन नक्षत्रों से अतिविशेष है, वे २७ हैं। ज्योतिष के अति प्राचीन ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त में तिथिदेवता और नक्षत्रदेवता के विषय में कुछ विशेष उल्लेख नहीं मिलता।

आकाशगत सूर्यमण्डल से सम्बन्ध रखनेवाले नक्षत्रविज्ञान को ज्योतिष (Astronomy) कहते हैं। यही ज्योतिश्शास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान या नक्षत्रविज्ञान वेद का छठा अंग है और गणित पर आधारित होने से वह सत्य विद्याओं के अन्तर्गत है। अथर्ववेद (१२।३।२०) में तीन लोकों का निर्देश करते हुए कहा है—"त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्यन्तरिक्षम्" अर्थात् ब्रह्म (वेद) को

१. यह पाठ निदर्शनार्थ है। तिथि, नक्षत्र और उनके देवता के लिए आहुति देने का विधान गोभिल-गृह्य० २।८।१२ में है। अनेक व्यक्ति तिथि, नक्षत्र की आहुतियों का सम्बन्ध फलित ज्योतिष के साथ समझते हैं, यह भ्रम है। गृह्यसूत्रान्त वैदिक वाङ्मय (परिशिष्टों को छोड़कर) में फलित ज्योतिष का नाममात्र भी संकेत उपलब्ध नहीं होता। इनमें तिथि आहुति का सम्बन्ध जन्मकाल के स्मरण रखने के साथ है और नक्षत्राहुति का सम्बन्ध नाक्षत्रिक नाम के साथ है। प्राचीनकाल में नाक्षत्रिक नाम रखने की परिपाटी थी। इसका निर्देश अष्टाध्यायी अ० ४।३।३४-३७ में भी मिलता है।

२. तिथि-देवता और नक्षत्र-देवता के लिए गोभिलगृह्य० २।८।१२ का भट्टनारायण का भाष्य देखें।

३. गोभिलगृह्यसूत्र के भट्टनारायण के भाष्य (२।८।१२) में 'शिव' के स्थान में 'पिशाच' और 'अनन्त' के स्थान में 'यक्ष' का निर्देश है।

तत्पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखी हुई **स्विष्टकृत्-मन्त्र**[1] से एक आहुति और पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे ४ [चार] **व्याहृति**[2] आहुति दोनों मिलके ५ पाँच आहुति देके तत्पश्चात् माता बालक को लेके शुभ आसन पर बैठे और पिता बालक के नासिका-द्वार से बाहर निकलते हुए वायु का स्पर्श करके—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम।

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥ —अ० ७। मं० २९॥

ओम् कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि। आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ॥[3]

जो यह "असौ" पद है इसके स्थान में बालक का ठहराया हुआ नाम अर्थात् जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे दो अक्षर का वा चार अक्षर का, घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पाँचों

सोम। आर्द्रा-रुद्र। पुनर्वसु-अदिति। पुष्य-बृहस्पति। आश्लेषा-सर्प। मघा-पितृ। पूर्वाफल्गुनी-भग। उत्तराफल्गुनी-अर्यमन्। हस्त-सवितृ। चित्रा-त्वष्टृ स्वाति-वायु। विशाखा-इन्द्राग्नी। अनुराधा-मित्र। ज्येष्ठा-इन्द्र। मूल-निर्ऋति। पूर्वाषाढा-अप्। उत्तराषाढा-विश्वेदेव। श्रवण-विष्णु। धनिष्ठा-वसु। शतभिषज्-वरुण। पूर्वाभाद्रपदा-अजैकपाद्। उत्तराभाद्रपदा-अहिर्बुध्न्य। रेवती-पूषन्॥ —द०स०

जाननेवाला ज्ञानी पुरुष द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष—इन तीनों लोकों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ज्योतिश्शास्त्र के पारंगत विद्वान् भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में लिखा है—

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्तेषु कालाश्रयेण।

शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्॥

अर्थ—वेद यज्ञीय कर्मों का प्रवर्त्तक है, यज्ञ उसमें काल के आश्रय ही कहे गये हैं। इस ज्योतिश्शास्त्र से क्योंकि काल का ठीक-ठीक ज्ञान होता है, इसीलिए इस शास्त्र की वेदाङ्गता स्वीकार की गई है।

साधारणतः प्रकाश की झलकमात्र को ज्योति कहते हैं, किन्तु ऋग्वेद (१०।१३६।१) में सूर्य तथा सौरमण्डल के साथ सम्बन्ध रखनेवाले सभी नक्षत्रों को ज्योति नाम से प्रकट किया गया है। इसी से सिद्ध होता है कि आकाशगत सूर्यमण्डल से सम्बन्ध रखनेवाले नक्षत्रविज्ञान को 'ज्योतिष' कहना चाहिए।

जितने भी श्रेष्ठ कर्म हैं, वे सभी वेद में यज्ञ नाम से अभिहित हैं। प्रत्येक यज्ञीय कर्म काल की किसी-न-किसी सन्धि में सम्पन्न होता है। आर्यजनों की सन्ध्योपासना भी दिन-रात की सन्धिवेला में ही सम्पन्न होती है। काल का ज्ञान पृथिवी से सम्बन्ध रखनेवाले सूर्य, चन्द्रमा आदि की गति पर निर्भर करता है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने पार्थिव पदार्थों के ज्ञान के साथ-साथ नक्षत्रविद्या का सम्पादन ठीक समझा।

ऋग्वेद (१।१६१।४७) में सूर्य की ६-६ मासवाली दोनों परिधियों के द्वारा उत्तरायण और दक्षिणायन का ज्ञान मिलता है। वहीं (१।१०५।१८) चन्द्रमा की गति से बननेवाले शुक्लपक्ष का उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद (१३।२५, १४।१३, १४।१५, १४।२१, १५।५७) में छहों ऋतुओं

---

१. 'ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरी०' मन्त्र से।

२. 'ओं भूरग्नये०' आदि ४ मन्त्रों से।

३. मन्त्रब्रा० १।५।१४॥

वर्गों के आरम्भ के दो-दो अक्षर छोड़के तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और य र ल व—ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें*। जैसे—देव अथवा जयदेव। ब्राह्मण हो तो देवशर्मा, क्षत्रिय हो तो देववर्मा, वैश्य हो तो देवगुप्त और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि और जो स्त्री हो तो एक तीन वा पाँच अक्षर का नाम रक्खे—श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि। नामों को प्रसिद्ध बोलके, पुनः "**असौ**" पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नाम धरके पुनः (**ओम् कोऽसि०**) ऊपर लिखित मन्त्र बोलना।

*** ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म—ये स्पर्श और य, र, ल, व—ये चार अन्तःस्थ और ह एक ऊष्मा, इतने अक्षर नाम में होने चाहिए और स्वरों में से कोई भी स्वर हो। जैसे—भद्रः, भद्रसेनः, देवदत्तः, भवः, भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, हरिदेवः इत्यादि। पुरुषों का समाक्षर नाम रखना चाहिए तथा स्त्रियों का विषमाक्षर नाम रक्खे। अन्त्य में दीर्घ स्वर और तद्धितान्त[१] भी होवे। जैसे—श्रीः, ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी, सौभाग्यवती, कल्याणक्रोडा इत्यादि, परन्तु**

का वर्णन है। ऋग्वेद (१।१६४।११) में सूर्य की परिक्रमा करने के लिए पृथिवी का घूमना और उससे दिन-रात एवं १२ महीनों का बनना लिखा है। वहीं (१।१६४।२-१३ व ४८) संवत्सर का पूरा ब्यौरा दिया है। जिस रेखा पर पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती है उस रेखा-पथ का नाम वैदिक परिभाषा में 'वैश्वानरपथ' है। अथर्ववेद में वैश्वानरपथ का निर्देश करते हुए उत्तर और दक्षिणी ध्रुवों में ६-६ महीने के दिन-रात होने का संकेत मिलता है।

ऋग्वेद (५।४०।५, ६, ९) में सूर्यग्रहण का वर्णन करते हुए ग्रहण की ठीक-ठीक परीक्षा करने के लिए एक तुरीय ब्रह्म आर्थात् तुरीय यन्त्र (Telescope) का भी उल्लेख हुआ है। वहीं (१।११०।१८) में क्रान्तिवृत्त एवं विषुवृत्त के कोणवृत्त और १०।२६।४ में पृथिवी के अक्ष (Axis) के विषय में बताया है। अथर्व (१८।८।१) में उन नक्षत्रों का वर्णन है जिनपर चन्द्रमा की गति का प्रभाव पड़ता है।

नक्षत्रविद्या के द्वारा हम नक्षत्रों की स्थिति, एक-दूसरे से उनकी दूरी और गति के आधार पर कालगणना करके ऐतिहासिक घटनाओं का कालक्रम निर्धारित कर सकते हैं। जब महाभारत युद्ध हुआ तब अमुक-अमुक नक्षत्र अमुक-अमुक स्थिति में थे, उनकी यह स्थिति कब थी—इसका ज्ञान होने पर हम महाभारत-काल का निश्चय कर सकते हैं। ज्योतिश्शास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने गीता में आये "**मासनां मार्गशीर्षोऽहमृतुनां कुसुमाकरः**" के आधार पर ही महाभारत-काल का निश्चय किया था। लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक ने मृगशिरा नक्षत्र की स्थिति को लक्ष्य कर वेदों का काल निर्धारित करने की कल्पना की थी। ज्योतिष की सहायता से ही हम प्रकृति में होनेवाली घटनाओं—ऋतुओं, सूर्य व चन्द्रग्रहण आदि का पूर्वानुमान कर सकते हैं।

चारों वेदों में सैकड़ों मन्त्रों में काल-ज्ञान के लिए पृथिवी से सम्बन्ध रखनेवाले सूर्यमण्डल आदि सभी नक्षत्रों, उनकी नियमित गतियों और उनके परिणामों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार ज्योतिषश्शास्त्र में परीक्षणों पर आधारित वैदिक सचाइयों का प्रतिपादन करनेवाले नक्षत्रविज्ञान का वेदों में विस्तृत वर्णन मिलता है। वस्तुतः नक्षत्रविद्या को जाने बिना वेद के पूरे रहस्यों को नहीं समझा जा सकता। इसीलिए ज्योतिषश्शास्त्र को वेदाङ्ग के रूप में मान्यता देकर उसके ज्ञान की

१. 'स्त्रियै तद्धितम्' (द्र०—पृ०१२५ दि० ३)।

अपेक्षा की गई है। ज्योतिष में वसिष्ठमुनिकृत 'सूर्यसिद्धान्त' आर्षरचना होने से परम प्रमाण है।

वेद में उपलब्ध सम्पूर्ण ज्ञान मनुष्य के लिए है। सृष्टि में जो कुछ है वह मनुष्य के उपयोग के लिए है। वह क्या है, कैसा है और किस रूप में उसके लिए उपयोगी है, सृष्टि के आदि में मनुष्य को यह सब बतलाने के लिए ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। पृथिवी से आगे जगत् और भी है। नक्षत्र उसी के अन्तर्गत हैं। यदि उनसे हमें कुछ लेना-देना न होता तो हमारे साथ उनका परिचय कराने की क्या आवश्यकता थी? परमात्मा ने हमें नक्षत्रों की जानकारी दी, इससे स्पष्ट है कि उनका हमारे व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध है। हमारे पड़ोसी देशों में जो कुछ होता है उसका प्रभाव हमारे देश और उसकी जनता पर पड़े बिना नहीं रहता। चन्द्रमा को किसी समय पृथिवी से छिटककर अलग हुआ बताया जाता है। पृथिवी को भी सूर्य से कटकर बना बताया जाता है। इनकी तुलना भारत से कटकर बने पाकिस्तान से और कालान्तर में पाकिस्तान से कटकर बने बांगला देश से की जा सकती है। समष्टिरूप सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक है, किसी-न-किसी रूप में सभी भाग एक-दूसरे से जुड़े हैं और इसलिए एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। नौ करोड़ मील दूरी पर स्थित सूर्य में विकार आने पर पृथिवी का वातावरण दूषित हो जाता है—एक-बारगी प्रलयकाल का दृश्य उपस्थित हो जाता है। सूर्य और चन्द्र का तो प्राणिजगत् पर प्रभाव प्रत्यक्ष है। अन्यान्य नक्षत्रों का प्रभाव भी होना सम्भव है, भले ही हम उसे अनुभव न कर सकें। सम्भवतः इसीलिए तिथि व नक्षत्रविशेष में जन्म लेनेवाले व्यक्ति के लिए कुछ वस्तुएँ ग्राह्य और कुछ निषिद्ध होती हैं।

परन्तु जैसे यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही ये नक्षत्र जड़ हैं। मनुष्यों का सुखी-दुःखी होना उनके अपने पाप-पुण्य के फलस्वरूप है। किसी से प्रसन्न होकर उसे सुख-समृद्धि प्रदान करने अथवा कुपित होकर उसे हानि पहुँचाने का सामर्थ्य इन जड़ पदार्थों में नहीं है। इसलिए जहाँ वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित ज्योतिष सर्वथा सत्य एवं उपोदय है, वहाँ फलित ज्योतिष अन्धविश्वास पर आधारित होने के कारण बैठे-बिठाये मनुष्यों को विपत्ति में फँसानेवाला है। इस सन्दर्भ में विश्व के १८६ वैज्ञानिकों तथा खगोलविदों का वह वक्तव्य द्रष्टव्य है जो American Humanist Association की पत्रिका "Humanist" के सितम्बर-अक्तूबर के अंक में प्रकाशित हुआ है। इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करनेवाले १८६ वैज्ञानिकों में विभिन्न विद्याओं में नोबल पुरस्कार से सम्मानित १८ वैज्ञानिक (Sir Peter Medawar Linus Pauling, Paul Samvelson, J. Timbergen, Wassily Leontief, George Wald, Sir John Eccles etc.) सम्मिलित हैं—यह वक्तव्य नई दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान' टाइम्स के १४ सितम्बर १९७५ के अंक में इस प्रकार उद्धृत हुआ है—

"In ancient times people believed in the predictions and advice of astrologers because astrology was part and parcel of their magical world. They locked upon celestial objects as abodes of the gods and thus intimately connected with events here on earth. It is simply a mistake to imagin that the forces exerted by the stars and planets at the time of birth can in any way shape our futures. Neither it is true that the position of distant heavenly bodies makes certain days and periods more favourable to certain kinds of actions or that the signs under which one was born determines one's compatability with other people. Such things can only contribute to the growth of irrationalism or obscurantism. We believe the time has come to challenge directly and forcefully the irrationalism

ओं स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्ध-मासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जराये परिददातु, असौ[1] ॥

इन मन्त्रों से बालक को जैसा जातकर्म में लिख आये हैं वैसे आशीर्वाद देवें।

स्त्रियों के जिस प्रकार के नाम कभी न रक्खे, उसमें प्रमाण—

'नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्। न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्'॥ —मनु० ३।९

(नक्षत्र) रोहिणी, रेवती इत्यादि (वृक्ष) चम्पा, तुलसी इत्यादि (नदी) गङ्गा, यमुना, सरस्वती इत्यादि (अन्त्य) चाण्डाली इत्यादि (पर्वत) विन्ध्याचला, हिमालया इत्यादि (पक्षी) कोकिला, हंसा इत्यादि (अहि) सर्पिणी, नागी इत्यादि (प्रेष्य) दासी, किंकरी इत्यादि (भयंकर) भीमा, भयंकरी, चण्डिका इत्यादि नाम निषिद्ध हैं। —द०स०

---

and obscurantism, the pretentions and claims of astrological charlatans."

अर्थात् प्राचीन काल में लोग भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे, क्योंकि ज्योतिष उनके चमत्कार-जगत् का अनिवार्य अंग था। वे आकाशीय पदार्थों को देवी-देवताओं के आवास के रूप में मानते थे, परन्तु किसी व्यक्ति के जन्म के समय इन नक्षत्रों के प्रभाव की कल्पना करना भूल होगी। हमारे भविष्य के निर्धारण में इन नक्षत्रों का कोई हाथ नहीं हो सकता। यह भी सत्य नहीं है कि इन दूरस्थ आकाशीय नक्षत्रों की स्थितिविशेष के कारण किसी व्यक्ति के कार्यों अथवा उसकी गतिविधियों के लिए कुछ दिवस या वार या अवधिविशेष अनुकूल होते हैं। यह भी सत्य नहीं है कि जन्म के समय के कुछ लक्षण उसे कुछ लोगों के अनुकूल बनाने में सहायक होते हैं। ऐसी बातें अज्ञान और अन्धविश्वासों को बढ़ावा देती हैं। हम समझते हैं कि अब समय आ गया है कि ज्योतिष के नाम पर किये जानेवाले दोषों को बलपूर्वक सीधी चुनौती दी जाए।

इस वक्तव्य से ग्रन्थकार के सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में जन्मपत्री-सम्बन्धी विचारों को बल मिलता है कि जड़ होने से नक्षत्रादि किसी का हिताहित नहीं कर सकते।

ग्रन्थकार सामान्य सुधारक न होकर एक युगप्रवर्त्तक क्रान्तिकारी थे। सुधारक सुनार की चोट करता है तो क्रान्तिकारी लोहार की। सम्भवतः निरर्थक या अपार्थक नाम रखने की कुप्रथा को रोकने के लिए ही उन्होंने मनु द्वारा प्रतिपादित विधान के अनुसार दोषी माता-पिता को दण्डित करने के लिए इस कठोर दण्ड-व्यवस्था का अनुमोदन किया कि इस प्रकार के नामोंवाली लड़कियों के साथ कोई विवाह न करे। परिस्थिति की विषमता को देखते हुए कालान्तर में धर्माचार्यों ने इस दण्ड को शिथिल करने के विचार से यह व्यवस्था दी होगी कि विवाह के समय या उससे पूर्व ऐसी लड़की का नाम बदल दिया जाया करे। इस स्थिति में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है।

बच्चे को माता-पिता-माता की गोद में देना—पहले माता बच्चे को पिता की गोद में दे, फिर पिता बच्चे को माता की गोद में दे देवे। इस विधि को करने के पश्चात् एक घृताहुति **'ओं प्रजापतये स्वाहा'** बोलकर दी जाती है। इसका आशय यह है कि वास्तव में तो सन्तान का निर्माण जगत्पिता=परमपिता प्रजापति (वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम—यजुर्वेद) ने ही किया है, इसलिए यह

---

१. 'असौ' के स्थान में सम्बोधनान्त नाम बोले।

इस प्रमाणे बालक का नाम रखके संस्कार में आये हुए मनुष्यों को वह नाम सुनाके पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे **महावामदेव्य गान** करें। तत्पश्चात् कार्यार्थ आये हुए मनुष्यों को आदर-सत्कार करके विदा करे और सब लोग जाते समय पृष्ठ ३६-४२ में लिखे प्रमाणे परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना[१] करके बालक को आशीर्वाद देवें कि—

"हे बालक! त्वमायुष्मान् वर्च्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः।"

हे बालक! [तू] आयुष्मान्, विद्यावान्, धर्मात्मा, यशस्वी, पुरुषार्थी, प्रतापी, परोपकारी, श्रीमान् हो॥

॥ इति नामकरणसंस्कारविधिः समाप्तः॥

उसी की सन्तान है, उसकी प्रतिनिधिरूप माता को सौंपी जाती है। इसी भावना को समस्त उपस्थित जनों के सामने माता-पिता आहुति देते हुए व्यक्त करते हैं।

नासिका-द्वार की वायु का स्पर्श—बच्चे का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने और हँसाने के लिए पिता बालक के नासिका-द्वार को धीरे से स्पर्श करता है। यह सबके अनुभव का विषय है कि जब भी कोई किसी बालक को स्नेहसिक्त होकर अपनी गोद में लेता है तब वह उसके ओष्ठ और नासिका के अग्रभाग को बड़े हल्के से तनिक-सा दबाता है तब बालक उसकी ओर देखते हुए मुस्करा देता है। बच्चे को और उपस्थित जनों को उसके नाम का परिचय इसी स्थिति में दिया जाता है।

पाश्चात्यों में इस प्रकार के अवसरों पर चुम्बन का प्रचलन है। यह उचित नहीं है, क्योंकि चुम्बन से अनेक प्रकार के रोग संक्रान्त होने का भय रहता है। हस्तस्पर्श या बच्चे का मस्तक सूँघना ही श्रेयस्कर है।

---

१. 'ओम् विश्वानि देव०' आदि आठ मन्त्रों से।

अथ निष्क्रमणसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'निष्क्रमण' संस्कार उसको कहते हैं कि जो बालक को घर से जहाँ का वायु, स्थान शुद्ध हो, वहाँ भ्रमण कराना होता है। उसका समय जब अच्छा देखें तभी बालक को बाहर घुमावें। अथवा चौथे मास में तो अवश्य भ्रमण करावें। इसमें प्रमाण—

चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति—तच्चक्षुरिति॥

यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का वचन है॥[1]

जननाद्यस्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम्॥[2]

यह पारस्करगृह्यसूत्र[2] में भी है॥

अर्थः—निष्क्रमण-संस्कार के काल के दो भेद हैं—एक बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया और दूसरा चौथे महीने में जिस तिथि में बालक का जन्म हुआ हो उस तिथि में यह संस्कार करे।

उस संस्कार के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान करा, शुद्ध-सुन्दर वस्त्र पहनावे। पश्चात् बालक को यज्ञशाला में बालक की माता ले-आके पति के दक्षिण

'निष्क्रमण' का अर्थ है—घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर खुले वातावरण में आना। शरीर और मन के विकास के लिए शुद्ध और ताज़ी हवा तथा प्रकाश नितान्त आवश्यक हैं और ये घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर ही उपलब्ध हो सकते हैं। बन्द कमरों में बिजली की रोशनी और पंखों की हंवा में काम करनेवालों की तुलना में खुली हवा में साँस लेनेवाले और उसी में अपना अधिक- से-अधिक समय बितानेवाले कहीं अधिक हृष्ट-पुष्ट और नीरोग मिलेंगे। इसलिए बालक और उसकी माता के दीर्घ जीवन और स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर के लिए आवश्यक है कि उन्हें सूर्य की जीवनदायिनी शक्ति और पेड़-पौधों से प्राप्त होनेवाली स्वच्छ वायु सेवन करने का अवसर मिले। वनों में वास करनेवाले ऋषि-मुनियों की दीर्घायु का भी सबसे बड़ा कारण यही था। दीर्घायु ही नहीं—**"उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽअजायत॥"** (यजुः० २६।१५)। इन स्थानों में स्वभावतः विशालता और प्रसन्नता की प्राप्ति होने से पहाड़ों और नदियों के संगम अनेक दृष्टियों से बड़े लाभप्रद सिद्ध होते हैं। गर्भावस्था में जब बालक अपना पोषण जननी से ही प्राप्त करता है, शिशु को जन्म देने से पूर्व उसे (जननी को) बड़े-बड़े विशाल भवनों से दूर ऋषि-मुनियों के वनस्थ आश्रमों में भेजने की परम्परा इस देश में रही है।

---

१. यह पार० गृह्य० १।१७।५-६ का वचन है। आश्वलायनगृह्य० में निष्क्रमण-संस्कार का विधान नहीं है। किसी अर्वाचीन भट्ट कुमारिल स्वामी ने 'आश्वलायनगृह्यकारिका' लिखी है। उसमें निष्क्रमण-संस्कार का उल्लेख कारिकासंख्या १३७-१४० तक जयन्त के मत से किया है।

२. यह गोभिलगृह्य० २।८।१ का वचन है।

पार्श्व में होकर पति के सामने आकर बालक का मस्तक उत्तर और छाती ऊपर अर्थात् चित्ता रखके पति के हाथ में देवे, पुनः पति के पीछे की ओर घूमके बाएँ पार्श्व में पूर्वाभिमुख बैठे।

ओं यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ।
वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम्॥ १॥
ओं यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम्॥ २॥
ओम् इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै[१] मे प्रजापती।
यथायं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि॥ ३॥[२]

इन तीन मन्त्रों से परमेश्वर की आराधना करके पृष्ठ ३६-६० में लिखे प्रमाणे **परमेश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** आदि और सामान्यप्रकरणोक्त समस्त[३] विधि कर और पुत्र को देखके इन निम्नलिखित तीन मन्त्रों से पुत्र के शिर का स्पर्श करे—

निष्क्रमणसंस्कार उसी का प्रतीक है।

इसे नियमितरूप से आरम्भ करने के लिए ऋषियों ने समय के दो विकल्प दिये हैं। जो बालक हृष्ट-पुष्टाङ्ग हो उसके लिए जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया निर्धारित की है। शुक्लपक्ष की तृतीया अभ्युदयारम्भ की सूचक है। दूज का चाँद तो नाममात्र दिखाई देता है। तृतीया में इस बात का संकेत है कि आज बालक बाहर निकला है, इसका उत्तरोत्तर अभ्युदय होता रहे। इससे पूर्व सामान्यतः बालक निष्क्रमण के योग्य नहीं होता। इसलिए यह न्यूनतम अवधि है। अधिकतम अवधि चार मास है। जन्मतिथि सम्भवतः विकासक्रम में एक पड़ाव की सूचक है। दोनों समय गृह्यसूत्रों के अनुसार हैं। ग्रन्थकार ने इस विषय में बड़ी उदारता से काम लिया है और इसे माता-पिता के विवेक पर छोड़ते हुए लिखा है—''जब अच्छा देखें तभी''।

चार मास की अधिकतम सीमा अपेक्षाकृत निर्बल वा कृशकाय बालक के लिए है। इसके बाद भी बालक बाहर न निकले तो उसके स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ सकता है। बाहर की स्वच्छ वायु और उन्मुक्त वातावरण उसे मिलने ही चाहिएँ। यह सबके आये दिन के अनुभव का विषय है कि बालक स्वयं हर समय घर से बाहर निकलने का आग्रह करता है और सफलता मिलने पर किलकारियाँ भरने लगता है। मानो, इसके लिए उसे प्रकृति से प्रेरणा मिलती है। इसके लिए भीड़-भाड़वाले, किन्तु सुनियोजित, बड़े नगरों में आबादी के बीच जगह-जगह पार्क बनाये जाते हैं, जिससे आस-पास के लोगों को कुछ-न-कुछ समय खुली हवा में साँस लेने की सुविधा मिले।

निष्क्रमण संस्कार में जितने मन्त्र पढ़े जाते हैं उनका उपसंहार **'त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः'** के साथ होता है, अर्थात् माता-पिता तथा उपस्थित बन्धु-बान्धवों की यह हार्दिक कामना होती है कि निरन्तर उन्नति करते हुए यह बालक सौ वर्ष तक जिये और इस सबका मूल है—'तच्चक्षुर्देवहितं..........शरदः शतात्'। इस मन्त्र में 'शरदः शतम्' ही नहीं, 'भूयश्च शरदः शतात्'—सौ वर्ष

१. यहाँ 'प्रजायै मे' पाठ त्रुटित है। मन्त्रपाठानुसार बढ़ाया गया है। यही पाठशुद्धि जातकर्म-संस्कार में भी द्रष्टव्य है।

२. मन्त्रब्रा० १।५।१०-१२॥

३. समस्त विधि से तात्पर्य अग्न्याधान से लेकर आघारावाज्यभागाहुति तथा व्याहृति आहुतिपर्यन्त है।

ओम् अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥ १॥

ओं प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि। सहस्रायुषाऽसौ[१] जीव शरदः शतम्॥ २॥

गवां त्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि। सहस्रायुषाऽसौ[१] जीव शरदः शतम्॥ ३॥[२]

तथा निम्नलिखित मन्त्र बालक के दक्षिण कान में जपे—

अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः।

अस्मे शतꣳ शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्॥ १॥[३]

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।

पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनाꣳ स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥ २॥[४]

इस मन्त्र को वाम कान में जपके पत्नी की गोद में उत्तर दिशा में शिर और दक्षिण दिशा में पग करके बालक को देवे और मौन करके स्त्री[५] के शिर का स्पर्श करे। तत्पश्चात् आनन्दपूर्वक उठके बालक को सूर्य का दर्शन करावे और निम्नलिखित मन्त्र वहाँ बोले—

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥[६]

से भी अधिक काल तक जीने की प्रार्थना की गई है और जीना भी कैसा? जबतक जिएँ, आँख, कान, वाणी अर्थात् शरीर के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग भली प्रकार कार्य करते रहें और यह प्रार्थना दिन में सूर्य को और रात्रि में चन्द्रमा को लक्ष्य करके की गई है। सन्ध्या में पढ़े जानेवाले इससे पहले मन्त्र में सूर्य को चराचर जगत् का आत्मा कहा गया है—**'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'।**

वस्तुतः संसार में जितनी भी शक्ति है उसका उद्गम सूर्य है। इसलिए सब प्रकार का जीवन और शक्ति (Solar energy) पर आश्रित है। वनस्पति तथा प्राणी का जीवन सौर शक्ति के कारण ही बना रहता है। यही हमारी सृष्टि का जीवनाधार है। सूर्य के बिना न प्रकाश मिलेगा, न वर्षा होगी, न फ़सल पकेगी, न वनस्पति पकेगी, न फलों में रस होगा। कभी-कभी थोड़ी-सी देर तक रहनेवाले लगभग पूर्ण सूर्यग्रहण के समय बड़ा भयावह दृश्य उपस्थित हो जाता है। सूर्य के अत्यन्ताभाव की कल्पना करके तो जी काँप उठता है।

विश्व का नियन्त्रण दो ही तत्त्व करते हैं—उष्णता तथा शीतलता। उष्णता—शरीर में गर्मी—जीवन का चिह्न है जबकि गर्मी की कमी—शरीर का ठण्डा पड़ जाना मृत्यु का चिह्न है। सूर्य का दर्शन बालक को जीते रहने और प्रगति करने की प्रेरणा देता है। चन्द्र का काम शीतलता प्रदान करना है। अत्यधिक गर्मी भी हानि पहुँचाती और मृत्यु का कारण बन जाती है। आगे चलकर रात्रि में बालक को चन्द्रमा के दर्शन कराये जाते हैं। 'चदि आह्लादे' धातु से चन्द्र शब्द बनता है, इसलिए आनन्द देनेवाले को चन्द्र कहते हैं। चन्द्रमा तो बालकमात्र का मामा है, जिसे वे सब बड़े प्यार

---

१. 'असौ' पद के स्थान में सम्बोधनान्त नाम बोले।

२. पार० गृह्य० १।१८।२-४॥ यहाँ टीका भी देखें।

३. पार० गृह्य० १।१८।४॥ स्वर ऋ० ३।३६।१० के अनुसार हैं।

४. पार० गृह्य० १।१८।५॥ स्वर ऋ० २।२१।६ के अनुसार हैं।

५. 'स्त्री' से तात्पर्य कन्या से है। कन्या के शिर का स्पर्श ही करे। कर्ण में जप न करे, ऐसा पारस्कर-गृह्य० के टीकाकारों का मत है।

६. यजुर्वेद ३६।२४॥

इस मन्त्र को बोलके थोड़ा-सा शुद्ध वायु में भ्रमण कराके यज्ञशाला में लावे। सब लोग—

"त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः"॥

इस वचन को बोलके आशीर्वाद देवें।

तत्पश्चात् बालक के माता और पिता संस्कार में आये हुए स्त्रियों और पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें।

तत्पश्चात् जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो, तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहना दहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके देवे और बालक की माता दाहिनी ओर से लौटकर बाईं ओर आ, जल की अञ्जलि भरके चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रहके—

ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम्।
तदहं विद्वाꣳस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम्॥[1]

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे[2]।

से पुकारते और देखते ही प्रफुल्लित हो उठते हैं।

चन्द्रमा का दर्शन कराते समय 'यददश्चन्द्रमसि०' इस मन्त्र से चन्द्रमा के सामने खड़े होकर अंजलि में भरे जल को पृथिवी पर छोड़ने का निर्देश किया गया है। यह आपाततः एक पौराणिक कृत्य प्रतीत होता है, जिसमें मूर्त्तिपूजा का भ्रम होता है, परन्तु मूर्त्तिपूजा की जड़ों पर कुठाराघात करनेवाले और बहुदेवपूजा के परम विरोधी दयानन्द मूर्त्तिपूजा का विधान कैसे कर सकते हैं? वस्तुतस्तु जल छोड़ने के निर्देश के साथ ही ग्रन्थकार ने लिखा है—-

(१) इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे।

(२) इसी मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके............।

जब स्तुति-प्रार्थना परमात्मा से करने का स्पष्ट निर्देश किया जा रहा है तो जड़ चन्द्र की पूजा में इस मन्त्र का विनियोग हुआ कैसे माना जा सकता है? यह तो यज्ञ की एक विधि है। विवाह में स्त्री और पुरुष के वस्त्रों में गठजोड़ा किया जाता है। वास्तव में वहाँ इस क्रिया से उन दोनों के हृदयों को जोड़ना अभिप्रेत है। विवाह में इसी प्रकार शिलारोहण, ध्रुव एवं अरुन्धती-दर्शन आदि पतिव्रतधर्म में दृढ़ता के परिचायक हैं।

जल और चन्द्रमा का घनिष्ठ सम्बन्ध शास्त्रसम्मत और विज्ञान-प्रतिपदित है। लोक में तो यह प्रत्यक्ष ही है कि शुक्लपक्ष की पूर्णमासी को चाँद की चाँदनी में समुद्र उछलता है और ज्यों-ज्यों चन्द्रकलाएँ घटती जाती हैं त्यों-त्यों समुद्र के उछलने में कमी आती जाती है। यही बात लक्ष्य में रखकर चन्द्रमा की ओर जल छोड़ने को लिखा है। तात्पर्य यह है कि जैसे इस जल और चन्द्र का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, वैसे ही इस बालक का हमारे साथ सदा घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहे।

---

१. मन्त्रब्रा० १।५।१३॥

२. इस विधि का सम्बन्ध पृथिवी की जलमयी अवस्था में चन्द्रमा का पृथिवी से पृथक् होने के साथ है, अर्थात् जैसे पृथिवीरूपी माता से उत्पन्न चन्द्र अपनी माता पृथिवी के साथ सदा रहता है, उसी प्रकार हमारे पुत्र का हमारे साथ वियोग न होवे। यही भाव इस कर्म में विनियुक्त मन्त्र का है।

तत्पश्चात् बालक की माता पुनः पति के पृष्ठ की ओर से पति के दाहिने पार्श्व से सम्मुख आके पति से पुत्र को लेके पुनः पति के पीछे होकर बाईं ओर आ बालक का उत्तर की ओर शिर दक्षिण की ओर पग रखके खड़ी रहे और बालक का पिता जल की अञ्जलि भर (ओम् यददश्च०) इसी मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके जल को पृथिवी पर छोड़के दोनों प्रसन्न होकर घर में आवें।

॥ इति निष्क्रमणसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

मन्त्रार्थ का सार-संक्षेप

यत्ते सुसीमे०—यत् पृथिव्या०—इन्द्राग्नि शर्म०=जातकर्म में देखें।

अङ्गादङ्गात्०=जातकर्म में देखें।

प्रजापतेष्ट्वा०—गवां त्वा०=जैसे गौ अपने बछड़े को हिंकार से (हिं-हिं करके) प्रेमवश सूँघती है, वैसे मैं अपनी तथा प्रजापति परमेश्वर की ओर से तुझे सूँघता हूँ और तेरे सौ वर्ष जीने की कामना करता हूँ।

अस्मे प्रयन्धि०—इन्द्र श्रेष्ठानि०=जातकर्म में देखें। **यददश्चन्द्रमसि०**=जातकर्म में देखें।

अथान्नप्राशनविधिं वक्ष्यामः

'अन्नप्राशन' संस्कार तभी करे जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य होवे। इसमें आश्वलायनगृह्यसूत्र का प्रमाण—

षष्ठे मास्यन्नप्राशनम्॥ १॥ घृतौदनं तेजस्कामः॥ २॥ दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत्॥ ३॥[1]

इसी प्रकार पारस्करगृह्यसूत्रादि में भी है॥

छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे। जिसको तेजस्वी बालक करना हो, वह घृतयुक्त भात अथवा दही, सहत और घृत तीनों भात के साथ मिलाके निम्नलिखित विधि से अन्नप्राशन करावे, अर्थात् पूर्वोक्त पृष्ठ ३६-४८ में कहे हुए सम्पूर्ण विधि[2] को करके जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो, उसी दिन यह संस्कार करे और निम्न लिखे प्रमाणे भात सिद्ध करे—

ओम् प्राणाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ १॥

ओम् अपानाय त्वा०[3] **॥ २॥**

ओम् चक्षुषे त्वा०॥ ३॥

ओम् श्रोत्राय त्वा०॥ ४॥

ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा०॥ ५॥

इन पाँच मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि चावलों को धो, शुद्ध करके अच्छे प्रकार बनाना और पकते हुए भात में यथायोग्य घृत भी डाल देना।

अन्नप्राशन-संस्कार का समय तो प्रकृति ने स्वतः निर्धारित किया हुआ है। जब बच्चा अन्न पचाने योग्य हो जाए तभी अन्नप्राशन का समय है। अन्न पचाने की स्थिति तब होगी जब पेट में जाने से पहले मुँह से चबाया या पीसा जा सकेगा। वह दाँतों के बिना नहीं होगा। दाँत छठे महीने में निकलने लगते हैं। वही अन्नप्राशन का समय है—**'षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च'** (सुश्रुत १०।४९)—छठे मास में बालक को थोड़ा और हितकर अन्न खिलाये। छठे मास में अन्नप्राशन का विधान अवश्य है, किन्तु यदि कुछ मास और टाल दिया जाए तो और उत्तम है। जितने अधिक दिनों तक माता का दूध तथा उसके अभाव में या अपर्याप्त होने के कारण गाय या बकरी का दूध दिया जा सके, बालक उतना ही पुष्ट और स्वस्थ होता है। छह मास की अवधि कम-से-कम है।

एक वर्ष के बालक की संज्ञा 'क्षीरपा' (दूध पीनेवाला), दो वर्ष के बालक की 'क्षीरान्नाद' (दूध और अन्न खानेवाला) और तदनन्तर 'अन्नाद' (अन्न खानेवाला) होती है। यह स्थिति क्रमशः

---

१. आश्व० गृह्य० १।१६।१, ४, ५॥

२. यहाँ सम्पूर्ण विधि से तात्पर्य स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण पर्यन्त है। अग्न्याधानादि का आगे उल्लेख किया है।

३. इसके आगे 'जुष्टं प्रोक्षामि' अंश सब मन्त्रों में पढ़ना चाहिए।

जब चावल अच्छे प्रकार पक जावें, तब उतार थोड़े ठण्डे हुए पश्चात् होमस्थाली में—

ओम् प्राणाय त्वा जुष्टं निर्वपामि ॥ १ ॥

ओम् अपानाय त्वा०[1] ॥ २ ॥

ओम् चक्षुषे त्वा० ॥ ३ ॥

ओम् श्रोत्राय त्वा० ॥ ४ ॥

ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा० ॥ ५ ॥

इन पाँच मन्त्रों से कार्यकर्त्ता यजमान और पुरोहित तथा ऋत्विजों को पात्र में पृथक्-पृथक् देके पृष्ठ ५५-५७ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधानादि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति[2] ४ [चार] और व्याहृति आहुति[3] ४ [चार] मिलके ८ घृत की आहुति देके, पुनः उस पकाये हुए भात की आहुति नीचे लिखे हुए मन्त्रों से देवे—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु स्वाहा॥ इदं वाचे—इदन्न मम॥ १ ॥[4]
वाजो नोऽअद्य प्र सुवाति दानं वाजो देवाँऽ ऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वाऽआशा वाजपतिर्जयेयꣳ स्वाहा॥
इदं वाचे[5] वाजाय—इदन्न मम॥ २ ॥[6]

आनी चाहिए। दूध से एकदम अन्न पर नहीं आना चाहिए। धीरे-धीरे क्रमशः दूध की मात्रा में कमी और अन्न की मात्रा में बढ़ोतरी होती जानी चाहिए, अन्यथा उदर में विकार हो सकता है। आश्वलायन-गृह्यसूत्र (१।१६।५) के अनुसार आरम्भ 'दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत्' दही, शहद और घी के मिश्रण से होना चाहिए। देखा गया है कि जिन देशों में दही का प्रयोग अधिक होता है वहाँ के लोग अधिक स्वस्थ और दीर्घजीवी होते हैं।

परन्तु जो बालक माता के दूध पर रहते हैं उनकी सीमा बाँधना आवश्यक है। जैसे प्रकृति ने दाँत न होने के दिनों में माता के स्तनों में दूध की व्यवस्था की है, वैसे ही शास्त्र ने बालक के दाँत निकलने पर उसके लिए अन्नप्राशन का विधान किया है। मनुष्य और मनुष्येतर सब प्राणियों का जीवन इसी प्रकार नियन्त्रित रहता है—पश्वादि का प्रकृति द्वारा और मनुष्य का समाज द्वारा।

---

१. इसके आगे 'जुष्टं निर्वपामि' अंश सब मन्त्रों में पढ़ना चाहिए।

२. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

४. ऋग० ८।१००।११॥

५. पारस्कर के हरिहरादि टीकाकारों ने 'देवीं वाचं०' से प्रथम आहुति और पुनः 'देवीं वाचं०' के साथ 'वाजो नो०' मन्त्र बोलकर दो मन्त्रों से दूसरी आहुति का विधान किया है। अतएव उन्होंने द्वितीय मन्त्र में 'इदं वाचे वाजाय' से त्याग का विधान किया है। यहाँ दूसरी आहुति 'वाजो नो०' मन्त्र से ही दर्शाई है, अतः यहाँ केवल 'इदं वाजाय' ही त्याग होना चाहिए। अथवा 'इदं वाचे वाजाय' त्याग-विधान सामर्थ्य से द्वितीय आहुति में 'देवीं वाचं०' मन्त्र भी पुनः बोलना चाहिए।

६. यजुः० १८।३३॥

इन दो मन्त्रों से दो आहुति देवें। तत्पश्चात् उसी भात में और घृत डालके—

ओं प्राणेनान्नमशीय स्वाहा॥ इदं प्राणाय—इदन्न मम॥ १॥

ओम् अपानेन गन्धानशीय स्वाहा॥ इदमपानाय—इदन्न मम॥ २॥

ओं चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा॥ इदं चक्षुषे—इदन्न मम॥ ३॥

ओं श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा॥ इदं श्रोत्राय—इदन्न मम॥ ४॥[१]

इन मन्त्रों से ४ चार आहुति देके (ओं यदस्य कर्मणो०) पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाण स्विष्टकृत् आहुति एक देवे। तत्पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति[२] ४ [चार] और पृष्ठ ६१-६२ में लिखे प्रमाणे (ओम् त्वन्नो०) इत्यादि से ८ [आठ] आज्याहुति मिलके १२ [बारह] आहुति देवे।

उसके पीछे आहुति से बचे हुए भात में दही, मधु और उसमें घी यथायोग्य किञ्चित्-किञ्चित् मिलाके और सुगन्धियुक्त और भी चावल बनाये हुए थोड़े-से मिलाके बालक के रुचि प्रमाणे—

ओम् अन्न॑पते॒ऽन्न॑स्य नो देह्यनमी॒वस्य॑ शु॒ष्मिण॑ः।
प्रप्र॑ दा॒तारं॑ तारिष॒ऽऊर्जं॑ नो धेहि द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे॥[३]

इस मन्त्र को पढ़के थोड़ा-थोड़ा पूर्वोक्त भात बालक के मुख में देवे। यथारुचि खिला, बालक का मुख धो और अपने हाथ धोके पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करके, जो बालक के माता-पिता और अन्य वृद्ध स्त्री-पुरुष आये हों वे परमात्मा की प्रार्थना करके—

दूध के भीतर मुख्य पोषक तत्त्व चूने (Calcium) का होता है। माँ के दूध पिलाने का अर्थ है कि वह अपने शरीर का कैल्शियम बच्चे को देकर अपने शरीर को क्षीण कर रही है। गर्भवती को तो बच्चे को दूध कदापि नहीं पिलाना चाहिए। सब जानते हैं कि गर्भस्थ शिशु माता से ही पोषण पाता है, अर्थात् उसी के भोजन में हिस्सा बँटाता है। गर्भवती के दूध पिलाने का अर्थ है कि वह एकसाथ अपना, गर्भस्थ शिशु का और दूध पीते बच्चे का पोषण कर रही है। यह तो तीनों, विशेषतः माता के प्रति घोर अन्याय है। न यह व्यावहारिक है और न उचित।

जैमिनिगृह्यसूत्र (१।१०), मानवगृह्यसूत्र (१।२०।२), कौषीतकिगृह्यसूत्र (१।२७।४) सभी ने 'अन्नपतेऽन्नस्य'० इसी मन्त्र को अन्नप्राशन-संस्कार का मूल माना है।

यूँ तो हमारा कोई भी कृत्य यज्ञ के बिना सम्पन्न नहीं होता, किन्तु अन्नप्राशन के लिए तो मानो, विशेषरूप से इसका निर्देश किया है—'अथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्' (अथर्व० ६।११६।१) हे परमात्मन्! यज्ञ के द्वारा प्राप्त हमारा यह अन्न हमारे लिए मधुमत्=मीठा और बल-रसमय हो। पारस्करगृह्यसूत्र में बालक को अनेक पक्षियों का मांस खिलाने का उल्लेख मिलता है। यह निश्चय ही मांसाहारियों द्वारा प्रक्षिप्त है। याज्ञिक पद्धति के अनुसार जो यज्ञ में आहुत होता है वही ऋत्विज और यजमान खाते हैं। जब यज्ञ में घी, भात, खीर आदि की आहुति दी गई है और ऋत्विज आदि सब वही खा रहे हैं तो छह महीने के बालक के लिए मांसाहार की कल्पना कैसे की जा सकती

---

१. द्र०—पार० गृह्य० १।१९।४।
२. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
३. यजुः० ११।८३॥

"त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः॥"

इस वाक्य से बालक को आशीर्वाद देके, पश्चात् संस्कार में आये हुए पुरुषों का सत्कार बालक का पिता और स्त्रियों का सत्कार बालक की माता करके सबको प्रसन्नतापूर्वक विदा करें॥

॥ इत्यन्नप्राशनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

है। फिर जिस संस्कार का नाम ही 'अन्नप्राशन-संस्कार' है, मांसप्राशन नहीं, उसमें बालक को पक्षियों का मांस कैसे खिलाया जा सकता है? यदि कोई यह कहे कि 'अत्तीत्यन्नम्' जो खाया जाए वह अन्न कहाता है। तो खाया तो मल भी जाता है, जैसे कुत्ता, सूअर आदि खाते हैं तो क्या कोई उसे गेहूँ, चावल आदि की श्रेणी में रखकर खाने के लिए तैयार होगा? विभिन्न योनियों में प्रविष्ट प्राणियों का आहार तो सब-कुछ है, किन्तु मनुष्ययोनि में शास्त्रानुमोदित खाद्य ही उसका अन्न कहलाएगा—**'पयः पशूनां रसमोषधीनाम्'**।

अथ चूडाकर्मसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

यह आठवाँ संस्कार 'चूडाकर्म' है, जिसको केशछेदन-संस्कार भी कहते हैं। इसमें आश्वलायन-गृह्यसूत्र का मत ऐसा है—

तृतीये वर्षे चौलम्॥१॥

उत्तरतोऽग्नेर्व्रीहियवमाषतिलानां शरावाणि निदधाति॥२॥[1]

इसी प्रकार पारस्करगृह्यसूत्रादि में भी है—

सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम्॥[2]

इसी प्रकार गोभिलीयगृह्यसूत्र का भी मत है॥

यह चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म के तीसरे वर्ष वा एक वर्ष में करना। उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्द-मङ्गल हो, उस दिन यह संस्कार करे।

चूडाकर्म-संस्कार—इसका प्रचलित नाम मुण्डन-संस्कार है। संस्कृत में चूडा शब्द शिखर या चोटी के लिए प्रयुक्त होता है। 'अस्ताचलचूडावलम्बिनी कुमुदनी' में चूडा शब्द से अस्ताचल का शिखर अभिप्रेत है। मनुस्मृति २।३५ में चूडाकर्म का मुण्डनसंस्कार के अर्थ में प्रयोग हुआ है। हिन्दी का जूड़ा शब्द चूडा का ही अपभ्रंश है।

शिशु जब गर्भ में होता है तभी सिर पर बाल आ जाते हैं। उन मलिन बालों को उस्तरे से साफ़ करा देना नितान्त आवश्यक है। मुण्डन से नये सुन्दर, लम्बे और पुष्ट बाल निकलने में सहायता मिलती है। आरम्भ में थोड़े-थोड़े अन्तराल से बालों पर दो-तीन बार उस्तरा फिरवा देना उपयोगी है। मुण्डन संस्कार लड़के-लड़की दोनों के लिए आवश्यक है। इन बालों के निकल जाने से बालक के सिर की सफ़ाई हो जाती है, जिससे सिर में भारीपन और दर्द नहीं रहता। सिर में खुजली नहीं होती और हो जाए तो उसका उपचार आसान होता है।

चरकसंहिता (सूत्रस्थान ५।९६) में मुण्डन के लाभ इस प्रकार लिखे हैं—

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपविराजनम्। केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं सम्प्रसादनम्॥

केश, दाढ़ी, मूँछ तथा नखों को काटने से पुष्टि, वृषता और आयु की वृद्धि होती है तथा पुरुष पवित्र एवं सुन्दर रूपवाला होता है। 'सम्प्रसादनम्' के स्थान में पाठान्तर 'सम्प्रसाधनम्' स्वीकार करने पर केश आदि के कटवाने से तथा कंघी देने से उपर्युक्त लाभ होता है। सुश्रुत में कंघी के गुण इस प्रकार लिखे हैं—'केशप्रसाधनी केश्या रजोजन्तुमलापहा' अर्थात् कंघी बालों के लिए बड़ी हितकर है। वह बालों में स्थित धूल, जूँ, लीख आदि जन्तु एवं मैल को दूर करती है।

आयुर्वेदनिष्णात प्राचीन ऋषियों ने रोग-निवृत्ति, आयुवृद्धि, शारीरिक पुष्टि आदि अनेक हेतुओं से इस मुण्डन-संस्कार का विधान किया है।

यूँ तो अपनी-अपनी जगह शरीर के सभी अंग महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु मस्तिष्क का आवास होने से

---

१. आश्व० गृह्य० १।१७।१, २॥ २. पार० गृह्य० २।१।१॥

विधि—आरम्भ में पृष्ठ ३६–६३ में लिखित विधि करके चार शरावे ले, एक में चावल, दूसरे में यव, तीसरे में उर्द और चौथे शरावे में तिल भरके वेदी के उत्तर में धर देवे[१]। धरके[२] पृष्ठ ५८ में लिखे प्रमाणे "**ओम् अदितेऽनुमन्यस्व**" इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन बाजू और पृष्ठ ५९ में लिखे प्रमाणे '**ओम् देव सवितः प्रसुव०**' इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका के, पूर्व पृष्ठ ५६–५७ में लिखित **अग्न्याधान,समिदाधान** कर अग्नि को प्रदीप्त करके जो समिधा प्रदीप्त हुई हो उस पर लक्ष देकर पृष्ठ ५९–६० में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति**[३] ४ [चार] और **व्याहृति आहुति**[४] ४ [चार] और पृष्ठ ६१–६२ में लिखे प्रमाणे ८ आठ **आज्याहुति**[५], सब मिलके १६ सोलह आहुति देके, पृष्ठ ६१ में लिखे प्रमाणे "**ओम् भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०**" इत्यादि मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति प्रधान होम की देके, पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति**[६] ४ [चार] और पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे **स्विष्टकृदग्नि**[७] मन्त्र से एक आहुति मिलके ५ [पाँच] घृत की आहुति देवे।

इतनी क्रिया करके कर्मकर्त्ता परमात्मा का ध्यान करके नाई की ओर प्रथम देखके—

सिर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का केन्द्र होने के कारण समस्त शरीर की गति–विधियों का संचालन मस्तिष्क के द्वारा ही होता है। यह मस्तिष्क खोपड़ी के भीतर सुरक्षित रहता है। मस्तिष्क को ढकनेवाली खोपड़ी की अस्थियों की सन्धियाँ तीन साल से पहले नहीं जुड़ पातीं। तब तक गर्भावस्था के सिर के बाल ही खोपड़ी की रक्षा करते हैं। तत्पश्चात् उनकी आवश्यकता न रहने से उन्हें कटवा दिया जाता है।

काम परे कुछु और है काम सरे कछु और। रहिमन भाँवर के परे नदी सिलावत मौर॥

जब किसी बच्चे का तालु गिर जाता है तब उसके तालु पर जीवक–बिदारी आदि मधुर गुणों की ओषधियों से सिद्ध किये हुए घी का फाया रक्खा जाता है। यह चिकित्सा उस समय प्रभावी होती है जब सिर मुँडा हो और तालु स्पष्टतः दिखाई देता हो।

इस संस्कार का दाँत निकलने से विशेष सम्बन्ध है। दाँत निकलते समय मसूड़े सूज जाते हैं, लार बहने लगती है, आँखे आजाती हैं, बच्चा चिड़चिड़ाने लगता है। ऐसे समय में बच्चे के सिर पर बालों का होना चिकित्सा में बाधक होता है। इस प्रकार मुण्डन अनेकविधि रोगों के निवारण में उपयोगी होने के साथ-साथ नये और पुष्ट बालों के आने में सहायक होता है।

संस्कार आरम्भ करने से पहले चार शरावों में चावल, जौ, तिल और उड़द भरकर रखने का निर्देश है। ये पदार्थ नाई को दी जानेवाली दक्षिणा के प्रतीक हैं। गिरे हुए बालों को उठाने के लिए थोड़ा-सा गोबर भी रखना चाहिए।

---

१. **व्रीहियवैस्तिलमाषैरिति पृथक् पात्राणि पूरयित्वा पुरस्तादुपनिदध्युः॥ —गोभिलगृह्य० २।८६**

२. यहाँ से लेकर 'जल छिटकाके' तक का पाठ उसके अगली पंक्ति में स्थित 'समिदाधान कर' के पश्चात् होना चाहिए।

३. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

४. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

५. 'ओं त्वन्नो अग्ने०' आदि ८ मन्त्रों से।

६. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

७. अर्थात् 'ओं यदस्य कर्मणो० मन्त्र से॥

ओम् आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।

आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ —अथर्व० कां० ६। सू० ६८ ॥[१]

इस मन्त्र का जप करके, पिता बालक के पृष्ठ-भाग में बैठके किञ्चित् उष्ण और किञ्चित् ठण्डा जल दोनों पात्रों में लेके—

ओम् उष्णेन वाय उदकेनैधि ॥[२]

इस मन्त्र को बोलके दोनों पात्र का जल एक पात्र में मिला देवे। पश्चात् थोड़ा जल, थोड़ा माखन अथवा दही की मलाई लेके—

ओम् अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा। चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥१ ॥

—अथर्व० कां० ६। सू० ६८ ॥[३]

---

१. चावल के मुख्य गुण हैं--बलकारक, त्रिदोषनाशक, नेत्र-हितकारक और मूत्र-नियन्त्रक।

२. जौ के मुख्य गुण हैं—व्रण (फोड़ा आदि) में गुणकारी, मेधावर्धक और मल को निकालनेवाला।

३. उड़द के मुख्य गुण हैं—अत्यन्त पुष्टिकारक, वीर्यवर्धक, मल-मूत्र और स्तन के दूध के निकालनेवाला।

४. तिल के गुण—बलकारक, बालों को हितकारी, त्वचारक्षक, स्तनों में दूधवर्धक और दन्तरक्षक।

आश्वलायनगृह्यसूत्र में जब यह सूत्र लिखा गया होगा उस समय सिक्कों के स्थान पर पदार्थों को परस्पर अदल-बदल करने (Bartar System) का प्रचलन रहा होगा। यहाँ इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि नाई को अन्य कुछ न दिया जाए या ये पदार्थ इतनी ही मात्रा में दिये जाएँ। कृषिप्रधान और ग्रामबहुल देश में ये सर्वसुलभ होने से इस प्रतीक का अर्थ सहज ही समझा जा सकता है। संस्कार की समाप्ति पर नापित को यथायोग्य धन, वस्त्रादि देने का निर्देश किया गया है।

समय—आश्वलायन ने 'तृतीये वर्षे चौलम्' का विधान करके विकल्प में 'यथाकुलधर्मं वा' की छूट देदी है। पारस्कर में 'सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम्। तृतीये वाऽप्रतिहते। यथामङ्गलं केशशेषकरणम्' कहकर छुट्टी पाली। हमारे विचार में 'तृतीये वर्षे चौलम्' सबको मान्य होना चाहिए।

केशों को काटते समय बालों के साथ कुश को साथ लेने से केशों को काटने में सुविधा होती है। चारों ओर के लम्बे बाल पिता द्वारा कैंची से काट दिये जाने पर सारा सिर उस्तरे से मूँड देना चाहिए।

आयमगन्त्सविता०—('अयं सविता) पुराने बालों की जगह नयों को उगानेवाला यह नाई (क्षुरेण) छुरे=उस्तरे के साथ आया है। यह (उष्णेन उदकेन एहि) गरम जल लेकर आये। इस मन्त्र के द्वारा नाई को उबलते हुए पानी को लाने का आदेश दिया गया है। तात्पर्य यह है कि पिता अपने सामने खौलते हुए पानी में उस्तरे आदि को कुछ देर तक डलवाये रक्खे जिससे वे सर्वथा कीटाणुरहित हो जाएँ।

अदितिः श्मश्रु०—(अदितिः) जिस की धार कहीं से खण्डित न हो, ऐसे छुरे (उस्तरे) से (श्मश्रु वपतु) केशों को काटे। (वर्चसा) अपनी स्वच्छता को लिये हुए (आपः) जल (उन्दन्तु) बालों को भिगोएँ। (प्रजापतिः) मनुष्यादिकों का रक्षक परमात्मा (चिकित्सतु) इस बालक के रोगों की निवृत्ति करे। (दीर्घायुत्वाय, चक्षसे) श्रेष्ठ ज्ञान के लिए दीर्घायु प्रदान करे।

---

१. मन्त्र १ ॥

२. आश्व० गृह्य० १।१७।६; मन्त्रब्राह्मण १।६।२ ॥ तु०—पार० गृह्य० २।१।६; गोभिलगृह्य० २।९।११ ॥

३. मन्त्र २ ॥

ओं सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे ॥२ ॥[1]

इन मन्त्रों को बोलके, बालक के शिर के बालों में तीन बार हाथ फेरके केशों को भिगोवे। तत्पश्चात् कङ्घा लेके केशों को सुधारके इकट्ठा करे, अर्थात् बिखरे न रहें। तत्पश्चात्—

ओम् ओषधे त्रायस्वैनम् ॥[2]

इस मन्त्र को बोलके तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबाके—

सवित्रा प्रसूता०—(सूर्य से समुत्पादित दैवी जलों) स्वच्छ जलों से (ते तनुः) तेरे शरीर को (दीर्घायुत्वाय वर्चसे) दीर्घायु और तेज के लिए (उन्दन्तु) भिगोये। (यहाँ तनू से सिर के बाल अभिप्रेत हैं।)

ओषधे त्रायस्व, स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः—वेदों में अनेकत्र जड़ पदार्थों के सन्दर्भ में ऐसी बातें देखने में आती हैं जैसे वे कोई चेतन तत्त्व हों और इस प्रकार वहाँ जड़ अथवा प्राकृतिक पदार्थों की पूजा अर्थात् मूर्त्तिपूजा आदि का भ्रम हो जाता है। ऐसा काव्यात्मक शैली और उसमें निहित भाव-सौन्दर्य को न समझ पाने के कारण होता है। प्रकृति जड़ होने के कारण कभी किसी को नहीं बुलाती, तथापि जड़ प्रकृति में बुलानेवाले का आरोप करके अंग्रेज़ी में शौच जाने के लिए 'to answer the call of nature' शब्दों का प्रयोग होता है। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' संस्कृत में प्रसिद्ध उक्ति है जिसका सीधा अर्थ है—'मंच पुकारते हैं', परन्तु जड़ होने से मंच कैसे पुकार सकते हैं? इसलिए इसका ठीक अर्थ है—'मञ्चस्था पुरुषाः क्रोशन्ति' अर्थात् मंच पर बैठे लोग पुकार रहे हैं। जब हम दूर से चिल्लाकर कहते हैं—'ए रिक्शा या तांगा' हम रिक्शा या तांगे को नहीं, अपितु रिक्शा या तांगेवाले को पुकार रहे होते हैं। आमन्त्रण या सम्बोधन होने से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वे चेतन हो गये। हम प्रायः 'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचार' करते हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र (६।४५।१) में इस प्रकार के आरोप का बड़ा सुन्दर एवं भावपूर्ण उदाहरण मिलता है—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परे हि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि सञ्चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥

पापभावना कोई चेतन सत्ता नहीं है, पर उस भावना को प्रश्रय देनेवाला स्वयं चेतन है। इसलिए वह उसे चेतन के रूप में सम्बोधित करके अपने शिवसंकल्प को और सुदृढ़ करने के लिए अपने मनोभाव प्रकट कर रहा है—अये मन की पापवासना! दूर हो। परे हट, मैं तुझे नहीं चाहता। मेरा मन तो घरेलु काम-काज में और सद्विचारों में रम रहा है, जा, कहीं जङ्गल में जाकर अपना शिकार ढूँढ।

मुण्डन संस्कार के अवसर पर जब बालक का पिता उस्तरे को सम्बोधित करके कहता है—'स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः', तब वह 'मंचाः क्रोशान्ति' की तरह उस्तरे में चेतनता अरोपित करके उस्तरे से नहीं, उस्तरा लिये हुए नाई से कह रहा होता है—हे फ़ौलाद से बने उस्तरे=उस्तरेवाले! बाल काटते हुए इसे (इस बालक को) कोई पीड़ा न पहुँचाना। इससे पहले उस्तरे की प्रशंसा करते हुए कहा गया कि 'स्वधितिस्ते पिता'—तेरा पिता फ़ौलाद है, क्योंकि तू उसी से बना है और तू शिव-कल्याणकारी है,

---

१. पार० गृह्य० २।१।९॥

२. मन्त्रब्रा० १।६।५॥ हस्तलेख तथा द्वि० संस्करण में 'त्रायस्वैनम्०' ऐसा पाठ है, अर्थात् मन्त्र के अन्त में बिन्दु का निर्देश है। उसे पाठ-पूर्त्ति का चिह्न मानकर तृ० संस्करण में 'मैनꣳ हिꣳसीः' पाठ बढ़ाया है, जो १७वें संस्करण तक छपता रहा। वस्तुतः यह भूल है। ऐसा मन्त्र-पाठ कहीं उपलब्ध नहीं है।

ओं विष्णोर्दꣳष्ट्रोऽसि ॥[१]

इस मन्त्र से छुरे की ओर देखके—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽ अस्तु मा मा हिꣳसीः ॥[२]

इस मन्त्र को बोलके छुरे को दाहिने हाथ में लेवे। तत्पश्चात्—

ओं स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः ॥१ ॥[३]

ओं निर्वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥२ ॥[४]

इन दो मन्त्रों को बोलके उस छुरे और उन कुशाओं को केशों के समीप ले-जाके—

क्योंकि तेरे द्वारा आयुवृद्धि, जठराग्नि की वृद्धि, स्वास्थ्य, बल आदि की प्राप्ति होती है। इसलिए 'नमः' हम तेरा आदर करते=तेरी क़द्र करते हैं। इससे पूर्व तीन दर्भों को बालों से बाँधते समय ओषधि (दर्भ) को उस्तरे की भाँति सम्बोधित करके कहा गया कि हे दर्भरूपी ओषधे! 'त्रायस्वैनम्' इसकी रक्षा करो। पुनः उस्तरे को सम्बोधित करके गुणवत्ता के लिए उसकी स्तुति करते हुए उसके गुणों का बखान करते हुए उसे विष्णु की दाढ़ (विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि) बताया गया। वस्तुतः यह सब इन पदार्थों को निमित्त बनाकर नाई की प्रशंसा में कहा गया है।

विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि—यहाँ (विष्णु) 'विष्लृ व्याप्तौ' से निष्पन्न विष्णु नाम परमेश्वर को पापियों को पीस देनेवाली दाढ़ के समान उस्तरे को बाल काटने में सक्षम बताया है।

शिवो नामासि०—इस मन्त्र में 'नमस्ते' शब्द के आधार पर ग्रन्थकार पर ईश्वर के अवतार शिव (लिङ्ग) को नमस्ते करनेवाला बतलाकर मूर्त्तिपूजक होने का आरोप लगाया जाता है, परन्तु यहाँ तो ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का अर्थ भी नहीं लिखा। 'इस मन्त्र को बोलके छुरे को दाहिने हाथ में लेवे' इससे अधिक वहाँ कुछ भी नहीं लिखा—न कहीं पूजा शब्द है, न मूर्ति। यह यजुर्वेद के तीसरे अध्याय के ६३वें मन्त्र का अंश है। अपने यजुर्भाष्य में इसका अर्थ करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

हे जगदीश्वर! जो आप (स्वधितिः) अविनाशी होने से वज्रमय (असि) हैं, जिस (ते) आपका (शिवः) सुखस्वरूप विज्ञान का देनेवाला (नाम) नाम (असि) है, सो आप मेरे (पिता) पालन करनेवाले (असि) हैं। (ते) आपके लिए मेरा (नमः) सत्कारपूर्वक नमस्कार (अस्तु) विदित हो तथा आप (मा) मुझे (मा) मत (हिंसीः) मृत्यु से युक्त कीजिए।

इस मन्त्र में स्पष्टतः ईश्वर से प्रार्थना की गई है, उसी को नमस्कार हैं, उस्तरे को कदापि नहीं।

---

१. मन्त्रब्रा० १।६।४॥

२. यजुः० ३।६३॥ हस्तलेख से लेकर कुछ संस्करणों तक 'अस्तु' पद नहीं है। मूलमन्त्र में होने से सम्मिलित किया है।

३. मन्त्रब्रा० १।६।६; यजुः० ४।१॥

४. यजुः० ३।६३॥

ओं येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।

तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान्॥ —अथर्व० का० ६। सू० ६८॥[१]

इस मन्त्र को बोलके कुशासहित उन केशों को काटे* । और वे काटे हुए केश और दर्भ शमीवृक्ष के पत्रसहित, अर्थात् यहाँ शमीवृक्ष के पत्र भी प्रथम से रखने चाहिएँ, उन सबको लड़के का पिता और लड़के की माँ एक शरावे में रक्खें और कोई केश छेदन करते समय उड़ा हो, उसको गोबर से उठाके शरावा में अथवा उसके पास रक्खें। तत्पश्चात् इसी प्रकार—

ओं येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत्। तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये॥[२]

इस मन्त्र से दूसरी बार केश का समूह दूसरी ओर का काटके उसी प्रकार शरावा में रक्खे। तत्पश्चात्—

ओं येन भूयश्च रात्र्यां ज्योक् च पश्याति सूर्यम्। तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये॥[३]

इस मन्त्र से तीसरी बार उसी प्रकार केशसमूह को काटके उपरि उक्त ३ [तीन] मन्त्रों—अर्थात् (ओं येनावपत्०), (ओं येन धाता०), (ओं येन भूयश्च०), और—

ओं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत्।

तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे॥[४]

इस एक, इन ४ चार मन्त्रों को बोलके चौथी बार इसी प्रकार केशों के समूह को काटे, अर्थात् प्रथम दक्षिण बाजू के केश काटने का विधि पूर्ण हुए पश्चात् बायीं ओर के केश काटने का विधि करे। तत्पश्चात् उसके पीछे आगे के केश काटे।

परन्तु चौथी बार काटने में ''येन पूषा०'' इस मन्त्र के बदले—

ओं येन भूरिश्चरादिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम्।

तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये॥[५]

यह मन्त्र बोल चौथी बार केश छेदन करे। तत्पश्चात्—

---

* केशछेदन की रीति ऐसी है कि दर्भ और केश दोनों युक्ति से पकड़कर अर्थात् दोनों ओर से पकड़के बीच में से केशों को छुरे से काटे। यदि छुरे के बदले कैंची से काटे, तो भी ठीक है॥ —द०स०

---

(१) 'येनावपत्'—इस मन्त्र से पहली बार एक ओर के बाल काटें।

(२) 'येन धाता०'—इस मन्त्र से दूसरी बार दूसरी ओर के काटें।

(३) 'येन भूयश्च०'—इस मन्त्र से तीसरी बार तीसरी ओर के काटें।

(४) 'येनावपत्०', 'येन धाता०' 'येन भूयश्च०' तथा 'येन पूषा०'—इन चार मन्त्रों से चौथी बार चौथी ओर के काटें। इस प्रकार दक्षिण बाजू, बाईं ओर, पीछे, आगे चारों ओर के बाल कट गये।

चौथी बार कटने के बाद 'परन्तु चौथी बार काटने में'..........'चौथी बार केश छेदन करे' लिखने

---

१. मन्त्र ३॥ २. आश्व० गृह्य० १।१७।१२॥

३. आश्व० गृह्य० १।१७।१२॥

४. मन्त्रब्रा० १।६।७॥ संस्करण २ तथा कुछ अन्य संस्करणों में 'वर्चसे' पाठ नहीं है, हमने मन्त्रानुसार बढ़ाया है।

५. पार० गृह्य० २।१।१६॥

ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽ अस्तु त्र्यायुषम्॥[१]

इस एक मन्त्र को बोलके शिर के पीछे के केश एक बार काटके इसी (ओम् त्र्यायुषं०) मन्त्र को बोलते जाना और ओंधे हाथ के पृष्ठ से बालक के शिर पर हाथ फेरके मन्त्र पूरा हुए पश्चात् छुरा नाई के हाथ में देके--

ओं यत् क्षुरेण मर्चयता सुपेशसा वप्ता वपसि केशान्। शुन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीः॥[२]

इस मन्त्र को बोलके नापित से पथरी पर छुरे की धार तेज कराके नापित से बालक का पिता कहे कि—'इस शीतोष्ण जल से बालक का शिर अच्छे प्रकार कोमल हाथ से भिगो। सावधानी और कोमल हाथ से क्षौर कर। कहीं छुरा न लगने पावे'। इतना कहके कुण्ड से उत्तर दिशा में नापित को ले-जा, उसके सम्मुख बालक को पूर्वाभिमुख बैठाके जितने केश रखने हों उतने ही केश रक्खे, परन्तु पाँचों ओर थोड़ा-थोड़ा केश रखावे अथवा किसी एक ओर रक्खे अथवा एक बार सब कटवा देवे, पश्चात् दूसरी बार के केश रखने अच्छे होते हैं।

जब क्षौर हो चुके, तब कुण्ड के पास पड़ा वा धरा हुआ देने के योग्य पदार्थ वा शरावा आदि कि जिनमें प्रथम अन्न भरा था, नापित को देवे और मुण्डन किये हुए सब केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर नाई को देवे। यथा योग्य उसको धन वा वस्त्र भी देवे और नाई केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर को जङ्गल में ले-जा, गढा खोदके उसमें सब डाल ऊपर से मिट्टी से दबा देवे। अथवा गोशाला, नदी वा तालाब के किनारे पर उसी प्रकार केशादि को गाड़ देवे, ऐसा नापित से कह दे। अथवा किसी को साथ भेज देवे, वह उससे उक्त प्रकार करवा लेवे।

क्षौर हुए पश्चात् मक्खन अथवा दही की मलाई हाथ में लगा, बालक के शिर पर लगाके स्नान करा, उत्तम वस्त्र पहनाके, बालक को पिता अपने पास ले शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठके, पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे सामवेद का महावामदेव्यगान करके बालक की माता स्त्रियों और बालक का पिता पुरुषों का यथा योग्य सत्कार करके विदा करें और जाते समय सब लोग तथा बालक के माता-पिता परमेश्वर का ध्यान करके—

"ओम् त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः"॥[३]

इस मन्त्र को बोल बालक को आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को पधारें और बालक के माता-पिता प्रसन्न होकर बालक को प्रसन्न रखें॥

॥ इति चूडाकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

का क्या अर्थ है? यह मुद्रण काल में भूल हुई प्रतीत होती है। चारों ओर के बाल कटने में पीछे की ओर के भी कट चुके हैं। तब 'त्र्यायुषं जमदग्नेः मन्त्र बोलते हुए 'पीछे के एक बार काटके' का अभिप्राय वहाँ के दुबारा काटना ही हो सकता है। उस अवस्था में 'पीछे के केश एक बार' में 'बार' के बाद 'और' बढ़ाना आवश्यक है।

पं० आत्मारामजी ने 'चौथी' के स्थान पर 'पाँचवीं' कर दिया है, परन्तु पाँचवीं बार कहाँ के और क्यों? इसका स्पष्टीकरण नहीं किया।

---

१. यजुः० ३।६२॥

२. आश्व० गृह्य० १।१७।१५॥

३. अर्थात्—हे बालक! तू बढ़ता हुआ सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहे।

अथ कर्णवेध-संस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणम्— **कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा ॥**

यह आश्वलायन-गृह्यसूत्र का वचन है ॥[१]

बालक के कर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे वा पाँचवें वर्ष का उचित है।

जो दिन कर्ण वा नासिका के वेध का ठहराया हो, उसी दिन बालक को प्रातःकाल शुद्ध जल से स्नान और वस्त्रालङ्कार धारण कराके बालक की माता यज्ञशाला में लावे। पृष्ठ ३६-६३ तक लिखा हुआ सब विधि करे और उस बालक के आगे कुछ खाने का पदार्थ वा खिलौना धरके—

'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा'—वस्तुतस्तु यह वचन पारस्करगृह्यसूत्र के कात्यायन परिशिष्ट का है जिसे गदाधर ने पारस्करगृह्यसूत्र १।१७ के पदार्थ-क्रम में उद्धृत किया है।

"उक्त पाठ पारस्कर-गृह्यसूत्र के" इतिहास संशोधन मण्डल पूना के हस्तलेख में पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वयं देखा था। इस कात्यायन परिशिष्ट भाग को छोड़कर अन्य किसी प्रकाशित गृह्यसूत्र में इसका उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः इसी कारण ग्रन्थकार ने स्वरचित संस्कारविधि के सन् १८७५ में प्रकाशित प्रथम संस्करण में कर्णवेध संस्कार की पृथक् सत्ता को स्वीकार नहीं किया, परन्तु तीन मास तक निरन्तर भ्रमण के परिणामस्वरूप उन्होंने सर्वत्र प्रचलित प्राचीन संस्कार के महत्त्व को अनुभव किया और इसलिए जब आठ वर्ष बाद संवत् १९४० विक्रमी (सन् १८८३ ई०) में उन्होंने संस्कारविधि का द्वितीय संस्करण निकाला तो उसमें अन्य संस्कारों की भाँति कर्णवेध संस्कार का भी समावेश किया।

कर्णवेध का अर्थ है—कानों का बींध देना या कान में छेद करना। संस्कार के रूप में न अपनाये जाने पर भी कानों के बिंधवाने की परम्परा प्रायः सर्वत्र प्रचलित रही है। संस्कारविधि में कर्ण के साथ नासिका भी छपा मिलता है। यह निश्चितरूप से भूल से छपा है, क्योंकि—

१. प्राचीन शास्त्रों में नासिकावेध का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता।

२. कात्यायन-गृह्यसूत्र के पाठ में भी केवल कर्णवेध का ही उल्लेख हुआ है, नासिकावेध का संकेत तक नहीं है। सुश्रुत-चरक में ही नहीं किसी सूत्रग्रन्थ में भी उसका निर्देश नहीं है। संस्कारों का विधान करनेवाले प्रचलित ग्रन्थों में भी नासिकावेध का विधान नहीं किया गया है। इसलिए नासिकावेध के अशास्त्रीय होने से इस प्रथा को बन्द करना चाहिए।

---

१. यह वचन कात्यायनगृह्यसूत्र का है। द्रष्टव्य—द्वितीय काण्ड के आरम्भ में चूडाकर्म के पश्चात् कात्यायन का उक्त पाठ गदाधर ने पार० गृह्य० १।१७ के पदार्थ-क्रम में इस प्रकार उद्धृत किया है—

"**अथ कर्णवेधः। तत्र याज्ञिकाः पठन्ति—अथ कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा। पुष्येन्दुचित्राहरिरेवतीषु पूर्वाह्णे कुमारस्य मधुरं दत्वा प्रत्यङ्मुखायोपविष्टाय दक्षिणं कर्णमभिमन्त्रयते—भद्रं कर्णेभिरिति सव्यं वक्ष्यन्ती वेदेति चाथ भिन्द्यात्। ततो ब्राह्मणभोजनम्। इति।**" गुजराती प्रेस बम्बई संस्करण, १९१७, पृष्ठ १७४ ॥

१८वें संस्करण में मूलपाठ बदलकर "यह कात्यायन-गृह्यसूत्र १-२ का वचन है" ऐसा बना दिया है। उसके बाद से यही पाठ छप रहा है। हमने उक्त पाठ कात्यायन-गृह्यसूत्र के 'इतिहास संशोधन मण्डल-पूना' के हस्तलेख में स्वयं देखा है।

३. स्वरचित संस्कारविधि में ग्रन्थकार ने नासिकावेध के लिए न कोई प्रमाण दिया है न एतदर्थ किसी विधि या क्रिया का निर्देश किया है और न कर्णवेध के समय पढ़े जानेवाले मन्त्रों की तरह नासिकावेध के समय पढ़े जानेवाले किसी मन्त्र को उद्धृत किया है।

कर्णवेध का प्रयोजन—सुश्रुत के अनुसार 'रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ बिध्येते' (सूत्र-स्थान १६।१)—रक्षा तथा आभूषणों के निमित्त कानों को बींधा जाता है। आभूषणों का सम्बन्ध लड़कियों से तथा रक्षा का लड़कों और लड़कियों दोनों से है। रक्षा किस प्रकार होती है? आयुर्वेद के अनुसार कानों में छेद करने से एक ऐसी नस छिद जाती है जिसका सम्बन्ध आँतों से है। इस नस के छिद जाने से आन्त्रवृद्धि (Harnia) नहीं होती। हर्निया क्या है? आँत के थोड़े-से भाग के अण्डकोशों की थैली में जा लटकने को हर्निया अथवा आँत उतरना कहते हैं। जब बच्चा पैदा होता है तब उसके अण्डकोश थैली में नहीं उतरते वे पेट में आँतों के नीचे पड़े होते हैं। बाद में एक छिद्र में से होकर थैली में नीचे उतर आते हैं। इन्हीं छेदों में से आँत का कुछ हिस्सा उतर आये तो उसी को हर्निया या आन्त्रवृद्धि कहते हैं। सुश्रुत का कहना है कि कान छिदने पर यह रोग नहीं होता। चिकित्सास्थान १९। २४ में लिखा है—

शंखोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्। व्यत्ययासाद्वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये॥

अर्थात् आन्त्रवृद्धि को रोकने के लिए शङ्खप्रदेश के ऊपर कान के पार्श्व पर सेवनी को यत्नपूर्वक छोड़ते हुए विरुद्ध पार्श्व में शिरा का वेधन करे।

व्यत्यय का अर्थ है कि दाहिनी ओर की आन्त्रवृद्धि को रोकने के लिए बायें कान को बींधे और बाँई ओर की आन्त्रवृद्धि को रोकने के लिए दायें कान को बींधे। भावी रोग का शमन करने के लिए दोनों कानों का एक-साथ अथवा २-४ दिन आगे-पीछे बिंधवा लेना श्रेयस्कर है। कर्णेन्द्रिय का वीर्यवाहिनी नाड़ियों से सम्बन्ध होने के कारण कर्णवेध अण्डवृद्धि के अतिरिक्त पुंस्त्व नष्ट करनेवाले रोगों से भी रक्षा करता है।

सुश्रुतसंहिता मुख्यत: (Surgery) का ग्रन्थ है। कर्णवेध में वह प्रमाण है। वहाँ लिखा है—'भिषक् वामहस्तेनाकृष्य कर्णं दैवकृते छिद्रे आदित्यकरावभासिते शनै: शनै: ऋजु विद्ध्येत्'', अर्थात् वैद्य अपने बायें हाथ से कान को खींचकर देखे। जहाँ सूर्य की किरणें चमकें वहाँ दैवकृतछिद्र में धीरे-धीरे सीधे बींधे। इस प्रकार कान में किस नियतस्थान पर छिद्र किया जाए जिससे कर्णवेध अपने प्रयोजन की सिद्धि में सहायक हो, यह निश्चय करना कुशल चिकित्सक का काम है, सुनार या किसी राह चलते का नहीं। डॉक्टर के कम्पाउण्डर की तरह अभ्यास के द्वारा इस कार्य में निष्णात हो जाए तो और बात है।

हो सकता है वर्त्तमान में चीन में विकसित तथा भारत में आयातित एक्यूपंक्चर (Acupuncture) नाम की चिकित्सा-पद्धति के मूल में सुश्रुत में प्रतिपादित कर्णवेध का अनुभव रहा हो अथवा किसी कालखण्ड में चीन में जन्मी इस पद्धति को भारतीय मनीषियों ने धार्मिक संस्कार का रूप दिया हो।

एतद्देशीय चिकित्साशास्त्रियों के लिए कर्णवेध तथा एक्यूपंक्चर का तुलनात्मक अध्ययन दिशा-निर्देश का काम दे सकता है।

कर्णवेध संस्कार के महत्त्व तथा उसके लिए कुशल चिकित्सक की आवश्यकता को बतानेवाले कश्यप के ये दो श्लोक प्रसिद्ध हैं—

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥[१]

इस मन्त्र को पढ़के चरक-सुश्रुत वैद्यक ग्रन्थों के जाननेवाले सद्वैद्य के हाथ से कर्ण वा नासिका वेध करावें कि जो नाड़ी आदि को बचाके वेध कर सके। पूर्वोक्त मन्त्र से दक्षिण कान, और—

ओं वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳ सखायं परि षस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयꣳ समने पारयन्ती॥[२]

इस मन्त्र को पढ़के दूसरे वामकर्ण का वेध करे।

तत्पश्चात् वही वैद्य उन छिद्रों में शलाका रक्खे कि जिससे छिद्र पूर न जावें और ऐसी ओषधि इसपर लगावे जिससे कान पकें नहीं और शीघ्र अच्छे हो जावें॥

॥ इति कर्णवेधसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

कदा वेध्यं कथं वेध्यं कुत्र वेध्यं कथं व्यधः। हितोऽहितोऽत्ययः कश्च तत्राज्ञः किं प्रपत्स्यते॥
तस्मात् भिषक् सकुशलः कर्णं विध्येत् विचक्षणः। शिशोः हर्षप्रमत्तस्य धर्मकामार्थसिद्धये॥

अर्थात् कान को कब बींधे, कैसे बींधे, कहाँ बींधे, इसका लाभ-अलाभ क्या है—इससे अज्ञ व्यक्ति क्या पा सकता है? इसलिए कुशल और चतुर वैद्य ही कान को बींधे। सुश्रुत में कान को बींधने पर बहुत कुछ लिखा है। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि कान बींधने के कोई विशेष लाभ थे जिन्हें देखकर ही सुश्रुत, कश्यप आदि ने इसकी इतनी प्रशंसा की और वैदिक संस्कृति में इसे १६ संस्कारों में स्थान दिया गया था।

''**भद्रं कर्णेभिः**''....इस मन्त्र में कानों से भद्र=भली बातें सुनने और आँखों से भली=हितकर दृश्य देखने की प्रार्थना गई है। जिनके कान-आँखें बस में हैं, उसका मन वश में है और जिसका मन वश में है वह विषयासक्त नहीं हो सकता और जो विषयाक्त नहीं है उसके पास किसी प्रकार की दुर्बलता नहीं आ सकती और जो दुर्बल नहीं है वह विद्वानों के लिए हितकर दीर्घायु को प्राप्त करता है।

''**वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति**''............इस मन्त्र में कहा गया है कि कामासक्त होने पर बड़े-बड़े वीर पुरुष रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। सुश्रुत में कामासक्ति (मैथुन) को अण्डवृद्धि का प्रबल कारण बताया है। जितेन्द्रिय व्यक्ति इससे बहुत हद तक बचा रहता है।

अनादिकाल से लड़कियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी नाक-कान छिदवाती आ रही हैं, पर फिर भी नाक-कान में छिद्रोंवाली लड़कियाँ पैदा नहीं होती। इससे विकासवादी इस मान्यता का खण्डन हो जाता है कि अङ्गों के अभ्यास के कारण उनमें परिवर्त्तन होकर क्रमशः योनि परिवर्त्तन और उसके परिणाम-स्वरूप नई-नई जातियाँ पैदा होती रहती हैं।

---

१. यजुः० २५।२१
२. यजुः० २९।४०

अथोपनयन§ संस्कारविधिं वक्ष्यामः

अत्र प्रमाणानि—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्॥ १॥ गर्भाष्टमे वा॥ २॥ एकादशे क्षत्रियम्॥ ३॥
द्वादशे वैश्यम्॥ ४॥ आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः॥ ५॥
आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद् वैश्यस्य, अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति॥ ६॥

—यह आश्वलायनगृह्यसूत्र का प्रमाण है॥[१]

यद्यपि लड़के-लड़की के समान अधिकार को भारतीय समाज ने सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया है और उसे संवैधानिक मान्यता भी प्राप्त हो गई है, तथापि समाज में ऐसे लोगों की आज भी कमी नहीं है जो धर्म के नाम पर लड़कियों को इस अधिकार से वञ्चित रखना चाहते हैं। अन्यथा समान अधिकार को मानते हुए भी हृदय से लड़कियों को पढ़ाने के विरुद्ध हैं। इसलिए शास्त्रीय आधार पर इस पर विचार करना आज भी असंगत नहीं है। 'कन्याओं का यथायोग्य संस्कार करके' इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को लड़कों के समान लड़कियों का यज्ञोपवीत कराना अभीष्ट नहीं है, परन्तु ऐसा मानना ग्रन्थकार की भावना तथा अन्यत्र अनेक स्थलों पर व्यक्त मन्तव्यों के विपरीत होगा। द्वितीय समुल्लास में उन्होंने लिखा है—"नौवें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके............।" 'सन्तान' शब्द उभयवाची है अर्थात् इससे पुत्र व पुत्री दोनों का ग्रहण होता है। पुनः इसी समुल्लास में कुछ आगे वे मनुस्मृति से 'अनेन क्रमयोगेन' इत्यादि (मनु० २।१६४) श्लोक को उद्धृत कर उसकी व्याख्या में लिखते हैं—"इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या.....।" इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में लड़का और लड़की दोनों समानरूप से उपनयन-संस्कार के अधिकारी हैं।

वस्तुतः 'सन्तान' के समान 'बालक' शब्द भी उभयवाची है और उससे लड़का व लड़की दोनों का ग्रहण होता है। इसकी पुष्टि 'लिङ्गानां च न सर्वभाक्' व्याकरणमहाभाष्य (४।१।६३) के इस वचन से होती है। जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि ग्रन्थकार ने बालिका या कन्या के उपनयन और वेदारम्भ-संस्कार का उल्लेख नहीं किया, अतः कन्याओं का उपनयन नहीं होना चाहिए, उनका यह कथन ठीक नहीं है। संस्कारविधि में 'बालक' का निर्देश करके कर्ण और नासिका दोनों के वेध का विधान किया है तो बालक शब्दमात्र से लड़के की नासिका भी छिदनी चाहिए, परन्तु नासिकावेध तो सर्वत्र लड़कियों का ही होता है, अतः स्पष्ट है कि बालक शब्द बालक-बालिका दोनों का बोधक है। स्थल, प्रकरणादि के अनुसार दोनों में से किसी एक का अथवा दोनों का ग्रहण किया जा सकता है। संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में स्पष्ट लिखा है—

---

§ उप नाम समीप नयन अर्थात् प्राप्त करना या होना॥ —**द०स०**

---

१. आश्व० गृह्य० १।१९।१-६॥

इसी प्रकार पारस्करादि गृह्यसूत्रों का भी प्रमाण है॥

अर्थः—जिस दिन जन्म हुआ हो, अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो, उससे ८ आठवें वर्ष में ब्राह्मण

''कन्या भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों से शरीर को आच्छादित और यज्ञोपवीत को धारण करके विवाहशाला में आये।'' उपनयन के साथ ही यज्ञ में अधिकार हो जाता है। श्रौतसूत्रादि के 'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्' इस आदेश से वह मन्त्र भी पढ़ती है, अतः ग्रन्थकार को कन्याओं के यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ दोनों संस्कार अभीष्ट हैं।

नामकरण आदि संस्कारों के अन्त में जो आशीर्वचन लिखे हैं वे सब पुल्लिंग में हैं, अतः बालिका के इन संस्कारों को करते समय पुल्लिग शब्दों को स्त्रीलिंग में बदलकर आशीर्वचन का उच्चारण करना-कराना चाहिए। जैसे—'हे बालक! त्वमायुष्मान् वर्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः' को बालिका के आशीर्वाद में इस प्रकार पढ़ना चाहिए—'हे बालिके! त्वमायुष्मती वर्चस्विनी तेजस्विनी श्रीमती भूयाः।' अष्टाध्यायी के '**पुमान् स्त्रिया**' (१।२।६७) इस सूत्र के अतिरिक्त इस विषय में '**भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्**' (१।२।६८) तथा '**पिता मात्रा**' (१।२७०) आदि सूत्र द्रष्टव्य हैं।

प्राचीनकाल में स्त्रियों का यज्ञोपवीत होता था और वे लड़कों के समान ही गुरुजनों से वेदादि समस्त शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करती थीं। निर्णयसिन्धु के तृतीय परिच्छेद में लिखा है—

पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च॥

गोभिलीयगृह्यसूत्र (२।१।१९) में लिखा है—'**प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत्—सोमोऽददद् गन्धर्वाय इति**'—अर्थात् कन्या को वस्त्र पहने हुए तथा यज्ञोपवीत धारण किये हुए पति के पास लाये तथा यह मन्त्र पढ़े—**सोमोऽददत्।** इससे स्पष्ट है कि विवाह के समय कन्या का उपवीत होना अनिवार्य है। हारीतसंहिता में स्त्रियों के दो भेद किये हैं—'ब्रह्मवादिन्यः' तथा 'सद्योवध्वः'। पराशरसंहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार पण्डितप्रवर मध्वाचार्य ने इसकी टीका में लिखा है—''**द्विविधा स्त्रीयो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्निबन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्याचर्या इति। सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथंचिद् उपनयनं कृत्वा विवाहः कार्यः**''—अर्थात् स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक ब्रह्मवादिनी जिनका उपनयन होता है, जो अग्निहोत्र करती हैं, वेदाध्ययन करती हैं और अपने परिवार में भिक्षावृत्ति करती हैं और दूसरी 'सद्योवध्वः'—जिनका शीघ्र ही विवाह होनेवाला है। इनका उपनयन कराके शीघ्र विवाह करा देना चाहिए। सातवीं शताब्दी के ऐतिहासिक राजा हर्षवर्धन की सभा के रत्न महाकवि बाणभट्ट ने अपने विश्वविख्यात महाकाव्य कादम्बरी में महाश्वेता का वर्णन करते हुए लिखा है—'**ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्**'—अर्थात् जिसका शरीर ब्रह्मसूत्र धारण करने के कारण पवित्र था। ब्रह्मसूत्र यज्ञोपवीत का ही अपर नाम है। स्त्रियों के उपनयन में स्वयं वेद का प्रमाण है—'**भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता**' (ऋ० १०।१०९।४)। यज्ञोपवीत के साथ ही यज्ञ में अधिकार हो जाता है।

'यथायोग्य' के पश्चात् और 'संस्कार' से पूर्व 'यज्ञोपवीत' का अध्याहार कर लेना चाहिए। 'यथायोग्य' विशेषण का तात्पर्य उपनयनसंस्कारस्थ मुण्डन, भिक्षा, वस्त्रादि प्रदान की उन विधियों से है जिनमें बालक-बालिका में परम्परागत भेद करना आवश्यक है। स्मृति-ग्रन्थों में यज्ञोपवीत के पश्चात् ब्रह्मचारी के लिए दण्ड धारण करने, भिक्षा करने तथा मृगचर्मादि धारण करने का विधान है। कन्या के लिए पर-घर से भिक्षा करना तथा अजिन धारण करना आदि वर्जित है। गोभिलगृह्यसूत्र

के, जन्म वा गर्भ से ११ ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से १२ बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें तथा ब्राह्मण के १६ सोलह, क्षत्रिय के २२ बाईस और वैश्य के बालक

के टीकाकार बंगाली विद्वान् महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने लिखा है—**'स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्या विधीयते वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च।'** अर्थात् कन्या के लिए अपने घर में ही भिक्षा का विधान है। वह अजिन अर्थात् मृगचर्म, चीर तथा जटा धारण न करे।

बालक के द्विज होने का विचार इतना उत्कृष्ट था कि यह वैदिक धर्म से अन्य धर्मों में भी जा पहुँचा। पारसी लोगों में जिनका उद्भव आर्यों से है, अब भी यज्ञोपवीत-संस्कार की परम्परा है। उनके यहाँ ७ से ९ वर्ष तक की आयु के बीच में 'सुदरेह कुस्ती' पहनाई जाती है। तभी उसे पारसीधर्म में प्रविष्ट माना जाता है। सुदरेह मलमल का एक अंगवस्त्र होता है और कुस्ती ऊन का बना हुआ ७२ रेशोंवाला धागा होता है।[१] अपनी पुस्तक 'Fountainhead of Religions' में पं० गङ्गाप्रसाद चीफ़ जज लिखते हैं—

"It is interesting to note in this connection that like the twice-born (the first three classes) among the followers of Vedic Religion, the Parsees are also enjoined to wear the sacred thread, which they call KUSTI. We quote here from the Vendidad—

"Zarathushtra asked Ahura Mazda: O Ahura Mazda! through what is one a criminal worthy of death?" Then said Ahura Mazda: By teaching an evil religion? Spitoma Zarathushtra! Whosoever during spring seasons does not put on the sacred thread (Kusti), does not recite the Gathas, does not reverence the good waters, etc.

उक्त उद्धरण का अर्थ यह है कि पारसियों के पैग़म्बर स्पितम ज़रथुश्तर को पारसियों के भगवान् अहुरमज्द ने कहा कि जो कुस्ती (यज्ञोपवीत) को धारण नहीं करता उसे मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए।

वैदिक संस्कृति में यज्ञोपवीत धारण का मन्त्र तथा पारसियों में कुस्ती धारण करने का मन्त्र एक-समान अर्थ के द्योतक हैं। वैदिक संस्कृति का मन्त्र (पा०गृ० २।२।११) इस प्रकार है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

अर्थात् यज्ञोपवीत परम पवित्र है, आदिकाल से यह प्रजापति के साथ रहा है, यह आयु को देनेवाला है, बल देनेवाला है—इत्यादि।

पारसियों का मन्त्र इस प्रकार है—

'फ्राते मज्दाओ बरत् पौरवनीम् एयाओं धनिमस्ते हर-पाये संघेम मैन्युतस्तेम् बन्धुहिम् दयेनीम् मज्दवास्नाम्॥' इसका अर्थ है—ऐ डोरा! तू बहुत बड़ा है, तू बहुत उज्ज्वल है (परम पवित्र—शुभ्रम्), आयु और बल देनेवाला है (आयुष्यमग्र्यं) है, तुझे मज्दा ने आरोपित किया है (प्रजापतेर्यत्सहजम्), मैं तुझे पहनता हूँ।

---

१. जरथुस्त्री (पारसी) धर्म में कर्म की प्रधानता है। गाय को पारसी लोग पवित्र मानते हैं। सफ़ेद बछड़े का लालन-पालन विशेषरूप से करते हैं। उसे 'वरस्याजी' कहा जाता है। गोमूत्र (नीरंग) का अनेक धार्मिक क्रियाओं में उपयोग होता है।

का २४ चौबीसवें वर्ष से पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिए। यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत न हो, तो वे पतित माने जावें।

// उपनयन का अर्थ है पास ले-जाना। विद्याध्ययन के लिए गुरु द्वारा संस्कृत होने के लिए गुरु और शिष्य का निकटतम होना आवश्यक है। संस्कृत में शिष्य के लिए प्रयुक्त 'अन्तेवासी' शब्द अत्यन्त सार्थक है।'अन्तेवासी' का अर्थ है (गुरु के) अन्दर वसा हुआ। वेदारम्भ-संस्कार के पश्चात् बालक के माता-पिता उसे गुरु के पास ले-जाते हैं। वहाँ वे आचार्य से प्रार्थना करते हैं—**'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥'** (यजुः० २।३३)। ब्रह्मचारी के लिए पुष्पादि की माला पहनना निषिद्ध है। इसलिए 'स्रजम्' से यहाँ माला की तरह 'यज्ञोपवीत धारण किये हुए' समझना चाहिए। माता-पिता के अनुरोध को स्वीकार करके आचार्य बालक को इस प्रकार सुरक्षित रखता और पालन-पोषण करता है, जिस प्रकार माता उसे गर्भ में सँभालकर रखती है। 'अन्तेवासी' शब्द में मानो इस मन्त्र का सार निहित है। माता साँस लेती है, गर्भस्थ बालक साँस नहीं लेता, माता भोजन करती हैं, बालक भोजन नहीं करता, परन्तु माता के साँस में बालक का साँस और माता के भोजन में बालक का भोजन होता है। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की इससे उत्कृष्ट उपमा नहीं हो सकती। अपने यजुर्भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं—

'विद्वान् पुरुष और स्त्रियों को चाहिए कि विद्यार्थी, कुमार वा कुमारी को विद्या देने के लिए गर्भ के समान धारण करें। जैसे क्रम-क्रम से गर्भ के बीच देह बढ़ता है, वैसे अध्यापक लोगों को चाहिए कि अच्छी-अच्छी शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार वा कुमारी को श्रेष्ठ विद्या में वृद्धियुक्त करें तथा उसका पालन करें कि वे विद्या के योग से धर्मात्मा और पुरुषार्थयुक्त होकर सदा सुखी हों। यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिए।'

गर्भ धारण करने की उपमा जहाँ गुरु तथा शिष्य की निकटता व एक-दूसरे के प्रति हितचिन्तन की पराकाष्ठा को सूचित करती है वहाँ यह गुरुकुलवास में पिता-पुत्र अथवा माँ-बेटे की तरह एक-दूसरे के सुख-दुःख के भागी बनने को भी प्रकट करती है।//

ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में उपनयन-संस्कार के अन्तर्गत आश्वलायनगृह्यसूत्र से यह प्रमाण प्रस्तुत किया है—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। गर्भाष्टमे वा। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्।

—आ० गृ० १।१६।१-४

आश्वलायनगृह्यसूत्र के ये वचन मनुस्मृति २।३६ के निम्न श्लोक के अनुसार हैं—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपवीतकम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

इस श्लोक से वर्णव्यवस्था का जन्ममूलक होना सिद्ध होता है, जबकि मनु उसे गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित मानते हैं। इन शब्दों का ऊहित अर्थ करने पर इस शङ्का का समाधान हो जाता है। तदनुसार ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य तथा वैश्यस्य का अर्थ क्रमशः ब्राह्मण का बालक, क्षत्रिय का बालक तथा वैश्य का बालक होगा। जब तक गुरुकुल में बालक की विद्या पूर्ण नहीं हो जाती और परीक्षोपरान्त आचार्य द्वारा उसका वर्ण निर्धारित नहीं होता तब तक उसे जन्मना ज्ञात वर्णस्थ मानने में कोई असामंजस्य नहीं है।

तत्पश्चात् उन्होंने मनुस्मृति अध्याय २ के ३७वें श्लोक को उद्धृत किया है—

श्लोकः—ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥[१]

यह मनुस्मृति का वचन है कि जिसको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों, तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पाँचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करे।

परन्तु यह बात तब सम्भव है कि जब बालक की माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ होवे। उन्हीं के ऐसे उत्तम बालक, श्रेष्ठ बुद्धि और शीघ्र समर्थ पढ़नेवाले होते हैं। जब बालक का शरीर और बुद्धि वैसी हो कि अब यह पढ़ने के योग्य हुआ, तभी यज्ञोपवीत करा देवें।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥

इस श्लोक का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं—'जिसको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हो तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पाँचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म या गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म या गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।

इस प्रकार उन्होंने 'ब्रह्मवर्चसकामस्य विप्रस्य' का अर्थ ''ब्रह्मवर्चस' की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण का 'राज्ञो बलार्थिनः' का अर्थ बल की इच्छा करनेवाले क्षत्रिय का तथा 'अर्थिनो वैश्यस्य' का अर्थ—धन की इच्छा करनेवाले वैश्य का किया है।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि इतने अल्पवयस्क बच्चों के लिए 'इच्छुक' शब्द सार्थक नहीं है।[२] वस्तुतः ये प्रयोग बच्चे के सन्दर्भ में माता-पिता की इच्छा व आकांक्षा के अनुरूप हैं।

प्रत्येक मनुष्य में प्रत्येक अवस्था में कुछ विशिष्ट गुण-कर्म-स्वभाव परिलक्षित होते हैं। प्रायः अपने माता-पिता से संक्रामित गुण-कर्म-स्वभाव का बीज बालकों के हृदय में होता है। यदि उन्हें उपयुक्त शिक्षा मिले तो द्विजों में तदनुरूप उनके विकास की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए जब तक कोई सन्तान अपने को अन्यथा सिद्ध न कर दे तब तक उनका वही वर्ण माना जाता है जो उनके माता-पिता का है, परन्तु यदि शूद्र के बालक को पढ़ाया ही न जाएगा तो उसकी उन्नति के द्वार ही बन्द हो जाएँगे, इसलिए उसे बिना यज्ञोपवीत के पाठशाला में भेजने की व्यवस्था की गई है।

आरम्भ में माता-पिता अपनी सन्तान को जैसा बनाना चाहते हैं उसी के अनुरूप सब संस्कार करते हैं। पुनः उनकी शिक्षा-दीक्षा को परखकर वर्ण का निश्चय आचार्य करते हैं—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥

—मनु० २।१४८

मनु और तदनुयायी ग्रन्थकार ने उपनयन-संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं

---

१. मनु० २।३७॥

२. After some time Protestants concluded that infants—who cannot believe for themselves—should not be baptised. But Luther vigorously defended the tradition of infant baptism.

—World Encyclopedia, Vol. 12, P. 532.

किया है। कारण? कोई भी अपनी सन्तान को शूद्र बनाना नहीं चाहता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य संकल्पपूर्वक बनाये जाते हैं। शूद्र बनाया नहीं जाता, बन जाता है। जो व्यक्ति शिक्षा का अवसर दिये जाने पर भी इन तीन वर्णों में से किसी भी वर्ण के गुणों को धारण करने में असमर्थ रहता है, वह शूद्र बनकर रह जाता है। मनुस्मृति १०।४ में लिखा है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥

विद्याध्ययनरूपी दूसरा जन्म ग्रहण करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्विज कहलाते हैं। इस प्रकार दूसरा जन्म ग्रहण न करने से एक जाति=एक जन्मवाला शूद्र कहाता है। यह एक जन्म तो सभी का होता है—'**जन्मना जायते शूद्रः**'।

उपनयनकाल के प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने लिखा है—

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्, सर्वकालमित्येके।

वहाँ इसे शतपथ का वचन कहा है, परन्तु शतपथ में यह नहीं मिलता। शत० २।१।३।५ में इससे मिलता-जुलता पाठ है, किन्तु वह अग्न्याधान प्रकरण का है, उपनयन का नहीं। गदाधर ने पारस्करगृह्यसूत्र १।२ की व्याख्या में श्रुतिः—'**वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्**' ऐसा पाठ उद्धृत किया है। बौधायन० गृ० में '**वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्, वर्षासु रथकारमिति। सर्वान् एव वा वसन्ते**' यह पाठ उद्धृत है।

वर्णविभाग में ये ऋतुएँ सकारण निर्धारित की गई हैं। वसन्त में न भीषण सरदी पड़ती है न घोर गरमी। ब्राह्मण को भी ऐसी सात्त्विकता अपेक्षित है। ग्रीष्म तेजस्वी होने के कारण क्षत्रिय के अनुकूल है। शरद् ऋतु में व्यापार शुरू होता है, अतः वैश्य के लिए वह सुविधाजनक है।

'द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत करके......पाठशाला में भेज दें—यहाँ शूद्रों के बालकों को पाठशाला में भेजे जाने के विषय में ग्रन्थकार मौन हैं। इसपर यह कहा जा सकता है कि वे शूद्रों को विद्याध्ययन से वञ्चित रखना चाहते हैं। ऐसा मानना ग्रन्थकार के अन्यत्र उपलब्ध वचनों के विपरीत है। द्वितीय समुल्लास में वे लिख आये हैं—'शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें।' पुनः तृतीय समुल्लास में कुछ आगे चलकर सुश्रुत के प्रमाण से उन्होंने लिखा है—'शूद्र पढ़े पर उसका उपनयन न करे'। इसी समुल्लास के अन्त में उन्होंने '**स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्**' इस कथन का खण्डन करते हुए बलपूर्वक स्त्रियों के साथ-साथ शूद्रों के भी न केवल साधारणतया पढ़ने, बल्कि वेद का अध्ययन करने के अधिकार को मान्यता प्रदान की है।

विद्यालय एकान्त में—ऋग्वेद ८।६।२८ में कहा है—'**उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।**' प्रचलित पाठ में 'सङ्गथे' के स्थान में 'सङ्गमे' पद का प्रयोग मिलता है। हमारा पाठ श्री सातवलेकरजी तथा श्री जयदेव मीमांसातीर्थ के अनुसार है। पर्वतों के समीप और नदियों के संगम स्थल में उत्तम बुद्धि और कर्म के योग तथा ध्यान के अभ्यास से मनुष्य ज्ञानी होता है। धारणा, ध्यान आदि के लिए पर्वतों तथा नदियों के आह्लादकारक स्थान सहायक सिद्ध होते हैं। ऐसे ही विद्याध्ययन के लिए अपेक्षित चित्त की एकाग्रता के लिए इस प्रकार के एकान्त स्थान लाभदायक होते हैं। ग्रन्थकार ऐसे ही एकान्त स्थान में स्थित गुरुकुल में शिक्षा की व्यवस्था के पक्षधर हैं। यह बालक का निर्माणकाल है। इस समय उसे ऐसे स्वच्छ एवं पवित्र वातावरण की आवश्यकता होती है जो उसके शारीरिक, बौद्धिक तथा चारित्रिक विकास में सहायक हो। नगर

का वातावरण अध्ययन-अध्यापन में किस प्रकार और किस सीमा तक बाधक है, यह सबके प्रत्यक्ष का विषय है। विविध प्रकार के निकृष्ट मनोरंजन के साधन, विवाहित स्त्री-पुरुषों का स्वेच्छाचार, आये दिन होनेवाली हड़तालें, जलूस व झगड़े आदि सभी छात्रों को अपनी ओर आकृष्ट करते रहकर उनके कार्य में बाधक सिद्ध होते हैं और उसे अपने मार्ग से विचलित करते हैं। उसके अपने घर का वातावरण भी उसपर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। समय-समय पर उसे पारिवारिक दायित्वों को भी निभाना पड़ता है।

आज हमारे समाज के तथाकथित उच्च वर्ग को पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता की चकाचौंध में अन्धा होने के कारण अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता, भाषा, परिवेश और परम्परा आदि सभी से घृणा है। यह वर्ग क्लबों में जाकर सुरा-सुन्दरी का सहवास प्राप्त करना ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठा है। इनके घरों में विलास के सभी उपकरण सहज उपलब्ध हैं। नग्न स्त्रियों के चित्रोंवाली पत्रिकाएँ तथा अश्लील उपन्यास इनके घरों की शोभा हैं। इनके बच्चे अश्लील अंग्रेजी फ़िल्में देखते और अश्लील गानों की धुनों पर अश्लील हाव-भाव के साथ थिरकने में गर्व महसूस करते हैं। इस सबके फलस्वरूप निर्बाध विलास में लिप्त लोगों को पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष से सम्बन्ध रखने तथा उनकी कन्याओं को युवकों के साथ बाँह-में-बाँह डाले घूमने में कोई संकोच नहीं होता। उससे प्रभावित और आकृष्ट होकर मध्यवर्ग का विद्यार्थी भी उनका अनुकरण करने की चेष्टा करता है। उसके चित्त में भी अपने उच्च वर्ग के सहपाठियों-जैसा विलासी जीवन व्यतीत करने की तीव्र लालसा उभरती है, परन्तु साधनों के अभाव में मन मारकर रह जाता है। इन कारणों से उत्पन्न कुण्ठाओं से ग्रस्त हर किशोर एवं युवक का चित्त एवं मस्तिष्क सर्वथा अनियन्त्रित रहता है।

विवाहोत्सवों तथा खुली सड़कों पर नशे में चूर युवक-युवतियों की अश्लील भाव-भंगिमाओं के साथ होनेवाले नृत्यों, अविवाहित प्रेमी-युगलों, सहशिक्षा, आकाशवाणी से प्रसारित होनेवाले गानों तथा दूरदर्शन पर दिखाये जानेवाले कामोद्दीपक दृश्यों, विज्ञापनों, देशी-विदेशी फ़िल्मों और दीवारों पर चिपकाये गये या अन्यथा खड़े किये गये बड़े-बड़े विज्ञापनों आदि का अपरिपक्व अवस्था के छात्र-छात्राओं पर कितना दूषित प्रभाव पड़ता है—आज इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

मद्रास शहर के कॉलिजों में किये गये अध्ययन के आधार पर गुप्तरोग-विशेषज्ञ डॉ० नारायण रेड्डी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है—

Half the students have said 'love scenes in cinemas have excited them more than pornographic and other material. Half the respondents had sexual experience between the ages of 15 and 25 years. The percentage of those who had a first homosexual experience increased from 16 to 19 percent, with the number of female students having such an experience being more than that of male students by 9 to 12 percent. —Indian Express, New Delhi, dated 19.4.89.

यही कारण है कि ग्रन्थकार केवल शिक्षा-संस्थाओं को ही नगरों से दूर नहीं रखना चाहते, वे यह भी चाहते हैं कि उनके माता-पिता अपनी सन्तानों से और सन्तान अपने माता-पिता से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार कर सकें, जिससे विद्यार्थी सब प्रकार के आकर्षणों से दूर और चिन्ताओं से मुक्त होकर सर्वात्मना विद्याध्ययन में प्रवृत्त रहें।

यह कहा जा सकता है कि नगरों से दूर रहकर और परिवार व समाज से कटकर विद्यार्थी भावी जीवन में परिवार तथा समाज के प्रति अपने दायित्वों को नहीं निभा सकेगा। उसकी सामाजिक भावना ही नष्ट हो जाएगी, पर ग्रन्थकार ने शिक्षण-संस्था का जो स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है, उसमें नगर व समाज से दूर रहकर भी उसकी सामाजिक भावना विलुप्त नहीं होगी। वहाँ उसे परिवार-जैसा नया परिवेश मिलेगा, जिसमें आचार्य व अन्य गुरुजन उसके पितृतुल्य होंगे, संस्था उसकी माता होगी, सहपाठी उसके भाई-बन्धु तथा अन्य कर्मचारी सम्बन्धियों के समान होंगे।

वस्तुत: स्वयं गुरुकुल नाम में ही कुल या परिवार की भावना विद्यमान है। एक-दूसरे से सर्वथा अपरिचित विद्यार्थियों के बीच में रहने से जिस आत्मीयता तथा सामाजिकता का विकास होता है वह परिवारों या नगरों में उत्पन्न सामाजिक भावना से कहीं उदात्त होती है।

यज्ञोपवीत का प्रयोजन—यज्ञोपवीत के तीन तार क्रमश: तीन ऋणों—१. ऋषिऋण, २. पितृऋण तथा ३. देवऋण का निर्देश करते हैं जो अधिकार के योग्य होते ही एक आर्य के सिर पर चढ़ते हैं। प्रथम ऋण ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन से, द्वितीय धर्मपूर्वक सन्तानोत्पत्ति और उसके यथावत् पालन-पोषण व संरक्षण से और तृतीय यज्ञादि द्वारा निवृत्त होते हैं—"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि: ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्य:, प्रजया पितृभ्य:, यज्ञेन देवेभ्य:" (तै० सं० ६।३।१०।५)। यहाँ 'ब्राह्मण' द्विजमात्र का उपलक्षक है। ये तीन विशेषरूप से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम में उतारे जाते हैं। इसलिए यह व्यवस्था है कि इन तीनों ऋणों से मुक्त होकर संन्यास की दीक्षा लेनेवाला इस यज्ञसूत्र को जल में डाल देता है और भविष्य में इसे धारण नहीं करता। इसी के साथ उसका यज्ञ करने-कराने का अधिकार समाप्त हो जाता है।

ऋषियों ने हमें ज्ञान दिया। यदि उन्होंने स्वयं ज्ञान प्राप्त कर हमें संक्रमित न किया होता तो हम निपट मूर्ख रहते। जैसे उन लोगों ने ज्ञान प्राप्त कर हम लोगों तक पहुँचाया, वैसे ही हमें भी ज्ञान प्राप्त कर उसके संक्रमण में प्रवृत्त होना चाहिए। यज्ञोपवीत का एक तार हमें सतत इस बात का स्मरण कराते रहने के लिए है। यह कार्य विशेषरूप से ब्रह्मचर्याश्रम में होता है।

ब्रह्मसूत्र—ब्रह्मसूत्र का अर्थ है ब्रह्म का बोधक सूत्र। ब्रह्म नाम है वेद का और वेद का अपर नाम है विद्या। विद्या के तीन रूप हैं—ज्ञान, कर्म और उपासना। ज्ञान और कर्म (प्रयत्न) जीवात्मा के स्वाभाविक गुण हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा के कर्मरूप गुण को सार्थक करने के लिए हैं और कर्मेन्द्रियाँ उसके 'ज्ञान' गुण को सफल करने के लिए। कुछ पाने के लिए कर्म की अपेक्षा है और कर्म को दिशानिर्देश ज्ञान से मिलता है। 'पंग्वन्धन्याय' के अनुसार ज्ञान के बिना कर्म अन्धा और कर्म के बिना ज्ञान लंगड़ा है। दोनों के सहयोग से जीवन-यात्रा सम्भव है, किन्तु ज्ञान और कर्म मिलकर आत्मा की गाड़ी को ले कहाँ जाएँगे, यदि उनका कोई लक्ष्य नहीं है। दोनों का लक्ष्य है—ब्रह्मप्राप्ति, अत: ज्ञान, कर्म, उपासनारूपी इन तीन तारों को जिस ग्रन्थि से जोड़ा जाता है उसे 'ब्रह्मग्रन्थि' कहते हैं। ब्रह्मचारी का अर्थ है ब्रह्म=वेद और परमेश्वर में विचरण करनेवाला। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम का अन्तिम लक्ष्य है—वेदज्ञान के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना।

वर्णभेद—यहाँ यह जन्म पर आश्रित न होकर गुण-कर्म-स्वभाव,माता-पिता के संकल्प तथा बालक के सामर्थ्य के अनुसार है, इस विषय का विस्तृत विवेचन हम नामकरण-संस्कार के अन्तर्गत कर आये हैं।

वसन्त ऋतु सौम्य गुण प्रधान होने से ब्राह्मण-भावना की प्रतीक है, ग्रीष्म ऋतु तेजस्वी होने से क्षत्रिय-भावना की प्रतीक है और शरद् शीतल होने से वैश्य-भावना की प्रतीक है। इसलिए वे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए अधिक उपयुक्त हैं। 'सर्वकालमेके' का विधान होने से किसी भी ऋतु में किसी के उपनयन करने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार सात्त्विक वृत्तिवाला होने से ब्राह्मण के लिए दुग्धाहार, तेजस्वी क्षत्रिय के लिए बलकारी यवागू का भोजन और श्रीमान् वैश्य के लिए श्रीखण्ड सर्वथा उपयुक्त हैं।

समय—यज्ञोपवीत का समय उत्तरायण काल में रक्खा है, क्योंकि उत्तरायण काल प्रकाश और प्रगति का काल है। इस काल में शारीरिक बल (जो दक्षिणायन में बढ़ता है) की अपेक्षा मानसिक तथा बौद्धिक बल की वृद्धि अधिक होती है। इसलिए यह काल ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त होने के लिए अधिक उपयुक्त है।

संस्कार का आरम्भ—सभी संस्कारों का आरम्भ ईश्वरस्तुप्रार्थनेपासना के पाठ से होता है, परन्तु यज्ञोपवीत संस्कार में ऐसा नहीं होता। कारण? जिस बालक का यज्ञोपवीत संस्कार होने जा रहा है उसे मन्त्रपाठ करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि वह यज्ञोपवीती नहीं है। उसे इसका अधिकारी बनाने के लिए सबसे पहले उसे यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। तदनन्तर स्तुतिप्रार्थनोपासना का पाठ आरम्भ होता है।

आचार्य—यहाँ दी गई परिभाषा के अतिरिक्त ग्रन्थकार द्वारा अन्यत्र दी गई आचार्य की कतिपय अन्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

१—जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा व विद्यावान् बनाने के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न करे, उसको आचार्य कहते हैं। —व्यवहारभानु

२—जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको आचार्य कहते हैं। —आर्योद्देश्यरत्नमाला

३—जो सांगोपांग वेद विद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे, वह आचार्य कहाता है। —स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

४—जो सत्योपदेश से हृदय के अज्ञानरूपी अन्धकार को मिटा देवे, उसको भी आचार्य कहते हैं। —आर्योद्देश्यरत्नमाला

५—आचार्य उसे कहते हैं कि जो अत्याचार को छुड़ाके अर्थों को ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ावा देता है। —ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

यज्ञोपवीत का इच्छुक बालक आचार्य के सम्मुख उपस्थित होकर निवेदन करता है— **'ब्रह्मचर्यमागाम्'**—मैं ब्रह्मचर्य धारण करने आया हूँ। इसपर आचार्य 'येनेन्द्राय०' इस मन्त्र का उच्चारण करता है—

येनेन्द्राय०—जिस विधि से आचार्य बृहस्पति ने इन्द्र को दीर्घायु, बल और तेज प्रदान करनेवाले दिव्य वस्त्र पहनाये थे, ब्रह्मचर्य और ज्ञान के प्रतीक अमृततुल्य वही वस्त्र में तुम्हें धारण करा रहा हूँ।

यह कहकर आचार्य जब बालक को वस्त्र पहनाता है तो वह खिल उठता है।

यज्ञोपवीतम्०—(यज्ञोपवीतम्) यह ब्रह्मसूत्र (परमं पवित्रं) अत्यन्त पवित्र है। (यत्) जो (पुरस्तात्) प्राचीन काल से चला आता है। (प्रजापतेः) प्रजापति के (सहजं) साथ ही आदिकाल से वर्त्तमान है। यह (आयुष्यम्) आयु का देनेवाला है, (अग्र्यम्) जीवन में आगे-ही-आगे ले-जानेवाला है। इसे कन्धे पर (प्रतिमुञ्च) डाल। यह (यज्ञोपवीतं) यज्ञोपवीत (शुभ्रं) निर्मल है (बलं तेजः) बल और तेज का देनेवाला (अस्तु) हो। हे बालक! तू (यज्ञोपवीतमसि) यज्ञोपवीत है। मैं (त्वा) तुझे (यज्ञोपवीतेन) यज्ञोपवीत से (उपनह्यामि) अपने साथ बाँधता=जोड़ता हूँ।

वस्तुतः यज्ञोपवीत आचार्य और शिष्य को प्रेमपाश में परस्पर बाँधने का सशक्त माध्यम है। इसीलिए इसका अपर नाम उपनयन=आचार्य के उप (पास) नयन (ले-जानेवाला) है।

यज्ञोपवीतसंस्कार में गुरु या आचार्य पहले वस्त्र पहनाता है, तत्पश्चात् उसके ऊपर यज्ञोपवीत डालता है। यज्ञोपवीत विद्या का चिह्न है, इसलिए पुराने समय में ब्रह्मचारी अंगरखा आदि के ऊपर यज्ञोपवीत पहनते होंगे। महाभारत में एक स्थल पर वृद्ध गुरु द्रोणाचार्य के श्वेत वस्त्रों पर श्वेत यज्ञोपवीत पहनने का वर्णन मिलता है—

ततः शुक्लाबरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्। शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः॥

पारसी लोग व रोमन कैथोलिक पादरी लोग भी अपना-अपना यज्ञोपवीत चाहे वह किसी नाम से हो, वस्त्रों के ऊपर ही पहनते हैं। पारसी इस सूत्र को कोस्टी (Kosti) कहते हैं। जब कोई कोस्टी डाल लेता है तो उस बालक को नवज़ाद (Navazad)=नवजात (Newly Born) कहते हैं जो द्विज का पर्यायवाची हैं। हमारे यहाँ यज्ञोपवीत न पहननेवाले को पतित घोषित कर दिया जाता है, पर पारसियों में उसेक आथ खान-पान बन्द कर देते हैं (Parsi Religion Unfolded, P. 163)। पं० गङ्गाप्रसाद अपने कालजयी ग्रन्थ Fountain Head of Religion में लिखते हैं कि कुस्ती न पहननेवाले को धर्मग्रन्थ 'गाथा' पढ़ने का अधिकार नहीं था, उसे मृत्युदण्ड तक दिया जाता था। पारसियों के यज्ञोपवीत पहनने का जो मन्त्र है उसका अर्थ इस प्रकार है—"ऐ डोरा! तू बहुत बड़ा है, उज्ज्वल (शुभ्रम्) है। आयु और बल देनेवाला (आयुष्यमग्र्यम्) है। तुझे मज्दा ने आरोपित किया है (प्रजापतेर्यत् सहजम्), मैं तुझे पहनता हूँ।"

ईसाई जो बपतिस्मा देते हैं उसका भी यही तात्पर्य है। यह (Baptism) शब्द यूनानी भाषा का है जिसका अर्थ है—Regeneration (Oxford English Dictionary) अर्थात् पुनरुत्पत्ति।

यज्ञोपवीत पहनाने के पश्चात् आचार्य बालक को अपने से दूर नहीं, अपने साथ दाहिनी ओर बिठाता है। आचार्य के बराबर बैठना ही बालक के लिए अपने आपमें कितनी बड़ी बात है। पहले अपने हाथों से वस्त्र पहनाये और फिर स्नेहपूर्वक अपने साथ लगाकर बिठा लिया। यह सब आचार्य के पितृतुल्य व्यवहार का बोधन करा रहा है। ऐसे स्नेही आचार्य के प्रति बालक का आकर्षण होना स्वाभाविक है। अब वह उसे अपना परम हितैषी मानकर सदा उसकी आज्ञा का सहर्ष पालन करने में तत्पर होगा।

अग्ने व्रतपते—वस्तुतः उपनयन-संस्कार व्रत धारण करने का संस्कार है। इन मन्त्रों में 'व्रतानां व्रतपति' परमेश्वर की साक्षी में व्रत धारण किया है, मानो शपथ ली है कि मैं (व्रतं चरिष्यामि) व्रत का पालन करूँगा—तदनुकूल आचरण करूँगा। (तत्ते प्रब्रवीमि) यह मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ, परन्तु मैं अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति हूँ। हो सकता है कहीं मेरे पाँव लड़खड़ा जाएँ। इसलिए

यज्ञोपवीत का समय—उत्तरायण सूर्य, और—

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्। ग्रीष्मे राजन्यम्। शरदि वैश्यम्। सर्वकालमेके॥

—यह शतपथब्राह्मण का वचन है॥[१]

अर्थः—ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें। अथवा सब ऋतुओं में उपनयन हो सकता है और उसका प्रातःकाल ही समय है।

पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः॥

—यह शतपथब्राह्मण का वचन है॥[२]

यह सोमयाग में विहित है। व्रतत्व सामान्य से सर्वत्र व्यवहार्य है।

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो, उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को कराना चाहिए। उन व्रतों में ब्राह्मण का लड़का एक बार वा अनेक बार दुग्धपान, क्षत्रिय का लड़का 'यवागू' अर्थात् यव को मोटा दलके गुड़ के साथ पतली[३] जैसीकि कढ़ी होती है, वैसी बनाकर पिलावें और 'आमिक्षा' अर्थात् जिसको श्रीखण्ड वा सिखण्ड कहते हैं, वैसी जो दही चौगुना, दूध एक गुना तथा यथायोग्य खाँड, केसर डालके कपड़े में छानकर बनाया जाता है,[४] उसको वैश्य का लड़का पीके व्रत करे, अर्थात् जब-जब लड़कों को भूख लगे, तब-तब तीनों वर्णों के लड़के इन तीनों पदार्थों ही का सेवन करें, अन्य पदार्थ कुछ न खावें-पीवें।

आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे शक्ति दें कि मैं (तत् शकेयम्) अपनी-प्रतिज्ञा को पूरा कर सकूँ और (ऋध्यासम्) समृद्धि-सम्पत्तियुक्त होऊँ। मेरा व्रत है कि (इदमहम्) यह मैं (अनृतात् सत्यं उपैमि) असत्य का परित्याग करके सत्य को प्राप्त होऊँ।

किसी प्रतिज्ञा या व्रत का पूर्ण होना मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करता है—दृढ़-संकल्प और सभ्य समाज के समाने उसकी घोषणा। बालक ने पाँच मन्त्रों के द्वारा परमेश्वर के पाँच गुणों का स्मरण करते हुए मानों पंचों के सामने शपथ ली है—अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र 'अनृतात् सत्यमुपैमि' इस वचन की पाँच बार आवृत्तिकी है, क्योंकि **'न हि सत्यात् परो धर्मः नानृतात् पातकं परम्।'**

अब आचार्य की बारी है कि वह बालक ब्रह्मचारी को आश्वस्त करे। वह परमेश्वर से उसके हितार्थ प्रार्थना करता है—

आगन्त्रा—हे अग्ने परमात्मन्! (आगन्त्रा) ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करनेवाले इस ब्रह्मचारी के साथ (समगन्महि) हम सब सम्पर्क करें। (सुमर्त्यं) भले लोगों के साथ इसका (सुयोजन) मेल-

---

१. यह वचन शतपथ में नहीं मिलता। श० २।१।३।५ में इससे मिलता-जुलता पाठ है, परन्तु वह अग्न्याधान प्रकरण का है, उपनयन का नहीं। गदाधर ने पार० गृह्य० १।२ की व्याख्या में 'श्रुतिः—वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्' ऐसा पाठ उद्धृत किया है। बौधायन गृह्यसूत्र में 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यं, वर्षासु रथकारम् इति। सर्वान् एव वा वसन्ते' (२।५।६) यह पाठ उद्धृत है।

२. तुलना करो—**पयो ब्राह्मणस्य व्रतं, यवागु राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य॥**—तै० आ० २।८॥

३. पतले पके हुए चावल को 'यवागू' कहते हैं। ऐसा कर्काचार्य का कथन है।

४. तप्ते पयसि दध्यानयति साऽऽमिक्षा (ब्राह्मण-वचन)। उबलते दूध में दही डालने पर जो घना भाग इकट्ठा हो जाता है, वह 'आमिक्षा' कहाती है। यही श्रौतपदार्थवेदी कहते हैं।

विधिः—अब जिस दिन उपनयन करना हो, उसके पूर्व दिन में सब सामग्री इकट्ठी कर याथातथ्य शोधन आदि कर लेवे और उस दिन पृष्ठ ३६–६३वें तक कुण्ड के समीप सब सामग्री धर, प्रातःकाल बालक का क्षौर करा, शुद्ध जल से स्नान करावे। उत्तम वस्त्र पहना, यज्ञमण्डप में पिता वा आचार्य बालक को मिष्टान्नादि का भोजन कराके वेदी के पश्चिमभाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठावे और बालक का पिता और पृष्ठ ५५ में लिखे प्रमाणे ऋत्विज् लोग भी पूर्वोक्त प्रकार अपने-अपने आसन पर बैठ, यथावत् आचमनादि क्रिया करें।

पश्चात् कार्यकर्त्ता बालक के मुख से—

ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि॥[१] ये वचन बुलवाके आचार्य*—

ओं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम्।

तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे॥[२]

इस मन्त्र को बोलके बालक को सुन्दर वस्त्र और उपवस्त्र पहनावे। पश्चात् बालक आचार्य के सम्मुख बैठे और यज्ञोपवीत हाथ में लेके—

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।

आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ १॥

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि॥ २॥[३]

इन मन्त्रों को बोलके आचार्य बायें स्कन्धे के ऊपर कण्ठ के पास से शिर बीच में निकाल दाहिने हाथ के नीचे बगल में निकाल कटि तक धारण करावे। तत्पश्चात् बालक को अपने दाहिने ओर साथ बैठाके ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण का पाठ करके समिदाधान, अग्न्याधान कर (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०) इत्यादि पूर्वोक्त चार मन्त्रों से पूर्वोक्त रीति से कुण्ड के चारों ओर जल छिटका, पश्चात् आज्याहुति करने का आरम्भ करना।

वेदी में प्रदीप्त हुई समिधा को लक्ष में धर, चमसा में आज्यस्थाली से घी ले, आघारावाज्यभागाहुति[४] ४ [चार] और व्याहृति आहुति[५] ४, तथा पृष्ठ ६१–६२ में लिखे प्रमाणे आज्याहुति[६] ८ आठ, तीनों मिलके १६ सोलह घृत की आहुति देके, पश्चात् बालक के हाथ से प्रधानहोम, जो विशेष शाकल्य बनाया हो, उसकी आहुतियों निम्नलिखित मन्त्रों से दिलानी—(ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०) पृष्ठ ६१ में लिखे प्रमाणे ४ [चार] आज्याहुति देवें। तत्पश्चात्—

ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।

तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥

ओं वायो व्रतपते०* स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ २॥

---

* इसके आगे 'व्रतं चरिष्यामि' इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र बोलना चाहिए॥ **—द०स०**

---

१. पार० गृह्य० २।२।६॥ २. पार० गृह्य० २।२।६॥

३. पार० गृह्य० २।२।११ में क्वाचित्क पाठ है। टीकाकारों ने इसे शाखान्तरीय मन्त्र माना है।

४. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

५. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

६. 'ओं त्वन्नो अग्ने०' आदि ८ मन्त्रों से॥

ओम् सूर्य व्रतपते० स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ ३॥

ओम् चन्द्र व्रतपते० स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ ४॥

ओम् व्रतानां व्रतपते० स्वाहा॥ इदमिन्द्राय व्रतपतये—इदन्न मम॥ ५॥[१]

इन ५ [पाँच] मन्त्रों से ५ [पाँच] आज्याहुति दिलानी। उसके पीछे पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति[२] ४ [चार] और पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत्[३] आहुति एक और पृष्ठ ६१ में लिखे प्रमाणे प्राजापत्याहुति[४] एक, ये सब मिलके ६ घृत की आहुति देनी। सब मिलके १५ [पन्द्रह] आहुति बालक के हाथ से दिलानी।

उसके पश्चात् आचार्य यज्ञकुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुक बैठे और बालक आचार्य के सम्मुख पश्चिम में मुख करके बैठे। तत्पश्चात् आचार्य बालक की ओर देखके—

ओम् आगन्त्रा समगन्महि प्र सुमर्त्यं युयोतन। अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति चरतादयम्॥ १॥[५]

इस मन्त्र का जप करे।

माणवकवाक्यम्—"ओं ब्रह्मचर्यमागामुप मा नयस्व"।[६]

आचार्योक्तिः—"को * नामासि?"[७]

बालकोक्तिः—"एतन्नामास्मि"§।[८]

तत्पश्चात्—

ओम् आपो हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ऽ ऊ॒र्जे द॑धातन। म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से॥ १॥
यो वः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑। उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑॥ २॥
तस्मा॒ऽ अरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ। आपो॑ ज॒नय॑था च नः॥ ३॥[९]

जोल हो। (अरिष्टाः) इस बालक के सब कष्टों-विघ्नों को (संचरेमहि) हम अपने ऊपर लेते हैं। आपकी कृपा से (अयम्) यह बालक यहाँ (स्वस्ति) सुखपूर्वक (चरतात्) विचरण करे।

ब्रह्मचर्यमागाम्०—मैं ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर चुका हूँ, अब मुझे अपने पास रखिए।

को नामासि—तेरा क्या नाम है?

एतन्नामास्मि—मेरा अमुक नाम है।

आपो हि ष्ठा०—भावार्थ—जल यहाँ वीर्य का उपलक्षक है। तभी जल से ओज और बल माँगा गया है। हम इतने बलवान् और वीर्यवान् हों कि बड़े-बड़े संघर्षों में विजयी हों।

यो वः शिवतमो०—भावार्थ—जैसे माता पुत्र के प्रेम में अपना दुग्धरस बच्चे को पिलाती है, वैसे हे वीर्यरूप जलो! तुम अपना कल्याणप्रदरस हमें दो ताकि हम वीर्यवान् होकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें।

तस्मा अरं०—भावार्थ—जो वीर्य का क्षय करता है, वीर्य के प्रतीक जल उसका क्षय करते

---

* तेरा नाम क्या है, ऐसा पूछना। **—द०स०**   § मेरा यह नाम है। **—द०स०**

---

१. मन्त्रब्रा० १।६।९-१३॥
२. **'ओं भूरग्नये स्वाहा'** आदि ४ मन्त्रों से।
३. **'ओं यदस्य कर्मणो०'** मन्त्र से।
४. **'ओं प्रजापतये स्वाहा'** मन्त्र से।
५. मन्त्रब्रा० १।६।१४॥
६. मन्त्रब्रा० १।६।१६॥
७. मन्त्रब्रा० १।६।१७॥
८. तुलना—मन्त्रब्रा० १।६।१८॥
९. यजुः० ३६।१४-१६॥

इन ३ [तीन] मन्त्रों को पढ़के बटुक की दक्षिण हस्ताञ्जलि शुद्धोदक से भरनी।

तत्पश्चात् आचार्य अपनी हस्ताञ्जलि भरके—

ओं तत्स॑वि॒तुर्वृ॑णीमहे व॒यं दे॒वस्य॒ भोज॑नम्। श्रेष्ठं॑ सर्व॒धात॑मं तुरं॒ भग॑स्य धीमहि॥ ४॥[१]

इस मन्त्र को पढ़के आचार्य अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलि में छोड़के, बालक की हस्ताञ्जलि अङ्गुष्ठसहित पकड़के—

ओम् देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसौ *।[२]

इस मन्त्र को पढ़के बालक की हस्ताञ्जलि का जल नीचे पात्र में छुड़ा देना। इसी प्रकार दूसरी बार, अर्थात् प्रथम आचार्य अपनी अञ्जलि भर, बालक की अञ्जलि में अपनी अञ्जलि का जल भरके, अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़के—

ओं सविता ते हस्तमग्रभीत्, असौ॥[३]

इस मन्त्र से पात्र में छुड़वा दे। पुनः इसी प्रकार तीसरी बार आचार्य अपने हाथ में जल भर, पुनः बालक की अञ्जलि में भर, अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़के—

ओम् अग्निराचार्यस्तव, असौ॥[४]

हैं। ऐसा जीवन बनाओ जिससे वीर्य क्षय न हो।

तत्सवितुर्वृणीमहि०—भावार्थ—सूर्य का भोजन जल है, क्योंकि जहाँ भी जल हो सूर्य अपनी किरणों से खींचकर मानो उसे खा जाता है।

अंजलि से जल छुड़वाना—जलांजलि की क्रिया तीन बार होनी है। पहले आचार्य 'आपो हि ष्ठा', 'यो वः शिवतमो' तथा 'तस्मा अरं' इन तीन मन्त्रों को बोलकर बालक की अंजलि में जल भरे, फिर 'तत्सवितुर्वृणीमहे' इस मन्त्र से अपनी जलभरी अंजली का जल बालक की अंजलि में छोड़े। यह क्रिया तीनों बार समानरूप से होगी, परन्तु बालक की अंगुष्ठसहित अंजलि पकड़कर उसका जल नीचे रक्खे पात्र में छुड़वाते समय के तीनों मन्त्र अलग-अलग होंगे—

पहली बार—देवस्य त्वा०—भावार्थ—आचार्य कहता है कि हे बालक! तू सूर्यदेव का पुत्र है। तेरा सूर्यदेव से प्रसव हो रहा है, क्योंकि तेरे जीवन का लक्ष्य सूर्य की तरह प्रकाशित होकर सूर्यपुत्रसदृश बनना है। तेरे इस प्रसव के समय मैं अश्वियों की भुजाओं से तुझे ग्रहण करता हूँ, जिससे जीवन में तुझे रोग न सताएँ और तेरे पोषण में कोई कमी न हो।

दूसरी बार—सविता ते०—सर्वोत्पादक व सर्वप्रेरक परमेश्वर ने तेरा हाथ ग्रहण किया है।

तीसरी बार—अग्निराचार्यस्तव—मार्गदर्शक परमात्मा तेरा चरित्र-निर्माता है।

जल छोड़ना क्यों?—पात्र में जल छोड़ते समय जो-जो मन्त्र बोले जाते हैं वे परमात्मा की धारणाशक्ति के बोधक हैं। अंजलि का जल पात्र में छुड़वाने की क्रिया के माध्यम से आचार्य बालक को संकेत कर रहा है कि जिस प्रकार यह पात्र तेरी अंजलि के जल को जिसमें मेरी अंजलि का

---

* 'असौ' इस पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नामोच्चारण सर्वत्र करना चाहिए॥ —द०स०

---

१. ऋ० ८।८२।१॥ २. आश्व० गृह्य० १।२०।४॥
३. आश्व० गृह्य० १।२०।४॥ ४. आश्व० गृह्य० १।२०।५॥

तीसरी बार बालक की अञ्जलि का जल छुड़वाके, बाहर निकल सूर्य के सामने खड़े रह उसे देखके आचार्य—

ओं देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी तं गोपाय स मामृत ॥[१]

इस एक और पृष्ठ १३७ में लिखे प्रमाणे (तच्चक्षुर्देवहितम्०) इस दूसरे मन्त्र को पढ़के बालक को सूर्यावलोकन करा, बालकसहित आचार्य सभामण्डप में आ, यज्ञकुण्ड की उत्तरबाजू की ओर बैठके—

ओं युवा सुवासा परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ॥[२] इस तथा—

जल भी शामिल है, अपने भीतर धारण कर रहा है, उसी प्रकार परमात्मा हम दोनों के संकल्पों की रक्षा करनेवाला और उसके सम्पादन में हमारी सहायता करनेवाला है।

किसी के साथ वचन या प्रतिज्ञा करते समय एक-दूसरे के हाथ-पर-हाथ रखना इस बात का संकेत समझा जाता है कि यह वचन प्रसन्नतापूर्वक दिया गया है और इसे संकल्पपूर्वक निभाया जाएगा। इसी भाव को प्रकट करने के लिए यजमान द्वारा पुरोहित के हाथ में अपने हाथ का जल छोड़ना लोकाचार है। इसे संकल्प लेना कहते हैं। पानी का हाथ में लेकर छोड़ना तो संकल्प को प्रकट करता है और मुख से जो बोला जाता है वह उस व्यवहार को।

तीनबार क्यों?—तीन बार ऐसा करना प्रतिज्ञा की दृढ़ता का द्योतक है। सरकारी बोली में तीन बार घोषणा होने पर नीलाम को पूरा हुआ माना जाता है। फ़ौजी लोग तीसरी बार आदेश मिलते ही काम शुरू कर देते हैं। प्रत्येक कार्य का पर्यवसान तीन रूप में होता है—मानसिक, वाचिक तथा कायिक। एक बार कहने का अर्थ है कि हम उसे मन से करने को तैयार हैं, दूसरी बार कहने से स्पष्ट है कि हम मन की बात की पुष्टि सबके सामने वाणी द्वारा कर रहे हैं और तीसरी बार का अर्थ है कि हम उसे कार्यरूप में कर रहे हैं।

सूर्यदर्शन—यहाँ सूर्यावलोकन की क्रिया में चार मन्त्र पढ़े जाते हैं—दो मन्त्र सूर्य के सामने खड़े होकर उसे देखते हुए और दो मन्त्र बालक को सूर्यावलोकन कराके सभामण्डप में लौटकर बैठके। इसके तीन प्रयोजन हो सकते हैं—

१—बालक को यह प्रेरणा करना कि तुम्हें सूर्य की तरह तेजस्वी होकर अपने को प्रकाशित करना, लोगों की दृष्टि में आकर प्रतिष्ठा लाभ करना।

२—अपने तेज या प्रकाश को अपने में समेटकर अपने तक सीमित न रखके अपनी शक्ति और उपलब्धियों से दूसरों का हित करना।

३—जैसे सूर्य पृथिवी पर पड़े जल को अपनी किरणों द्वारा खींच, बादल बनाकर फिर पृथिवी को लौटा देता है, इसी प्रकार तुम भी इधर-उधर से ज्ञान संगृहीत करके दूसरों में संक्रमित करते जाना।

देव सवितः०—हे (सविता देव) सर्वप्रेरक परमेश्वर! (एष ते ब्रह्मचारी) यह तेरा ब्रह्मचारी है (तं गोपाय) तू इसकी रक्षा कर (सः) वह (मा) मत (मृत) मरे।

तच्चक्षुर्देवहितम्—स्पष्टमेतत्।

युवा सुवासः—शोभन वस्त्रों को धारण कर एक युवक (परिवीत) यज्ञोपवीत पहनकर

---

१. आश्व० गृह्य० १।२०।६॥ २. ऋ० ३।८।४॥ स्वरचिह्न हमने लगाये हैं।

ओं सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व, असौ * ॥[१]

इस मन्त्र को पढ़े और बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके आचार्य के सम्मुख बैठे। पश्चात् आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्धे पर अपने हाथ से स्पर्श और पश्चात् अपने हाथ को वस्त्र से आच्छादित करके—

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम्§॥ १ ॥[२]

इस मन्त्र को बोलने के पश्चात्—

ओं अहुर इदं ते परिददामि, अमुम्॥ २ ॥[३]

इस मन्त्र से उदर पर। और—

ओं कृशन इदं ते परिददामि, अमुम्॥ ३ ॥[४]

इस मन्त्र से हृदय।

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि, असौ॥ ४ ॥[५]

इस मन्त्र को बोलके दक्षिण स्कन्ध, और—

ओं देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, असौ॥ ५ ॥[६]

इस मन्त्र को बोलके वाम हाथ से बायें स्कन्ध पर स्पर्श करके, बालक के हृदय पर हाथ धरके—

ओं तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥ ६ ॥[७]

इस मन्त्र को बोलके आचार्य सम्मुख रहकर बालक के दक्षिण हृदय पर अपना हाथ रखके—

(आगात्) आया है। (सः उ) और वह (जायमानः) दूसरा जन्म लेगा=द्विज बनेगा। यह सबके लिए (श्रेयान् भवति) कल्याणकारी होगा।

सूर्यस्यावृतः०—हे बालक! (सूर्यस्य आवृतम्) सूर्य के समान प्रकाशमान=ज्ञान के पुञ्ज इस आचार्य के (अनु-आ-वर्तस्व) अनुवर्ती बनो, चारों ओर से उसके साथ जुड़े रहो।

सारे शरीर का केन्द्र प्राण है और प्राणों का केन्द्र नाभि है। इसलिए आचार्य नाभि को स्पर्श करते हुए उसे 'प्राणों की अर्थात् जीवन की गाँठ' बताते हुए अन्तक (परमात्मा) से प्रार्थना कर रहा है कि वह न 'विस्रसः'—डिगे, अपने नियत स्थान पर बनी रहे। शरीरांगों का स्पर्श शिष्य के साथ पूरी तरह आत्मसात् होने की अभिव्यक्ति है और वस्त्र से आच्छादित करना अपने प्रति बालक के विश्वास की पराकाष्ठा को जताना है।

---

* 'असौ' और 'अमुम्' इन दोनों पदों के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिए ॥ —द०स०

---

१. मन्त्रब्रा० १।६।२०॥
२. मन्त्रब्रा० १।६।२१॥
३. मन्त्रब्रा० १।६।२२॥
४. मन्त्रब्रा० १।६।२३॥
५. मन्त्रब्रा० १।६।२४॥
६. मन्त्रब्रा० १।६।२५॥
७. ऋक् ३।८।४॥

§ 'असौ' के स्थान पर सम्बोधनान्त और 'अमुम्' के स्थान पर द्वितीयान्त नाम का उच्चारण करना चाहिए।

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥[१]

आचार्य इस प्रतिज्ञामन्त्र को बोले।

अर्थात् 'हे शिष्य बालक! तेरे हृदय को मैं अपने अधीन करता हूँ। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति परमात्मा तुझको मुझसे युक्त करे'। यह प्रतिज्ञा करावे।

इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि—'हे आचार्य! आपके हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिए और परमात्मा मेरे लिए आपको सदा नियुक्त रक्खे'।

इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञा करके—

आचार्योक्तिः—को नामाऽसि?[२] तेरा नाम क्या है?

बालकोक्तिः—[असौ] अहम्भोः।[३] मेरा अमुक नाम है। ऐसा उत्तर देवे।

आचार्यः—कस्य ब्रह्मचार्यसि?[४] तू किसका ब्रह्मचारी है?

बालकः—भवतः।[५] आपका।

आचार्य बालक की रक्षा के लिए—

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव असौ *॥[६]

इस मन्त्र को बोले। तत्पश्चात्—

ओं कस्य ब्रह्मचार्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि॥ १॥[७]

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि। देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि। द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि। सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै॥ २॥[८]

इन मन्त्रों को बोल बालक को शिक्षा करे कि—'तू प्राण आदि की विद्या के लिए यत्नवान् हो'।

यह उपनयन-संस्कार पूरा हुए पश्चात् यदि उसी दिन वेदारम्भ करने का विचार पिता और आचार्य का हो तो उसी दिन करना और जो दूसरे दिन का विचार हो तो पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करके संस्कार में आई हुई स्त्रियों का बालक की माता और पुरुषों का बालक का पिता सत्कार करके विदा करे और माता-पिता, आचार्य, सम्बन्धी, इष्ट, मित्र सब मिलके—

'ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्द्धमानः, आयुष्मान् तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः॥'[९]

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को सिधारें॥

॥ इत्युपनयनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

* 'असौ' इस पद के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिए॥ —द०स०

१. पार० गृह्य० २।२।१६॥ आगे वेदारम्भ (पृष्ठ १७७) में आश्वलायनीय पाठ उद्धृत किया है।
२. पार० गृह्य० २।२।१७॥ ३. पार० गृह्य० २।२।१८॥ ४. पार० गृह्य० २।२।१९॥
५. पार० गृह्य २।२।२०॥ ६. पार० गृह्य० २।२।२१॥ ७. आश्व० गृह्य० १।२०।७॥
८. पार० गृह्य० २।२।२१॥
९. हे बालक! तू वृद्धि को प्राप्त होता हुआ सौ वर्ष तक जी और आयुष्मान्, तेजस्वी तथा वर्चस्वी हो।

अथ वेदारम्भसंस्कारविधिर्विधीयते

'वेदारम्भ' उसको कहते हैं—'जो गायत्रीमन्त्र से लेके साङ्गोपाङ्ग[1] चारों वेदों के अध्ययन करने के लिए नियम धारण करना।

समयः—जो दिन उपनयन-संस्कार का है, वही वेदारम्भ का है। यदि उस दिवस में न हो सके अथवा करने की इच्छा न हो तो दूसरे दिन करे। यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे।

विधिः—जो वेदारम्भ का दिन ठहराया हो, उस दिन प्रातःकाल शुद्धोदक से स्नान कराके, शुद्ध वस्त्र पहिना, पश्चात् कार्यकर्त्ता अर्थात् पिता, यदि पिता न हो तो आचार्य बालक को लेके उत्तमासन पर वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठे।

तत्पश्चात् पृष्ठ ३६-४८ तक [2]**ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण** करके, पृष्ठ ५६ में लिखे प्रमाणे **(भूर्भुवः स्वः)** इस मन्त्र से अग्न्याधान पृ० ५६ में लिखे प्रमाणे **(उद्बुध्यस्वाग्ने०)** इस मन्त्र से अग्नि को प्रदीप्त करके, प्रदीप्त समिधा पर पृष्ठ ५७ में लिखे प्रमाणे **(ओं अयन्त इध्म०)** इत्यादि ४ [चार] मन्त्रों से समिदाधान, पृष्ठ ५८ में लिखे प्रमाणे **(ओं**

इस संस्कार के समय के निर्धारणार्थ तीन विकल्प दिये गये हैं—(१) उपनयन के साथ उसी दिन, (२) उपनयन के अगले दिन, (३) उपनयन के एक वर्ष के भीतर किसी दिन। सुविधानुसार किसी भी दिन को अपनाया जा सकता है। उपनयन-सम्बन्धी व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण का आठवें, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत होना चाहिए। उधर सत्यार्थप्रकाश में ग्रन्थकार ने लिखा है कि इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि "पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने घर में न रख सकें, पाठशाला में अवश्य भेज देवें" (तृतीय समुल्लास)। पाठशाला में भेजने से तात्पर्य है—वेदारम्भ-संस्कार का होना। यह भी लिखा है कि "द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत करके........अपनी पाठशाला में भेज दें।" इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१—आठवें वर्ष में अनिवार्यरूप से गुरुकुल में भेजने का अर्थ है कि प्रत्येक बालक का वेदारम्भसंस्कार अधिक-से-अधिक आठवें वर्ष में हो जाना चाहिए।

२—वेदारम्भ-संस्कार से पहले यज्ञोपवीत संस्कार का होना आवश्यक है, इसलिए वर्ण का विचार किये बिना प्रत्येक बालक का उपनयन-संस्कार आठवें वर्ष तक हो जाना चाहिए।

---

१. अङ्ग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। उपाङ्ग पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त। उपवेद आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र। ब्राह्मण ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ। वेद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। इन सबको क्रम से पढ़े॥ —द०स०

२. जो उपनयन किये पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करे उसको पुनः वेदारम्भ के आदि में ईश्वर-स्तुप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करना आवश्यक नहीं॥ —द०स०

अदितेऽनुमन्यस्व०) इत्यादि ३ [तीन] मन्त्रों से कुण्ड के तीनों ओर और (**ओम् देव सवितः०**) इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिटकाके, पृष्ठ ५९-६० में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति**[१] ४ [चार], **व्याहृति आहुति**[२] ४ [चार] और पृष्ठ ६१-६२ में लिखे प्रमाणे आज्याहुति[३] ८ [आठ] मिलके १६ सोलह आज्याहुति देने के पश्चात् प्रधान* होमाहुति दिलाके, पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे **व्याहृति आहुति**[४] ४ [चार] और **स्विष्टकृद् आहुति**[५] १ [एक] तथा पृष्ठ ६१ में लिखे प्रमाणे **प्राजापत्याहुति**[६] १ [एक] मिलकर छह आज्याहुति बालक के हाथ से दिलानी। तत्पश्चात्—

ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मां कुरु। यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि। एवं माꣳ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु। यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि। एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्॥[७]

इस मन्त्र से वेदी के अग्नि को इकट्ठा करना।

---

* प्रधान होम उसको कहते हैं जो संस्कार में मुख्य करके किया जाता है॥ —**द०स०**

इससे प्रत्येक बालक का यज्ञोपवीत आठवें वर्ष में होना उपपन्न होता है। घर में उपनयन संस्कार होने पर उसकी सारी प्रक्रिया व्यर्थ हो जाती है, क्योंकि संस्कार करानेवाले आचार्य का अपने शिष्य से सम्बन्ध संस्कार-सम्पन्न होते ही विच्छिन्न हो जाता है और दोनों में से कोई भी अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की स्थिति में नहीं रहता। इसलिए उपनयन तथा वेदारम्भ दोनों संस्कारों का गुरुकुल में प्रवेश के समय एकसाथ होना ही व्यवहार्य है। इसी को ध्यान में रखते हुए ही ग्रन्थकार का टिप्पणीस्थ जो "उपनयन किये पश्चात्.....आवश्यक नहीं" यह निर्देश सार्थक हो सकता है।

अग्ने सुश्रवः०—'अग्ने सुश्रवः' से 'निधिपो भूयासम्' तक को कोई आचार्य तीन मन्त्र मानते हैं, कोई पाँच। ग्रन्थकार ने इसे एक ही मन्त्र माना है। पाँच मन्त्र मानने पर पाँच बार 'ओम्' लिखना चाहिए था, परन्तु पाण्डुलिपि तथा प्रेसकापी दोनों में एक ही बार है। 'इस मन्त्र' के स्थान पर 'इन मन्त्रों' होना चाहिए था। वैसा भी नहीं है। इस मन्त्र से वेदीस्थ अग्नि को इकट्ठा करने का विधान है। इस मन्त्र में अग्नि शब्द पहले ईश्वर और फिर भौतिक अग्नि के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। पहले भाग में ईश्वर को यशस्वी तथा श्रवणशक्ति से युक्त मानकर उससे यश ('सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयताम्; 'बाह्वोर्मे यशो बलम्'; 'कीर्तिं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्') और श्रवणशक्ति ('शृणुयाम शरदः शतम्'; 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम') की प्रार्थना की गई है।

भौतिक अग्नि यज्ञ की रक्षक है। यज्ञ में डाली गई सामग्री नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार सुना हुआ शब्द कभी नष्ट नहीं होता अपितु अवचेतन मन में सुरक्षित रहता है और उपयुक्त-उद्बोधक मिल जाने पर उभरकर बाहर आ जाता है।

बालक के हाथ से अग्नि इकट्ठी इसलिए कराई जाती है कि वह इकट्ठी की हुई अग्नि की शक्ति को अनुभव कर सके और समझ ले कि जिस प्रकार एकत्रित अग्नि अधिक ताप व प्रकाश को

---

१. 'अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
२. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
३. 'त्वं नो अग्ने' आदि ८ मन्त्रों से।
४. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
५. 'यदस्य कर्मणो०' मन्त्र से।
६. 'प्रजापतये स्वाहा' मन्त्र से।
७. पार० गृह्य० २।४।२॥ पाण्डुलिपि और प्रेस कापी में एक बार 'ओम्' का निर्देश होने से तथा आगे सर्वत्र 'इस मन्त्र से' निर्देश से एक मन्त्रत्व ही अभिप्रेत है।

तत्पश्चात् बालक कुण्ड की प्रदक्षिणा करके, पृष्ठ ५८ में लिखे प्रमाणे (अदितेऽनुमन्यस्व०) इत्यादि ४ मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जलसिंचन करके, बालक कुण्ड के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा रहकर, घृत में भिजोके एक समिधा हाथ में ले—

ओम् अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽ एवमहमायुषा मेधया

धारण करने से 'निधिपा' है उसी प्रकार विद्यारूपी अग्नि इकट्ठी होकर अधिक प्रकाश देती है। बिजली के बल्ब पर, विशेषत: टेबल लैम्प पर, शेड लगा देने पर पूरे कमरे में फैला प्रकाश एकत्र हो जाने से उससे अधिक तीव्र प्रकाश उपलब्ध हो जाता है। जिस मन्त्र से वेदी की आग्नि को इकट्ठा किया जाता है, उसमें 'निधिपा' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने पुरुषार्थ से भौतिक सम्पत्ति प्राप्त कर उसका स्वामी बनता है, उसी प्रकार मैं यहाँ गुरु के सान्निध्य में रहते हुए चारों ओर से ज्ञान का संग्रह करके उसका स्वामी बनूँ। इस प्रकार आचार्य शिष्य को एकाग्रता के महत्त्व को दर्शाते हुए अपनी शक्तियों को अपने लक्ष्य पर केन्द्रित करने की प्रेरणा करता है और आचार्य स्वयं शिष्य की ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करने में समिधा का काम करता है।

कुण्ड की प्रदक्षिणा—प्रदक्षिणा एक स्तुतिबोधक क्रिया है जैसा नीचे लिखे श्लोक से स्पष्ट है—

सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिम्। न्यवेदयदमेयात्मा द्रष्टा सीतेति तत्त्वतः॥

—रामायण बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक ७८

उस अमेयात्मा (अपरिमित बुद्धिवाले) हनुमान् ने महात्मा राम के समीप आकर और प्रदक्षिणा करके 'देखी सीता' ऐसा साररूप से कह दिया।

प्राय: छोटी आयुवाला बड़ी आयुवाले की प्रदक्षिणा करता है, पर कभी-कभी बड़ी आयुवाला गुरु भी छोटे में विशेष गुण के कारण उसकी प्रदक्षिणा भी करते हैं, जैसे—

तदा ब्रुवति रामे तु जामदग्न्ये प्रतापवान्। रामो दाशरथिः श्रीमांश्चिक्षेप शरमुत्तमम्॥
रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रपूजितः। ततः प्रदक्षिणीकृत्य जगामात्मगतिं प्रभुः॥

—बाल० सर्ग ७६, श्लोक २१, २४

जमदग्नि के पुत्र परशुराम के उक्त प्रकार कथन करने पर राम ने उत्तम तीर छोड़ा तो परशुराम ने राम की प्रशंसा की और उनकी प्रदक्षिणा करके अपने स्थान को चले गये।

निम्नलिखित श्लोक में राम के अग्निकुण्ड की प्रदक्षिणा करने का वर्णन है—

अग्निं प्रदक्षिणीकृत्य वेदिं राजानमेव च। ऋषींश्चापि महात्मानः सहभार्या रघूद्वहाः॥
यथोक्तेन ततश्चक्रुर्विवाहं विधिपूर्वकम्। त्रिरग्निं ते परिक्रम्य ऊहुर्भार्या महौजसः॥

—बाल० सर्ग ७३, श्लोक ३५-३६, ३८

तत्पश्चात् 'अग्नये समिधम्' इत्यादि मन्त्र से 'उत्तराभिमुख खड़े रहकर आहुति देने का निर्देश किया है। गुरु के सामने खड़े रहना स्थिरता, दृढ़ता और गुरु के प्रति आदर की भावना के आतिशय्य का बोधक है। ध्रुव तारा उत्तर में स्थित है और सदा उधर ही स्थिर रहता है, कभी अपना स्थान नहीं बदलता। शिष्य को उत्तर में खड़ा करना उसे अपने संकल्प पर दृढ़ रहने का संकेत है।

अग्नये समिधमाहार्षम्०—मैं ब्रह्मचारी (बृहते) महान् (जातवेदसे) जाते-जाते विद्यते=जो हर

वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहा॥[१]

इस मन्त्र से समिधा वेदीस्थ अग्नि के मध्य में छोड़ देना। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी समिधा छोड़े।

पुनः पृष्ठ १७२ में लिखे प्रमाणे (ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं०) इस मन्त्र से वेदीस्थ अग्नि को इकट्ठा करके पृष्ठ ५३ में लिखे प्रमाणे (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०) इत्यादि ४ मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जलसेचन करके बालक वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठके वेदी के अग्नि पर दोनों हाथों को थोड़ा-सा तपाके हाथ में जल लगा—

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि॥ १ ॥

वस्तु में विद्यमान है उस (अग्नये) अग्नि के लिए (समिधम्) समिधा को (आहार्षम्) लाया हूँ। (अग्ने) हे अग्नि! (यथा) जैसे (त्वम्) तू (समिधा) समिधा से (समिध्यसे) प्रज्वलित होती है (एवम्) वैसे ही (अहम्) मैं (आयुषा, मेधया, वर्चसा, प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन) आयु, मेधा, वर्चस्, प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज से (समिन्धे) प्रदीप्त होऊँ। (मम आचार्यः) मेरा आचार्य (जीवपुत्रः) गुरु-शिष्य परम्परा में जीवपुत्र हो। (अहम्) मैं (मेधावी असानि) मेधावी होऊँ (अनिराकरिष्णुः) आचार्य की आज्ञा का निराकरण—उल्लंघन करनेवाला न होऊँ। (यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी) यशस्वी, तेजस्वी और ब्रह्मतेजवाला (भूयासम्) होऊँ और (अन्नादः) अन्न खानेवाला (भूयासम्) होऊँ।

भावार्थ—अग्नि के सम्पर्क में आकर प्रदीप्त होनेवाली समिधा की भाँति मैं भी आचार्य के सम्पर्क में आकर उनके-जैसा बन जाऊँ।

मुखस्पर्श—तत्पश्चात् दोनों हाथों को वेदी की अग्नि पर थोड़ा तपाके और फिर थोड़ा-सा जल लगाके सात बार हाथों से मुख का स्पर्श करने का विधान किया गया है। यहाँ मुखस्पर्श सारे शरीर के स्पर्श का उपलक्षण है। यह क्रिया पूर्वाभिमुख बैठकर करनी चाहिए, क्योंकि मुख स्पर्श के द्वारा तेजस्विता का उपदेश देना अभीष्ट है और सूर्य के कारण पूर्व दिशा तेजस्विता की प्रतीक है। हथेलियों को किञ्चित् उष्ण कर जल लगाकर स्पर्श करना इस बात का प्रतीक है कि अग्नि और सोम (सोमो वै पयः=जल) दोनों के मणि-कांचन संयोग से ही उन सात पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है जिनकी याचना स्पर्श करते समय पढ़े जानेवाले मन्त्रों में की कई है।

योगदर्शन के अनुसार द्वन्द्वों—सुख-दुःख, हानि-लाभ, गरमी-सरदी, हार-जीत आदि का नाम तप कहाता है। शीतोष्ण हथेली का स्पर्श उसी का निदर्शन है।

इस प्रकार मुख-स्पर्श का एक आनुषंगिक लाभ भी है। हवन की आग पर हाथ तपाने से सुगन्धित वाष्प हाथ में बस जाती है और जल में हाथ भिगोने पर वह वाष्प जलरूप हो जाती है। जब उसका मुख से सम्पर्क होता है तो उसमें हवन में प्रयुक्त घृत और सामग्री के धूम्र का सूक्ष्म अंश होने से मुख पर सुगन्धि और स्निग्धता तथा तज्जन्य कान्ति आ जाती है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(अग्ने) हे अग्ने! (तनूपा असि) तू शरीर का रक्षक है, (मे) मेरे (तन्वं) शरीर की (पाहि)

---

१. पार० गृह्य० २।४।३॥

ओम् आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि॥ २॥

ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि॥ ३॥

ओं अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्म आपृण॥ ४॥

ओं मेधां मे देवः सविता आदधातु॥ ५॥

ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु॥ ६॥

ओं मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ॥ ७॥[1]

इन सात मन्त्रों से सात बार किञ्चित् हथेली उष्ण कर जल-स्पर्श करके मुख-स्पर्श करना। तत्पश्चात् बालक—

ओं वाक् च म आप्यायताम्॥ इस मन्त्र से मुख।

ओं प्राणश्च म आप्यायताम्॥ इस मन्त्र से नासिका द्वार।

ओं चक्षुश्च म आप्यायताम्॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्र।

ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायतम्॥ इस मन्त्र से दोनों कान।

ओम् यशो बलञ्च म आप्यायताम्॥[2] इस मन्त्र से दोनों बाहुओं को स्पर्श करे।

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु।

रक्षा कर॥ १॥ (अग्ने) हे अग्ने! (आयुर्दा असि) तू आयु को देनेवाला है (मे) मुझे (आयुः) दीर्घायु (देहि) दे॥ २॥ (अग्ने) हे अग्ने! (वर्चोदा असि) तू वर्चस्=तेज का देनेवाला है (मे वर्चः देहि) मुझे वर्चस् दे॥ ३॥ (अग्ने) हे अग्ने! (मे तन्वा) मेरे शरीर में (यत् ऊनं) जो न्यूनता है (तत् मे आपृण) मेरी उस न्यूनता को पूरा कर दो॥ ४॥ (सविता देवः) हे सर्वोत्पादक भगवन् (मे) मुझमें (मेधाम्) स्मरणशक्ति का (आदधातु) आधान कर दो॥ ५॥ (सरस्वती देवी) हे सरस्वती=विद्या की देवी! (मे) मुझमें धारणा शक्ति भर दो॥ ६॥ (पुष्कर-स्त्रजौ) कमल की माला धारण किये हुए (अश्विनौ देवौ) आचार्य एवं अधिष्ठाता (मे मेधाम्) मुझे प्रज्ञा (आधत्ताम्) प्रदान करो।

अङ्गस्पर्श—वाक् च—(मे) मेरी (वाक्) वाणी की शक्ति (आप्यायताम्) भरपूर हो॥ १॥

प्राणश्च मे—(मे) मेरी (प्राणः) प्राणशक्ति (आप्यायताम्) भरपूर हो॥ २॥

चक्षुश्च मे—(मे) मेरे (चक्षुः) देखने की शक्ति (आप्यायताम्) भरपूर हो॥ ३॥

श्रोत्रञ्च—(मे) मेरी (श्रोत्रञ्च) सुनने की शक्ति भरपूर हो॥ ४॥

यशो बलञ्च—(मे) मेरा (यशःबलम्) यश तथा शारीरिक व आत्मिक बल भरपूर हो॥ ५॥

परमेश्वर का उपस्थान—

(अग्निः) अग्निस्वरूप परमेश्वर (मयि) मुझमें (मेधां) मेधा शक्ति को (मयि) मुझमें (प्रजां) प्रजनन-शक्ति को और (मयि) मुझमें (तेजः दधातु) तेज का आधान करे॥ १॥

---

१. पार० गृह्य० २।४।७-८॥

२. पार० गृह्य० २।४।८ के अन्त में कोष्ठक में पठित। सूत्रान्तरकृत्पाठ इति टीकाकाराः॥

मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु।
मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु।
यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम्।
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम्।
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम्॥[१]

इन मन्त्रों से बालक परमेश्वर का उपस्थान करके कुण्ड की उत्तरबाजू की ओर जाके जानू को भूमि में टेकके पूर्वाभिमुख बैठे और आचार्य बालक के सम्मुख पश्चिमाभिमुख बैठे।

बालकोक्तिः—अधीहि भूः सावित्रीं भो अनुब्रूहि॥[२]

अर्थात् आचार्य से बालक कहे कि—'हे आचार्य! प्रथम एक ओंकार, पश्चात् तीन महाव्याहृति, तत्पश्चात् सावित्री ये त्रिक अर्थात् तीनों मिलके परमात्मा के वाचक मन्त्र का मुझे उपदेश कीजिए'।

(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् ईश्वर (मयि मेधां) मेरी मेधा-शक्ति को (मयि प्रजां) मेरी प्रजनन-शक्ति को ऐसी बनाए कि (मयि इन्द्रियं दधातु) मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बलवान् बन जाएँ॥ २ ॥

(सूर्यः) सूर्य के समान दीप्तिमान् परमेश्वर (मयि मेधां) मुझमें मेधा-शक्ति को (मयि प्रजां) मुझमें प्रजनन की शक्ति को (भ्राजः दधातु) ऐसा बनाए कि ये परिपक्व हो जाएँ॥ ३ ॥

(अग्ने) हे अग्ने! (यत् ते) जो तेरा (तेजः) तेजस्वी स्वरूप है (तेन) उससे (अहम्) मैं (तेजस्वी) तेजस्वी हो जाऊँ॥ ४ ॥

(अग्ने) हे अग्ने (यत् ते)) जो तेरा (वर्चः) वर्चस्वी स्वरूप है (तेन) उससे (अहम्) मैं वर्चस्वी हो जाऊँ॥ ५ ॥

(अग्ने) हे अग्ने (यत् ते) जो तेरा (हरः) हरण करनेवाला—दुर्गुणों को दूर करनेवाला स्वभाव है (तेन) उससे (अहम्) मैं (हरस्वी) दुर्गुणों को दूर करनेवाला (भूयासम्) बन जाऊँ॥ ६ ॥

भावार्थ—मेधा और प्रजा—ये दो शक्तियाँ हर बालक में होती हैं। मेधा है आध्यात्मिक और मानसिक शक्ति और प्रजा है वीर्य की शक्ति। ये दोनों शक्तियाँ बालक में तेज को, इन्द्रियों के बल को, शरीर, मन और बुद्धि की परिपक्वता को, तेजस्विता को, दुर्गुणों के परिहरण को बढ़ाएँ—उक्त मन्त्रों के द्वारा बालक ने यही प्रार्थना की है।

तब बालक पूर्वाभिमुख हो घुटनों के बल बैठकर आचार्य से गायत्री-मन्त्र का उपदेश देने की प्रार्थना करता है। पूर्वाभिमुखता का कारण यह है कि सावित्री का उपदेश लेना है और सविता सदा पूर्व में ही उदित होता है। घुटनों को टेककर बैठना आचार्य को मान देना और अपनी नम्रता को व्यक्त करना है। इसके अतिरिक्त यह वीरासन है जो शिष्य की कर्मण्यता, जागरूकता तथा आचार्य की आज्ञा-पालन में सदा तत्पर रहने का प्रतीक है।

अधीहि—हे आचार्यप्रवर! मुझे व्याहृतियोंसहित सावित्री (गायत्री) का उपदेश कीजिए।

आचार्य और बालक दोनों के कन्धों पर एक ही आच्छादक वस्त्र का होना दोनों के परस्पर विश्वास का और गुरुकुलवास की अवधि में दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध का सूचक है। आचार्य का

---

१. आश्व० गृह्य० १।२१।४॥ २. आश्व० गृह्य० १।२१।४॥

तत्पश्चात् आचार्य एक वस्त्र अपने और बालक के कन्धे पर रखके अपने हाथ से बालक के दोनों हाथों की अंगुलियों को पकड़के नीचे लिखे प्रमाणे बालक को तीन बार करके गायत्री मन्त्रोपदेश करे।

प्रथम बार—

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्।

इतना टुकड़ा एक-एक पद का शुद्ध उच्चारण बालक से कराके, दूसरी बार—

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

एक-एक पद से यथावत् धीरे-धीरे उच्चारण करवाके, तीसरी बार—

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥[१]

धीरे-धीरे इस मन्त्र को बुलवाके संक्षेप से इसका अर्थ भी नीचे लिखे प्रमाणे आचार्य सुनावे—

अर्थः—(ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है, जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं। (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुवः) सब दुःखों से छुड़ानेहारा, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति करानेहारा है, उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय करानेहारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करनेहारा, पवित्र, शुद्ध स्वरूप है, (तत्) उसको हम लोग (धीमहि) धारण करें। (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण-कर्म-स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे। इसी प्रयोजन के लिए इस जगदीश्वर की स्तुति-प्रार्थनोपासना करना और इससे भिन्न किसी को उपास्य, इष्टदेव, उसके तुल्य वा उससे अधिक नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार अर्थ सुनाये पश्चात्—

ओं मम व्रते हृदयं ते दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।

मम वाचमेकव्रतो जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥[२]

बालक की अंगुलियों को पकड़ना उसे इस बात के लिए आश्वस्त करना है कि वह कभी अपने आपको अकेला या असहाय न समझे। सुख-दुःख में आचार्य का साहाय्य तथा मार्गदर्शन उसे सदा प्राप्त रहेगा और कभी भी स्खलन की अवस्था में आचार्य हाथ बढ़ाकर उसे थाम लगा।

मम व्रते॰—हे बालक! मैं (ते हृदयं) तेरे हृदय=अन्तःकरण तथा तत्स्थित आत्मा को (मम व्रते) अपने व्रत के अनुकूल (दधामि) धारण करता हूँ, (ते चित्तम्) तेरा चित्त सदा (मम चित्तमनु) मेरे चित्त के अनुकूल हो। (मम) मेरी (वाचम्) वाणी=कथन को (एकमनाः) एकाग्रचित्त से=ध्यानपूर्वक (जुषस्व) सेवन=पालन कर। (प्रजापतिः) प्रजापति परमात्मा (त्वा) तुझे (मह्यम्) मेरे लिए (नियुनक्तु) नियुक्त करे अर्थात् तुझे मेरे अनुकूल चलने की प्रेरणा करे।

---

१. यजुः० ३६।३॥ तीनों पाठों पर स्वर-चिह्न हमने दिये हैं। व्याहृति से उत्तर का विराम भी हटाया है। यजुः० ३६।३ में विराम नहीं है।

२. आश्व० गृह्य० १।२१।७॥ पार० गृह्य० २।२।१६ में 'व्रते ते हृदयं दधामि' तथा 'वाचमेकमना जुषस्व' पाठ है।

इस मन्त्र से बालक और आचार्य पूर्ववत् दृढ़ प्रतिज्ञा करके—

यजुर्वेद के दूसरे अध्याय का ३३वाँ मन्त्र इस प्रकार है—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥

इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं—

"ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि विद्यार्थी कुमार वा कुमारी को शिक्षा देने के लिए गर्भ के समान धारण करें। जैसे क्रम-क्रम से गर्भ के बीच देह बढ़ता है, वैसे अध्यापक लोगों को चाहिए कि अच्छी-अच्छी शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार वा कुमारी को श्रेष्ठ विद्या में बुद्धियुक्त करें। वे विद्या के योग से धर्मात्मा तथा पुरुषार्थयुक्त होकर सदा सुखी हों। यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिए।"

जिस प्रकार गर्भस्थ बालक पर माता-पिता के खान-पान, आचार-विचार और क्रिया-कलाप का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही विद्यार्थी, अध्यापकोंसहित आचार्य की जीवनचर्या से प्रभावित होते हैं। उनकी बोलचाल, परस्पर व्यवहार और सम्पूर्ण गतिविधियों को विद्यार्थी देखते, सुनते और अनुकरण करते हैं। उनके निजी जीवन (Private Life) और सार्वजनिक जीवन (Public Life) को पृथक्-पृथक् करके देखने की आधुनिक प्रवृत्ति न शास्त्रसम्मत है, न व्यवहारसिद्ध। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को मारकर भी बालक के हित की दृष्टि से जैसा अपेक्षित होता है वैसा ही व्यवहार करने का प्रयास माता-पिता करते हैं। आचार्य के लिए भी वैसा करना आवश्यक है। जिन्हें ऐसे आचार्य प्राप्त होते हैं वे ही आचार्यवान् होते हैं।

वर्तमान में पुरोहित बच्चों का उपनयन-संस्कार तो करा देते हैं, परन्तु उनका सान्निध्य उन्हें प्राप्त नहीं होता। आचार्य का कर्त्तव्य है कि वह ब्रह्मचारी को अपने पास रखकर उसका पालन-पोषण इस प्रकार करे जैसे माता गर्भस्थ बालक का करती है। यह गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति में ही सम्भव है। वेद का आदेश है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः॥ —अथर्व० ११।५।३॥

(ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (उपनयमानः) अपने समीप लाता हुआ (आचार्यः) आचार्य (अन्तः) विद्या, गायत्री या निज स्वरूप में (गर्भं कृणुते) गर्भरूप में पालित करता है। (तम्) उस गर्भीभूत को (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रिपर्यन्त (उदरे) उदर में (बिभर्ति) धारण व पुष्ट करता है। (जातं तम्) पैदा हुए उसको (द्रष्टुं) देखने के लिए (देवाः) देवकोटि के लोग (अभिसंयन्ति) मिलकर जाते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी को 'अन्तेवासी' कहते हैं।

तिस्रः रात्रीः—ब्रह्मचर्य के तीन काल हैं—वसुकाल २४ वर्षों की आयु तक; रुद्रकाल ३६ वर्षों की आयु तक और आदित्यकाल ४८ वर्षों की आयु तक। ४८ वर्षों की आयु के काल को 'तिस्रः रात्रीः' कहा है। ब्रह्मचारी के लिए यह काल रात्रिरूप है। इस काल को ब्रह्मचारी निज के लिए अन्धकाररूप जाने और आचार्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करे। 'जातम्'=शारीरिक जन्म तो माँ-बाप देते हैं, परन्तु दूसरा जन्म 'द्विज' संज्ञा प्रदान करनेवाले आचार्य देते हैं। यह दूसरा जन्म श्रेष्ठ जन्म है।

एक आदर्श आचार्य के गर्भाकर्षण में जो कोई विद्याभिलाषी शिष्य पहुँच जाता है वह अवश्य

ओम् इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।

प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥[१]

इस मन्त्र से आचार्य सुन्दर, चिकनी, प्रथम बनाके रक्खी हुई मेखला* को बालक के कटि में बाँधके—

ही उनसे अभिलषित विद्या प्राप्त कर लेता है। 'तिस्रः रात्रीः' का तत्त्वार्थ ईश्वर, जीव और प्रकृति-विषयक तीन प्रकार की विद्याएँ भी हैं, क्योंकि इन तीन प्रकार की विद्याओं के द्वारा ही मनुष्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—इन तीन प्रकार के दुःखों से छूटकर मोक्ष लाभ करता है। शतपथब्राह्मण में लिखा है—

अथेमं विष्णुं यज्ञन्त्रेधा व्यभजन्तः वसवः प्रातः सवनम् रुद्रा।

माध्यन्दिनः सवनमादित्यास्तृतीयसवनम्॥ —शतपथ १४।१।१।१५

अर्थात् इस विष्णु या यज्ञ को देवों ने तीन भागों में बाँटा। वसुओं ने प्रातःसवन किया, रुद्रों ने दोपहर का सवन तथा आदित्यों ने सायंकाल का सवन किया। आशय यह है कि २४ वर्ष तक विद्याध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों का समय प्रातःसवन कहलाता है और उन्हें वसु कहा जाता है। ३६ वर्ष तक पढ़नेवालों का काल माध्यन्दिनसवन कहलाता है और उन्हें रुद्र कहा जाता है। इसी प्रकार ४८ वर्ष तक पढ़नेवालों का काल सायंसवन कहलाता है और उन्हें आदित्य कहा जाता है।

इयं दुरुक्तम्०—(इयं) यह मेखला (दुरुक्तम्) कठिनाई से बोलने को (परिबाधमाना) परिबाधित अर्थात् हटाती हुई (वर्णं) बोलने के शब्दों को (पवित्रं पुनती) छान-छानकर पवित्र करती हुई (मा) मुझे (आगात्) प्राप्त हुई है। (इयं मेखला) यह मेखला (स्वसा, सुभगा, देवी) बहिन की तरह सौभाग्य देनेवाली देवी-तुल्य है। यह प्राणापानाभ्यां (प्राण और अपान से) बलम् (बल का) आदधान (आधान करती है)।

मेखला (तगड़ी) का प्रयोग किसी-न-किसी रूप में प्रायः सर्वत्र होता है। कोई इसे पेटी के रूप में बाँधते हैं, कोई कमरबन्द या नाड़े के रूप में। जानकार माताएँ नन्हें-मुन्नों को तो इसकी उपयोगिता के कारण गोद में ही बाँधना आरम्भ कर देती हैं। इससे वे आँतों-सम्बन्धी रोगों से बचे रहते हैं। 'कमर कसना' अनेकार्थक मुहावरा है। संकल्प द्वारा किसी दुरूह कार्य में प्रवृत्त होने के अर्थों में इसका प्रयोग प्रायः होता है। फ़ौज और पुलिस के सिपाहियों के लिए तो इसका पहनना अनिवार्य है। इससे चलने-फिरने में चुस्ती आती है, थकावट नहीं आती, आँतें नहीं उछलती हैं। कटि पर दबाव पड़ने से मेखला प्राण-अपान वायु को नियन्त्रित करती और वीर्य-रक्षण में सहायक होती है। प्राण-शक्ति के प्रबल होने का अर्थ यह है कि उस मनुष्य का साँस ठीक से चलता है, वह जल्दी हाँपता नहीं। अपान की स्थिति ठीक रहते पेट में वायु का विकार नहीं होता।

कोपीन धारण करना वीर्यरक्षा में तो सहायक है ही, अंगविशेष की सुरक्षा, चलने-फिरने और

---

* ब्राह्मण को मुञ्ज वा दर्भ की, क्षत्रिय को धनुषसंज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य को ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिए॥[२] **—द०स०**

---

१. पार० गृह्य० २।२।८॥

२. द्र०—मनु० २।४२-४३॥

ओं युवा॑ सु॒वासा॒: परि॑वीत॒ आगा॒त् स उ॒ श्रेया॑न् भवति॒ जाय॑मानः।
तं धीरा॑सः क॒वय॒ उन्न॑यन्ति स्वा॒ध्यो॒३ मन॑सा देव॒यन्त॑:॥[१]

इस मन्त्र को बोलके दो शुद्ध कोपीन, दो अंगोछे, एक उत्तरीय और दो कटिवस्त्र ब्रह्मचारी को आचार्य देवे और उनमें से एक कोपीन, एक कटिवस्त्र और एक उपन्ना बालक को आचार्य धारण करावे। तत्पश्चात् आचार्य दण्ड* हाथ में लेके सामने खड़ा रहे और बालक भी आचार्य के सामने हाथ जोड़—

ओं यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम्। तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय॥[२]

इस मन्त्र को बोलके बालक आचार्य के हाथ से दण्ड ले लेवे। तत्पश्चात् पिता ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम का साधारण उपदेश करे—

[ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य]

ब्रह्मचार्यसि असौ+॥ १॥ अपोऽशान॥ २॥ कर्म कुरु॥ ३॥ दिवा मा स्वाप्सीः॥ ४॥ आचार्याधीनो वेदमधीष्व॥ ५॥[३] **द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण वा ब्रह्मचर्यं चर॥ ६॥**[४] **आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात्॥ ७॥ क्रोधानृते वर्जय॥ ८॥ मैथुनं वर्जय॥ ९॥ उपरि शय्यां वर्जय॥ १०॥**

विशेषतः व्यायाम करने में सुविधा रहती है। कोपीन का प्रतिदिन धुलना आवश्यक है। इसलिए दो कोपीन देने का निर्देश किया है। उत्तरीय भी दो ही होने चाहिएँ।

युवा सुवासाः०—दृढ़ शरीरवाला, स्वच्छ वस्त्र पहननेवाला, यज्ञोपवीत, मेखला आदि से परिवेष्टित ब्रह्मचारी कल्याणकारी होता है। पूर्वापरदर्शी सुधीजन—देवभाव की कामना करनेवाले सुधीजन उस ब्रह्मचारी को सद्‌गुणयुक्त शिक्षा-प्रदान से उन्नत करते हैं।

यो मे दण्डः०—(यः) जो (मे) मेरा (दण्डः) दण्ड (वैहायसः) आकाश की ओर ऊँचा और (अधिभूम्याम्) पृथिवी पर (परापतत्) टिका खड़ा है (तं अहम्) उसे मैं (पुनः) फिर से (आददे) ग्रहण करता हूँ। किस लिए? (आयुषे) जीवन की रक्षा के लिए (ब्रह्मणे) वेद की रक्षा के लिए तथा (ब्रह्मवर्चसाय) अपने वर्चस्व के लिए। दण्डधारी निर्भय होकर सर्वत्र विचरता और आवश्यकता पड़ने पर दूसरों की भी रक्षा करता है।

दण्ड धारण करनेवाले का मेरुदण्ड सीधा रहने से कमर नहीं झुकती और छाती, गरदन आदि

---

* ब्राह्मण के बालक को खड़ा करके भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्व वृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाटभ्रू तक, वैश्य को पीलू अथवा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दण्ड प्रमाण और वे दण्ड चिकने सूधे हों। अग्नि में जले, टेढ़े, कीड़ों के खाये हुए न हों[५] और एक-एक मृगचर्म उनके बैठने के लिए, एक-एक जलपात्र, एक-एक उपपात्र और एक-एक आचमनीय सब ब्रह्मचारियों को देना चाहिए॥ —**द०स०**

\+ 'असौ इस पद के स्थान में ब्रह्मचारी का नाम सर्वत्र उच्चारण करे॥ —**द०स०**

---

१. ऋ० ३।८।४॥ स्वरचिह्न हमने दिये हैं। २. पार० गृह्य० २।२।१२॥
३. आश्व० गृह्य० १।२२।२॥ प्रथम सूत्र में 'असौ' पद नहीं है।
४. द्र०—आश्व० गृह्य० १।२२।३,४ तथा पार० गृह्य० २।५।१३-१५ का सम्मिलित रूप।
५. द्र०—मनु० २।४५-४७॥

कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय ॥ ११ ॥[1] अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय ॥ १२ ॥[2] प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्थायावश्यकं कृत्वा दन्तधावनस्नानसन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर ॥ १३ ॥ [3]क्षुरकृत्यं वर्जय ॥ १४ ॥[4] मांसरूक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय ॥ १५ ॥ गवाश्वहस्त्युष्ट्रादियानं वर्जय ॥ १६ ॥ अन्तर्ग्रामनिवासोपानच्छत्रधारणं वर्जय ॥ १७ ॥[5] अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव ॥ १८ ॥ तैलाभ्यङ्गमर्दनात्यम्लातितिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व ॥ १९ ॥ नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव ॥ २० ॥ सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव ॥ २१ ॥[6] मेखलादण्डधारणभैक्ष्यचर्यसमिदाधानोदकस्पर्शनाचार्यप्रियाचरणप्रातःसायमभिवादनविद्यासंचयजितेन्द्रियत्वादीन्येते ते नित्यधर्माः ॥ २२ ॥[7]

सभी अंग सीधे रहते हैं।

गृह्यसूत्रों का अनुसरण करते हुए ग्रन्थकार ने ब्रह्मचारियों को पदे-पदे यह स्मरण कराते रहने की व्यवस्था की है कि उन्हें अपने-अपने कुल की मर्यादा को अक्षुण्ण एवं अविच्छिन्न रखना है। तदनुसार ही दण्ड के लिए प्रत्येक वर्ण के अनुरूप वृक्षविशेष की लकड़ी का विधान किया है। समान्यतः ब्राह्मण में सत्त्वगुण प्रधान होता है और क्षत्रिय में रजोगुण प्रधान होता है। वैश्य में तीनों गुण न्यूनाधिक सम-भाग में होते हैं। अवसर-विशेष में ही इनमें विपर्यास हो सकता है। आयुर्वेद निघण्टु में विवेच्य वृक्षों के गुणों का अध्ययन करने पर पता लगता है कि--बिल्व-पलाश सत्त्वगुणी, वट-खदिर रजोगुणी एवं पीलू-उदुम्बर समगुणी हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर बिल्व-पलाश की ब्राह्मणवृक्ष संज्ञा हो सकती है—"**ब्रह्म वै पलाशः**" (शतपथ १।३।३।१९)—वट-खदिर की क्षत्रियवृक्ष की तथा पीलू-उदुम्बर की वैश्यवृक्ष की। विभिन्न वर्णस्थ (दीक्षान्त के समय आचार्य के द्वारा वर्ण दिये जाने तक बालक के लिए जन्ममूलक या कुलमूलक वर्ण का ही व्यवहार होता है) ब्रह्मचारियों के लिए विभिन्न वृक्षों की लकड़ी लिये जाने का यह हेतु हो सकता है। इसमें मनु का प्रमाण है—

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ। पैलवौदुम्बुरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥

—मनु० २।४५

इस श्लोक पर नन्दन टीकाकार ने ब्राह्मणादि के प्रमाण देकर बिल्वादि के साथ ब्राह्मणादि की समानता दिखाई है। वह लिखता है—"असौ वा आदित्यो यतोऽजायत ततो बिल्व उदतिष्ठत सयोनिरेव ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे इति श्रुतेः। तदुक्तमैतरेयब्राह्मणे क्षत्रं वा एतद्वनस्पतीनां यन्न्यग्रोधः। क्षत्रं वै राजन्य इति। मरुतो वा एतदोजो यदश्वत्थो मरुतो वै देवानां विश इति श्रुतेः"। अर्थात्—जिस कारण की प्रधानता से सूर्य बना है, उसी से बिल्व भी उपजा है। इसलिए वह जन्म से ही ब्रह्मवर्चस

---

१. गोभिलगृह्य० ३।१।१३-१७ तक। अन्त्य ३ सूत्रों में 'वर्जय' पद नहीं है, वहाँ उसका अनुषङ्ग जानना चाहिए।

२. गोभिलगृह्य० (३।१।१८) में 'स्नानं' इतना ही पाठ है।

३. ग्रन्थकार का स्ववचन।

४. द्र०—गोभिलगृह्य० ३।१।२०॥ 'वर्जय' का अनुषङ्ग जानना चाहिए।

५. तुलना—गोभिलगृह्य० ३।१।२१-२४॥

६. सूत्र १९, २०, २१ ग्रन्थकार के वचन हैं।

७. तुलना करो—गोभिलगृह्य० ३।१।२५॥

अर्थः—तू आज से ब्रह्मचारी है॥ १ ॥ नित्य सन्ध्योपासन, भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया कर॥ २ ॥ दुष्ट कर्मों को छोड़ धर्म किया कर॥ ३ ॥ दिन में शयन कभी मत कर॥ ४ ॥ आचार्य के अधीन रहके नित्य साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने में पुरुषार्थ किया कर॥ ५ ॥ एक-एक साङ्गोपाङ्ग वेद के लिए बारह-बारह वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् ४८ वर्ष तक वा जबतक साङ्गोपाङ्ग चारों वेद पूरे होवें, तबतक अखण्डित ब्रह्मचर्य कर॥ ६ ॥ आचार्य के अधीन धर्माचरण में रहा कर, परन्तु यदि आचार्य अधर्माचरण वा अधर्म करने का उपदेश करे, उसको तू कभी मत मान और उसका आचरण मत कर॥ ७ ॥ क्रोध और मिथ्याभाषण करना छोड़ दे॥ ८ ॥ आठ* प्रकार के मैथुन को छोड़ देना॥ ९ ॥ भूमि में शयन करना, पलङ्ग आदि पर कभी न सोना॥ १० ॥ कौशीलव अर्थात् गाना, बजाना, तथा नृत्य आदि निन्दित कर्म, गन्ध और अञ्जन का सेवन मत कर॥ ११ ॥ अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक का ग्रहण कभी मत कर॥ १२ ॥ रात्रि के चौथे प्रहर में जाग, आवश्यक शौचादि, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना, योगाभ्यास का आचरण नित्य किया कर॥ १३ ॥ क्षौर मत करा॥ १४ ॥ मांस, रूखा, शुष्क, अन्न मत खावे और मद्यादि मत पीवे॥ १५ ॥ बैल, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि की सवारी मत कर॥ १६ ॥ गाँव में निवास, जूता और छत्र का धारण मत कर॥ १७ ॥ लघुशङ्का के बिना उपस्थ इन्द्रिय के स्पर्श से वीर्यस्खलन कभी न करके, वीर्य को शरीर में रखके निरन्तर ऊर्ध्वरेता अर्थात् नीचे वीर्य को मत गिरने दे, इस प्रकार यत्न से वर्ता कर॥ १८ ॥ तैलादि से अङ्गमर्दन, उबटना, अतिखट्टा इमली आदि, अतितीखा लालमिर्ची आदि, कसेला हरड़े आदि, क्षार अधिक लवण आदि और रेचक जमालगोटा आदि द्रव्यों का सेवन मत कर॥ १९ ॥ नित्य युक्ति से आहार-विहार करके विद्या-ग्रहण में यत्नशील हो॥ २० ॥ सुशील, थोड़ा बोलनेवाला, सभा में बैठनेयोग्य गुण ग्रहण कर॥ २१ ॥ मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण, प्रातःसायं आचार्य को नमस्कार करना ये तेरे नित्य करने के कर्म और जो निषेध किये वे नित्य न करने के कर्म हैं॥ २२ ॥

का प्रभाव धारण करता है। इस कारण ब्राह्मण बेल का दण्ड धारण करे। ऐतरेय ब्राह्मण में यह लिखा है कि वटवृक्ष वनस्पतियों में क्षत्रिय है। क्षत्रिय राजा है। इसलिए क्षत्रिय बड़ का दण्ड रक्खे। अश्वत्थ (पीपल) वायु के बल की प्रधानता से युक्त है और वायु देवताओं का वैश्य है, क्योंकि वह उनके हव्य पदार्थ इधर-उधर पहुँचाता है, जैसे वैश्य लोग भोजन के लिए अन्नादि एक देश से दूसरे देश में ले-जाते हैं। इसलिए वैश्य पीपल का दण्ड धारण करे।

भिन्न-भिन्न ऊँचाई की लाठियों का विधान मनुस्मृति के निम्न श्लोक में उपलब्ध है—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यप्रमाणतः। ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः॥

—मनु० २।४६

ब्राह्मण का दण्ड केशान्तिक अर्थात् शिर के बाल तक ऊँचाई का, क्षत्रिय का ललाट तक का और वैश्य का नाक तक का ऊँचा या लम्बा होना चाहिए।

यहाँ ब्राह्मण का दण्ड सबसे ऊँचा, क्षत्रिय का मध्यम परिमाण का और वैश्य का उससे नीचा

---

* स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास और समागम, यह आठ प्रकार का मैथुन कहाता है। जो इनको छोड़ देता है, वही ब्रह्मचारी होता है॥ —**द०स०**

जब यह उपदेश पिता कर चुके, तब बालक पिता को नमस्कार कर, हाथ जोड़के कहे कि— 'जैसा आपने उपदेश किया, वैसा ही करूँगा।'

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके, कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रहके, माता-पिता, भाई-बहिन, मामा, मौसी, चाचा आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें, उनसे भिक्षा* माँगे और जितनी भिक्षा मिले, उसे आचार्य के आगे धर देनी। तत्पश्चात् आचार्य उसमें से कुछ थोड़ा-सा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिए रख छोड़े।

है। यह इस हेतु से है कि ब्राह्मणादि वर्ण भी क्रमशः उच्च, मध्य तथा अवर हैं—"**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्। मध्यं तदस्य यद् वैश्यः**"॥ —अथर्व० १९।६।६

सर्वत्र जानबूझकर ऐसी स्थिति रक्खी गई प्रतीत होती है जो प्रत्येक बालक को निरन्तर यह आभास होता रहे कि हमें ब्राह्मणादि बनकर अपने माता-पिता की कामना-आकांक्षा को पूरा करना है। अन्तः-प्रेरणा, माता-पिता के संस्कार, वातावरण और पुरुषार्थ सब मिलकर वैसा बनने में सहायता देते हैं और प्रायः ७० प्रतिशत बन भी जाते हैं।

पिता के उपदेश के पश्चात् ब्रह्मचारी के भिक्षा माँगने का विधान किया गया है। भिक्षा माँगते समय भी विभिन्न वर्णों के लिए नियत वाक्यों में 'भवत्' शब्द का विभिन्न प्रकार से प्रयोग भी वर्णज्ञापनार्थ ही प्रतीत होता है। इससे भिक्षा लेने और देनेवाले दोनों का ध्यान अनायास आकृष्ट होता रहेगा। धर्मसूत्रों के अनुसार गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी अपने लिए ही नहीं, अपने गुरु के लिए भी भिक्षावृत्ति करते हैं। तब भी 'भवत्' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार होता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में इस प्रसङ्ग में लिखा है—

भवत्पूर्वया ब्राह्मणो भिक्षेत। भवन्मध्यमा राजन्यः। भवदन्त्यया वैश्यः।

तत्समाहृत्योपनिधायाऽऽचार्याय प्रब्रूयात्। तेन प्रदिष्टं भुञ्जीत॥

—पटल १, कण्डिका ३, सूत्र २८-३२

इससे पूर्व सूत्र सं० २५ इस प्रकार है—"**सर्वं लाभमाहरन् गुरवे सायं प्रातरमत्रेण भिक्षाचर्यं चरेद् भिक्षमाणोऽन्यत्राऽपपात्रेभ्योऽभिशस्ताच्च॥**"

इसी सन्दर्भ में भगवान् मनु का आदेश है—

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः। भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्॥ —मनु० २।४८

उपनीत ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) 'भवत्' शब्द को प्रथम उच्चारण करके भिक्षा करे। राजन्य (क्षत्रिय) 'भवत्' शब्द को मध्य में और वैश्य अन्त में।

मेखला के लिए भी जिन तृणों आदि के प्रयोग का विधान किया गया है उनमें भी उस-उस वर्ण के साथ किसी स्वाभाविक समानता का अनुमान होता है जो ब्राह्मणग्रन्थों में मिल सकता है।

---

* ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा माँगे तो "भवान् भिक्षां ददातु" और जो स्त्री से माँगे तो "भवती भिक्षां ददातु' और क्षत्रिय का बालक "भिक्षां भवान् ददातु" और स्त्री से "भिक्षां भवती ददातु" वैश्य का बालक "भिक्षां ददातु भवान्" और स्त्री से "भिक्षां ददातु भवती" ऐसा वाक्य बोले॥ **—द०स०**

तत्पश्चात् बालक को शुभासन पर बैठाके पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान को करना। तत्पश्चात् बालक पूर्व रक्खी हुई भिक्षा का भोजन करे। पश्चात् सायंकाल तक विश्राम और गृहाश्रम-संस्कार में लिखा सन्ध्योपासन आचार्य बालक के हाथ से करावे।

और पश्चात् ब्रह्मचारीसहित आचार्य कुण्ड के पश्चिम भाग में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे और स्थालीपाक अर्थात् पृष्ठ ५० में लिखे प्रमाणे भात बना, उसमें घी डाल पात्र में रख पृष्ठ ५७ में लिखे प्रमाणे समिदाधान कर, पुनः समिधा प्रदीप्त कर आघारावाज्यभागाहुति[१] ४ [चार] और व्याहृति आहुति[२] ४ [चार] दोनों मिलके ८ [आठ] आज्याहुति देनी।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी खड़ा होके पृष्ठ १७२ में लिखे प्रमाणे (ओम् अग्ने सुश्रवः) इस मन्त्र से [वेदीस्थ अग्नि को इकट्ठा करके, पृष्ठ १७३ में लिखे प्रमाणे (ओम् अग्नये समिध०) इस मन्त्र से] ३ तीन समिधा की आहुति देवे। तत्पश्चात् बालक बैठके यज्ञकुण्ड के अग्नि से अपना हाथ तपा, पृष्ठ ५५-५६ में लिखे प्रमाणे पूर्ववत्[३] मुख का स्पर्श करके अङ्गस्पर्श करना।

तत्पश्चात् पृष्ठ ५० में लिखे प्रमाणे बनाये हुए भात को बालक आचार्य को होम और भोजन के लिए देवे। पुनः आचार्य उस भात में से आहुति के अनुमान भात को स्थाली में लेके, उसमें घी मिला—

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा॥ इदं सदसस्पतये इदन्न मम॥ १ ॥[४]
ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा॥ इदं सवित्रे—इदन्न मम॥ २ ॥[५]
ओम् ऋषिभ्यः स्वाहा॥ इदम् ऋषिभ्यः—इदन्न मम॥ ३ ॥[६]

सदसस्पतिम्०—हे मनुष्यो ! मैं (स्वाहा) सत्यविद्या या वाणी से जिस (सदसः) सभा, ज्ञान, न्याय वा दण्ड के (पतिम्) रक्षक (अद्भुतम्) आश्चर्य गुण, कर्म, स्वभाववाले (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के स्वामी जीव के (काम्यम्) कमनीय (प्रियम्) प्रीति के योग्य परमात्मा की उपासना और सेवा करके (सनिम्) सत्यासत्य का जिससे सम्यक् विभाग किया जाए उस (मेधाम्) उत्तम बुद्धि को (अयासिषम्) प्राप्त होऊँ, उस ईश्वर की सेवा करके तुम भी उसे प्राप्त होओ।

भावार्थ—जो मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा का सेवन करते हैं, वे सब विद्याओं को पाकर शुद्ध बुद्धि से सब सुखों को प्राप्त होते हैं । —ऋषिकृत यजुर्भाष्य से

ग्रन्थकार के मत में विद्या या शिक्षा की परिभाषा में विद्या (ज्ञान) की प्राप्ति और उसके आधार पर मानवीय गुणों (सभ्यता, धर्म, शिष्टाचार, संयम) का होना आवश्यक है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार भारतसहित सारे संसार के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा का सम्बन्ध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से न रहकर केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है। जिस शिक्षा

---

१. 'अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से। २. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. इस पृष्ठ में अङ्ग-स्पर्श के मन्त्र हैं। हमारा विचार है कि यहाँ पृष्ठ १७४ के 'तनूपा०' आदि मन्त्रों से मुखस्पर्श और अङ्ग-स्पर्श होना चाहिए। वहाँ भी मुखस्पर्श और अङ्ग-स्पर्श का विधान है।

४. यजुः० ३२।१३॥ ५. यजुः० ३।३५।

६. देखो—तीनों आहुतियों के लिए आश्व० गृह्य० १।२२।११, १२, १४॥

इन ३ [तीन] मन्त्रों से तीन और पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे (ओं यदस्य कर्मणो०) इस मन्त्र से चौथी आहुति देवे। तत्पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति[१] ४ [चार] और पृष्ठ ६१-६२ में लिखे प्रमाणे (ओं त्वन्नो०) इन ८ आठ मन्त्रों से आज्याहुति ८ आठ मिलके १२ बारह आज्याहुति देके ब्रह्मचारी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठके, पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान आचार्य के साथ करके—

'अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहं भो भवन्तमभिवादये॥'

ऐसा वाक्य बोलके आचार्य का वन्दन करे। और आचार्य—

'आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य॥'

ऐसा आशीर्वाद देके, पश्चात् होम से बचे हुए हविष्य अन्न और दूसरे भी सुन्दर मिष्टान्न का भोजन आचार्य के साथ अर्थात् पृथक्-पृथक् बैठके करें।

तत्पश्चात् हस्त-मुख प्रक्षालन करके, संस्कार में निमन्त्रण से जो आये हों, उनको यथायोग्य भोजन करा, तत्पश्चात् स्त्रियों को स्त्री और पुरुषों को पुरुष प्रीतिपूर्वक विदा करें और सब जने बालक को निम्नलिखित—

में हृदय और आत्मा की अवहेलना हो, उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता।

श्री अरविन्द की मान्यता है कि ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म आर्ष-शिक्षा के मूल तत्त्व हैं। हमारा उद्देश्य होना चाहिए ऐसी उपयुक्त शिक्षा देना जिससे भावी सन्तान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ और विनीत हो। चाहे धर्म की किसी रूप में स्पष्ट शिक्षा दी जावे या नहीं, पर ईश्वर के लिए, मानवता के लिए, देश के लिए, दूसरों के लिए और इन सबमें अपने-आपको जीवित रखने के लिए—धर्म के इस सार को प्रत्येक विद्यालय का आदर्श बनाया जाना आवश्यक है।

केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त कमीशन के अध्यक्ष डॉक्टर दौलतसिंह कोठारी के मत में विद्यालय-पाठ्यक्रम का एक गम्भीर दोष है—सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा का अभाव।

भारत के सबसे पहले शिक्षामन्त्री मौलाना अबुल्लकलाम आज़ाद ने स्कूल-कॉलिजों के पाठ्यक्रम के इस दोष को दूर करने के लिए धार्मिक शिक्षा की अनिवार्यता पर बल देते हुए देश के राज्यों के सभी शिक्षामन्त्रियों तथा विश्वविद्यालयों के कुलपतियों (Vice-Chancellors) को अपने-अपने अधीनस्थ शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करने का आदेश दिया। शिक्षामन्त्रालय के सचिव प्रो० हुमायूँ कबीर के हस्ताक्षरों से जो परिपत्र सबको भेजा गया था, हम उसकी प्रतिलिपि यहाँ दे रहे हैं—

Copy of D.O. No. F-18-7/54 dated 1st October 1955 from the Education Secretary, Govt. of India.

"There is a system of values which is widely recognised and respected. Without a common system of values no society can flourish and in fact the individuals consulting it tend to languish. The Sanskrit term Dharma (धर्म) brings out this essential characteristic. It is this which binds or holds together the members of a community. Steps,

---

१. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

'हे बालक! त्वमीश्वरकृपया विद्वान् शरीरात्मबलयुक्तः कुशली वीर्यवान् अरोगः सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः ॥'

ऐसा आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को चले जाएँ।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी ३ तीन दिन तक भूमि में शयन, प्रातःसायं पृष्ठ १७२ में लिखे प्रमाणे (अग्ने सुश्रवः०) इस मन्त्र से [वेदीस्थ अग्नि को इकट्ठा कर, (अग्नये समिध०) इस मन्त्र से] समिधा होम और पृष्ठ ५५-५६ में लिखे प्रमाणे मुख आदि अङ्गस्पर्श[1] आचार्य करावे तथा ३ [तीन] दिन तक (सदसस्पति०) इत्यादि पृष्ठ १८४ में लिखे प्रमाणे ४ [चार[2]] स्थालीपाक की आहुति पूर्वोक्त रीति से ब्रह्मचारी के हाथ से करवावे और ३ [तीन] दिन तक क्षार-लवणरहित पदार्थ का भोजन ब्रह्मचारी किया करे।

---

therefore, be taken to inculcate in the young a system of values which binds them together as members of one community. Today, there is a special need to stress this point. Not only there is the urge towards the creation of new values often absent in the new generation, but it is at times looking even in a proper awareness of the rich moral and spiritual heritage which has sustained India throughout her history. The reason why India has survived inspite of poverty, hunger, disease and political vicissitudes is her faith in values which transcend the demands of our daily experience (सत्यं शिवं सुन्दरम्) have been the principles which have governed India's destiny.

One of the main criticisms against the western system of education introduced in the last hundred and fifty years or so is that it is largely indifferent to religious values.

In educational terms this means that the development of moral and spiritual values is basic to all educational objectives. Instruction uninspired by moral and spiritual values will be inadequate as a preparation for democratic citizenship.

In the beginning of the session the staff of schools and colleges may every year hold a meeting and prepare a statement of values that should guide the work of the institution for the year. Once certain values have been accepted the institution should bend all its energies to achieve the ideal in whatever is said or done within its forewalls.

The compositions the pupils write, the speeches they make in the debating society, the pictures they paint, the maps they draw, the social activities they organise should all be directed towards the achievement of these basic values.

The central problem of moral education is that it is more a matter of practice than theory. It is not communicated by intellectual means alone, but transmitted from one person to another by living human contacts."

संक्षेपतः इस परिपत्र में शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर पाठ्यक्रम में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का प्रावधान करने और तद्द्वारा विद्यार्थी के चारित्रिक एवं सांस्कृतिक विकास पर बल दिया गया है और इसके लिए अध्यापकों का स्वयं धार्मिक होना आवश्यक ठहराया गया है। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ छात्रों में मानवीय व व्यावहारिक गुणों का विकास करना है। यदि विद्यार्थी में विनम्रता, कर्मठता, सत्यनिष्ठा, सेवावृत्ति, निरभिमानता, देशभक्ति आदि गुण नहीं हैं तो

---

१. तनूपा—आदि मन्त्रों से।

२. सदसस्पति०, तत्सवितु०, ऋषिभ्यः०, यदस्य० से।

तत्पश्चात् पाठशाला में जाके गुरु के समीप विद्याभ्यास करने के समय की प्रतिज्ञा करे तथा आचार्य भी करे।

आचार्य॑ उप॒नय॑मानो ब्रह्मचा॒रिणं॑ कृणु॒ते गर्भ॑म॒न्तः।
तं रात्री॑स्ति॒स्र उ॒दरे॑ बिभर्ति॒ तं जा॒तं द्रष्टु॑मभि॒संय॑न्ति दे॒वाः॥ १॥
इ॒यं स॒मित्पृ॑थि॒वी द्यौर्द्वि॒तीयो॒तान्तरि॑क्षं स॒मिधा॑ पृणाति।
ब्र॒ह्म॒चा॒री स॒मिधा॒ मेख॑लया॒ श्रमे॑ण लो॒काँस्तप॑सा पिपर्ति॥ २॥
ब्र॒ह्म॒चा॒र्ये॑ति स॒मिधा॒ समि॑द्धः का॒र्ष्णं वसा॑नो दीक्षि॒तो दी॒र्घश्म॑श्रुः।
स स॒द्य ए॑ति॒ पूर्व॑स्मा॒दुत्त॑रं समु॒द्रं लो॒कान्त्सं॒गृभ्य॒ मुहु॑रा॒चरि॑क्रत्॥ ३॥
ब्र॒ह्म॒चर्ये॑ण॒ तप॑सा॒ राजा॑ रा॒ष्ट्रं वि र॑क्षति। आ॒चा॒र्यो॑ ब्र॒ह्म॒चर्ये॑ण ब्रह्मचा॒रिण॑मिच्छते॥ ४॥
ब्र॒ह्म॒चर्ये॑ण क॒न्या॒३॒ युवा॑नं विन्दते॒ पति॑म्॥ ५॥
ब्र॒ह्म॒चा॒री ब्रह्म॒ भ्राज॑द्बिभर्ति॒ तस्मि॑न् दे॒वा अधि॒ विश्वे॑ स॒मोता॑ः।
प्रा॒णा॒पा॒नौ ज॒नय॑न्ना॒द् व्या॒नं वाचं॒ मनो॒ हृद॑यं॒ ब्रह्म॑ मे॒धाम्॥ ६॥ —अथर्व० का० ११। सू० ५॥[१]

उसे वास्तविक अर्थों में विद्वान् वा शिक्षित होना नहीं माना जा सकता। शिक्षित मनुष्य केवल अपने लिए नहीं जीता, अपितु समाज के लिए जीता है। वह अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहकर सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझता है।

ग्रन्थकार ने साररूप में इन्हीं गुणों का निर्देश किया है। इन गुणों के अभाव में विद्या फलीभूत होगी वा नहीं, यह प्रश्न उपस्थित कर उसके उत्तर में उन्होंने कहा है—

''कभी नहीं, क्योंकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा तो क्या वह चोर के समान नहीं है? क्योंकि जैसे चोर चोरी को बुरा जानता हुआ चोरी करता और साहूकारी (वाणिज्य) को अच्छी जानकर भी नहीं करता, वैसे ही जो पढ़के भी अधर्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करता उसको विद्या का फल कैसे होगा?''

वर्त्तमान में अध्यापक का कर्त्तव्य पाठ्यक्रम में नियत पुस्तकों को पढ़ाने तक सीमित है। कक्षा के बाहर वह क्या करता है, इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। आदर्श अध्यापक को इस बात की चिन्ता होनी चाहिए कि उसके पढ़ाये ज्ञान का शिष्य के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'व्यवहारभानु' में लिखा है—''आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करे कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ स्थिर होकर उत्साह बढ़ता जाए। ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें।.............अपने आत्मा में इस बात को ध्यान में रक्खें कि जिस-जिस प्रकार से संसार में विद्या, धर्माचरण की बढ़ती और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा का कारण न हो जाएँ।......धन्य वे मनुष्य हैं जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कभी नहीं छोड़ते।''

अध्यापक की योग्यता—ग्रन्थकार ने अध्यापक के लिए आचार्य, गुरु तथा पण्डित आदि शब्दों

---

१. मन्त्र ३, ४, ६, १७, १८, २४॥

संक्षेप से भाषार्थः—आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रखके ३ [तीन] रात्रिपर्यन्त गृहाश्रम के प्रकरण में लिखे सन्ध्योपासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर, उसके आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या स्थापन करने के लिए उसको धारण कर और उसको पूर्ण विद्वान् कर देता है और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है, तब उसको देखने के लिए सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं॥ १ ॥

जो यह ब्रह्मचारी वेदारम्भ के समय तीन समिधा अग्नि में होमकर, ब्रह्मचर्य के व्रत का नियमपूर्वक सेवन करके, विद्या पूर्ण करने को दृढ़ोत्साही होता है, वह जानो पृथिवी, सूर्य और अन्तरिक्ष के सदृश सबका पालन करता है, क्योंकि वह समिदाधान, मेखलादि चिह्नों का धारण और परिश्रम से विद्या पूर्ण करके, इस ब्रह्मचर्यानुष्ठानरूप तप से सब लोगों को सद्गुण और आनन्द से तृप्त कर देता है॥ २ ॥

जब विद्या से प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके दीर्घश्मश्रुः=४० वर्ष तक डाढ़ी, मूँछ आदि पञ्च केशों का धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, वह पूर्व समुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तर समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है। वह सब लोकों का संग्रह करके बारम्बार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है॥ ३ ॥

वही राजा उत्तम होता है, जो पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप तपश्चरण से पूर्ण विद्वान्, सुशिक्षित, सुशील, जितेन्द्रिय होकर राज्य का विविध प्रकार से पालन करता है और वही विद्वान् ब्रह्मचारी की इच्छा करता और आचार्य हो सकता है, जो यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है॥ ४ ॥

जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़, पूर्ण जवान होके अपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़, पूर्ण युवति हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्थावाले पति को प्राप्त होवे॥ ५ ॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है, तभी प्रकाशमान होता, उसमें सम्पूर्ण दिव्य गुण निवास करते और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं। वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजीवन, दुःख-क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठ प्रजा को धारण करके, सब मनुष्यों के हित के लिए सब विद्याओं का प्रकाश करता है॥ ६ ॥

का पर्याय से प्रयोग करते हुए कई स्थलों पर उन्हें परिभाषित किया है। आचार्य का लक्षण और उसकी योग्यता का विवरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है—

—जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा व विद्यावान् बनाने के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न करे, उसको आचार्य कहते हैं। —व्यवहारभानु

—जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको आचार्य कहते हैं। —आर्योद्देश्यरत्नमाला

—जो सांगोपांग वेद-विद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह आचार्य कहाता है। —स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

—जो अपने सत्योपदेश से हृदय के अज्ञानरूपी अन्धकार को मिटा देवे, उसको भी आचार्य कहते हैं। —आर्योद्देश्यरत्नमाला

ब्रह्मचर्यकालः

इसमें छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड का प्रमाण—

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद॥ १॥[१]

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंꣳशतिर्वर्षाणि तत् प्रातःसवनं चतुर्विंꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वंवासयन्ति॥ २॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ ३॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति॥ ४॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ ५॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते॥ ६॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति॥ ७॥[२]

—आचार्य उसे कहते हैं कि जो अत्याचार को छुड़ाके अर्थों को ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।
—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

—आचार्य उसको कहते हैं कि जो सांगोपांग वेदों के शब्द, अर्थ-सम्बन्ध और क्रिया को जाननेवाला, छल-कपटरहित, अतिप्रेम से सबको विद्यादाता, परोपकारी, तन, मन, और धन से सबका सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेश, सबका हितैषी, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय होवे।

इसी प्रकार गुरु व पण्डित के विषय में लिखा है—

—जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह गुरु कहाता है।
—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

—जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलनेवाली, अत्यन्त अद्‌भुत विद्याओं की कथा को करने, बिना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने और दूसरों को ज्ञान कराने, सुनी-विचारी विद्याओं को

---

१. सत्यार्थप्रकाश द्वि० सं० के आरम्भ में 'यह शतपथब्राह्मण का वचन है' ऐसा लिखा है। शत० १४।६।१०।२ में 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान्' इतना पाठ मिलता है। छा० उप० ६।१४।२ में 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इतना पाठ उपलब्ध होता है। इसका विवेचन सत्यार्थभास्कर भाग १ पृष्ठ १९८ पर देखें।

२. छा० उप० ३।१६।१-६॥ सामवेदीय ग्रन्थों में भी ꣳकार का प्रयोग होता है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। वै० य० मु० उत्तरवर्ती संस्करणों में ꣳकार हटाकर अनुस्वार कर दिया है। सत्यार्थप्रकाश सं० ३ में दिये उद्धरण में भी ꣳकार मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् सामवेदीय है।

अर्थः—जो बालक को ५ [पाँच] वर्ष की आयु तक माता, ५ [पाँच] से ८ [आठ] तक पिता, ८ [आठ] से ४८ [अड़तालीस], ४४ [चवालीस], ४० [चालीस], ३६ [छत्तीस], ३० [तीस] तक अथवा २५ [पच्चीस] वर्ष तक, तथा कन्या को ८ [आठ] से २४ [चौबीस], २२ [बाईस], २० [बीस], १८ [अठारह], अथवा १६ [सोलह] वर्ष तक आचार्य की शिक्षा प्राप्त हो, तभी पुरुष वा स्त्री विद्यावान् होकर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के व्यवहारों में अतिचतुर होते हैं॥ १ ॥

यह मनुष्य देह यज्ञ अर्थात् अच्छे प्रकार इसको आयु, बल आदि से सम्पन्न करने के लिए छोटे-से-छोटा यह पक्ष है कि २४ [चौबीस] वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य पुरुष और १६ [सोलह] वर्ष तक स्त्री ब्रह्मचर्याश्रम यथावत् पूर्ण, जैसे २४ [चौबीस] अक्षर का गायत्री छन्द होता है, वैसे करे, वह प्रातःसवन कहाता है। जिससे इस मनुष्य-देह के मध्य वसुरूप प्राण प्राप्त होते हैं, जो बलवान् होकर सब शुभ गुणों को शरीर, आत्मा और मन के बीच वास कराते हैं॥ २ ॥

जो कोई इस २५ [पच्चीस] वर्ष के आयु से पूर्व ब्रह्मचारी को विवाह वा विषयभोग करने का उपदेश करे, उसको वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि—देख, यदि मेरे प्राण, मन और इन्द्रिय २५ [पच्चीस] वर्ष तक ब्रह्मचर्य से बलवान् न हुए तो मध्यम सवन जोकि आगे ४४ [चवालीस] वर्ष तक का ब्रह्मचर्य कहा है, उसको पूर्ण करने के लिए मुझमें सामर्थ्य न हो सकेगा, किन्तु प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य को सिद्ध करता है। इसलिए क्या मैं तुम्हारे सदृश मूर्ख हूँ कि जो इस शरीर, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा के संयोगरूप सब शुभ गुण-कर्म और स्वभाव के साधन करनेवाले इस संघात को शीघ्र नष्ट करके अपने मनुष्य-देह धारण के फल से विमुख रहूँ? और सब आश्रमों के मूल, सब उत्तम कर्मों में उत्तम कर्म और सबके मुख्य कारण ब्रह्मचर्य को खण्डित करके महादुःखसागर में कभी डूबूँ? किन्तु जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य करता है, वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त होके निश्चित रोगरहित होता है। इसलिए तुम मूर्ख लोगों के कहने से ब्रह्मचर्य का लोप में कभी न करूँगा॥ ३ ॥

और जो ४४ [चवालीस] वर्ष तक, अर्थात् जैसा ४४ [चवालीस] अक्षर का त्रिष्टुप् छन्द होता है, तद्वत् जो मध्यम ब्रह्मचर्य करता है, वह ब्रह्मचारी रुद्ररूप प्राणों को प्राप्त होता है कि जिसके आगे किसी दुष्ट की दुष्टता नहीं चलती और वह सब दुष्ट कर्म करनेवालों को सदा रुलाता रहता है॥ ४ ॥

यदि मध्यम ब्रह्मचर्य के सेवन करनेवाले से कोई कहे कि तू इस ब्रह्मचर्य को छोड़ विवाह करके आनन्द को प्राप्त हो, उसको वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि—जो सुख अधिक ब्रह्मचर्याश्रम के सेवन से होता और विषय-सम्बन्धी भी अधिक आनन्द होता है, वह ब्रह्मचर्य को न करने से

सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ानेवाला मनुष्य है, वही पण्डित कहाता है। —व्यवहारभानु

सत्यार्थप्रकाश में भी अन्यत्र (चतुर्थ समुल्लास) अध्यापक और अध्यापिकाओं के गुणों का विवेचन करते हुए लिखा है—

—जिसको आत्मज्ञान हो, जो निकम्मा और आलसी कभी न रहे, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोक कभी न करे, धर्म ही में नित्य निश्चित रहे, जिसके मन को उत्तम-उत्तम पदार्थ अर्थात् विषयसम्बन्धी वस्तुएँ आकृष्ट न कर सकें, वही पण्डित कहाता है।

स्वप्न में भी नहीं प्राप्त होता, क्योंकि सांसारिक व्यवहार, विषय और परमार्थ-सम्बन्धी पूर्ण सुख को ब्रह्मचारी ही प्राप्त होता है, अन्य कोई नहीं। इसलिए मैं इस सर्वोत्तम सुख-प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य का लोप न करके विद्वान्, बलवान्, आयुष्मान्, धर्मात्मा होके सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होऊँगा। तुम्हारे निर्बुद्धियों के कहने से शीघ्र विवाह करके स्वयं और अपने कुल को नष्ट-भ्रष्ट कभी न करूँगा॥ ५॥

अब ४८ [अड़तालीस] वर्षपर्यन्त, जैसाकि ४८ [अड़तालीस] अक्षर का जगती छन्द होता है, वैसे इस उत्तम ब्रह्मचर्य से पूर्णविद्या, पूर्णबल, पूर्णप्रज्ञा, पूर्ण शुभ गुण-कर्म-स्वभावयुक्त, सूर्यवत् प्रकाशमान होकर ब्रह्मचारी सब विद्याओं को ग्रहण करता है॥ ६॥

यदि कोई इस सर्वोत्तम धर्म से गिराना चाहे, उसको ब्रह्मचारी उत्तर देवे कि—अरे छोकरों के छोकरे! मुझसे दूर रहो। तुम्हारे दुर्गन्धरूप भ्रष्ट वचनों से मैं दूर रहता हूँ। मैं इस उत्तम ब्रह्मचर्य का लोप कभी न करूँगा। इसको पूर्ण करके सर्वरोगों से रहित, सर्वविद्यादि शुभ गुण-कर्म-स्वभावसहित होऊँगा। इस मेरी शुभ प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करे। जिससे मैं तुम निर्बुद्धियों को उपदेश और विद्या पढ़ाके विशेष तुम्हारे बालकों को आनन्दयुक्त कर सकूँ॥ ७॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। तत्राषोडशाद् वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतस्सम्पूर्णता। ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति॥ १॥[1]

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥ २॥

यह धन्वन्तरिजीकृत सुश्रुतग्रन्थ का प्रमाण है॥[2]

अर्थः—इस मनुष्य देह की ४ [चार] अवस्था हैं—एक वृद्धि, दूसरी यौवन, तीसरी सम्पूर्णता, चौथी किञ्चित्परिहाणि करनेहारी अवस्था है। इनमें [१६] सोलहवें वर्ष से आरम्भ [२५] पच्चीसवें वर्ष में पूर्तिवाली वृद्धि की अवस्था है। जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा, वह कुहाड़े से काटे वृक्ष वा दण्डे से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश करके पश्चात्ताप करेगा। पुनः उसके हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा और दूसरी जो युवावस्था, उसका आरम्भ [२५] पच्चीसवें वर्ष से और पूर्ति [४०] चालीसवें वर्ष में होती है। जो कोई इसको यथावत् संरक्षित न कर रक्खेगा, वह अपनी भाग्यशालीनता को नष्ट कर देवेगा और तीसरी पूर्ण युवावस्था [४०] चालीसवें वर्ष में होती है। जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ऋतुगामी, पर-स्त्रीत्यागी, एकस्त्रीव्रत, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा, वह भी बना-बनाया धूल में मिल जाएगा और चौथी [४०] चालीसवें वर्ष से यावत् निर्वीर्य न हो,[3] तवात् किञ्चित् हानिरूप अवस्था है। यदि किञ्चित्

—जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके, बहुत कालपर्यन्त शास्त्रों को पढ़े, सुने और विचारे, जो कुछ जाने उसे परोपकार में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिए कोई काम न करे, बिना पूछे या बिना योग्य समय जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे, वही प्रथम प्रज्ञान पण्डित को होना चाहिए।

—सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन, अधर्मयुक्त कर्मों का त्याग, ईश्वर, वेद, सत्याचार की निन्दा न करनेवाला व ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो, यही पण्डित का कर्त्तव्य कर्म है।

—जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे, नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे, आपत्काल

---

१. तुलना—सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३५।२५॥ इस विषय में पृ० ७१ पर टिप्पणी १ अवश्य देखें।

२. सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३५।१०॥ ३. अर्थात् ७० वर्षपर्यन्त।

हानि के बदले वीर्य की अधिक हानि करेगा, वह भी राजयक्ष्मा और भगन्दरादि रोगों से पीड़ित हो जाएगा और जो इन चारों अवस्थाओं को यथोक्त सुरक्षित रक्खेगा, वह सदा आनन्दित होकर सब संसार को सुखी कर सकेगा॥ १ ॥

अब इनमें इतना विशेष समझना चाहिए कि स्त्री और पुरुष के शरीर में पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं का एक-सा समय नहीं है, किन्तु जितना सामर्थ्य [२५] पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर में [१६] सोलहवें वर्ष में हो जाता है। यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहे तो २५ वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्यवाले होते हैं। इस कारण इस अवस्था में जो विवाह करना, वह अधम विवाह है और जो [१७] सत्रहवें वर्ष की स्त्री और ३० वर्ष का पुरुष, १८ [अठारह] वर्ष की स्त्री और ३६ वर्ष का पुरुष, १९ [उन्नीस] वर्ष की स्त्री और ३८ वर्ष का पुरुष विवाह करे तो इसको मध्यम समय जानो और जो २० [बीस], २१ [इक्कीस], २२ [बाईस], २३ [तेईस] वा २४ [चौबीस] वर्ष की स्त्री और ४० [चालीस], ४२ [बयालीस], ४४ [चवालीस], ४६ [छयालीस] और ४८ [अड़तालीस] वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे, वह सर्वोत्तम है। हे ब्रह्मचारिन्! इन बातों को तू ध्यान में रख, जोकि तुझको आगे के आश्रमों में काम आवेंगी। जो मनुष्य अपने सन्तान, कुल, सम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें, वे इन पूर्वोक्त और आगे कही हुई बातों का यथावत् आचरण करें॥ २ ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी। पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ॥ १ ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः। कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ २ ॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु। संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥ ४ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्। संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ५ ॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च। न विप्रभावदुष्टस्य[१] सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ६ ॥[२]
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा। सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥ ७ ॥[३]
यमान्सेवेत सततं न नियमान्केवलान्बुधः।[४] यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्॥ ८ ॥[५]

में व्याकुल न हो, वही बुद्धिमान् पण्डित है।

—जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों के करने में अति निपुण हो, जो शास्त्रों के प्रकरणों का विचित्र वक्ता, यथायोग्य तर्ककर्त्ता और स्मृतिमान्, ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो वही पण्डित कहाता है।

—जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल हो और जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो,

---

१. मनु० में 'विप्रदुष्टभावस्य' पाठ मिलता है। सत्यार्थप्रकाश समु० ३ पृष्ठ ८३, समु० १० पृष्ठ ३८४ (रा० ला० क० ट्रस्ट सं०) में भी 'विप्रदुष्टभावस्य' ही मूल पाठ है।

२. मनु० २।९०, ९१। ९२, ८८, ९३, ९७॥ ३. मनु० २।१००॥

४. यही पाठ स० प्र० समु० ३ पृष्ठ ७१ (रा० ला० क० ट्रस्ट सं०) में भी है। मनु० में 'न नित्यं नियमान् बुधः' पाठ मिलता है।

५. मनु० ४।२०४॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्॥ ९॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः। अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥ १०॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ ११॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ १२॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः। यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ १३॥
सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥ १४॥
वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः। वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥ १५॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ १६॥
यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥ १७॥
श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि। अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥ १८॥[1]
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्। विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥ १९॥

—मनु०॥[2]

अर्थः—कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ (मूत्र का मार्ग) हाथ, पग, वाणी—ये दस इन्द्रियाँ इस शरीर में हैं॥ १॥

इनमें कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पाँच कर्मेन्द्रिय कहाते हैं॥ २॥

ग्यारहवाँ इन्द्रिय मन है। वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है कि जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं॥ ३॥

जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता, वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करनेवाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों को रोकने में सदा प्रयत्न किया करे॥ ४॥

ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसन्देह दोषी हो जाता है और उन पूर्वोक्त १० इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है॥ ५॥

जिसका ब्राह्मणपन (सम्मान नहीं चाहना वा इन्द्रियों को वश में रखना आदि) बिगड़ा वा जिसका विशेष प्रभाव (वर्णाश्रम के गुण-कर्म) बिगड़े हैं, उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग (संन्यास) लेना, यज्ञ (अग्निहोत्रादि) करना, नियम (ब्रह्मचर्य्याश्रम आदि) करना, तप (निन्दा-स्तुति और

जो कभी श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे, वही पण्डित संज्ञा को प्राप्त होवे।

अध्यापक के गुणों का वर्णन करने के साथ-साथ ग्रन्थकार ने मूर्खों और पढ़ाने के अयोग्य अध्यापकों की पहचान इस प्रकार बताई है—

—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा वा सुना हो, जो बहुत घमण्डी हो, जो दरिद्र होकर बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाला हो और बिना कर्म के पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो, उसी को बुद्धिमान् लोग मूर्ख कहते हैं। —स० प्र० चतुर्थ समुल्लास

ऐसे अध्यापकों से शिक्षा प्राप्त न करने का आदेश देते हुए वे कहते हैं—"जहाँ ऐसे पुरुष अध्यापक, उपदेशक, गुरु और माननीय होते हैं, वहाँ अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध

---

१. मनु० २।१२१, १५३, १५४, १५६, १५७, १६२, १६६, १६८, २१८, २३८॥

२. मनु० २।२३९, २४०॥ 'विषादपि०' पूर्वार्ध २।२३९, 'विविधानि०' उत्तरार्ध २४०॥

हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहन) करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकते। इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि अपने नियम-धर्मों को यथावत् पालन करके सिद्धि को प्राप्त होवे॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किञ्चित्-किञ्चित् पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे॥ ७ ॥

बुद्धिमान् ब्रह्मचारी को चाहिए कि यमों का सेवन नित्य करे, केवल नियमों का नहीं, क्योंकि यमों* को न करता हुआ और केवल नियमों+ का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित हो जाता है। इसलिए यमसेवनपूर्वक नियमसेवन नित्य किया करे॥ ८ ॥

अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है, उसकी अवस्था, विद्या, कीर्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है। इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि आचार्य, माता-पिता, अतिथि, महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे॥ ९ ॥

अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा, वह निश्चय करके बालक होता और जो मन्त्रद, अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला, विद्या पढ़ा, विद्याविचार में निपुण है, वह पिता-स्थानीय होता है, क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञ जन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है, इससे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर ज्ञानवान्, विद्यावान् अवश्य होना चाहिए॥ १० ॥

धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों, वा झूलते हुए अङ्गों, न धन और न बन्धुजनों से बड़प्पन माना, किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद-विवाद में उत्तर देनेवाला, अर्थात् वक्ता हो वह बड़ा है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर विद्यावान् होना चाहिए। जिससे कि संसार में बड़प्पन प्रतिष्ठा पावें और दूसरों को उत्तर देने में अति निपुण हों॥ ११ ॥

*** अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥**[1]

निर्वैरता, सत्य बोलना, चोरीत्याग, वीर्यरक्षण और विषयभोग में घृणा—ये पाँच यम हैं॥ —द०स०

+ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥[2]

शौच, सन्तोष, तप (हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहना), स्वाध्याय (वेद का पढ़ना), ईश्वरप्रणिधान (सर्वस्व ईश्वरार्पण) ये ५ [पाँच] नियम कहाते हैं॥ —द०स०

और फूट बढ़के दुःख ही बढ़ता जाता है।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अध्यापक में दो प्रकार के गुण व योग्यताओं का होना आवश्यक है—जहाँ वह पूर्ण विद्वान् और अपने विषय का पण्डित हो, वहाँ उसमें चरित्रगत व मानवीय गुण भी हों। आजकल अध्यापक की नियुक्ति के समय मात्र उसकी शैक्षणिक योग्यता अर्थात् परीक्षा में प्राप्त अंकों को ही महत्त्व दिया जाता है, किन्तु उसके चरित्रगत गुणों तथा मानवीय पक्ष की उपेक्षा की जाती है। अध्यापक में उदात्त गुणों की कल्पना करते हुए भी नियुक्ति के समय अथवा व्यवहार में इसपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों से उनके भावी जीवन में सचाई, ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता आदि की आशा कैसे की जा सकती है?

---

१. योगद० २।३०।   २. योगद० २।३२॥

उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिससे इसका शिर झूल जाए, केश पक जावें, किन्तु जो जवान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है, उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिए॥ १२॥

जैसे काठ का कठपूतला हाथी वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो, वैसे बिना पढ़ा हुआ विप्र, अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है। उक्त वे हाथी, मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं। इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिए॥ १३॥

ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रक्खे और अमृत के समान अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे, अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिए भिक्षामात्र माँगते भी कभी मान की इच्छा न करे॥ १४॥

द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम, सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे। जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है, इससे ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर अवश्य वेदविद्याध्ययन करे॥ १५॥

जो ब्रह्मण-क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है, वह जीवता ही अपने वंश के सहित शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर वेदविद्या अवश्य पढ़े॥ १६॥

जैसे फावड़ा से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त होता है, वैसे गुरु की सेवा करनेवाला पुरुष गुरुजनों ने जो पाई हुई विद्या है, उसको प्राप्त होता है। इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर गुरुजन की सेवा कर उनसे सुने और वेद पढ़े॥ १७॥

उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे। नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्रीजन का ग्रहण करे, यह नीति है। इससे गृहस्थाश्रम से पूर्व-पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर कहीं से न कहीं से उत्तम विद्या पढ़े, उत्तम धर्म सीखे और ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे, क्योंकि॥ १८॥

विष से भी अमृत का ग्रहण करना, बालक से भी उत्तम वचन को लेना और नाना प्रकार के शिल्प काम सबसे अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहिएँ। इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम-सम्पन्न होकर देश-देश पर्यटन कर उत्तम गुण सीखे॥ १९॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। एके[1] चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्रह्मणाः, तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्॥ १॥

—तैत्तिरी० प्रपा० ७। अनु० ११॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्म भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥ २॥

—तैत्तिरी० प्रपा० १०। अनु० ८॥[2]

---

१. तै० आरण्यक में 'ये के' पाठ है। स० प्र० समु० ३ पृष्ठ ७६ (रालाकट्रस्ट सं०) में भी 'ये के' पाठ है, परन्तु ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (रालाकट्र सं० पृष्ठ ११९) में संस्कारविधि के समान 'एके' पाठ ही है।

२. पूना-संस्करण में दशम प्रपाठक का दो प्रकार का पाठ है। उसके प्रथम पाठ में 'दमस्तपश्शमस्तपो' तथा 'ब्रह्म' पाठ नहीं है। अन्त में मुद्रित पाठ (द्र०—१०-१०) में तथा प्रथम पाठ के नीचे पाठान्तर में

अर्थः—हे शिष्य! जो आनन्दित, पापरहित, अर्थात् अन्याय, अधर्माचरणरहित, न्याय-धर्माचरणसहित कर्म हैं, उन्हीं का सेवन तू किया करना, इनसे विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना। हे शिष्य! जो तेरे माता-पिता, आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे, धर्मयुक्त, उत्तम कर्म हैं, उन्हीं का आचरण तू कर और जो हमारे दुष्ट कर्म हों, उनका आचरण कभी मत कर। हे ब्रह्मचारिन्! जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् हैं, उन्हीं के समीप बैठना, संग करना और उन्हीं का विश्वास किया कर॥ १ ॥

हे शिष्य! तू जो यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्यशास्त्रों का सुनना, अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना, विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का संग कर। जितने भूमि, अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में पदार्थ हैं, उनका यथाशक्ति ज्ञान कर और योगाभ्यास, प्राणायाम, एक ब्रह्म—परमात्मा की उपासना कर। ये सब कर्म करना ही तप कहाता है॥ २ ॥

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्या०। दमश्च स्वाध्या०। शमश्च स्वाध्या०। अग्नयश्च स्वाध्या०।[१] अग्निहोत्रं च स्वाध्या०। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥ ३ ॥ —तैत्तिरी० प्रपा० ७। अनु० ९॥

अर्थः—हे ब्रह्मचारिन्! तू सत्य धारण कर, पढ़ और पढ़ाया कर और सत्योपदेश करना कभी मत छोड़, सदा सत्य बोल, पढ़ और पढ़ाया कर। हर्ष-शोकादि छोड़, प्राणायाम-योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर। अपने इन्द्रियों को बुरे कामों से हटा अच्छे कामों में चला, विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया कर तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर। अग्निविद्या के सेवनपूर्वक विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर। अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर। 'सत्यवादी होना तप'—**सत्यवचा राथीतर आचार्य;** 'न्यायाचरण में कष्ट सहना तप'—**तपो नित्य पौरुशिष्टि आचार्य;** 'और धर्म में चलके पढ़ना-पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है' यह नाक मौद्गल्य आचार्य का मत है और सब आचार्यों के मत में यही पूर्वोक्त तप, यही पूर्वोक्त तप है, ऐसा तू जान॥ ३ ॥

इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे।

[पठन-पाठन-विधि]

तत्पश्चात् घर को छोड़ गुरुकुल में जावे। यदि पुत्र हो तो पुरुषों की पाठशाला और कन्या हो तो स्त्रियों की पाठशाला में भेजें। यदि घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारणशिक्षा १ [एक] महीने के भीतर पढ़ा देवें। पुनः पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी का पाठ पदच्छेद, अर्थसहित ८ [आठ] महीने में, अथवा

'दमस्तपश्शमस्तपो' पाठ मिलता है। यह पाठ ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदोक्तधर्मविषय' (पृ० १२२ रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०) में भी उद्धृत किया है। वहाँ 'ब्रह्म' पद को छोड़कर संस्कारविधि-जैसा ही पाठ है।

१. द्वितीय संस्करण में 'अग्नयश्च स्वाध्या०' पाठ नहीं है, परन्तु अर्थ वर्तमान होने से तृतीय संस्करण में वर्धित यह पाठ युक्त है।

१ [एक] वर्ष में पढ़ाकर, धातुपाठ और १० [दश] लकारों के रूप सधवाना तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी। पुनः पाणिनिमुनिकृत लिङ्गानुशासन और उणादिगण, गणपाठ तथा अष्टाध्यायीस्थ ण्वुल् और तृच् प्रत्ययाद्यन्त सुबन्तरूप ६ [छह] महीने के भीतर सधवा देवें। पुनः दूसरी बार अष्टाध्यायी पदार्थोक्ति, समास, शङ्का-समाधान, उत्सर्ग, अपवाद+ अन्वयपूर्वक पढ़ावें और संस्कृतभाषण का भी अभ्यास कराते जाएँ। ८ [आठ] महीने के भीतर इतना पढ़ना-पढ़ाना चाहिए।

तत्पश्चात् पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य, जिसमें वर्णोच्चारणशिक्षा, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिगण, लिङ्गानुशासन इन छह ग्रन्थों की व्याख्या यथावत् लिखी है, डेढ़ वर्ष में अर्थात् १८ [अठारह] महीने में इसको पढ़ना-पढ़ाना। इस प्रकार शिक्षा और व्याकरणशास्त्र को ३ [तीन] वर्ष ५ [पाँच] महीने वा नौ महीने, अथवा ४ वर्ष के भीतर पूरा कर सब संस्कृतविद्या के मर्मस्थलों को समझने के योग्य होवे।

तत्पश्चात् यास्कमुनिकृत निघण्टु, निरुक्त तथा कात्यायनादि मुनिकृत कोश[1] १॥ [डेढ़ वर्ष] के भीतर पढ़के, अव्ययार्थ आप्तमुनिकृत[2] वाच्यवाचक सम्बन्ध रूप *यौगिक, योगरूढ़ि और रूढ़ि तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ यथावत् जानें। तत्पश्चात् पिङ्गलाचार्यकृत पिङ्गलसूत्र छन्दोग्रन्थ भाष्यसहित ३ [तीन] महीने में पढ़ और ३ [तीन] महीने में श्लोकादिरचनविद्या को सीखें। पुनः यास्कमुनिकृत काव्यालङ्कारसूत्र, वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ अन्वयसहित पढ़के, इसी के साथ मनुस्मृति, विदुरनीति और किसी प्रकरण में से १० सर्ग वाल्मीकीय रामायण के, ये सब १ [एक] वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें तथा १ [एक] वर्ष में सूर्यसिद्धान्तादि में से कोई १ [एक] सिद्धान्त से गणितविद्या, जिसमें बीजगणित, रेखागणित और पाटीगणित, जिसको अङ्कगणित भी कहते हैं, पढ़ें और पढ़ावें। निघण्टु से लेके ज्योतिषपर्यन्त वेदाङ्गों को ४ [चार] वर्ष के भीतर पढ़ें।

तत्पश्चात् जैमिनिमुनिकृत सूत्र पूर्वमीमांसा व्यासमुनिकृत व्याख्यासहित, कणादमुनिकृत वैशेषिकसूत्ररूप शास्त्र को गौतममुनिकृत प्रशस्तपादभाष्यसहित, वात्स्यानमुनिकृत भाष्यसहित गौतम मुनिकृत सूत्ररूप न्यायशास्त्र, व्यासमुनिकृतभाष्यसहित पतञ्जलिमुनिकृत योगसूत्र योगशास्त्र, भागुरिमुनिकृतभाष्ययुक्त कपिलाचार्यकृत सूत्रस्वरूप सांख्यशास्त्र, जैमिनि वा बौधायन आदि मुनिकृत

+ जिस सूत्र का अधिक विषय हो वह उत्सर्ग और जो किसी सूत्र के बड़े विषय में से थोड़े विषय में प्रवृत्त हो वह अपवाद कहाता है॥ —द०स०

* यौगिक—जो क्रिया के साथ सम्बन्ध रक्खे। जैसे पाचक याजकादि। योगरूढि—जैसे पङ्कजादि। रूढि—जैसे धन, वन इत्यादि॥ —द०स०

---

१. कत्यायनकोश के वचन कोशग्रन्थों की टीकाओं में बहुधा उपलब्ध होते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी उद्धरण हैं, जो इसे बुद्ध के उत्तरवर्ती काल का द्योतित करते हैं। कात्यायनकोश का एक सटीक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में विद्यमान है। उसका अवलोकन होना चाहिए।

२. आपिशलिमुनिकृत अव्ययार्थ का एक उद्धरण भानुजिदीक्षितकृत अमरकोश १।१।६६ की टीका में उद्धृत किया गया है। एक अन्य उद्धरण अन्यत्र मिलता है। (द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १ पृष्ठ १४१, तृ० सं०)। 'आप्तमुनि' नाम अन्यत्र हमारे देखने में नहीं आया। क्या 'आपिशलिमुनि' का ही 'आप्तमुनि' पाठभ्रंश तो नहीं है?

व्याख्यासहित व्यासमुनिकृत शारीरकसूत्र, तथा ईशं, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारयण्क १० [दश] उपनिषद्, व्यासादिमुनिकृत व्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र, इन छह शास्त्रों को २ [दो] वर्ष के भीतर पढ़ लेवें।

तत्पश्चात् बह्वृच् ऐतरेय ऋग्वेद का ब्राह्मण, आश्वलायनकृत श्रौत तथा गृह्यसूत्र* और कल्पसूत्र[1] पद-क्रम[2] और व्याकरणादि के सहाय से छन्द, स्वर, पदार्थ, अन्वय, भावार्थसहित ऋग्वेद का पठन ३ [तीन] वर्ष के भीतर करें। इसी प्रकार यजुर्वेद को शतपथब्राह्मण और पदादि के सहित २ [दो] वर्ष, तथा सामब्राह्मण और पदादि तथा गानसहित सामवेद को २ [दो] वर्ष, तथा गोपथब्राह्मण और पदादि के सहित अथर्ववेद को २ वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें। सब मिलके ९ [नौ] वर्षों के भीतर ४ चारों वेदों को पढ़ना और पढ़ाना चाहिए।

पुनः ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, जिसको वैद्यकशास्त्र कहते हैं, जिसमें धन्वन्तरिजीकृत सुश्रुत और निघण्टु तथा पतञ्जलि ऋषिकृत चरक आदि आर्षग्रन्थ हैं, इनको ३ [तीन] वर्ष के भीतर पढ़ें। जैसे सुश्रुत में शस्त्र लिखे हैं, बनाकर शरीर के सब अवयवों को चीरके देखें तथा जो उसमें शारीरकादि विद्या लिखी है, साक्षात् करें।

तत्पश्चात् यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, जिसको शस्त्रास्त्रविद्या कहते हैं, जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं, जो इस समय बहुधा नहीं मिलते, ३ [तीन] वर्ष में पढ़ें और पढ़ावें।

पुनः सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद, जिसमें नारदसंहितादि ग्रन्थ हैं, उनको पढ़के स्वर, राग, रागिणी, समय, वादित्र, ग्राम, ताल, मूर्च्छना आदि का अभ्यास यथावत् ३ [तीन] वर्ष के भीतर करें।

तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद, जिसको शिल्पशास्त्र कहते हैं, जिसमें विश्वकर्मा, त्वष्टा और मयकृत संहिता-ग्रन्थ हैं, उनको छह वर्ष के भीतर पढ़के विमान, तार, भूगर्भादि विद्याओं का साक्षात् करें।

ये शिक्षा से लेके आयुर्वेद तक १४ चौदह[3] विद्याओं को ३१ इकत्तीस वर्षों में पढ़के, महाविद्वान् होकर अपने और सब जगत् के कल्याण और उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें॥

॥ इति वेदारम्भसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

---

*जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो, उसका प्रमाण न करना। —द०स०

---

१. कल्पसूत्र के तीन अवयव होते हैं—श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र। दो का पूर्व निर्देश हो चुका, अतः यहाँ धर्मसूत्र अभिप्रेत है।

२. ऋषि दयानन्द ने वेद के संहितापाठ के अध्ययन के साथ-साथ पदपाठ और क्रमपाठ के अध्ययन का भी विधान किया है। क्रमपाठ ही सम्पूर्ण उन आठ विकृतियों का मूल है, जिनको कण्ठस्थ करके प्राचीन वैदिक ब्राह्मणों ने वेद का इतना प्रामाणिक पाठ सुरक्षित रक्खा, जिसमें इतने भारी सुदीर्घ काल में भी एक अक्षर, मात्रा वा स्वर का परिवर्तन नहीं हो पाया। पदक्रम के अध्ययन के आदेश से अष्टविकृतिसहित संहितापाठ का आदेश ऋषि दयानन्द ने दिया है, ऐसा जानना चाहिए।

३. अर्थात् ४ वेद, ४ उपवेद और ६ वेदाङ्ग।

अथ समावर्त्तनसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'समावर्त्तन संस्कार' उसको कहते हैं कि जो ब्रह्मचर्यव्रत, साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या, उत्तमशिक्षा और पदार्थविज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त होके विवाह-विधानपूर्वक गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़के घर की ओर आना। इसमें प्रमाण—

वेदसमाप्तिं वाचयीत[1] ॥

समावृत्तः=सम्+आ+वृत+क्त=समावृत्तः=वह ब्रह्मचारी जो अपना वेदाध्ययन समाप्त करके घर लौट आया है (आप्टे)। अमरकोश के अनुसार—'गुरोः सकाशाल्लब्धा प्राप्तानुज्ञा येन सः समावृत्तः'। लौटने का अर्थ है—जहाँ से कोई गया है, कुछ काल के पश्चात् वहीं पहुँच जाना। ग्रन्थकार के अनुसार इसका अर्थ यह है—''गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़कर घर की ओर आना।'' एतदनुसार समावर्तन-संस्कार का मुख्य केन्द्र ब्रह्मचारी का घर होना चाहिए, जहाँ १४ वर्ष बाद लौटने पर उसका स्वागत होना है, न कि विद्यालय जहाँ से उसने विदा होना है। विद्यारम्भ के लिए गुरुकुल उपयुक्त स्थान था, समावर्तन के लिए घर।

इस दृष्टि से गुरुकुल में समावर्तन का कार्यक्रम बहुत कुछ वर्त्तमान में विश्वविद्यालयों में प्रचलित पद्धति पर होना अधिक उपयुक्त है। उस अवसर पर गुरुकुल के छात्रों, उनके अभिभावकों, अध्यापकों और परिसर में रहनेवाले लोगों के अतिरिक्त स्नातकों के माता-पिता तथा निकट सम्बन्धियों को विशेषरूप से आमन्त्रित किया जाना चाहिए। उनकी उपस्थिति में दीक्षान्त समारोह होना चाहिए जिसका समापन तैत्तिरीय उपनिष्द् के 'एषा वेदोपनिषत्' के उपदेश के साथ होना चाहिए। मुकुट, छत्र-धारण करने, अंजन लगाने, सुगन्धियुक्त चन्दन का लेप करने आदि के कृत्य गुरुकुल में न होकर ब्रह्मचारी के घर पहुँचने पर उसके स्वागतार्थ आये बन्धु-बान्धवों तथा प्रतिष्ठित नागरिकों की उपस्थिति में होना शोभन है। गुरुकुल का कार्यक्रम क्षौर, स्नान तथा नये स्वच्छ-सुन्दर वस्त्र धारण करने तक सीमित रहना चाहिए।

ग्रन्थकार के अनुसार विवाह के स्थान दो हैं—एक आचार्य का घर, अर्थात् गुरुकुल और दूसरा अपना अर्थात् ब्रह्मचारी का घर। विवाह प्रायः कन्या के घर पर होता है। कन्या के लिए आचार्य के घर का अर्थ होगा कन्या गुरुकुल। ऐसा होने पर आये दिन लड़कों के गुरुकुल से बरातें जाएँगी और कन्या गुरुकुल में विवाह के मण्डप सजेंगे। इससे दोनों जगह ब्रह्मचर्याश्रम की सारी मर्यादाएँ भङ्ग हो जाएँगी। हमारा निश्चित मत है कि विवाह के स्थान लड़के-लड़कियों (स्नातक-स्नातिकाओं) के ही घर हैं, आचार्य-आचार्या के नहीं, जहाँ पाँच वर्ष के लड़के-लड़कियों का भी प्रवेश निषिद्ध है।

वेदसमाप्तिम्०—जब वेदों की=वेदाध्ययन की समाप्ति हो (तब समावर्त्तन करें)।

---

१. आश्व० गृह्य० १।२२।१६॥

कल्याणैः सह सम्प्रयोगः ॥[१]

स्नातकायोपस्थिताय। राज्ञे च। आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानां च। दधनि मध्वानीय। सर्पिर्वा मध्वलाभे। विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कः ॥ यह आश्वलायनगृह्यसूत्र ॥[२]

तथा पारस्करगृह्यसूत्र—

वेदः समाप्य स्नायाद्। ब्रह्मचर्यं वाष्टाचत्वारिꣳशकम्[३]**।**

त्रय एव स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ॥[४]

अर्थः—जब वेदों की समाप्ति हो तब समावर्त्तनसंस्कार करे। सदा पुण्यात्मा पुरुषों के सब व्यवहारों में साझा रक्खे। राजा, आचार्य, श्वसुर, चाचा और मामा आदि का अपूर्वागमन जब हो

कल्याणैः—सदा कल्याणकारी पुरुषों के साथ व्यवहार करें।

स्नातकाय०—स्नातक, आचार्य, राजा, श्वसुर, चाचा और मामा आदि घर आएँ तो उनका (विष्टर) आसन, (पाद्य) पैर धोने का जल, (अर्घ्यं) मुखप्रक्षालन का जल, (आचमनीयं) आचमन का जल तथा मधुपर्क से सम्मान करें। दही तथा मधु, मधु के अभाव में घृत मिलाकर देवें।

पाद्यम्—आयुर्वेद के अनुसार पैर धोने से थकावट तो दूर होती ही है, आँखों की गरमी भी दूर हो जाती है और यदि उनमें जलन अनुभव हो रही हो तो वह भी मिट जाती है।

अर्घ्यम्—मुँह धोने से धूल आदि तो साफ़ होती ही है, जल के छींटे पड़ते ही मनुष्य बिल्कु ताज़ा अनुभव करने लगता है। आलस्य भाग जाता है और सिर ठण्डा हो जाता है।

आचमननीयम्—आचमन अर्घ्य का पूरक है। जो काम अर्घ्य बाहर से करता है, वही सब आचमन भीतर जाकर करता है। इससे कफ़ की निवृत्ति होकर प्राणक्रिया सहजरूप में चलती रहती है।

मधुपर्क—इससे जहाँ वात, पित्त और कफ़ के विकार दूर होते हैं, वहाँ बल में भी वृद्धि होती है। दही पित्त को शान्त करता है, मधु कफ़ को और घृत वात को। पान का बीड़ा देने के समान किसी को मधुपर्क देना उसके प्रति अत्यधिक सम्मान का सूचक माना जाता था।

वेदं समाप्य०—वेदाध्ययन समाप्त होने तथा ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य सम्पन्न होने पर स्नातक हो।

त्रय एव स्नातका०—जो विद्या पूरी कर लेता अर्थात् केवल ग्रन्थों का अभ्यास कर लेता

+ जो केवल विद्या को समाप्त तथा ब्रह्मचर्यव्रत को न समाप्त करके स्नान करता है वह विद्यास्नातक। जो ब्रह्मचर्यव्रत को समाप्त तथा विद्या को न समाप्त करके स्नान करता है वह व्रतस्नातक और जो विद्या तथा ब्रह्मचर्यव्रत दोनों को समाप्त करके स्नान करता है वह विद्याव्रतस्नातक कहाता है ॥ —द०स०

---

१. आश्व० गृह्य० १।२३।२०॥

२. आश्व० गृह्य० १।२४।२-७॥

३. पार० गृह्य० २।६।१-२॥

४. पार० गृह्य० २।५।३२॥ पार० में 'एव' और 'च' पद नहीं हैं। हो सकता है ऋषि दयानन्द का पाठ कात्यायनगृह्यानुसारी हो।

और स्नातक अर्थात् जब विद्या और ब्रह्मचर्य पूरण करके ब्रह्मचारी घर को आवे, तब प्रथम पाद्यम्=पग धोने का जल, अर्घ्यम्=मुखप्रक्षालन के लिए जल और आचमन के लिए जल देके शुभासन पर बैठा, दही में मधु अथवा सहत न मिले तो घी मिलाके, एक अच्छे पात्र में धर इनको मधुपर्क देना होता है और विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक ये तीन+ प्रकार के स्नातक होते हैं। इस कारण वेद की समाप्ति और ४८ अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य समाप्त करके ब्रह्मचारी विद्याव्रत स्नान करे।[१]

तं प्रतीतं स्वधर्मेण धर्मदायहरं पितुः। स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा॥

—मनु० ३।३॥

अर्थः—जो विद्वान् माता-पिता का पुत्र, शिष्य, ब्रह्मचारी हो, वह स्वधर्म से यथावत् युक्त पितृस्थानी उस आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा, पुष्पमाला पहनाकर प्रथम गोदान देवे। यथाशक्ति वस्त्र, धनादि भी देकर सत्कार करे॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥

—अथर्व० का० ११। प्रपा० २४। व० १६। मं० २६॥[२]

है, वह विद्यास्नातक कहलाता है। जो विद्याभ्यास की दृष्टि से बहुत निपुण न होने पर भी आश्रमवास के नियमों को अपने क्रियात्मक जीवन में अपना लेता है, वह व्रतस्नातक कहलाता है और जो विद्या में पारंगत हो और आचरण की दृष्टि से भी पवित्र हो, वह विद्याव्रतस्नातक कहलाता है। ऐसे स्नातक का राजा अपने आसन से उठकर सम्मान करता था और अवसर आ जाने पर उसके लिए रास्ता छोड़ देता था।

कहते हैं कि एक बार सनत्कुमार, अर्थात् सदा कुमार बने रहनेवाले ऋषि के पास नारदमुनि पहुँचे और उनसे कहा, "भगवन्! मुझे ज्ञान दीजिए।" ऋषि ने कहा कि "जो कुछ तुम पहले जानते हो वह बतलाओ, तब मैं तुम्हें उससे आगे बतलाऊँगा।" इसपर नारद ने अशेष विद्याओं के नाम गिना दिये और बोले—'**सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् तरति शोकमात्मवित्**' [छान्दो० ७।१।३]। निश्चय ही दुःख से छुटकारा पाने के लिए आत्मवित् होना आवश्यक है। 'विद्यास्नातक' मन्त्रवित् होता है तो 'व्रतस्नातक' आत्मवित्। पूर्णता विद्याव्रतस्नातक होने से प्राप्त होती है। तभी अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति होती है।

तानिकल्पद्०—(तपः तप्यमानः ब्रह्मचारी) तपश्चर्या करता हुआ ब्रह्मचारी (सलिलस्य पृष्ठे) जल की पीठ पर (समुद्रे) समुद्र की लहर पर (अतिष्ठत्) स्थिर होने में जब समर्थ हो जाता है तब (तानि) उन (अर्थव० ११।५।२४-२५ में कथित शरीराङ्गों) को (कल्पत्) सामर्थ्यवान् कर देता है। (सः) वह (स्नातः) स्नातक होकर (बभ्रुः) सबका भरण-पोषण करता हुआ (पिङ्गलः) रक्तमुखवाला (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (बहु रोचते) बहुत प्रकाशित होता है। (कल्पत्=क्लृप् सामर्थ्ये, बभ्रुः=भृञ् धारणपोषणयोः, पिङ्गलाः=Reddish Brown—आप्टे)।

---

१. इससे आगे १८वें संस्करण से '**तं प्रतीतं**' से लेकर 'सत्कार करे' तक पाठ अधिक छपा मिलता है।

२. अथर्व० ११।५।२६॥

अर्थः—जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर, बड़े उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास कर महातप को करता हुआ वेदपठन, वीर्यनिग्रह, आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर पश्चात् पृ० २०३-२०४ में लिखे अनुसार स्नानविधि करके पूर्ण विद्याओं को धरता, सुन्दर वर्णयुक्त होके पृथिवी में अनेक शुभ गुण-कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होता है, वही धन्यवाद के योग्य है॥

इसका समयः—पृष्ठ १९१-१९२ तक में लिखे प्रमाणे जानना, परन्तु जब विद्या, हस्तक्रिया, ब्रह्मचर्यव्रत भी पूरा होवे, तभी गृहाश्रम की इच्छा स्त्री और पुरुष करें। विवाह के स्थान दो हैं—एक आचार्य का घर दूसरा अपना घर। दोनों ठिकानों में से किसी एक ठिकाने आगे विवाह में लिखे प्रमाणे सब विधि करे। इस संस्कार का विधि पूरा करके पश्चात् विवाह करे।

विधिः—जो शुभ दिन समावर्त्तन का नियत करे, उस दिन आचार्य के घर में पृ० ४९-५० में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड आदि बनाके सब शाकल्य और सामग्री संस्कार दिन से पूर्व दिन में जोड़ रक्खे और स्थालीपाक* बनाके तथा घृतादि और पात्रादि यज्ञशाला में वेदी के समीप रक्खे, पुनः पृ० ५५ में लिखे प्रमाणे यथावत् ४ [चारों] दिशाओं में आसन बिछा बैठ, पृष्ठ ३६ से पृष्ठ ४८ तक में ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करे और जितने वहाँ पुरुष आये हों, वे भी एकाग्रचित होके ईश्वर के ध्यान में मग्न होवें। तत्पश्चात् पृष्ठ ५६-५७ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान करके पृ० ५८-५९ में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर उदकसेचन करके आसन पर पूर्वाभिमुख आचार्य बैठके पृ० ५९ में लिखे प्रमाणे **आघारावाज्यभागाहुति**[१] ४ [चार] और पृ० ६० में लिखे प्रमाणे **व्याहृति**[२] आहुति ४ [चार] और पृ० ६१-६२ में लिखे प्रमाणे **अष्टाज्याहुति**[३] ८ [आठ] और पृ० ६० में लिखे प्रमाणे **स्विष्टकृत्**[४] आहुति १ [एक] और पृ० ६१ में लिखे प्रमाणे **प्राजापत्याहुति**[५] १ [एक]—ये सब मिलके १८ [अठारह] आज्याहुति देनी। तत्पश्चात्

'सलिलस्य पृष्ठे', 'समुद्रे अतिष्ठत्'—इन पदों द्वारा ब्रह्मचारी की योगसिद्धि का वर्णन हुआ है। योग की अणिमादि सिद्धि के कारण योगी जल पर स्थित हो सकता है। मन्त्र में 'सलिलस्य' पद द्वारा तालाब आदि के स्थिर और अचंचल जलों पर स्थित होना सूचित होता है और 'समुद्रे' पद द्वारा समुद्र की चंचल लहरों पर स्थित होना सूचित किया है। योग (३।४२) की व्याख्या में व्यासमुनि द्वारा जल के पृष्ठ पर पैरों द्वारा विहरण करने का कथन किया गया है। तथा 'उदानजयाज्जल-पंककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च' (योग ३।३८) की व्याख्या में वाचस्पति लिखते हैं कि "उदाने कृतसंयमस्तज्जयात् जलादिभिर्न प्रतिहन्यते", अर्थात् उदान में संयम द्वारा जल आदि में योगी का प्रतिरोध नहीं होता। उदान वायु का नियन्त्रण, कण्ठस्थ विशुद्ध चक्र करता है।

मन्त्रार्थ—'विधि' के अन्तर्गत निर्दिष्ट आहुतियों, अङ्ग-स्पर्श आदि से सम्बन्धित मन्त्रों का

---

* जोकि पूर्व पृष्ठ ५० में लिखे प्रमाणे भात आदि बनाकर रखना॥ **—द०स०**

---

१. 'अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
२. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
३. 'त्वं नो अग्ने०' आदि ८ मन्त्रों से।
४. 'यदस्य कर्मणो०' मन्त्र से।
५. 'प्रजापतये स्वाहा' मन्त्र से।

ब्रह्मचारी पृ० १७२ में लिखे० (ओम् अग्ने सुश्रव:०) इस मन्त्र से कुण्ड का अग्नि कुण्ड के मध्य में इकट्ठा करे। तत्पश्चात् पृ० १७३ में लिखे प्रमाणे (ओम् अग्नये समिध०) इस मन्त्र से कुण्ड में ३ समिधा होमकर, पृ० १७४ में लिखे प्रमाणे (ओम् तनूपा०) इत्यादि ७ सात मन्त्रों से दक्षिण हस्ताञ्जलि आगी पर थोड़ी-सी तपा उस जल से मुखस्पर्श और तत्पश्चात् पृ० १७५ में लिखे प्रमाणे (ओं वाक् च म०) इत्यादि मन्त्रों से उक्त प्रमाणे अङ्ग-स्पर्श करे। पुनः सुगन्धादि औषधयुक्त जल से भरे हुए ८ [आठ] घड़े वेदी के उत्तरभाग में जो पूर्व से रक्खे हुए हों, उन घड़ों में से—

ओं ये अप्स्वन्तरग्नय: प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदूषुरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि ॥[1]

इस मन्त्र को पढ़, एक घड़े को ग्रहण करके, उस घड़े में से जल लेके—

ओं तेन मामभिसिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥[2]

इस मन्त्र को बोलके स्नान करना। तत्पश्चात् उपरिकथित (ओं ये अप्स्वन्तर०) इस मन्त्र को बोलके दूसरे घड़े को ले, उसमें से लोटे में जल लेके—

ओं येन श्रियमकृणुतां येनावमृंशताꣳ सुराम्। येनाक्ष्यावभ्यसिञ्चितां यद्वां तदश्विना यश: ॥[3]

इस मन्त्र को बोलके स्नान करना।

तत्पश्चात् पूर्ववत् ऊपर के (ओं ये अप्स्वन्तर०) इसी मन्त्र का पाठ बोलके वेदी के उत्तर में रक्खे घड़ों में से ३ [तीन] घड़ों को लेके पृ० १६६ में लिखे हुए (आपो हि ष्ठा०) इन ३ [तीन] मन्त्रों को बोलके, उन घड़ों के जल से स्नान करना। तत्पश्चात् ८ [आठ] घड़ों में से रहे हुए ३

अर्थ वेदारम्भ संस्कार में कर आये हैं। वहाँ से देख लें।

ये अप्स्वन्तरग्नय:०—(गोह्य:) अगोचर (उपगोह्य:) किंचिदगोचर (मयूष:) प्राणियों की नाशक (मनोहा) उत्साह भंग करनेवाली (अस्खल:) अजीर्ण करनेवाली (विरुज:) विविध प्रकार की पीड़ा देनेवाली (तनूदूषु:) शरीर को दूषित करनेवाली तथा (इन्द्रियहा) इन्द्रियों को हानि पहुँचानेवाली—ये आठ प्रकार की अग्नि हैं, जो (अप्सु अन्त:) जलों=रुधिर, वीर्य में या क्रियाओं में प्रविष्ट हैं। (तान्) उन सब अग्नियों को (इह) यहाँ (विजहामि) छोड़ता हूँ और (य:) जो (रोचन:) मंगलकारक है (तम्) उसको (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ।

तेन मामभिषिञ्चामि०—(श्रियै) शोभावृद्धि के लिए (यशसे) कीर्ति के लिए (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञान के लिए (ब्रह्मवर्चसे) ब्रह्मवर्चस् के लिए (तेन) इस जल से (माम्) अपने को (अभिषिञ्चामि) अच्छी तरह स्नान कराता हूँ।

येन श्रियमकृणुताम्०—(अश्विना) हे अश्विना=विद्वानों के वैद्यो! (येन) जिस ओषधिमिश्रित जल से (सुराम्) देवों=विद्वानों को तुमने ऐश्वर्य प्रदान किया है और जिस ओषधिमिश्रित जल से (अवमृशताम्) देवताओं को सुख पहुँचाया है (येन) जिस जल से (अक्षौ) नेत्रों को (अभ्यषिञ्चताम्) आर्द्र किया है (वां) तुम दोनों का (तत् यश:) वही यश मुझे भी प्राप्त हो।

---

१. पार० गृह्य० २।६।१०॥

२. पार० गृह्य० २।६।११॥

३. पार० गृह्य० २।६।१२॥

[तीन] घड़ों को लेके (ओं आपो हि०) इन्हीं ३ [तीन] मन्त्रों को बोलके स्नान करे। पुनः—

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳ श्रथाय।

अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥[१]

इस मन्त्र को बोलके ब्रह्मचारी अपनी मेखला और दण्ड को छोड़े। तत्पश्चात् वह स्नातक ब्रह्मचारी सूर्य के सम्मुख खड़ा रहकर—

ओम् उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थाद् दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय। उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद् दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय। उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावभिरस्थात् सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय॥[२]

इस मन्त्र से परमात्मा का उपस्थान—स्तुति करके, तत्पश्चात् दही वा तिल प्राशन करके, जटा-लोम और नख-वपन अर्थात् छेदन कराके—

ओम् अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजायमागमत्। स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च॥[३]

उदुत्तमम्०—(वरुण) हे श्रेष्ठ देव! हमारे (उत्तमं पाशं) ऊर्ध्वभागस्थित पाश को तथा (अधमं) निम्न भागस्थित पाश को और (मध्यमं) मध्यभागस्थित पाश को (अव विश्रथाय) शिथिल कर। हे (आदित्य) प्रकाशमान ईश्वर! (वयं) हम (तव) तेरे (व्रते) व्रत में=नियम में रहते हुए (अनं आगसः) निष्पाप बनकर (अदितये स्याम) स्वतन्त्रता=मोक्षलाभ करें।

स्थूल, सूक्ष्म और कारणदेह के पाश क्रमशः अधम, मध्यम और उत्तम कहे गये हैं।

उद्यन्०—हे परमात्मन्! आप (उद्यन्) अपनी विचित्र लीला द्वारा सर्वत्र प्रकाशमान हैं। (भ्राजभृष्णुः) सूर्यसदृश अपने प्रकाश से अन्य सबसे बढ़कर हो, (इन्द्रः) समस्त ऐश्वर्य के निधान हो। अतः (मरुद्भिः) देवताओं से सेवित होकर (अस्थात्) स्थित हो (प्रातः) प्रातःकाल (यावभिः) गमनशील ऋषि-मुनियों से उपासित हुए (अस्थात्) स्थित हो। हे भगवन्! आप (दशसनिः) दस दिशाओं में सेवा के योग्य (असि) हो। (मा) मुझे भी (दशसनिं कुरु) सब ओर लोगों से सेवनीय बनाओ। (आविदन्) शुभ-अशुभ कर्मों के जाननेवाले आप (मा) मुझे अपने दर्शन की (गमय) प्राप्ति कराओ।

भाव यह है कि जैसे सूर्य सभी दिशाओं में सेवनीय है, वैसे ही हम भी दसों, सैकड़ों, सहस्रों दिशाओं में सदा सेवनीय हों।

अगले मन्त्र में दिवा आदि और उससे अगले मन्त्र में सायं आदि चार शब्द विशषे हैं। शेष अर्थ पूर्ववत् कर लेने चाहिएँ। ग्रन्थकार ने तीनों को एक माना है।

अन्नाद्याय०—हे लोगो! (अन्नाद्याय) अन्न खाने के लिए (व्यूहध्वम्) दाँत आदि का शोधन करके निर्मल बनो। (अयं राजा सोमः) यह स्वच्छ जल इसी शुद्धि के लिए (मा अगमत्) मेरे

---

१. यजुः० १२।१२॥ १०वें संस्करण में याजुष पाठ पर ऋग्वेद का १।२४।१५ पता दे दिया गया। अगले संस्करणों में याजुष पाठ के ꣳकार को अनुस्वार में बदल दिया गया।

२. पार० गृह्य० २।६।१६॥

३. पार० गृह्य० २।६।१७॥

इस मन्त्र को बोलके ब्रह्मचारी उदुम्बर की लकड़ी से दन्तधावन करे। तत्पश्चात् सुगन्धित द्रव्य शरीर पर मलके शुद्ध जल से स्नान कर, शरीर को पोंछ, अधोवस्त्र अर्थात् धोती वा पीताम्बर धारण करके, सुगन्धयुक्त चन्दनादि का अनुलेपन करे। तत्पश्चात् चक्षु, मुख और नासिका के छिद्रों का—

ओं प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय॥[१]

इस मन्त्र से स्पर्श करके, हाथ में जल ले, अपसव्य और दक्षिणमुख होके—

ओं पितरः शुन्धध्वम्॥[२]

इस मन्त्र से जल भूमि पर छोड़के, सव्य होके—

ओम् सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन। सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्॥[३]

इस मन्त्र का जप करके—

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि।

शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये॥[४]

इस मन्त्र से सुन्दर, अति श्रेष्ठ वस्त्र धारण करके—

ओम् यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती। यशो भगश्च मा विदद् यशो मा प्रतिपद्यताम्॥[५]

सन्मुख लाया गया है। (सः) वह स्वच्छ जल दन्तधावन के बाद (मे मुखं) मेरे मुख की (प्रमाक्ष्यते) शुद्धि करेगा (च) और (यशसा) अच्छी कीर्ति से और (भगेन) सौभाग्य से युक्त करेगा।

प्राणापानौ—हे देव! (मे) मेरे (प्राणापानौ) प्राण और अपान वायु को (तर्पय) तृप्त करो और (मे) मेरे (चक्षुः तर्पय) नेत्रों को तृप्त करो। (मे) मेरे (श्रोत्रं तर्पय) कानों को तृप्त करो। जल से शरीर के प्रत्येक अंग को लाभ होता है।

पितरः शुन्धध्वम्—(पितरः) मेरे पूजनीय बुज़ुर्गो! मुझे (शुन्धध्वम्) शुद्धमार्ग=सन्मार्ग दिखाइए।

सुचक्षा—हे देव! (अहम्) मैं (अक्षिभ्यां) आँखों से (सुचक्षा) अच्छे प्रकार देखनेवाला (भूयासम्) होऊँ='भद्रं पश्येमाक्षभिः' (मुखेन सुवर्चाः) मुख से उत्कृष्ट तेज धारण करनेवाला होऊँ। (कर्णाभ्याम्) कानों से (सुश्रुत) अच्छा सुननेवाला होऊँ=भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम'।

परिधास्यै०—(परिधास्यै) वस्त्र धारण करके अपने शरीर को ढकने के लिए (यशोधास्यै) समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिए (जरदष्टिरस्मि) मैं वृद्धावस्था तक कृतसङ्कल्प हूँ। (पुरूचीः) पुत्र और धनादि से सम्पन्न होकर ईश्वर करे मैं (शतं च जीवामि शरदः) सौ वर्ष तक जीवन लाभ करूँ।

यशसा मा०—(द्यावापृथिवी) द्युलोक व पृथिवीलोक (मा) मुझे (यशसा) यश के साथ

---

१. पार० गृह्य० २।६।१८॥

२. पार० गृह्य० २।६।१९॥

३. पार० गृह्य० २।६।१९॥

४. पार० गृह्य० २।६।२०॥

५. तु०—पार० गृह्य० २।६।२१॥ प्रथम संस्करण (पृ० ७६) और द्वि० सं० (पृष्ठ ९५) में 'मा विदद्'

इस मन्त्र से उत्तम उपवस्त्र धारण करके—

ओं या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामायेन्द्रियाय। ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च॥[१]

इस मन्त्र से सुगन्धित पुष्पों की माला लेके—

ओं यद्यशोप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु। तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस'आबध्नामि यशो मयि॥[२]

इस मन्त्र से धारण करनी। पुनः शिरोवेष्टन अर्थात् पगड़ी, दुपट्टा और टोपी आदि अथवा मुकुट हाथ में लेके पृष्ठ १६८ में लिखे प्रमाणे (युवा सुवासाः०) इस मन्त्र से धारण करे। उसके पश्चात् अलङ्कार लेके—

ओम् अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयात्॥[३]

इस मन्त्र से धारण करे। और—

ओं वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे दहि॥[४]

मिलें—वे मेरे यश का कारण बनें। (इन्द्राबृहस्पती) धनी और विद्वान्=ऐश्वर्य और ज्ञान (यशसा) मुझे यश देनेवाले हों। (यशो भगश्च) यश और सम्पत्ति मुझे भरपूर (प्रतिपद्यताम्) प्राप्त हों।

या आहरत्०—(जमदग्निः) जमदग्नि ने (याः) जिन पुष्पमालाओं को (श्रद्धायै) श्रद्धा के द्वारा (कामाय) कामनापूर्ति के लिए (इन्द्रियाय) इन्द्रियों की तृप्ति के लिए (आहरत्) ग्रहण किया (ताः) उनको (अहम्) मैं (यशसा) यश के साथ (भगेन) ऐश्वर्य के साथ (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूँ।

यद्यशः०—(इन्द्रः) इन्द्र ने (यत् विपुलं पृथु यशः) जो बड़ा तथा विस्तृत यश (अप्सरसां) दक्ष व्यक्तियों के बीच (चकार) प्राप्त किया है (तेन) उस (सुमनसः संग्रथिताः)—सद्भावना से गुथे हुए पुष्पों या मालारूप यश को (आबध्नामि) गले में धारण करता हूँ। इस माला से (मयि) मुझमें (यशः) यश की प्राप्ति हो। सम्मानित व्यक्ति को माला पहनाई जाती है, इसलिए मन्त्र में माला का उल्लेख हुआ है।

युवा सुवासा०—इस मन्त्र का अर्थ उपनयन-संस्कार में हो चुका है।

अलङ्करणमसि—हे अलंकार! तू शोभा देनेवाला है। बार-बार मेरी शोभा बढ़ा।

वृत्रस्यासि—हे अंजन! तू वृत्र—आनन्द देनेवाली (कनीनकः) पुतली (असि) है। तू आँख को देखने की शक्ति देनेवाला (चक्षुर्दा) है, मुझे देखने की शक्ति दे (चक्षुर्मे देहि)।

पाठ है। ब्लूमफील्ड ने भी वैदिक कन्कार्डेंस (पृष्ठ ७६९) में 'यशो भगश्च मा विदत्' पाठ ही उद्धृत किया है, परन्तु विवाहसंस्कार में (द्वि० सं० पृष्ठ ११३ में) 'मा विदधद्' पाठ छपा है, अतः वह भ्रष्ट पाठ है, यह स्पष्ट है। मानवगृह्य०१।९।२७ में 'मा रिषद्' पाठ है। पारस्कर के बम्बई संस्करणों में 'मा विन्दद्' पाठ है और टीकाकारों ने भी यही पाठ माना है। अरण्यसंहिता ३।१० में 'विन्दतु' पाठ है। हमारे विचार में यहाँ 'मा विदद्' के स्थान में 'मा विन्दद्' पाठ होना चाहिए।

१. पार० गृह्य० २।६।२३॥ में 'श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय' पाठ है, परन्तु ब्लूमफील्ड ने वैदिक कन्कार्डेन्स (पृष्ठ ९३७) में पारस्कर का 'श्रद्धायै कामायेन्द्रियाय' पाठ ही उद्धृत किया है।

२. पार० गृह्य० २।६।२४॥

३. पार० गृह्य० २।६।२६॥

४. पार० गृह्य० २।६।२७॥ यजुः० ४।३॥

इस मन्त्र से आँख में अंजन करना। तत्पश्चात्—

ओं रोचिष्णुरसि॥[१]

इस मन्त्र से दर्पण में मुख अवलोकन करे। तत्पश्चात्—

ओं बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहि॥[२]

इस मन्त्र से छत्र धारण करे। पुनः—

ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम्॥[३]

इस मन्त्र से उपानह्=पादवेष्टन=पगरखा और जिसको जोड़ा भी कहते हैं, धारण करे। तत्पश्चात्—

ओं विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः॥[४]

इस मन्त्र से बाँस आदि की एक सुन्दर लकड़ी हाथ में धारण करनी।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी के माता–पिता आदि, जब आचार्यकुल से अपना पुत्र घर को आवे, तब उसको बड़े मान्य, प्रतिष्ठा, उत्सव, उत्साह से अपने घर पर ले आवें। घर पर लाके उसके पिता–माता सम्बन्धी बन्धु आदि ब्रह्मचारी का सत्कार पृ० २०१ में लिखे प्रमाणे [पाद्य–अर्घ्य–मधुपर्क द्वारा] करें।

रोचिष्णुरसि—हे छत्र! तू बृहस्पति=बड़े गुरु या राजा का आच्छादक=उसे ढकनेवाला है। तू (माम्) मुझे (पाप्मनः) पाप की मार से बचा, किन्तु (तेजसो यशसो) तेज से प्राप्त होनेवाले यश से मत बचा।

प्रतिष्ठे—हे जूते! तुम काँटे आदि से रक्षा करने के कारण प्रतिष्ठित हो। (विश्वतः) सब ओर से मेरी रक्षा करो।

विश्वाभ्यो मा—(नाष्ट्राभ्यः) हे यष्टि! नष्ट करनेवाली (हानि पहुँचानेवाली) हर वस्तु से मेरी रक्षा करना।

दीक्षान्त–भाषण

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथिदेवो भव। यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि त्वया सेवितव्यानि नो इतराणि। यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया सेवितव्यानि नो इतराणि। ये के चास्मत् श्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष

---

१. पार० गृह्य० २–६।२८॥

२. पार० गृह्य० २।६।२९॥

३. पार० गृह्य० २।६।३०॥

४. पार० गृह्य० २।६।३१॥

पुनः उस संस्कार में आये हुए आचार्य आदि को उत्तम अन्नपानादि से सत्कारपूर्वक भोजन कराके और वह ब्रह्मचारी और उसके माता-पितादि आचार्य को उत्तम आसन पर बैठा, पूर्वोक्त प्रकार मधुपर्क कर, सुन्दर पुष्पमाला, वस्त्र, गोदान, धन आदि की दक्षिणा यथाशक्ति देके, सबके सामने आचार्य के जोकि उत्तम गुण हों, उनकी प्रशंसा कर और विद्यादान की कृतज्ञता सबको सुनावे—

'सुनो भद्रजनो! इस महाशय आचार्य ने मेरे पर बड़ा उपकार किया है, जिसने मुझको पशुता से छुड़ा उत्तम विद्वान् बनाया है, उसका प्रत्युपकार मैं कुछ भी नहीं कर सकता। इसके बदले में अपने आचार्य को अनेक धन्यवाद दे, नमस्कार कर, प्रार्थना करता हूँ कि जैसे आपने मुझको उत्तम शिक्षा और विद्यादान देके कृतकृत्य किया, उसी प्रकार अन्य विद्यार्थियों को भी कृतकृत्य करेंगे और जैसे आपने मुझको विद्या देके आनन्दित किया है, वैसे मैं भी अन्य विद्यार्थियों को कृतकृत्य और आनन्दित करता रहूँगा और आपके किये उपकार को कभी न भूलूँगा। सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर आप, मुझ और सब पढ़ने-पढ़ानेहारे तथा सब संसार पर अपनी कृपा-दृष्टि से सबको सभ्य, विद्वान्, शरीर और आत्मा के बल से युक्त और परोपकारादि शुभ कर्मों की सिद्धि करने-कराने में चिरायु, स्वस्थ, पुरुषार्थी, उत्साही करें कि जिससे इस परमात्मा की सृष्टि में उसके गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभावों को करके धर्मार्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कर-कराके सदा आनन्द में रहें॥'

॥ इति समावर्त्तनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्॥

सत्य का आचरण कर, धर्म का आचरण कर। स्वाध्याय में प्रमाद मत कर। आचार्य को जो धन प्रिय है वह लाकर उसे देना, आचार्य की जो शिष्यों की प्रजा है उसका तन्तु=सिलसिला मत तोड़ देना। सत्य और धर्म पर दृढ़ रहना। आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दोनों का ध्यान रखना। स्वाध्याय और उससे प्राप्त ज्ञान के प्रचार में प्रमाद न करना। अपने से ज्ञान में बड़े देवों तथा आयु में बड़े पितरों की बात को सुनने में प्रमाद न करना। माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि को देवता के समान मानना। हमारे जो प्रशंसनीय कार्य हैं, उन्हीं का अनुसरण करना, अन्यों का नहीं। हमारे जो शुभ आचरण हैं, उन्हीं का अनुकरण करना, अन्यों का नहीं। हमसे भी जो श्रेष्ठ विद्वान् हैं उनका संग करना। दान श्रद्धा से देना, श्रद्धा न हो तो भी देना, शरम से देना, डर से देना। यदि धर्माधर्म के सम्बन्ध में कभी संशय हो जाए तो जो धर्मकार्य में स्वतः प्रवृत्त हों या प्रेरणावश प्रवृत्त हों तो उनमें जो मृदु स्वभाव के हों और सन्तुलित मस्तिष्क से विचार करने में समर्थ हों जैसा वे कहें वैसा करना। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद् का सार है, यही हमारा अनुशासन है, ऐसा ही आचरण करना।

यही उपदेश है जो प्राचीनकाल में गुरुकुल से अपना अध्ययन समाप्त करके घर लौटनेवाले स्नातकों को आचार्य दिया करते थे।

अथ विवाहसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'विवाह' उसको कहते हैं कि जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा विद्या-बल को प्राप्त तथा सब प्रकार से शुभ गुण-कर्म-स्वभावों में तुल्य, परस्पर प्रीतियुक्त होके निम्नलिखित प्रमाणे सन्तानोत्पत्ति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिए स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। इसमें प्रमाण—

विवाह से अभिप्राय—'वि' उपसर्गपूर्वक 'वह प्रापणे' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से विवाह और 'उद्' उपसर्ग से इसका पर्यायवाची 'उद्वाह' शब्द बनता है। विवाह का अर्थ 'विधिपूर्वक एक-दूसरे को प्राप्त करके परस्पर दायित्व को वहन करना—निभाना' है। यह एक शास्त्रसम्मत सामाजिक विधान है। इसमें स्त्री-पुरुष सुख-सुविधा हेतु गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए दम्पती के रूप में एक-दूसरे के साथ रहने का निश्चय करते हैं और कालान्तर में सन्तानोत्पत्ति के द्वारा मानव वंश की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं।

वेद में 'विवाह' शब्द साक्षात् उपलब्ध नहीं है, किन्तु विवाह के मूल में जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसमें 'हस्तं गृभ्णामि' पद स्पष्टतः विवाह के तात्पर्य के बोधक हैं। इसका अर्थ है पति अपनी पत्नी का हाथ सारी आयु के लिए पकड़ता है और पूर्णरूप से उसका दायित्व अपने ऊपर लेता है। विवाह में हाथ पकड़ने का इतना महत्त्व है कि 'पाणिग्रहण' को विवाह का पर्यायवाची मान लिया गया है। कई अन्य जातियों ने यद्यपि वैदिक धर्म को मूलरूप में त्याग दिया है तो भी उनके संस्कारों में कहीं-कहीं वैदिक रीतियों का प्रभाव दिखाई देता है।

मूलतः वैदिक धर्मी पारसियों में विवाहकाल में वर कन्या के हाथ को पकड़ता है। इस विवाह-विधि को वे 'हाथवरो' कहते हैं। संस्कृत में हाथ (हस्त=हाथ) वरो (वरण=ग्रहण) होता है। यह संस्कृत का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है—हाथ पकड़ना। इस 'हस्तवरण' या 'हाथवरो' को पंजाबी में 'हथलेवा' कहते हैं। रोमन स्त्री भी विवाह में अपना दायाँ हाथ पुरुष=वर के दाएँ हाथ पर रखती है। इसका विवरण Encyclopaedia of Religion में Marriage शीर्षक के अन्तर्गत देखा जा सकता है। पारस्करगृह्यसूत्र १।६।२ में भी पाणिग्रहण सम्बन्धी इस मन्त्र को विवाह का मूल माना जाता है। ऐसे ही ऋग्वेद १०।८५ के पूरे सूक्त में विवाह का ही वर्णन है। शिक्षाकाल की समाप्ति पर गुरुकुल से विदा होते समय समावर्त्तन संस्कार के अवसर पर दिये जानेवाले अपने भाषण में आचार्य स्नातक को सम्बोधित करते हुए अन्य बातों के साथ यह भी कहता है—'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः', अर्थात् वंश-परम्परा को मत काट देना। स्वरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ग्रन्थकार ने 'सन्तानोत्पत्त्यादि-प्रयोजनसिद्धये' लिखकर विवाह का मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति बताया है। यह माना जाता है कि मनुष्य तीन ऋणों को लेकर जन्म लेता है—ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण। हमारे प्राचीन ऋषियों ने ज्ञान-सम्पादन करके हम तक पहुँचाया, हम उनके ऋणी हैं। समाज के विद्वान् एवं अनुभवी लोग हमारे लिए सामाजिक व्यवहार को बनाये रखते हैं, इसके लिए हम देवों (विद्वांसो वै देवाः) के

उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे *चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः ॥ १ ॥
सार्वकालमेके विवाहम्॥ २ ॥ यह आश्वलायनगृह्यसूत्र[१] ॥ और—
आवसथ्याधानं दारकाले॥ ३ ॥ इत्यादि पारस्कर[२] ॥ और—
पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत॥ ४ ॥ लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन॥ ५ ॥

इत्यादि गोभिलीयगृह्यसूत्र[३]

और इसी प्रकार शौनकगृह्यसूत्र में भी है॥

अर्थः—उत्तरायण शुक्लपक्ष अच्छे दिन अर्थात् जिस दिन प्रसन्नता हो, उस दिन विवाह करना चाहिए॥ १ ॥

और कितने ही आचार्यों का ऐसा मत है कि सब काल में विवाह करना चाहिए॥ २ ॥

जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है, उसका 'आवसथ्य' नाम है॥ ३ ॥

प्रसन्नता के दिन स्त्री का पाणिग्रहण, जोकि स्त्री सर्वथा शुभ गुणादि से उत्तम हो, करना चाहिए॥ ४-५ ॥

ऋणी हैं। माता-पिता ने हमें जन्म दिया और हमारा पालन-पोषण करके इस स्थिति तक पहुँचाया, इसलिए हम उनके ऋणी हैं। जैसे उन्होंने हमें जन्म दिया, वैसे ही हमें भी विवाह करके सन्तान के क्रम को—वंश-परम्परा को आगे चलाना है। वंश-सूत्र टूटने न पाये, इस दृष्टि से विवाह करके सन्तति-प्रवाह को जारी रखना हमारा धर्म है। पितृ-ऋण चुकाना एक धार्मिक कर्त्तव्य है जो विवाह को एक धार्मिक संस्कार मानकर ही पूरा हो सकता है।

विवाह का काल—उदगयन, आपूर्यमाणपक्षे—इस सूत्र का अर्थ है कि मुण्डन, उपनयन, समावर्त्तन और विवाह पुण्य नक्षत्र में करने चाहिएँ। पौराणिक टीकाकार इसका यह अर्थ करते हैं कि पुष्य नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ समागम होने से वह उत्तम होता है। इसलिए उसकी विद्यमानता में होनेवाला विवाह सौभाग्य का दाता और वर-वधू में आयुभर प्रीति का देनेवाला होता है। ग्रन्थकार ने इस धारणा का प्रत्याख्यान करते हुए उत्तरायण शुक्लपक्ष में किसी अच्छे दिन विवाह सम्पन्न करने का निर्देश किया है। मुहूर्त्तादि के विषय में बल्लाल पण्डित विरचित भोजप्रबन्ध में निम्नलिखित श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—

त्रैलोक्यनाथो रामोऽस्ति वसिष्ठो ब्रह्मपुत्रकः।
तेन राज्याभिषेके तु मुहूर्त्तः कथितोऽ भवत्॥ २० ॥
तन्मुहूर्त्तेन रामोऽपि वनं नीतोऽवनीं विना। सीतापहारोप्यभवद्विरिंचिवचनं वृथा॥ २१ ॥

अर्थात् ब्रह्माजी के पुत्र वसिष्ठजी ने त्रिलोकीनाथ रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक का मुहूर्त्त बताया था। इस मुहूर्त ने रामचन्द्रजी को पृथिवी का राजा न बना वन में निकाल दिया। वनमें सीता का हरण हुआ। इससे ब्रह्माजी का वचन भी मिथ्या सिद्ध हुआ।

---

* यह नक्षत्रादि का विचार कल्पनायुक्त है, इससे प्रमाण नहीं। **—द०स०**

---

१. तुलना—आश्व० गृह्य० १।४।१,२॥ गृह्यसूत्र में 'पुण्ये' के स्थान में 'कल्याणे' पाठ है।
२. पार० गृह्य० १।२।१॥
३. गोभिलगृह्य० २।१।१,२॥

इसका समय:—पृष्ठ १८९-१९२ तक में लिखे प्रमाणे जानना चाहिए। वधू और वर का आयु, कुल, वास्तव स्थान, शरीर और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करें, अर्थात् दोनों सज्ञान और विवाह की इच्छा करनेवाले हों। स्त्री की आयु से वर की आयु न्यून-से-न्यून ड्योढ़ी और अधिक-से-अधिक दूनी होवे। परस्पर कुल की परीक्षा भी करनी चाहिए। इसमें प्रमाण—

पौराणिकों में प्रचलित एक भजन में भी कहा गया है—

मुनि वसिष्ठ से पण्डित ज्ञानी रुचि-रुचि लगन धरी।
सीता हरण मरण दशरथ को विपत पै विपत परी॥

राम का विवाह सीता के साथ इसी नक्षत्र में हुआ था और मुहूर्त्त निकालनेवाले भी उस समय के मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ थे। फिर यह सब क्यों हुआ? उत्तर भजन के आरम्भ में दिया हुआ है—**'करम गति टारे नाहीं टरे'**। सुख-दु:ख कर्मों के आधार पर मिलता है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार इधर-उधर गति करते रहनेवाले नक्षत्र जड़ होने से उसे अन्यथा नहीं कर सकते। ग्रन्थकार ने किसी अच्छे दिन का परामर्श दिया है और अच्छे दिन का अर्थ है—अधिक-से-अधिक लोगों के लिए अधिक-से-अधिक सुविधाजनक या सुखप्रद और उपद्रवरहित ऋतु।

उत्तरायण काल शीत की समाप्ति पर आरम्भ होता है। पुण्य नक्षत्र होने से तब शीत, ताप व वर्षा की विषमता नहीं होती। यात्रा में कठिनाई नहीं होती। बड़े-बड़े बिस्तर ढोने नहीं पड़ते। वर्षा की भी बाधा नहीं होती। उत्तरायण काल में सत्त्वगुण के प्रधान होने से मानसिक बल बढ़ता है। शुक्लपक्ष होने से रात्रि में प्रकाश की व्यवस्था भी अधिक नहीं करनी पड़ती। अनुकूल का यही अर्थ अश्वलमुनि को अभीष्ट रहा होगा। यदि पुण्य नक्षत्र के साथ शुभ-अशुभ=मंगल-अमंगल का भाव जुड़ा होता तो अगला सूत्र 'सर्वकालमेके' न लिखते जिसके अनुसार सब काल में विवाह हो सकता है। पुण्य नक्षत्र के नाम पर एक-एक वर्ष तक 'साहा' न होने के कारण विवाह का योग न होने की भावना उनकी नहीं रही होगी।

आवसथ्याधानम्—जिस अग्नि में विवाह होता है उसे 'आवसथ्याग्नि' कहते हैं। उसके विषय में स्मृतिकार कहते हैं—

कृतदारो न तिष्ठेच्च क्षणमप्यग्निणा विना। तिष्ठन् भवेद् द्विजो व्रात्यस्तथा पतितो भवेत्॥

विवाह-संस्कार के पश्चात् गृहस्थ को एक क्षण भी आवसथ्याग्नि के बिना नहीं रहना चाहिए। अग्निरहित द्विज व्रात्य और पतित हो जाता है। गृहस्थ के सभी कृत्य इसी से सम्पन्न किये जाते हैं।

समय—विवाह की पूर्वविधि में वर-वधू को सूर्यदर्शन करया जाता है। इसी प्रकार उत्तरविधि में वधू को वर ध्रुव और अरुन्धति के दर्शन कराता है। यदि विवाह संस्कार पूर्वाह्न में होगा तो वर अपनी वधू को ध्रुव और अरुन्धति के दर्शन नहीं करा सकेगा। फलत: विहित के त्याग से शास्त्र के लोप करने का दोष आता है। इसलिए विवाह का उपयुक्त समय अपराह्न ही है जिसमें विवाह की पूर्वविधि सूर्य रहते समाप्त हो जाए और तत्पश्चात् उत्तरविधि से पूर्व सब लोग अपने नित्य कर्म से निवृत्त होकर यथासमय उत्तरविधि में उपस्थित हो जाएँ। इस प्रकार ध्रुव और अरुन्धति के दर्शन यथावत् कराये जा सकेंगे। उत्तरविधि के साथ संस्कार ऐसे समय पर समाप्त हो जाएगा जब सब लोग समय पर भोजन करके सोने के समय से पूर्व सारे कार्य से निवृत्त हो जाएँगे। रात्रि में विवाह करने से सूर्य-दर्शन की क्रिया न हो सकेगी, न समय पर भोजन होगा, न शयन। सभी

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥ १ ॥
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ २ ॥

लोग असुविधा अनुभव करेंगे। इस विधि से किसी के रात्रि में समय पर सोने और प्रातः समय पर उठने में भी बाधा न होगी। यही युक्तियुक्त है और यही व्यवहार्य है। इसलिए विवाह-संस्कार को सुविधापूर्वक विधिवत् सम्पन्न करने की दृष्टि से संस्कार का अपराह्ण में ही आरम्भ करना आवश्यक है।

वेदानधीत्य—विवाह की अर्हता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि वर और कन्या दोनों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन किया हो। स्नातक होकर उनका समावर्तन संस्कार हो चुका हो और गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए गुरु से अनुमति ले-चुके हों।

सवर्णां लक्षणान्विताम्—'पुमान् स्त्रिया' की भाँति 'सवर्णां लक्षणान्विताम्' इसके अन्तर्गत है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने इतना विशेष लिखा है—"ब्राह्मण का ब्राह्मणी से, क्षत्रिय का क्षत्रिया से, वैश्य का वैश्या से और शूद्र का शूद्रा से विवाह होना चाहिए, क्योंकि विद्यादिक गुणवाले पुरुष से विद्यादिक गुणवाली स्त्री का विवाह होने से दोनों को अत्यन्त सुख होगा और जो उत्तम पुरुष से मूर्ख स्त्री का या पण्डिता स्त्री से मूर्ख पुरुष का विवाह होगा तो अत्नन्त क्लेश होगा, कभी सुख न होगा।"

यदि माता-पिता के गुण-कर्म-स्वभाव में समानता होगी तो उनसे श्रेष्ठ गुणसम्पन्न सन्तान होगी। इसके विपरीत यदि उनमें से एक भी हीन कुल का अथवा दुष्ट गुण-कर्म-स्वभाव का होगा तो सन्तान भी वैसी ही होगी। इसका एक उदाहरण डॉ० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक Hindu View of Life में पृष्ठ ७३ पर दिया है—

"An interesting record of one Martin Kallakak appeared in 'Popular Science Siftings'—Martin Kallakak was a soldier in the Revolutionary War. His ancestory was excellent. But in the general laxity and abnormal social conditions of war time he forget his noble blood. He met a physically attractive but feeble-minded girl. The result of the meeting was a feeble-minded boy. This boy grew up and married a woman who was apperantly of the same low stock as himself. They produced numerous proginy. The children in turn married others of their kind and now for six generations this strain has been multiplying. Since that night of dissipation long ago the population has augmented by 480 souls who trace their ancestory back to Kallakak and the nameless girl. Of these 143 have been feeble-minded, 33 have been immoral, 36 illegitimate, 3 epileptios, 3 criminals and 8 brothel keepers. The same original Martin however, after saving this appaling crop of wild oats, finally marriad a young quaker girl of splended talents and noble ancestory. From this union there have been 496 direct descendants. Many of them have been governers, one founder of a great University, doctors, lawyers, judges, educators, land holders and useful citizens and admirable parents prominent in every phase of social life. The last one in evidence is now a man of wealth and influence."

सारांश—मर्टिन नामक एक व्यक्ति ने दो विवाह किये—पहला एक सुन्दर, किन्तु अज्ञातकुलशीला

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ ३॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः। स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥ ४॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्। क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥ ५॥

निर्बुद्धि लड़की से और दूसरा एक सुयोग्य कुलीन लड़की से। पहली पत्नी और उससे उत्पन्न सन्तति-अनुसन्तति क्रम में कुल ४८० व्यक्ति उत्पन्न हुए जो प्रायः सभी मूर्ख, चरित्रहीन, रोगी, अपराधी और वेश्यालयों के संचालक निकले। इसके विपरीत दूसरी पत्नी से उत्पन्न सन्तति क्रम में ४९६ बच्चे हुए जिनमें अधिकतर गवर्नर, डॉक्टर, वकील, जज, शिक्षाशास्त्री, उद्योगपति और विश्वविद्यालय के संस्थापक हुए। इस विषय में चेतावनी देते हुए मनु ने लिखा है—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः। कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्॥

—मनु० ३।१४॥

द्विजति लोग मोह या काम में फँसकर हीन जाति की स्त्री से विवाह करके कुल को ही तेज़ी से शूद्रत्व की ओर ले-जाते हैं।

असपिण्डा—हिन्दू क़ानून की दो प्रणालियाँ हैं—दायभाग तथा मिताक्षरा। दायभाग प्रणाली के अनुसार पिण्ड का अर्थ है—श्राद्ध के समय पितरों को अर्पित किया जानेवाला चावलों का गोला। जो लोग एक ही पितर को पिण्ड दान कर सकें वे आपस में सपिण्ड कहाते हैं। एक ही पिता-पितामह की सन्तान श्राद्ध के समय पिण्ड अर्पण करते हैं, इसीलिए वे सपिण्ड हैं। मिताक्षरा प्रणाली के अनुसार याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार विज्ञानेश्वर ने सपिण्ड का अर्थ किया है—एक ही पिण्ड या शरीरवाले। पिता और पुत्र सपिण्ड हैं, क्योंकि पिता के शरीर=रक्त या वीर्य से ही पुत्र का शरीर बनता है—'अङ्गादङ्गात् सम्भवति'। दादा और परदादा भी सपिण्ड हैं, क्योंकि उनके रक्त से ही पोते-परपोते का शरीर बनता है। इस प्रकार सपिण्ड का अर्थ है—एक ही रक्त के लोग (Consanguineous)। सपिण्ड में विवाह न करने का विधान भावनात्मक (Emotional) होने के साथ-साथ प्रजनिक (Eugenic) भी है। यह तो सभी जानते हैं कि अति परिचय में प्रेम नहीं रहता। इसलिए भावनात्मक दृष्टि से भाई-बहिन में विवाह वर्जित है। इसके साथ यह भी ठीक है कि समान रक्त की सन्तानों में उत्कृष्टता नहीं रहती। इसलिए हिन्दू विवाह व्यवस्था में इस प्रकार के (सपिण्ड) विवाह का निषेध है।

सपिण्ड में कौन-कौन आते हैं? मिताक्षरा के अनुसार पीढ़ियों को देखते हुए समान पूर्वज (Common arcestor) को भी इसी क्रम में गिनना चाहिए और वर तथा वधू इन दोनों के माता तथा पिता की पीढ़ियों को देखना चाहिए। पूर्वज को छोड़ दिया जाए तो माता की ओर से पाँच पीढ़ियों में और पूर्व पुरुष को भी गिना जाए तो छह पीढ़ियों में विवाह नहीं हो सकता। यदि गणना पिता की ओर से की जाए तो पिता की सातवीं पीढ़ी में विवाह हो सकता है—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते। समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥

—मनु० ५।६०

सातवीं पीढ़ी में सपिण्डता का सम्बन्ध छूट जाता है और कुल में उत्पन्न हुओं के नाम—जन्म स्मरण न रहे तो समानोदकता छूट जाती है।

'समानोदकभाव' मूलतः एक मुहावरा है जिसका अर्थ है—एक स्थान के जल का दूसरे स्थान

के जल में मिलकर एक हो जाना। अत्यधिक घनिष्ठता की प्रतीति के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। घनिष्ठता रहते हुए ही नाम आदि का ज्ञान बना रहता है। घनिष्ठता न रहने पर वह नहीं रहता।

सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी।

तेन मातामहादीनामेकपिण्डसम्बन्धेऽपि न सपिण्डता॥

समानोदकत्वं पुनरस्मत्कुले अमुकनामाभूदिति जन्मनामोभयापरिज्ञाने निवर्त्तते—

सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी। सपिण्डता ततः पश्चात् समानोदकधर्मतः॥

—निर्णयासन्धु

अर्थात् सभी की सपिण्डता गोत्र में सातवीं पीढ़ी तक रहती है। उसके पश्चात् धर्मपुरस्सर समानोदकता होती है।

सन् १९५५ में पारित हिन्दू विवाह अधिनियम (Hindu Marriage Act 1955) के अनुसार सपिण्डता के निषेध की सीमा कम कर दी गई है। इस सीमा को पिता की ओर से पाँच और माता की ओर से तीन पीढ़ी तक सीमित कर दिया गया है।

सगोत्र विवाह—भारतीय परम्परा के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम, भरद्वाज, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप की सन्तान गोत्र कही गई है—

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गोतमः। अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते गोत्रकारकाः॥

इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि किसी परिवार का जो आदि प्रवर्त्तक था, जिस महापुरुष से परिवार चला उसका नाम परिवार का गोत्र बन गया और उस परिवार के जो स्त्री-पुरुष थे वे आपस में भाई-बहिन माने गये, क्योंकि भाई-बहिन की शादी अनुचित प्रतीत होती है, इसलिए एक गोत्र के लड़के-लड़कियों का परस्पर विवाह वर्जित माना गया।

गोत्र के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य और बौधायन दोनों का मत है कि कालान्तर में गोत्रों की संख्या सात न रहकर हज़ारों में हो गई। तब एक वंश-परम्परा में खानदान का जो मुख्य व्यक्ति हुआ, चाहे वह आदि काल में हुआ, चाहे बीच के काल में हुआ, उसके नाम से गोत्र चल पड़ा—**'परम्परा प्रसिद्धं गोत्रम्'**—याज्ञवल्क्य। गोत्र-सम्बन्धी परम्परा का निष्कर्ष यह है कि जिन लोगों का आदिपुरुष एक माना गया वे आपस में भाई-बहिन माने जाने से उनके बीच विवाह निषिद्ध माना गया। आधुनिक विचारकों की दृष्टि से सपिण्डों में विवाह न करने का तो प्रजनिक (Eugenic) आधार है, गोत्र, प्रवर आदि में विवाह न करने का भावनात्मक आधार तो हो सकता है, उसका प्रजनिक आधार अत्यन्त शिथिल है।

जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है, हिन्दूसमाज में सपिण्ड विवाह पहले भी होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं। उदाहरणार्थ—अर्जुन ने अपने मामा की लड़की सुभद्रा से विवाह किया जिससे उसका पुत्र अभिमन्यु पैदा हुआ। यह मुमेरे-फुफेरे भाई-बहिन (Maternal cousins) का विवाह था। श्रीकृष्ण के लड़के प्रद्युम्न का विवाह भी अपने मामा की लड़की रुक्मावती के साथ हुआ था। श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध ने अपने मामा की लड़की रोचना से और परीक्षित ने अपने मामा की लड़की इन्द्रावती से विवाह किया था। सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) का विवाह अपने मामा की लड़की यशोधरा से हुआ था और पृथ्वीराज चौहान ने अपनी मौसी की लड़की संयुक्ता से विवाह किया

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्। नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम्॥ ६॥

था। दक्षिण में मामा की लड़की से विवाह होना आम बात है। किसी-किसी जाति (वर्ग) में भांजी और साली-साले की लड़की से भी विवाह करने का रिवाज है। सम्भव है, दक्षिण में सपिण्ड विवाह होने का कारण वहाँ प्रचलित मातृसत्तात्मक परिवार (Matriarchal Family) रहा हो।

परन्तु यह सब महाभारत काल से आरम्भ हुआ जो आर्यावर्त्त (भारतवर्ष) के सांस्कृतिक तथा नैतिक पतन का काल माना जाता है। शास्त्रसम्मत न होने से उस काल के कृत्यों को आदर्श नहीं माना जा सकता। वस्तुतः एक रक्त के सम्बन्धियों में विवाह होना हितकर नहीं है—न प्रजनिक (Eugenic) आधार पर और न भावनात्मक (Emotional) आधार पर। ग्रन्थकार ने लिखा है कि जब तक दूरस्थ कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता तब तक शरीर आदि की पुष्टि पूर्ण नहीं होती। उनके इस शास्त्रानुमोदित कथन की आधुनिक प्रजनन विज्ञान (Science of Eugenics) से पुष्टि होती हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जैसे पिता का गोत्र छोड़ा जाता है वैसे ही माता का गोत्र न छोड़कर केवल छह पीढ़ियाँ ही छोड़ना काफ़ी क्यों माना गया है? माता के समान पिता की भी छह पीढ़ियाँ ही छोड़नी चाहिएँ थीं। इस विषय में हमारा यह कहना है कि माता-पिता के रक्त का एक-सा प्रभाव नहीं होता। बीज के तुल्य पृथिवी की प्रधानता नहीं होती। यदि एक ही भूमि में विभिन्न प्रकार के बीज बोये जाएँ तो पृथिवी के एक-जैसी होने पर भी विभिन्न प्रकार की उपज होगी। आयुर्वेद के अनुसार सन्तान उत्पन्न करने में स्त्री का रज मुख्यतः बीज की रक्षा करने का काम करता है। मुख्यता बीज की होती है। पिता की भाँति माता का भी कुल पूरी तरह छोड़ दिया जाए तो अति उत्तम है, परन्तु माता की छह पीढ़ियाँ छोड़ देने से भी काम चल सकता है, क्योंकि इतने से ही रक्त में आनेवाले दोषों से बचा जा सकता है। वीर्य की प्रधानता होने से पिता के गोत्र को पूरी तरह छोड़ना मनुजी ने आवश्यक समझा।

रोग, चरित्र और नामवाली बात लड़के-लड़की दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक है। इसलिए इसमें जो कुछ कन्या के लिए कहा गया है वह सब वर के लिए भी आ जाता है। ऋषियों ने ये शर्तें भावी सन्तति को रोग और दोष से मुक्त करने की दृष्टि से लगाई हैं। किसी असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति की सूचना मिलने पर परीक्षोपरान्त ही विवाह होना चाहिए। माता-पिता को एक-दूसरे से रोग लगने की अपेक्षा उनकी सन्तान के उस रोग से पीड़ित होने का भय अधिक होता है। यह भी देखा गया है कि पुत्र को रोग न हो तो पोते को हो सकता है। इसलिए जहाँ तक हो सके इस विषय में अधिक-से-अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है।

प्रजननशास्त्र के कई आधुनिक लेखक भिन्न-भिन्न रोगवाले कुलों में विवाह-सम्बन्ध की अनुमति देते हैं, परन्तु मनु इतनी छूट देने के लिए तैयार नहीं थे। वे असाध्य रोगों को निर्मूल करना चाहते थे।

नोद्वहेत—'अङ्ग' शब्द का अवयव अर्थ प्रसिद्ध है। 'अङ्गी' शरीर के लिए आता है, जैसे 'येनाङ्गविकारः' (अष्टा० २।३।२०) सूत्र में पाणिनि मुनि ने 'अङ्गी' अर्थ में 'अङ्ग' शब्द का प्रयोग किया है। जिस अङ्ग (शरीरावयव) के द्वारा अङ्गी, अर्थात् शरीर का विकार लक्षित हो, उसमें तृतीया विभक्ति आती है। महाभाष्य में पतञ्जलि मुनि लिखते हैं—'अङ्गीशब्दो समुदायशब्दः', अर्थात् अङ्ग

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्। न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥ ७॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्। तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥ ८॥

(शरीरावयव) हैं जिस समुदाय में, वह शरीर (समुदाय) अङ्गी कहाता है। 'अक्ष्णा काण:'—उदाहरण में आँख शरीरावयव के द्वारा शरीरसमुदाय का काणत्व परिलक्षित होता है। इस सूत्र पर कैयट लिखते हैं—'अङ्गान्यस्य सन्तीत्यर्थ आदित्यादच् प्रत्ययान्तोऽत्राङ्गशब्दो निर्दिष्टः। तदनुसार ही ग्रन्थकार ने 'अधिकाङ्गी' शब्द के दो अर्थ किये हैं—(१) 'अधिकाङ्गीम्'='अधिकमङ्गं शरीरं यस्यास्ताम्' अर्थात् जिसका शरीर अधिक=लम्बा-चौड़ा हो, उसको। इस अर्थ में 'अधिक' अध्यारुढ़=बढ़े हुए अर्थ में अङ्ग शब्द समुदाय शरीर का बोधक है। अष्टाध्यायी ५।२।७३ सूत्र में (अधिकतम) अध्यारूढ़ शब्द की उत्तरपद लोप और 'कन्' प्रत्यय से सिद्धि की है—'अधिकमिति निपात्यते। अध्यारूढ़ शब्दस्योत्तरपदलोप: कन् च प्रत्ययो निपात्यते।'

'अधिक' शब्द सापेक्ष है। अधिक के लिए उससे प्रत्यय होना आवश्यक है, जैसे 'शताधिकम्'=सौ के ऊपर चढ़ा हुआ, अर्थात् सौ से अधिक। "वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के कन्धे के तुल्य स्त्री का शरीर होना चाहिए।" सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के अनुसार "जिस कन्या के अङ्ग वर से अधिक होवें, अर्थात् कन्या का शरीर लम्बा-चौड़ा और वर का शरीर छोटा और पतला-दुबला होय उनका परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए, न्यून हो तो होय, अन्यथा गर्भ स्थिर नहीं होगा।" निरुक्त में 'अधि' शब्द का 'उपरिभाव' अर्थ भी बताया है—'अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा' (निरुक्त १।३), अर्थात् 'अधि' शब्द ऊपर होने या ऐश्वर्य को कहता है। जैसे—'यश्चाधितिष्ठति'=परमेश्वर सबसे ऊपर है, 'अधिपति'=सबका स्वामी है।

नर्क्षवृक्ष—बालकों का नामकरण तो जन्म से ११वें वा १०१वें दिन कर दिया जाता है। ऊटपटाङ्ग नाम रखने के दोषी तो माता-पिता होते हैं। उनके दोष के कारण किसी निर्दोष कन्या को आजीवन अविवाहित रहना पड़े, यह कहाँ का न्याय है? फिर, अन्यथा सर्वथा अनुकूल लड़की को मात्र नाम=(नाममात्र) ठीक न होने के कारण कौन त्याग देगा? किन्तु इस प्रकार के नामों से इस बात का संकेत अवश्य मिलता है कि इस प्रकार का नाम रखनेवाला कुल सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत नहीं है। मनु को उद्धृत करते हुए इस प्रकार का निर्देश करने का तात्पर्य इस बात पर बल देना प्रतीत होता है कि नामकरण के अवसर पर नाम का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाए कि नाम सार्थक हो और कहने-सुनने में भला लगनेवाला हो। यही कारण है कि विवाह के समय प्राय: लड़कियों का नाम बदल दिया जाता है। गुरुकुलों में प्रवेश के समय आवश्यकतानुसार लड़के-लड़कियों का नाम बदलने की परम्परा है। पौराणिकों में पहले राशि आदि के अक्षर के अनुसार कुछ भी नाम रख दिया जाता है और कालान्तर में व्यवहार के लिए कोई सुन्दर-सा नाम रख लिया जाता है। अब प्राय: अच्छे नाम रक्खे जाने लगे हैं, परन्तु ग्रन्थकार के समय प्राय: निरर्थक और ऊटपटाङ्ग नाम रक्खे जाते थे।

आठ प्रकार के विवाह—मनु के अतिरिक्त नारद और याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी इन आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है। इनमें से पहले चार विवाह उत्तम माने गये हैं, इन्हें धर्मविवाह माना गया है।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ ९॥
आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्। आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥ १०॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते। अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥ ११॥

ब्राह्मविवाह

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥ —मनु० ३।२७॥

तदनुसार कन्या का पिता योग्य, सुशील, विद्वान् युवक को खोजकर उसे अपने घर पर आमन्त्रित करता है और धार्मिक संस्कार करके कन्या को उस वर के प्रति अर्पित करता है। इस विवाह में आवश्यक तत्त्व हैं—माता-पिता की स्वीकृति, यथाविधि संस्कार करना तथा दहेज न देना। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्म विवाह में केवल एक वस्त्र से अलंकृत करके कन्या देने का अभिप्राय यही हो सकता है कि उसमें आजकल की भाँति आडम्बर न किया जाए। वेदों में पारङ्गत विद्वानों से अनुमोदित होने के कारण यह ब्राह्मविवाह कहलाता है।

दैवविवाह

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते। अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥
—मनु० ३।२८॥

विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों को आमन्त्रित कर उसमें कर्म करानेवाले विद्वान् को वस्त्रालंकार से सुशोभित कन्या के देने को धर्मयुक्त दैवविवाह कहते हैं।

श्री अलतेकर का कहना है कि प्राचीन काल में गृहस्थ लोग समय-समय पर बड़े-बड़े यज्ञ करवाया करते थे। इन अवसरों पर अनेक पुरोहित यज्ञ करवाने के लिए आमन्त्रित किये जाते थे। सम्भव है कि यज्ञ करानेवाले यजमान को इन पुरोहितों में से कोई युवक पसन्द आ जाता हो और वह अपनी लड़की का उससे विवाह कर देता हो, क्योंकि ऐसा विवाह देवताओं की पूजा के अवसर पर होता था, इसलिए इसे दैवविवाह कहते थे।

श्री अलतेकर का यह विचार तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। यद्यपि प्रचलित टीकाओं के अनुसार ऋत्विक् शब्द का प्रसिद्ध अर्थ यज्ञ करानेवाला विद्वान् ब्राह्मण ग्रहण करके उसी को कन्यादान करना 'दैवविवाह' बतलाया है, तथापि यह अर्थ मनुवचन के विरुद्ध तो है ही, प्रसंगानुकूल भी नहीं है। इससे दैव-विवाह, विवाह के उद्देश्य से आयोजित यज्ञ में यज्ञीय क्रियाओं को सम्पन्न करनेवाले ब्राह्मणों तक सीमित हो जाता है, परन्तु मनु ने ऐसा कोई विधान नहीं किया है जिससे दैवविवाह केवल कर्मकाण्डी ब्राह्मणों तक में सीमित रहता हो। वस्तुतस्तु मनु ने सब प्रकार के विवाह सभी वर्णों के लिए विहित माने हैं। आठ प्रकार के विवाहों में से किसी भी प्रकार का विवाह किसी वर्णविशेष के लिए निर्धारित नहीं किया है।

देव सात्त्विक वृत्ति के विद्वान् को कहते हैं—देवत्वं सात्त्विका यान्ति (मनु० १२।४०) तदनुसार एक विद्वान् पुरुष का किसी विदुषी स्त्री से विवाह दैवविवाह है। ऋत्विक् शब्द सामान्यतः यज्ञ करानेवाले विद्वान् ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त होता है। निरुक्त में ऋत्विक् की एक व्युत्पत्ति यह भी है—'ऋतुयाजी भवतीति वा' (३।४।१९) ऋतौ विशेषे, अवसर-विशेषे याजी=यजनशीलः

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥१२॥

याजनशीलो वा। इससे अवसर-विशेष या उद्देश्य-विशेष के लिए यज्ञ करनेवाला भी ऋत्विक् कहलाता है। इस प्रकार विवाह-प्रसङ्ग में ऋत्विक् शब्द का अर्थ हुआ—विवाह के उद्देश्य से आयोजित यज्ञ में विवाह के निमित्त यजन करानेवाला अर्थात् क्रियाओं का सम्पादन करनेवाला विद्वान् जिसका विवाहार्थ वरण किया जाता है।

आर्ष विवाह

वर से कुछ लेके विवाह करना 'आर्ष विवाह' कहाता है। संस्कार-विधि में ग्रन्थकार ने लिखा है—"एक गाय-बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना, वह आर्ष विवाह है।" इसका आधार मनुस्मृति का यह श्लोक है—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥

—मनु० ३।२९

इसपर संस्कारविधि में टिप्पणी में लिखा है—'यह बात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्ति के विरुद्ध भी है। इसलिए कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष विवाह' है। द०स० (दयानन्द सरस्वती)।

निश्चय ही प्रक्षिप्त होने से इस श्लोक को प्रमाण कोटि में नहीं रखा जा सकता। आगे आर्ष-विवाह में गोयुगल का निषेध करते हुए लिखा है—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्। अल्पोऽप्येवं महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः॥

—मनु० ३।५३

अर्थात् कुछ लोगों ने आर्ष विवाह में बैलों के एक जोड़े का शुल्करूप में लने का कथन किया है, वह मिथ्या ही है, क्योंकि थोड़ा हो या अधिक, धनादिक लेकर विवाह करना कन्या को बेचना ही है।

इससे पहले मनु० ३।५१ में कह चुके हैं—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥

समझदार पिता को चाहिए कि वह कन्या के विवाह में शुल्करूप तनिक-सा भी धन न ले। लोभ के कारण शुल्क लेने पर वह सन्तान को बेचनेवाला ही माना जाएगा।

पुनः अगले श्लोक में कहते हैं—

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्॥

—मनु० ३।५४

अर्थात् कन्या के माता-पिता या सम्बन्धी जिन कन्याओं के विवाह के लिए वरपक्ष से कुछ नहीं लेते, इस प्रकार का विवाह कन्या को बेचना नहीं कहाता। ऐसा विवाह वास्तव में कन्याओं का पूजा-सत्कार करना और उनके प्रति दया और स्नेह प्रदर्शित करना है।

३।२९ में जो गोयुगल लेने का विधान होने तथा ३।५३ में स्पष्टतः निषेध होने से स्वभावतः

सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च। कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥१३॥

यह जिज्ञासा होगी कि आखिर मनु की दृष्टि में आर्ष-विवाह का लक्षण क्या है? मनु० ३।५३ में 'केचिदाहुः' (कुछ लोग ऐसा कहते हैं) शब्दों से स्पष्ट है कि यह मनु का अपना मत नहीं है। साथ ही 'मृषैव तत्' (यह मिथ्या है) कहने से यह भी स्पष्ट है कि वह 'कुछ लोगों के इस मत' से सहमत भी नहीं है। वह इसे कन्या को बेचने-जैसा मानते हैं। तत्काल इसी से लगता दूसरा प्रश्न उठता है कि फिर आर्ष-विवाह का लक्षण क्या बनता है? मनु ने इसे स्पष्ट नहीं किया। कुल्लूकभट्ट ने इसका समाधान करने का प्रयास किया है। उनका विचार है—**'अस्माभिरित्थं व्याख्यायते—आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कमुत्कोचरूपमिति केचिदाचार्या वदन्ति। मनोस्तु मतं नेदम्, शास्त्रनियमितजातिसंख्याकं ग्रहणं न शुल्करूपं। शुल्कत्वे मूल्याल्पत्वमहत्वेऽनुपयोगिनि विक्रय एव तदा स्यात्। किन्त्वार्षविवाहसंपत्यै आवश्यकर्त्तव्ययागादिसिद्धये वादातुं शास्त्रीयं धर्मार्थमेव गृह्यते। अतएवार्षलक्षणश्लोके वरादादाय धर्मत इति धर्मतो धर्मार्थमिति तस्यार्थः भोगलोभे न तु धनग्रहणं शुल्करूपमशास्त्रीयम्।'**

अर्थात् कुल्लूकभट्ट के विचार में इस श्लोक में 'धर्मतः' पद पठित होने का अभिप्राय है कि विवाह में दान देने के धर्म का पालन करने के लिए गोयुगल लेना चाहिए, लालचवश नहीं। मनु० ने ३।५१-५४ में लोभवश लेने का निषेध किया है, शास्त्रनिर्दिष्ट विधि को पूरा करने के लिए विहित वस्तु को लेने का नहीं।

यह समाधान सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता—लीपापोती लगती है। मनु की मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए निश्चय ही यह श्लोक प्रक्षिप्त है। इसलिए हमारे मत में ग्रन्थकार द्वारा संस्कारविधि में किया गया लक्षण ही निर्दोष है अर्थात्—'कुछ भी न ले-देकर' दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष=विवाह' है।

प्राजापत्यविवाह

मनु० ३।१० में प्राजापत्यविवाह का लक्षण इस प्रकार किया है—

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥

यज्ञशाला में विधिपूर्वक कन्या और वर को सबके सामने 'तुम दोनों मिलके गृहस्थ धर्म का पालन करो' कहकर कन्यादान करना प्राजापत्यविवाह कहाता है। इस श्लोक के पहले चरण से यह व्यंजित होता है कि यह विवाह वर-वधू दोनों के माता-पिता के स्तर पर खोज करके किया जाता है। इस विवाह में प्रधानता प्रजा, अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने को दी जाती है। इसीलिए इसे प्राजापत्यविवाह के नास से अभिहित किया गया है। निघण्टु २।२ के अनुसार 'प्रजा अपत्यनाम' सन्तान को प्रजा कहते हैं और 'प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा' सन्तान का पालक व रक्षक होने से पिता का नाम प्रजापति है। ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाह में इतनी समानता है कि कई विद्वानों के अनुसार ये दो न होकर एक ही हैं। मनुस्मृति में तो इनका अलग-अलग उल्लेख किया है, परन्तु वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब में प्राजापत्य का उल्लेख नहीं मिलता।

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः। कन्याप्रदानं विधिवद् आसुरो धर्म उच्यते॥ १४॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥ १५॥

आसुरविवाह

मनुस्मृति ३।३१ के अनुसार—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥

वर के सम्बन्धियों तथा कन्या को यथाशक्ति धन देकर यथाविधि विवाह का सम्पादन करना आसुर विवाह कहाता है। 'स्वाच्छन्द्यात्' शब्द का यह तात्पर्य हो सकता है कि इस विवाह में माता-पिता की इच्छा प्रधान तथा वर-कन्या की इच्छा गौण होती है। देवता निःस्वार्थ, निर्वैर, परोपकारप्रिय, तप, त्याग, सहिष्णुता आदि गुणों से भरपूर होते हैं। इसके विपरीत जो अपने ही स्वार्थ व सुविधा के लिए येन-केन प्रकरेण धन बटोरने में प्रवृत्त रहते हैं, वे असुर कहाते हैं। ऐसे लोगों के विवाह को आसुर विवाह कहा जाता है।

गान्धर्वविवाह

मनुस्मृति ३।३२ में कहा है—

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥

विवाह-संस्कार के बिना अपने को पति-पत्नी मानकर स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे की इच्छा से—कामभावना से संयोग करने को गान्धर्वविवाह कहते हैं। आजकल के प्रेम-विवाह (Love Marriage) बीते दिनों के गान्धर्वविवाह ही हैं। इस प्रकार के विवाह में माता-पिता तथा सम्बन्धियों का कोई स्थान नहीं होता। कामसूत्र में गान्धर्वविवाह को आदर्श विवाह माना गया है। प्राचीन काल में गाने-बजाने में निष्णात गान्धर्व नाम की एक विशिष्ट जाति थी जो अत्यन्त कामुक थी। उनके लिए कहा गया है—**'स्त्रीकामा वै गान्धर्वाः'**—स्त्री की कामना गान्धर्वों की विशेषता है। सामाजिक दृष्टि से यह अनाचार या व्यभिचार का दूसरा नाम है। वर्त्तमान में इसे प्रतिष्ठित स्थान देने के लिए समाज ने इसे प्रेम-विवाह के नाम से मान्यता प्रदान कर दी है। कामवासना पर आधारित इस यौनाचार को प्राचीन स्मृतिकारों ने गान्धर्वविवाह का नाम दे दिया। गान्धर्वविवाह की सूचना माता-पिता को भी विवाह-सम्पन्न होने के बाद मिलती है। इस निन्दित विवाह के परिणामस्वरूप तलाक़ों की भरमार और सन्तान की दुर्गति देखने में आती है। थोड़े दिनों के मज़े के पीछे मानसिक दुःख उठाना पड़ता है।

राक्षसविवाह

निरुक्त ४।१८ में राक्षस शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्काचार्य कहते हैं—**'रक्षः रक्षितव्यमस्माद, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा'**, अर्थात् जिससे धन-सम्पत्ति, प्राण आदि की रक्षा करनी पड़े, जो एकान्त अवसर पाकर हानि पहुँचाता और रात्रि में लूटमार, चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, वे राक्षस कहाते हैं। इस प्रकार अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों की हानि करनेवाले, दूसरों को पीड़ित करनेवाले अन्यायी, अत्याचारी, बलात्कारी स्वभाववाले, मांस-

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्। प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥ १६॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति। स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ १७॥

मदिरा आदि के सेवन में आनन्द लेनेवाले व्यक्ति राक्षस होते हैं। ऐसे व्यक्तियों से अनुमोदित विवाह राक्षसविवाह कहाते हैं। मनुस्मृति में राक्षसविवाह के सम्बन्ध में लिखा है—

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्। प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥
—मनु० ३।३३॥

किसी लड़की को जबरदस्ती पकड़ लाना या रोती-बिलखती लड़की को बलात् उठा लाना राक्षसविवाह कहाता है। युद्ध आदि में जीतकर ले-आना और लड़की की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह रच लेना अथवा पत्नी मान लेना भी राक्षसविवाह है।

पैशाचविवाह

सोती हुई या नशे में उन्मत्त लड़की को दूषित करना पैशाच विवाह है। एकान्त पाकर उससे बलात्कार करना भी पैशाच विवाह के अन्तर्गत है। मनु ने ऐसे विवाह की निन्दा करते हुए इसे पापिष्ठ कहा है—

सुप्तां मत्तां वा रहो यथोपगच्छति। स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचाष्टमोऽधमः॥
—मनु० ३।३४

'पिश् अवयवे' धातु से प्रत्यय होने से पिश शब्द बना। 'पिश्' उपपद से 'आङ्' पूर्वक 'चमु अदने' धातु से 'ङ्' प्रत्ययपूर्वक पैशाच शब्द बनता है। अथवा 'पिशित्' पूर्वपद से 'अश्' धातु से अण्, इत् का लोप, मकार को चकार होकर पैशाच बनता है—'ये पिशितं अवयवीभूतं पेशितं वा मांसरुधिरादिकं आचमन्ति भक्षयन्ति ते पैशाचाः'। प्राणियों का कच्चा मांस खाने व रक्त पीनेवाले हिंसक, दुराचारी, अनाचारी, तमोगुणी, अत्यन्त निम्न और घृणित व्यक्ति पिशाच कहाते हैं।

वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने इस प्रकार के विवाह की विवाहों में गिनती नहीं की है। मनु का इस प्रकार के बलात्कार को भी विवाह की संज्ञा प्रदान करने का यह प्रयोजन प्रतीत होता है कि बलात्कार की शिकार निर्दोष स्त्री को भी समाज में स्थान मिलना चाहिए। इस विषय में डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है—

"Paishacha—Eight different kinds of marriages are recognised in the Hindu Law Books. But Manu did not shut his eyes to the practices of his contemporaries.....Paishacha is a very low kind of marriage, but admitted as valid with the laudable motive of giving the injured woman the status of wife and their offspring legitimacy." —*Hindu View of Life, P. 61.*

हिताहित विवाहों का निर्देश करते हुए मनु कहते हैं—

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितम्। अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत॥
—मनु० ३।२०॥

चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के परलोक में और इहलोक में हित करनेवाले तथा अहित करनेवाले इन आठ प्रकार के विवाहों को जानो। इनमें से प्रथम चार विवाहों को ही मनु ने हितकारी, उत्तम और धर्मानुकूल माना है—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः। ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः॥ १८॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः। पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥ १९॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः। जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥ २०॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा। निंदितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निद्यान् विवर्जयेत्॥ २१॥[1]

ब्राह्मदिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः। ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥

—मनु० ३।३९॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य—इन चार विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं, वे वेदादि विद्या से तेजस्वी और आप्त पुरुषों की संगति से अत्युत्तम होते हैं।

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः। पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥

—मनु० ३।४०॥

वे पुत्र-पुत्री सुन्दर रूप, बल-पराक्रम, शुद्ध बुद्धि आदि उत्तम गुणों से युक्त, धनवान्, पुण्यकीर्तिमान्, पूर्णभोग के भोक्ता और धर्मात्मा होकर सौ वर्ष तक जीते हैं।

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः। जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥

—मनु० ३।४१

शेष चार विवाहों—आसुर, गान्धर्व, राक्षस व पैशाच से उत्पन्न सन्तान निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेद-धर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाव के होते हैं।

अनिन्दितैः स्त्री विवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा। निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत्॥

इस प्रकार श्रेष्ठ विवाहों से श्रेष्ठ सन्तान और निन्दित विवाहों से निन्दनीय कार्य करनेवाली सन्तान होती है। इसलिए निन्दित विवाह नहीं होने चाहिएँ।

अन्तिम चार विवाहों को मनु ने 'दुर्विवाह' के नाम से अभिहित किया है।

संस्कारविधि में इस विषय का विवेचन करने के बाद ग्रन्थकार ने लिखा है—'इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती है उनका त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती है उनको किया करें।'

मनुस्मृति में उल्लिखित आठ विवाहों का विधान मनु द्वारा किया गया नहीं माना जाना चाहिए। गान्धर्व विवाह कामवासना से प्रेरित है जिसमें उचितानुचित, धर्माधर्म विवेक के लिए कोई स्थान नहीं। राक्षस विवाह में कन्या का अपहरण किया जाता है। पैशाच विवाह बलात्कार द्वारा सम्बन्ध स्थापित करने का नाम है। जिन अपराधों के लिए मनु ने बड़े कठोर दण्ड का विधान किया है, उन्हें वे अपने शास्त्र में कैसे स्थान दे सकते थे? आर्षविवाह में निर्दिष्ट गाय-बैल का जोड़ा लिये जाने को उन्होंने कन्या-विक्रय-जैसा मानकर उसका निषेध किया है।

वस्तुतः मनु तथा तदनुयायी ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में उन विवाहों का उल्लेख कर दिया है जो किसी-न-किसी रूप में उस समय प्रचलित थे। ३।२८ में **'प्रेत्य चेह हिताहितम्'** (परलोक में और इस लोक में हित करनेवाले और अहित करनेवाले) शब्दों से उन्होंने अपने तात्पर्य को स्पष्ट कर दिया है। किसी भी अहितकर कर्म को लोक और परलोक में धर्म के अनुरूप नहीं माना जा

---

१. मनु० ३।२, ४-१०, २१, २७-३४, ३९-४२॥

अर्थः—ब्रह्मचर्य से ४ [चार], ३ [तीन], २ [दो] अथवा १ [एक] वेद को यथावत् पढ़, अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहाश्रम का धारण करे॥ १ ॥

यथावत् उत्तम रीत्ति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर, गुरु की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने वर्ण की उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री से विवाह करे॥ २ ॥

जो स्त्री माता की छह पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, वही द्विजों के लिए विवाह करने में उत्तम है॥ ३ ॥

विवाह में नीचे लिखे हुए १० दश कुल, चाहे वे गाय आदि पशु, धन और धान्य से कितने ही बड़े हों, उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे॥ ४ ॥

वे १० [दश] कुल ये हैं। १ [एक]—जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो। २ [दूसरा]—जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो। ३ [तीसरा]—जिस कुल में कोई विद्वान् न हो। ४ [चौथा]—जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े-बड़े लोम हों। ५ [पाँचवाँ]—जिस कुल में बवासीर हो। ६ [छठा]—जिस कुल में क्षयी (राज्यक्ष्मा) रोग हो। ७ [सातवाँ]—जिस कुल में अग्निमन्दता से आमाशय रोग हो। ८ [आठवाँ]—जिस कुल में मृगी रोग हो। ९ [नववाँ]—जिस कुल में श्वेतकुष्ठ हो। और १० [दसवाँ]—जिस कुल में गलितकुष्ठ आदि रोग हों। उन कुलों की कन्या अथवा उन कुलों के पुरुषों से विवाह कभी न करे॥ ५ ॥

पीले वर्णवाली, अधिक अङ्गवाली जैसी छंगुली आदि, रोगवती, जिसके शरीर पर कुछ भी लोम न हों और जिसके शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों, व्यर्थ अधिक बोलनेहारी और जिसके पीले बिल्ली के सदृश नेत्र हों॥ ६ ॥

तथा जिस कन्या का (ऋक्ष) नक्षत्र पर नाम अर्थात् रेवती, रोहिणी इत्यादि, (वृक्ष) चम्पा, चमेली आदि, (नदी) जिसका गङ्गा, यमुना इत्यादि, (अन्त्य) चाण्डाली आदि। (पर्वत) जिसका विन्ध्याचला इत्यादि, (पक्षी) पक्षी पर, अर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि, (अहि), अर्थात् उरगा, भोगिनी इत्यादि, (प्रेष्य) दासी इत्यादि और जिस कन्या का (भीषण) कालिका, चण्डिका इत्यादि नाम हो, उससे विवाह न करे॥ ७ ॥

किन्तु जिसके सुन्दर अङ्ग, उत्तम नाम, हंस और हस्तिनी के सदृश चालवाली, जिसके सूक्ष्म लोम, सूक्ष्म केश और सूक्ष्म दाँत हों, जिसके सब अङ्ग कोमल हों, उस स्त्री से विवाह करे॥ ८ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये आठ प्रकार के विवाह होते हैं॥ ९ ॥

१. **पहला ब्राह्म**—कन्या के योग्य सुशील विद्वान् पुरुष का सत्कार करके कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके, उत्तम पुरुष को बुला, अर्थात् जिसको कन्या ने प्रसन्न[१] भी किया हो, उसको देना, वह 'ब्राह्म' विवाह कहाता है॥ १० ॥

२. **दूसरा**—विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों का वरण कर, उसमें कर्म करनेवाले विद्वान् को

सकता। वैसे निन्दित विवाह अनार्यों में प्रचलित रहे होंगे। उनका उल्लेख करके मनु ने उन्हें अधर्म घोषित कर दिया। इससे मूलभूत भावनाओं के साथ कोई असामंजस्य उपपन्न नहीं होता।

---

१. अर्थात् पसन्द।

वस्त्र-आभूषण आदि से कन्या को शुशोभित करके देना, वह 'दैव' विवाह है॥ ११ ॥

३. **तीसरा**—१ [एक] गाय, बैल का जोड़ा अथवा २ [दो] जोड़े * वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना, वह 'आर्ष' विवाह है॥ १२ ॥

४. **चौथा**—कन्या और वर को यज्ञशाला में विधि करके सबके सामने तुम दोनों मिलके गृहाश्रम के कर्मों को यथावत् करो, ऐसा कहकर दोनों की प्रसन्नतापूर्वक पाणिग्रहण होना, वह 'प्राजापत्य' विवाह कहाता है। ये चार विवाह उत्तम हैं॥ १३ ॥

५. **पाँचवाँ**—वर की जातिवालों और कन्या को यथाशक्ति धन देकर होम आदि विधि कर कन्या देना, 'आसुर' विवाह कहाता है॥ १४ ॥

६. **छठा**—वर और कन्या की इच्छा से दोनों का संयोग होना और अपने मन में मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुष हैं, यह काम से हुआ 'गान्धर्व' विवाह कहाता है॥ १५ ॥

७. **सातवाँ**—हनन, छेदन, अर्थात् कन्या के रोकनेवालों का विदारण कर क्रोशती, रोती, कंपती और भयभीत हुई कन्या को बलात्कार हरण करके विवाह करना, वह 'राक्षस' विवाह है॥ १६ ॥

८. **आठवाँ**—जो सोती, पागल [१]हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर दूषित कर देना, यह सब विवाहों में नीच-से-नीच महानीच, दुष्ट, अतिदुष्ट 'पैशाच' विवाह है॥ १७ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों में पाणिग्रहण किये हुए स्त्री-पुरुषों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं, वे वेदादिविद्या से तेजस्वी, आप्त पुरुषों के सम्मत, अत्युत्तम होते हैं॥ १८ ॥

वे पुत्र वा कन्या सुन्दर रूप, बल, पराक्रम, शुद्ध बुद्ध्यादि उत्तम गुणयुक्त, बहुधनयुक्त, पुण्यकीर्तिमान् और पूर्ण भोग के भोक्ता, अतिशय धर्मात्मा होकर १०० वर्ष तक जीते हैं॥ १९ ॥

इन ४ [चार] विवाहों से जो बाकी रहे ४ [चार] आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इन ४ [चार] दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए सन्तान निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेदधर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाववाले होते हैं॥ २० ॥

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती हैं उनका त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती हैं, उनको किया करें॥ २१ ॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च। अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद् यथाविधिः ॥ १ ॥

उत्कृष्टयाभिरूपाय वराय सदृश्याय च। अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥

—मनु० ९।८८

अर्थात् माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट, शुभ गुण-कर्म-स्वभाववाले कन्या के सदृश रूप-लावण्य आदि से युक्त वर को ही चाहें। वह कन्या माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो, तथापि उसी को कन्या देना, अन्य को न देना, जिससे दोनों प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तान की उत्पत्ति करें। इस सदृश गुण-कर्म-स्वभाववाले वर को पाने के लिए वे मनु ३।५ में निर्दिष्ट असपिण्डता सम्बन्धी नियम को तोड़ने के तैयार हैं।

---

* यह बात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्तिविरुद्ध भी है। इसलिए कुछ भी न लेकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष' विवाह है॥ —द०स०

---

१. पागल हुई, अर्थात् बेसुध हुई।

काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ २॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्॥ ३॥[1]

अर्थः—यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट शुभगुण-कर्म-स्वभाववाला, कन्या के सदृश रूपलावण्यादि गुणयुक्त वर ही को, चाहे वह कन्या माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो, तथापि उसी को कन्या देना अन्य को कभी न देना कि जिससे दोनों अति प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें॥ १॥

काममामरणात्—पूना-प्रवचन में ग्रन्थकार ने इस श्लोक को उद्धृत करके कहा था—इसी प्रकार मनुजी कहते हैं कि "कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रक्खो, किन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो।" पति-पत्नी के गुण-कर्म-स्वभाव में सादृश्य के प्रति उनका आग्रह इतना अधिक था कि संस्कार-विधि में वे मनु के स्वर-में-स्वर मिलाकर उसका समर्थन करते हैं।

लड़का-लड़की की प्रसन्नता से विवाह

कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ काण्ड में कन्या के अधिकार के विषय में लिखा है—'तत्र नारदः—**यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाव्रजेत्, अनुज्ञया तस्य वरं परीक्ष्य वरयेत्स्वयं सवर्णमनुरूपञ्च कुले रूपवयः श्रुतैः।**......सह धर्मं चरेत्तेन पुत्रांश्चोत्पादयेत्ततः' (१२।२२-२३)। अर्थात् इस (कन्या के स्वयंवर) विषय में नारद का मत है कि यदि पिता आदि कन्यादानाधिकारियों में से कोई न हो तो कन्या राजा के पास जाए और उसकी अनुमति से वर की परीक्षा करके कुल, रूप, आयु एवं ज्ञान के अनुरूप सवर्ण वर का वरण करे। उसकी सहधर्मिणी बने और उससे सन्तान उत्पन्न करे।

पसन्द किसकी—विवाह में लड़का-लड़की की इच्छा सर्वोपरि है। वैदिक साहित्य में इस विषय में निश्चय आदेश पाया जाता है। ऋग्वेद में लिखा है—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्॥
—ऋ० १०।२७।१२

'वधू की इच्छा करनेवाले किस पुरुष की स्त्री प्रेम करनेवाली होगी?' इस प्रश्न को स्वयं उठाकर ऋग्वेद उत्तर देता है—(सुपेशाः) सुन्दररूपवाली वह वधू अच्छी है जो (जनेचित्) अनेक जनों में से (मित्रं स्वयं वनुते) अपने मित्र को स्वयं चुनती है। सप्तपदी के अन्तिम वाक्य में पति को सखा कहा गया है जो मित्र का पर्यायवाची है। इस मन्त्र में स्त्री को अपने लिए स्वयं पति चुनने का अधिकार दिया है। इसी को स्वयंवर कहते हैं। आज हमारे समाज में लड़का अनेक लड़कियों में से अपने लिए लड़की चुनता है, परन्तु प्राचीन काल में अपना साथी चुनने का अधिकार लड़के को नहीं, लड़की को दिया गया है। वर्त्तमान में प्रगतिशील समझे जानेवाले समाज में भी चुनने का अधिकार लड़के को ही प्राप्त है। राह चलते कहीं-कहीं लड़की से भी सहमति ले ली जाती है, परन्तु प्राचीन वैदिक आदर्श के अनुसार चुनने का अधिकार लड़की को प्राप्त था, सहमति लड़के की भी होती थी। तभी तो लड़की के घर बहुत-से विवाहेच्छु जाते थे और लड़की उनमें से किसी

---

१. मनु० अ० ९। श्लोक ८८-९०॥

एक के गले में वरमाला डाल देती थी। उसी परम्परा के अनुसार सीता, दमयन्ती, द्रौपदी आदि के स्वयंवर में दूर-दूर से राजकुमार अपना-अपना भाग्य आज़माने आये थे। आजकल वर का वधू के घर चलकर जाना और वधू के घर पर ही विवाह-संस्कार होना उसी स्वयंवर का आधुनिक संस्करण है, परन्तु आजकल के स्वयंवर में लड़के का हाथ ऊपर रहता है, अर्थात् लड़का चुनता है, लड़की नहीं। माता-पिता जिसके साथ चाहते हैं, लड़की को बाँध देते हैं।

चुनाव का अधिकार वेद ने लड़के को न देकर लड़की को इसलिए दिया है कि गृहस्थाश्रम की कीली स्त्री है—**गृहिणी गृहमुच्यते**। उसी के गिर्द सारा घर-परिवार घूमता है। सन्तानोत्पत्ति का कष्ट उसी को झेलना पड़ता है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पति में खोकर उसे सदा के लिए पति के खूँटे से बँधकर रहना पड़ता है। जब उसपर इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी है तो अपने भागीदार को चुनने का अधिकार उसी का बनता है। स्वयंवर में जो युवक आते हैं, उन्हें लड़की पसन्द है, इसमें तो उनका वहाँ आना ही प्रमाण है। इसलिए ठीक-ठीक चुनाव की ज़िम्मेदारी पत्नी पर ही पड़ती है।

उद्धृत मन्त्र में 'मित्रं स्वयं वनुते' कहा गया है। स्त्री अपने 'मित्र' को स्वयं चुनती है—ऐसा मित्र जो जीवनभर उसके सुख-दुःख का साथी होगा। विवाह-संस्कार सप्तपदी की क्रिया के साथ सम्पन्न होता है। उस समय '**सखे सप्तपदी भव**' यह पढ़ा जाता है। इस प्रकार विवाह संस्कारविधि का पर्यवसान मैत्रीभाव में है—ऐसा मैत्रीभाव जिसकी पहचान है दो का एक हो जाना। इसलिए विवाह-संस्कार के अन्त में पति-पत्नी दोनों कहते हैं—'**यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम। यदेतद् हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव**', क्योंकि यह जीवनभर का साथ है। इसलिए चुनाव के समय पूरी सावधानी वर्त्तना आवश्यक है। अतएव ग्रन्थकार ने निर्देश किया है—'जब विवाह करने का निश्चय हो चुके, तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और वर चतुर पुरुषों से कन्या की परोक्ष से परीक्षा करावें, पश्चात् उत्तम विद्वान् पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें।'

प्रेम विवाह—लड़के-लड़की को अपना जीवन-साथी चुनने का अधिकार अवश्य है, किन्तु इस अधिकार का प्रयोग माता-पिता के मार्गदर्शन में होना हितकर है। एक युवक एक साँवली-सलोनी षोडशी को देखकर उसपर मोहित हो जाता है। उससे पहले उनका परस्पर कोई परिचय नहीं है, परन्तु निगाह मिलते ही उसके पीछे पागल हो जाता है। यही स्थिति लड़की की हो जाती है। दोनों समझते हैं कि वे एक-दूसरे के बिना ज़िन्दा नहीं रह सकते। ऐसे युवक-युवती माता-पिता की बिल्कुल परवाह नहीं करते। परिवार की, एक-दूसरे की स्थिति की—किसी भी बात की परवाह न करके, सब बन्धनों को तोड़कर चट मँगनी पट ब्याह कर बैठते हैं। प्रेम-विवाह का आधारभूत तत्त्व है—प्रथम दृष्टि में प्रेम (Love at first sight) और प्रेम किसी प्रकार का बन्धन नहीं मानता, परन्तु विवाह के कुछ समय बाद प्रेम का ज्वार उतरने लगता है। जैसे पहले वे समझते थे कि वे एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते, वैसे ही अब कुछ दिन एक-साथ रहकर वे समझने लगते हैं कि वे एक-दूसरे के साथ नहीं रह सकते। विवाह से पूर्व जितना एक-दूसरे के प्रति आकर्षण था, अब उतनी ही घृणा हो जाती है। पाश्चात्य आदर्श है Love before marriage (विवाह से पहले प्रेम) और भारतीय आदर्श है Marriage before love (प्रेम से पहले विवाह)। प्रेम-विवाह की जन्मभूमि हैं—नाटक, सिनेमा, उपन्यास आदि। विवाह से पहले प्रेम की स्थिति में युवक-युवती

चाहे मरण-पर्यन्त कन्या पिता के घर में बिना विवाह के बैठी भी रहे, परन्तु गुणहीन असदृश, दुष्ट पुरुष के साथ कन्या का विवाह कभी न करे और वर-कन्या भी अपने-आप स्वसदृश के साथ ही विवाह करें॥ २ ॥

विवाह का काल

जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे तब रजस्वला होने के दिन से ३ [तीन] वर्ष को छोड़के चौथे वर्ष में विवाह करे॥ ३ ॥

प्रश्न—'अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी।' इत्यादि श्लोकों की क्या गति होगी?

एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं और प्रेम करने लगते हैं। यह प्रेम जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो वे विवाह कर लेते हैं। प्रकृति के नियमानुसार जल जितना ऊँचा चढ़ता है, उतने ही ज़ोर से नीचे गिरता है। चरम सीमा पर पहुँचा प्रेम धीरे-धीरे घटने लगता है और अन्ततः घृणा के रूप में बदल जाता है। प्रेम से पहले विवाह की स्थिति में विवाह के बाद प्रेम शुरू होता है और निरन्तर बढ़ता जाता है।

भावना का जीवन एक नशे का जीवन है। नशा चढ़ता है तो उतरता भी है। प्रेम का नशा जब उतर जाता है तब उसके नशे में बाँधे हुए सपने भी टूट जाते हैं। परिणाम होता है तलाक़ या विवाह-विच्छेद। दाम्पत्य प्रेम (Conjugal love) में एक-साथ रहने से प्रेम धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। इसमें विवाह-विच्छेद की सम्भावना कम होती है।

लड़के-लड़की को एक-दूसरे को चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। एतदर्थ उन्हें एक-दूसरे के सम्पर्क में आकर एक-दूसरे को जानने, समझने का अवसर मिलना चाहिए, परन्तु यह सब माता-पिता की देख-रेख में होना उचित है। विवाह में शारीरिक आकर्षण से उत्पन्न प्रेम को एकमात्र आधार मानकर माता-पिता के अनुभव और समाज की हर बात की अवहेलना करके विवाह करने की प्रवृत्ति पारिवारिक एवं सामाजिक सन्तुलन की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है।

स्त्री की स्थिति—वैदिक परम्परा में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी कहा जाता है। यूरोप में उसे उत्तमार्ध (Better half) कहते हैं, परन्तु उत्तमार्ध होते हुए भी उसकी स्थिति वैदिक अर्धाङ्गिनी से अच्छी नहीं है। यूरोप में कन्या के विवाह की पूरी विधि पिता द्वारा सम्पन्न की जाती है। वह न हो तो कन्या का चाचा इस कार्य को कराने में अधिकृत है, परन्तु वैदिक विवाह की विधि तबतक पूर्ण नहीं समझी जाती जबतक कन्या के पिता के साथ उसकी माता भी यज्ञवेदी पर बैठकर उसमें भागीदार नहीं होती। वस्तुतः वैदिक मर्यादा का कोई कृत्य तबतक पूर्ण नहीं माना जाता जबतक यजमान और यजमान-पत्नी दोनों भाग न लें। परिवार में पत्नी की ऊँची स्थिति के परिचायक अथर्ववेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥

—अ० १४।२।४३

जैसे समुद्र नदियों का राजा है इसी प्रकार तू पति के घर में साम्राज्ञी अर्थात् महारानी होकर रह।

विवाह का काल—'अष्टवर्षा भवेद् गौरी'—पौराणिकों का इस विषय में कोई निश्चित

उत्तर—इन श्लोकों और इनके माननेवालों की दुर्गति, अर्थात् जो इन श्लोकों की रीति से बाल्यावस्था में अपने सन्तानों का विवाह कर-करा, उनको नष्ट-भ्रष्ट, रोगी, अल्पायु करते हैं, वे अपने कुल का जानो सत्यानाश कर रहे हैं। इसलिए यदि शीघ्र विवाह करें तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ सोलह वर्ष से न्यून कन्या और २५ पच्चीस वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करें-करावें। इसके आगे जितना अधिक ब्रह्मचर्य रक्खेंगे, उतना ही उनको आनन्द अधिक होगा।

प्रश्न—विवाह निकटवासियों से अथवा दूरवासियों से करना चाहिए?

उत्तर—'दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति।' यह निरुक्त[1] का प्रमाण है कि—जितना दूरदेश में विवाह होगा, उतना ही उनको अधिक लाभ होगा।

मत नहीं है, क्योंकि गौरी आदि संज्ञाएँ आठ वर्ष में नियत या निबद्ध नहीं है। लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थकाण्ड में काश्यप और भविष्यपुराण को उद्धृत करके निम्न श्लोक दिये हैं—

सप्तवर्षा भवेद् गौरी दशवर्षा तु कन्यका। सम्प्राप्ते द्वादशे वर्षे कुमारीत्यभिधीयते॥

—काश्यप

अप्राप्तरजसा गौरी प्राप्ते रजसि तु रोहिणी। अव्यक्तव्यंजनकुचा कन्या कुचहीना तु कन्यका॥

—भविष्य

इसी प्रकार एक और श्लोक उद्धृत किया है—

सप्तवर्षा भवेद् गौरी दशवर्षा तु नग्निका। द्वादशे तु भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥

वस्तुतः विवाहयोग्य आयु का निर्धारण आयुर्वेद का विषय है, क्योंकि इसमें शारीरिक विकास एवं सामर्थ्य के आधार पर उचित-अनुचित का विवेचन होता है।

वर्त्तमान में प्रचलित विवाह की आयु को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—बाल-विवाह, किशोर-विवाह तथा युवा-विवाह। बाल-विवाह से अभिप्राय किशोर अवस्था से पहले का विवाह है। बालक में किशोर अवस्था का आरम्भ तब होता है जब उसमें वीर्य बनना शुरू हो जाता है। बालिका में किशोरी अवस्था का आरम्भ तब होता है जब उसे मासिक धर्म होने लगता है। इस अवस्था में संयोग होने से सन्तान उत्पन्न हो सकती है। इस दृष्टि से बाल-विवाह की अवस्था वह है जिसमें प्राणिशास्त्र (Biology) के अनुसार प्रजनन नहीं हो सकता। किशोरावस्था वह है जिसमें प्राणिशास्त्र की दृष्टि से प्रजनन हो सकता है, परन्तु उनका शरीर और मानसिक विकास पूर्ण न होने से उनके रज-वीर्य में परिपक्वता न आने के कारण सन्तान के जीवित व हृष्ट-पुष्ट होने की सम्भावना कम होती है। इसलिए आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ सुश्रुत के निर्माता धन्वन्तरि मुनि ने व्यवस्था दी है—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥
ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

—सुश्रुत, शरीरस्थान १०।४६-४८

---

१. निरुक्त ३।४॥ 'भवतीति' पाठ निरुक्त में नहीं है। यह वाक्यपूर्त्यर्थ अध्याहार है। स० प्र० समु० ४ में भी ऐसा ही साध्याहार पाठ उद्धृत है।

प्रश्न—अपने गोत्र वा भाई-बहिनों का परस्पर विवाह क्यों नहीं होता?

उत्तर—एक दोष यह है कि इनके विवाह होने में प्रीति कभी नहीं होती, क्योंकि जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थ में होती है, उतनी प्रत्यक्ष में नहीं और बाल्यावस्था के गुण-दोष भी विदित रहते हैं, तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसरा जबतक दूरस्थ एक-दूसरे कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तबतक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा दूर सम्बन्ध होने से परस्पर प्रीति, उन्नति, ऐश्वर्य बढ़ता है, निकट से नहीं।

बाल-विवाह तथा किशोर-विवाह दोनों का निषेध करते हुए सुश्रुत ने न्यून-से-न्यून १६ वर्ष वयवाली स्त्री में न्यून-से-न्यून २५ वर्ष की वयवाले पुरुष के द्वारा गर्भाधान का विधान किया है। इस नियम का उल्लंघन करने पर होनेवाली स्थिति का निर्देश करते हुए उन्होंने कहा है कि कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है, अर्थात् पूर्णकाल तक गर्भाशय में रहकर भी उत्पन्न नहीं होता है, अथवा उत्पन्न होने पर चिरकाल तक जीवित नहीं रहता है और रहता है तो दुर्बलेन्द्रिय होता है।

बाल-विवाह से जहाँ शरीर की धातुओं का विकास रुक जाता है, वहाँ गर्भ तथा सन्तान-सम्बन्धी अनेक आशंकाएँ हो जाती हैं। जैसे—गर्भ का न ठहरना, गर्भस्राव, गर्भपात, दुर्बल सन्तान का जन्म, जन्म के बाद शीघ्र मृत्यु, सन्तान का सतत रोगी रहना, मस्तिष्क का समुचित विकास न होना आदि।

विवाह योग्य आयु के सम्बन्ध में "Times of India" के अहमदाबाद संस्करण के ९ फरवरी १९९० के अंक में प्रकाशित यह विवरण द्रष्टव्य है—

Cochin—Dr. Raj Choudhary, Director of Chitranjan National Cancer Research Institute, Calcutta. delivering the Platinum Jubilee lecture of the medical and veterinary sciences section of the Indian Science Congress, said, "Girls married before the age of 16 were found to develop cancer of cervix more. Also, the mother of six children has twice as much chance of suffering from this cancer than a mother of one."

अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण मनु ने विवाह-योग्य आयु का स्पष्टतः निर्देश नहीं किया, किन्तु स्त्री के विवाह की आयु का संकेत 'त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत्' इस श्लोक में उपलब्ध है। तदनुसार जब कन्या विवाह करना चाहे तब रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष को छोड़के चौथे वर्ष में विवाह करे। स्त्री को मासिक धर्म प्रायः १३-१५ वर्ष की अवस्था में शुरू होता है। तीन वर्ष बीतने पर यह काल १६-१८ की आयु का होता है। इस प्रकार स्त्री के विवाह की आयु कम-से-कम १६ वर्ष ठहरती है। इससे अधिक आयु में इतने ही अनुपात में विवाह होना चाहिए, क्योंकि शरीर-रचना और सामर्थ्य की दृष्टि से १६ वर्ष की स्त्री २५ वर्ष के पुरुष के बराबर होती है। ग्रन्थकार की मान्यता है—"स्त्री की आयु पुरुष की आयु से न्यून-से-न्यून ड्योढ़ी और अधिक-से-अधिक दूनी होवे।"

रजोदर्शन की आयु पूरी तरह नियत नहीं है। यदि माता-पिता या अभिभावक ध्यान रक्खें तो बालिकाएँ छोटी अवस्था में रजस्वला न हों। यदि उन्हें स्त्री-पुरुष की कामचेष्टा देखने का अवसर न मिले, एकान्त दर्शन, एकान्त सम्भाषण आदि से उन्हें दूर रक्खा जा सके, उत्तेजक पदार्थों का

युवावस्था ही में विवाह का प्रमाण—

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु॥ १॥
अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्।
कृताइवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम्॥ २॥
अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन्।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नंशन्नानृतानि॥ ३॥
—ऋ० मं० २। सू० ३५। मं० ४-६॥

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्।
आस्य श्रवस्याद् रथ आ च घोषात् पुरू सहस्रा परि वर्तयाते॥ ४॥
—ऋ० मं० ५। सू० ३६। मं० ३॥

उप व एषे वन्द्येभिः शूषैः प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कैः।
उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम्॥ ५॥
—ऋ० मं० ५। सू० ४१। मं० ७॥

सेवन न करें, सजावट-शृंगार की भावना उत्पन्न न होने पाये, सुन्दरता का गर्व न हो, कामोत्तेजक साहित्य पढ़ने अथवा उस प्रकार के वातावरण में रहना न मिले तो कन्याएँ देर से रजस्वला होती हैं। वर्तमान में फिल्मों के कारण जो वातावरण बन रहा है और दूरदर्शन के माध्यम से प्रसारित होनेवाले परिवार-नियोजन, गर्भनिरोध, गर्भपात आदि से सम्बन्धित विज्ञापनों के देखने से जिस प्रकार की कुत्सित भावनाएँ उभर रही हैं उनसे लड़कियाँ छोटी आयु में रजस्वला होने लगी हैं। बहुधा धनी परिवारों की कन्याएँ जल्दी रजस्वला होती हैं, क्योंकि उन्हें परिश्रम नहीं करना पड़ता, भड़कीले वस्त्र पहनती हैं, सौन्दर्य प्रसाधनों के प्रयोग से उनकी शृंगारिक भावना और तज्जन्य वासना भड़कती है। अश्लील नाच-गानों से भरपूर आधुनिक पार्टियों में आलिंगन-चुम्बन आदि के वातावरण में उनका ब्रह्मचर्य कहाँ टिक सकता है? नगरों की अपेक्षा गाँवों की लड़कियाँ देर से रजस्वला होती हैं। सभ्यता का अभिमान करनेवाली जातियों की लड़कियाँ जल्दी रजस्वला होती हैं।

यदि माता-पिता आदि अभिभावक किसी कारण विवाह न कर रहे हों तो मनुस्मृति ९।९ के अनुसार कन्या को स्वयं अपने विवाह की व्यवस्था करने का अधिकार है। वहाँ लिखा है—

अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम्। नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति॥

ऐसी अवस्था में न कन्या को कोई पाप लगता है और न उसके द्वारा वरण किये गये पति को।

बालविवाह से हानियाँ—बाल-विवाह तथा किशोर-विवाह से लगभग एक-जैसी हानियाँ होती हैं—

१. वर-वधू के स्वास्थ्य का नाश—अधपके लड़के-लड़कियाँ जब मैथुन में प्रवृत्त होते हैं तो उनके चेहरे युवावस्था में ही बुढ़ापे की झुर्रियों से मुरझा जाते हैं।

२. बाल्यावस्था में लड़के-लड़कियों का न पूरी तरह शारीरिक विकास हो पाता है न मानसिक।

अर्थः—जो (मर्मृज्यमानाः) उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत और सद्विद्याओं से अत्यन्त युक्त (युवतयः) २० [बीस]वें वर्ष से २४ [चौबीस]वें वर्षवाली हैं, वे कन्या लोग जैसे (आपः) जल वा नदी समुद्र को प्राप्त होती हैं, वैसे (अस्मेराः) हमको प्राप्त होनेवाली, अपने-अपने प्रसन्न[1], अपने-अपने से डेढ़े वा दूने आयुवाले, (तम्) उस ब्रह्मचर्य और विद्या से परिपूर्ण, शुभ लक्षणयुक्त (युवानम्) जवान पति को (परियन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त होती हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी (शुक्रेभिः) शुद्ध गुण और (शिक्वभिः) वीर्यादि से युक्त होके (अस्मे) हमारे मध्य में (रेवत्) अत्यन्त श्रीयुक्त कर्म को और (दीदाय) अपने तुल्य युवती स्त्री को प्राप्त होवे। जैसे (अप्सु) अन्तरिक्ष वा समुद्र में (घृतनिर्णिक्) जल को शोधन करनेहारा (अनिध्मः) आप प्रकाशित[2] विद्युत् अग्नि है। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के हृदय में प्रेम बाहर अप्रकाशमान, भीतर सुप्रकाशित रहकर उत्तम सन्तान और अत्यन्त आनन्द को गृहाश्रम में दोनों स्त्री-पुरुष प्राप्त होवें॥ १॥

हे स्त्री-पुरुषो! जैसे (तिस्रः) उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट स्वभावयुक्त, (देवीः नारीः) विद्वान् नरों की विदुषी स्त्रियाँ (अस्मै) इस (अव्यथ्याय) पीड़ा से रहित (देवाय) काम के लिए (अन्नम्) अन्नादि उत्तम पदार्थों को (दिधिषन्ति) धारण करती हैं, (कृताइव) की हुई शिक्षायुक्त के समान (अप्सु) प्राणवत् प्रीति आदि व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिए स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री (उप प्रसर्स्रे) सम्बन्ध को प्राप्त होती है, (स हि) वही पुरुष और स्त्री आनन्द को प्राप्त होती है। जैसे जलों में (पीयूषम्) अमृतरूप रस को (पूर्वसूनाम्) प्रथम प्रसूत हुई स्त्रियों का बालक (धयति) दुग्ध पीके बढ़ता है, वैसे इन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी स्त्री के सन्तान यथावत् बढ़ते हैं॥ २॥

जैसे राजादि सब लोग (पूर्षु) अपने नगरों और (आमासु) अपने घर में उत्पन्न हुए पुत्र और कन्यारूप प्रजाओं में उत्तम शिक्षाओं को (परः) उत्तम विद्वान् (अप्रमृष्यम्) शत्रुओं को सहने के

ऐसे माता-पिता जो अभी स्वयं बच्चे हैं, किस तरह की सन्तान उत्पन्न करेंगे। निश्चय ही वह सन्तान अपने माता-पिता से भी निर्बल होगी।

३. सन्तान उत्पन्न करने का सारा बोझ स्त्री पर होता है। जब बच्चियों के बच्चे होते हैं तो गर्भाशय के पूर्णतया विकसित न होने के कारण वे सन्तान के प्रसव को सहन नहीं कर पातीं और अल्पायु में ही चल बसती हैं।

४. अपरिपक्वावस्था में अनियन्त्रित विषयभोग के कारण पुरुष का शरीर जर्जर हो जाता है और इस कारण वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बाल-विवाह के कारण बाल-विधवाओं की संख्या में वृद्धि होती है।

५. बाल-विवाह में पति-पत्नी को एक-दूसरे को समझ-बूझकर चुनने का अवसर तो होता ही नहीं। माता-पिता ने जिसको जिसके साथ बाँध दिया, सो बाँध दिया। आगे चलकर इन बेमेल जोड़ों का जीवन निरन्तर कलह में बीतता है। इस प्रकार पारिवारिक सुख से वंचित होकर वे जैसे-तैसे दिन काटते हैं। उनकी इस दुरवस्था का प्रभाव उनकी सन्तान पर भी पड़े बिना नहीं रहता।

६. बाल-विवाह के कारण स्त्री-पुरुष को सन्तान पैदा करने का समय अधिक मिलता है जिसके कारण देश की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। जनसंख्या में वृद्धि के कारण देश का

---

१. अर्थात् पसन्द।

२. अर्थात् ईंधन से प्रकाशित न होनेवाला।

अयोग्य, ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुए शरीरात्मबलयुक्त देह को (अरातयः) शत्रु लोग (न) नहीं (विनशन्) विनाश कर सकते और (अनृतानि) मिथ्याभाषणादि दुष्ट दुर्व्यसनों को प्राप्त (न) नहीं होते, वैसे उत्तम स्त्री-पुरुषों को (द्रुहोः) द्रोह आदि दुर्गुण और (रिषः) हिंसा आदि पाप (न सम्पृचः) सम्बन्ध नहीं करते, किन्तु जो युवावस्था में विवाह कर प्रसन्नतापूर्वक विधि से सन्तानोत्पत्ति करते हैं, इनके (अस्य) इस (अश्वस्य) महान् गृहाश्रम के मध्य में उत्तम बालकों का (जनिम) जन्म होता है। इसलिए हे स्त्री वा पुरुष! तू (सूरीन्) विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर। (च) और ऐसे गृहस्थों को (अत्र) इस गृहाश्रम में सदैव (स्वः) सुख बढ़ता रहता है॥ ३ ॥

हे मनुष्यो! (यः) जो पूर्वोक्त लक्षणयुक्त पूर्ण जवान (ईम्) सब प्रकार की परीक्षा करके (महिषीम्) उत्तम कुल में उत्पन्न हुई, विद्या, शुभ गुण, रूप, सुशीलतादियुक्त (इषिराम्) वर की इच्छा करनेहारी, हृदय को प्रिय स्त्री को (एति) प्राप्त होता है और जो (पतिम्) विवाह से अपने स्वामी की (इच्छन्ती) इच्छा करती हुई, (इयम्) वह (वधूः) स्त्री अपने सदृश, हृदय को प्रिय पति को (एति) प्राप्त होती है। वह पुरुष वा स्त्री (अस्य) इस गृहाश्रम के मध्य (आश्रवस्यात्) अत्यन्त विद्या, धन-धान्ययुक्त सब ओर से होवें और वे दोनों (रथः) रथ के समान (आघोषात्) परस्पर प्रिय वचन बोलें। (च) और सब गृहाश्रम के भार को (वहाते) उठा सकते हैं तथा वे दोनों (पुरु) बहुत (सहस्रा) असंख्य उत्तम कार्यों को (परिवर्तयाते) सब ओर से सिद्ध कर सकते हैं॥ ४ ॥

हे मनुष्यो! यदि तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से सुशिक्षित विद्यायुक्त अपने सन्तानों को कराके स्वयंवर विवाह कराओ तो वे (वन्द्येभिः) कामना के योग्य (चितयद्भिः) सब सत्य विद्याओं को जाननेहारे, (अर्कैः) सत्कार के योग्य, (शूषैः) शरीरात्म-बलों से युक्त होके (वः) तुम्हारे लिए (एषे) सब सुख प्राप्त कराने को समर्थ होवें और वे (उषासानक्ता) जैसे दिन और रात तथा जैसे (विदुषीव) विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष (विश्वम्) गृहाश्रम के सम्पूर्ण व्यवहार को (आवहतः) सब ओर

आर्थिक ढाँचा टूटने लगता है। कुपोषण के कारण जहाँ सन्तान शरीर से निर्बल होती है, वहाँ शिक्षा की समुचित व्यवस्था के अभाव में वह निकम्मी भी होती है।

७. कच्ची उम्र में विवाह के कारण लड़के-लड़कियों की शिक्षा अधूरी रह जाती है। वे ब्रह्मचर्य-काल में संयम का जीवन बिताते हुए शारीरिक और मानसिक विकास करने की बजाय भोग-विलास में लिप्त हो जाते हैं।

८. छोटी आयु में विवाह के कारण लड़का अभी तक अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाता कि परिवार बढ़ने लगता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वह आर्थिक सङ्कट में फँस जाता है और तरह-तरह की चिन्ताओं से ग्रस्त होकर कभी-कभी मानसिक सन्तुलन तक खो बैठता है।

वैदिक युग में बाल-विवाह नहीं होता था। वेद में स्पष्टतया लिखा है—"**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**", अर्थात् कन्या ब्रह्मचर्य धारण करके युवा पति को प्राप्त करती है। वैदिक काल के बाद मध्य युग आया। यह गृह्यसूत्रों और स्मृतिकारों का युग था। गृह्यसूत्रों में लिखा गया कि नग्निका कन्या का विवाह कर देना चाहिए। 'नग्निका' का अर्थ है—जबतक कन्या नंगी फिरती हो, अर्थात् जबतक उसे अपने नंगे होने का ज्ञान और तज्जन्य लज्जा का अनुभव न हो। मध्य युग के बाद वर्त्तमान युग आया। इस युग में बाल-विवाह की प्रथा अपनी चरमसीमा पर पहुँच गई।

से प्राप्त होते हैं, (ह) वैसे ही इस (यज्ञम्) संगतरूप गृहाश्रम के व्यवहार को वे स्त्री-पुरुष पूर्ण कर सकते हैं और (मर्त्याय) मनुष्यों के लिए यही पूर्वोक्त विवाह पूर्ण सुखदायक है और (यह्वी) बड़े ही शुभ गुण-कर्म-स्वभाववाले स्त्री-पुरुष दोनों (दिवः) कामनाओं को (उप प्र वहतः) अच्छे प्रकार प्राप्त हो सकते हैं, अन्य नहीं॥५॥

जैसे ब्रह्मचर्य में कन्या का ब्रह्मचर्य वेदोक्त है, वैसे ही सब पुरुषों को ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़, पूर्ण जवान हो, परस्पर परीक्षा करके, जिससे जिसकी विवाह करने में पूर्ण प्रीति हो, उसी से उसका विवाह होना अत्युत्तम है। जो कोई युवास्था में विवाह न कराके बाल्यावस्था में अनिच्छित, अयोग्य वर-कन्या का विवाह करावेंग, वे वेदोक्त ईश्वराज्ञा के विरोधी होकर महादुःखसागर में क्योंकर न डूबेंगे? और जो पूर्वोक्त विधि से विवाह करते-कराते हैं, वे ईश्वराज्ञा के अनुकूल होने से पूर्ण सुख को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—विवाह अपने-अपने वर्ण में होना चाहिए, वा अन्य वर्ण में भी?

उत्तर—अपने-अपने वर्ण में, परन्तु वर्णव्यवस्था गुणकर्मों के अनुसार होनी चाहिए, जन्ममात्र से नहीं।

[गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था]

जो पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारी, जितेन्द्रिय, मिथ्याभाषणादि दोषरहित, विद्या और धर्म प्रचार में तत्पर रहे—इत्यादि उत्तम गुण जिसमें हों, वह ब्राह्मण-ब्राह्मणी। विद्या, बल, शौर्य,

---

माताएँ दुधमुँहे बच्चों के फेरे उन्हें गोद में लेकर देने लगी। इसके विरुद्ध आर्यसमाज ने आवाज़ उठाई। सन् १८९० में बंगाल में फूलमणि नामक लड़की का १० वर्ष की अवस्था में पति से सहवास के कारण प्राणान्त हो गया। इस प्रकार की घटनाओं के कारण बालिका के विवाह की न्यूनतम आयु १२ वर्ष रखने का प्रस्ताव रखा गया। धर्म में हस्तक्षेप के नाम पर कट्टरपन्थियों ने इसका विरोध किया, किन्तु विरोध के बावजूद १८९१ में कन्या के लिए विवाह की न्यूनतम आयु १२ वर्ष कर दी गयी, पर यह नियम कागज़ पर ही लिखा रह गया। सन् १९०१ में बड़ौदा राज्य में एक कानून द्वारा बाल-विवाह का निषेध करके लड़कों की आयु १६ वर्ष और लड़कियों की १२ वर्ष कर दी गई। सन् १९२९ में स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के मन्त्री दीवान हरविलास शारदा ने केन्द्रीय धारासभा (वर्त्तमान में संसद्) में बाल-विवाह निरोधक अधिनियम (Child Marriage Restraint Act) प्रस्तुत किया और वे इसे स्वीकृत कराने में सफल रहे, जिसके अनुसार विवाह के समय लड़के और लड़की की न्यूनतम आयु क्रमशः १८ और १४ वर्ष नियत कर दी गई। प्रस्तावक के नाम पर यह कानून शारदा एक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १ अप्रैल १९३० से यह कानून सारे देश में लागू हो गया। तदनन्तर समय-समय पर इस अधिनियम में संशोधन होते रहे। अन्ततः लड़के-लड़की की न्यूनतम आयु क्रमशः २१ और १८ वर्ष नियत कर दी गयी, परन्तु अभी तक बाल-विवाह की प्रथा पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकी है।

ब्राह्मणोऽस्य—यह ऋग्वेद के अन्तर्गत पुरुषसूक्त का ११वाँ तथा यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ११वाँ मन्त्र है। पुरुषसूक्त संहिताओं में तथा उसकी शाखाओं में विभिन्न संख्याओं में उपलब्ध होता है। संहिताओं के आधार पर ऋग्वेद १०।९० में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' से लेकर 'साध्या सन्ति देवाः' तक पुरुषसूक्त षोडश ऋचात्मक है, यजुर्वेद अध्याय ३१ में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' से आरम्भ

न्यायकारित्वादि गुण जिसमें हों, वह क्षत्रिय-क्षत्रिया और विद्वान् होके कृषि, पशु-पालन, व्यापार, देशभाषाओं में चतुरतादि गुण जिसमें हों, वह वैश्य-वैश्या और जो विद्याहीन मूर्ख हो, वह शूद्र-शूद्रा कहावे। इसी क्रम से विवाह होना चाहिए, अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या और शूद्र का शूद्रा के साथ ही विवाह होने में आनन्द होता है, अन्यथा नहीं।

इस वर्णव्यवस्था में प्रमाण—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥ —आपस्तम्बे ॥[१]

होकर 'सर्वलोकं म इषाण' तक २२ ऋचात्मक है, परन्तु दोनों में ही प्रथम १६ मन्त्रों का देवता 'पुरुष' है। इसलिए 'सहस्रशीर्षा' से 'साध्या सन्ति देवाः' तक के मन्त्रों को ही पुरुषसूक्त के नाम से जाना जाता है। यजुर्वेद के २२ मन्त्रों में १६ वही हैं जो ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त में हैं, अन्तिम ६ मन्त्र ऋग्वेद में नहीं है। अथर्ववेद शौनकीय शाखा १९।६ में तथा पैप्पलाद शाखा ५।१ में 'सहस्रबाहुः पुरुषः' से 'जातस्य पुरुषादधि' तक षोडश ऋचात्मक है। इस प्रकार संहिताओं और उनकी शाखाओं में पुरुषसूक्त ईषद् भेद के साथ विभिन्न संख्यात्मक उपलब्ध होता है। संख्या की दृष्टि से जहाँ ऋग्वेदीय सूक्त अथर्ववेद सूक्त से साम्य रखता है, वहीं क्रम की दृष्टि से वह यजुर्वेदीय सूक्तानुवाक के समान है। चारों संहिताओं में उपलब्ध पुरुषसूक्त की आनुपूर्वी में भी भेद मिलता है। ऋक् संहिता में कुल १४ बार 'पुरुष' पद का प्रयोग हुआ है, जिसमें दस बार अकेले।

इस (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) मन्त्र से पहला मन्त्र इस प्रकार है—

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥

एकाकी विचरनेवाले के लिए किसी प्रकार का विधान अपेक्षित नहीं होता, परन्तु मनुष्य सामाजिक प्राणी है—बहुतों के साथ रहनेवाला। जिसमें अनेक व्यक्ति मिलकर गति करते हैं, वह समाज कहाता है। वह गति मर्यादित और क्रमबद्ध होती है। **'समं अजन्ति जना यस्मिन् स समाजः'**—सम्यक् गति करनेवाले मानवसमुदाय का नाम 'समाज' है। समाज में उसके प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य और अधिकार निर्धारित रहते हैं। इसी का नाम समाज-व्यवस्था है। उपर्युक्त मन्त्रद्वय की प्रश्नोत्तरी से स्पष्ट है कि जिस प्रकार मानवशरीर के धर्म, उसकी स्थिति और समस्त क्रियाएँ मुख आदि चार अंगों के संघटित आधार पर सिद्ध होती और चलती हैं, इसी प्रकार समाज-शरीर के धर्म, उसकी स्थिति, समस्त क्रियाएँ इन्हीं मुखादि के प्रतिनिधिभूत ब्राह्मणादि चार अंगों के संघटित आधार पर सिद्ध होती और चलती हैं। इस विभाजन में प्रत्येक अंग की सीमा स्वतः निर्धारित है, जिससे सबका शक्ति-सन्तुलन बना रहता है। किसी एक अंग में समूची शक्ति केन्द्रित हो जाने से समाज के कार्य में बाधा उपस्थि हो जाती है। अंगचतुष्टय की सार्थकता के कारण महर्षि वेदव्यास ने समाज-पुरुष को वर्णात्मा की संज्ञा से अभिहित किया है—

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः। पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥

—महा० शा० ४७।६८ ॥

प्रथम मन्त्र में पूछा था कि इस समाजरूप पुरुष का मुख क्या हुआ, बाहू कौन बनाये गये,

---

१. आप० धर्मसूत्र १।५।१०, ११ ॥

उसके ऊरू कौन हुए और कौन उसके पाद कहे जाते हैं? प्रश्न के इस प्रवाह में उत्तर दिया गया कि ब्राह्मण उसका मुख हुआ, क्षत्रिय उके बाहू हुए, वैश्य उसका ऊरू हुआ और शूद्र उसके पैर हुए।

यहाँ मुख आदि से किसी के उत्पन्न होने का कोई प्रसङ्ग नहीं है। न तो पहले मन्त्र में प्रश्न ही इस प्रकार का पूछा गया कि किससे कौन उत्पन्न हुआ और न ही दूसरे मन्त्र में इस प्रकार का उत्तर दिया गया। अर्थज्ञान में भ्रमोत्पादक चतुर्थ चरण के अन्तिम दो पद हैं—'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'। डॉक्टर सुधीर कुमार गुप्त तथा डॉ० निरूपण विद्यालंकार के मत में यहाँ प्रथम मन्त्र के शब्दों को दृष्टि में रखते हुए 'उच्यते' का प्रयोग भाव अर्थ में हुआ है, परन्तु उस अवस्था में 'पद्भ्यां' को पञ्चम्यन्त न मानकर तृतीयान्त मानना होगा। डॉ० रघुवीर द्वारा परिष्कृत अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखा के पाठान्तर में 'अजायत' क्रियापद के स्थान में 'अस्तु' पद मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि उक्त मन्त्र में 'अजायत' पद 'अस', 'वृतु' इत्यादि धातुओं की विवक्षा में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त यदि 'अजायत' क्रियापद पर विचार किया जाए तो पता चलेगा कि वेद में कई स्थानों पर 'अजायत' क्रिया 'भू' की वाचिका है। यथा—सायण स्वयं अथर्ववेदभाष्य में एक स्थान पर 'अजायत' क्रिया का अर्थ 'निवृत्ता भवति' करते हैं—'होतारमद्य धीरजायत'। 'धीः कर्मनामैतत्। अग्निष्टोमादिलक्षणं कर्म अजायत—जायते....निवृत्ता भवति।' —अथर्व० सायणभाष्य १८।१।२२॥

परन्तु ग्रन्थकार ने दोनों मन्त्रों में यत्र-तत्र-सर्वत्र 'उत्पन्नमासीत्', 'उत्पन्नो भवति', 'उत्पन्नो वर्तते' आदि क्रियाओं का प्रयोग किया है। इस प्रसङ्ग में मन्त्रगत 'व्यकल्पयन्' तथा 'उच्येते' शब्द विचारणीय हैं। रामानुज ने 'व्यकल्पयन्' का अर्थ 'कल्पना कृतवन्तः' किया है। 'उच्येते' का अर्थ सहज ग्राह्य है। इन दोनों शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि यहाँ साक्षात् ब्रह्म के शरीरांगों से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति की बात नहीं कही गई है। उत्तररूप मन्त्र के भाष्य में भी ग्रन्थकार ने ब्राह्मणादि की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए 'मुखाद् उत्पन्नः' न कहकर 'अस्य पुरुषस्य ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्योपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवति' कहा है। यहाँ दो बातें स्पष्ट हैं—(१) ब्राह्मणादि की उत्पत्ति उस पुरुष के देहांगों से नहीं, अपितु उसके तत्तद् गुणों से हुई है। (२) भाष्य में 'आसीत्' के पर्यायरूप में 'उत्पन्नो भवति', 'उत्पन्नमासीत्' इत्यादि क्रियापदों का प्रयोग हुआ है। 'आसीत्', 'अजायत' आदि क्रियापदों का अर्थ 'छन्दसि लुङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इस सूत्र को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

स्वामी भगवदाचार्य ने ठीक लिखा है—''यद्यदोत्तरवाक्ये विभक्तिः परिणामः क्रियते प्रश्नवाक्येपि तथा कर्त्तव्यः स्याद् अस्य मुखात् किमुत्पन्नमिति? उच्येते इति क्रियापदस्य तत्सन्निहितद्विवचनप्रत्ययस्य च वैयर्थ्यं घोषितं स्यात्। किं च पुरुषं कतिधा व्यकल्पयन्निति समस्तमेव वाक्यं नैरर्थक्यमीयात्। मुखात् किमुत्पन्नमिति प्रश्न एवासमञ्जसो भवेद्यावधि तस्य मुखाद्यवयवानामश्रवणात्।''

ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त 'उत्पन्नमासीत्', 'उत्पन्नो भवति', 'उत्पन्नो वर्त्तते' इत्यादि शब्दों का 'आसीत्' से पूरी तरह सामंजस्य हो जाता है। धातुपाठ के अनुसार 'अस भुवि' और 'भू सत्तायाम्' होने से 'आसीत्' का 'उत्पन्नमासीत्' या 'उत्पन्नो भवति' अर्थ करने में कोई बाधा नहीं है। इस ऋचा के भाष्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज में मुख, बाहू, ऊरू तथा पादस्थानीय हैं, ऐसी व्याख्या की गई है। पद्भ्याम् शब्द को तृतीया विभक्ति का द्विवचन माना है। तृतीया विभक्ति

के कारण 'तुल्य' पद के अध्याहार की सम्भावना है ही—'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्' (पा० २।३।७२) एवं च 'पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' मन्त्रांश का 'पद्भ्यां तुल्यः शूद्रोऽजायत्'—'पाँवों के समान सेवादिपरायण शूद्र उत्पन्न हुआ' यह अर्थ सर्वथा संगत है। इस प्रकार की व्याख्या की पुष्टि इस ऋचा के शेष तीन चरणों के पदों— विभक्ति-विनिवेश से भी होती है। तीनों चरणों में ब्राह्मण आदि वर्णवाची तथा मुखादि तथाकथित शरीरांगवाची सभी शब्द प्रथमा विभक्त्यन्त हैं। ऐसी अवस्था में 'ब्राह्मण मुख हुआ' आदि अर्थ सम्भव है और इन तीनों चरणों के प्रकाश में ही चतुर्थ चरण का अर्थ किया जाना तर्कसंगत है। इस प्रकार के अर्थप्रकाश में व्याकरण-शास्त्रीय व्यवस्था भी सहायक है। इस ऋचा में प्रथमोक्त ऋचा में किये गये किन्हीं प्रश्नों के उत्तरों का संकलन है, अतः उत्तरात्मक ऋचा की व्याख्या या उसके अर्थप्रकाश में प्रश्नात्मक ऋचा की शैली का ध्यान रखना भी आवश्यक है, इसलिए शास्त्र में प्रकरणशः निर्वचन का निर्देश किया गया है—

'न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः'।

—निरुक्त १३।१२

फिर परमेश्वर का तो कोई शरीर ही नहीं है—**'अकायमव्रणमस्नाविरम्'** (यजुः० ४०।८)। जिसका शरीर ही नहीं उसके शरीरांगों से किसी की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

'वृञ् वरणे' धातु से वरण शब्द सिद्ध होता है—'वृणोति व्रियते वा स वर्णः' (उणादि० ३।१०)। जिसका स्वेच्छा से वरण=चुनाव किया जाता है उसे वरण कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपना मार्ग स्वयं चुने—अपने जीवन का लक्ष्य स्वयं निर्धारित करे और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करे। इस स्वयं वरण के कारण ही यास्काचार्य ने लिखा है—'वर्णो वृणोते' (निरुक्त २।१।४)। ब्राह्मणादि वर्ण इसलिए कहाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए उसका निश्चय करता है और समाज भी प्रत्येक व्यक्ति को उसके गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार शासकीय अथवा सामाजिक व्यवस्था से अधिकार तथा अवसर प्रदान करता है। वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी रचना व व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि ये शब्द गुणवाचक हैं, जातिवाचक नहीं। स्वयं नामों से ही वर्णों के कर्त्तव्यों का और कर्त्तव्यों से उनके वाचक नामों का बोध होता है। 'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' (पा० ४।२।५९) अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के योग से ब्राह्मण शब्द बनता है। ब्रह्म शब्द परमेश्वर और वेद दोनों का वाचक है। यजुर्वेदभाष्य में ग्रन्थकार ने 'ब्राह्मणमद्य विदेयम्' इत्यादि (७।४६) मन्त्र में 'ब्राह्मणम्' का अर्थ 'वेदेश्वरविदम्'=वेद और ईश्वर को जाननेवाला किया है। इसकी व्युत्पत्ति है—'ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासने च सह वर्त्तमानो उत्तमगुणयुक्तः पुरुषः', अर्थात् वेद और परमेश्वर के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्यादि उत्तम गुणों को धारण करनेवाला ब्राह्मण कहाता है। वेद ने चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्। —यजुः०

अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त करने तथा उसका प्रचार करने के लिए ब्राह्मण को, रक्षा के लिए क्षत्रिय को, प्राणपोषण के लिए वैश्य को और विशेष परिश्रम के लिए शूद्र को जानो।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी वर्णों के कर्त्तव्यों का संकेत मिलता है।

ब्राह्मण—ब्राह्मणो व्रतभृत् (तै० सं० १।६।७।२); आग्नयो ब्राह्मणः (ता० १५।४।८)'

आग्नेयो हि ब्राह्मणः (काठ० २९।१०); गायत्रो वै ब्राह्मणः (एते० १।२८); गायत्रो वै बृहस्पतिः (ता० ५।१।१५)।

क्षत्रिय—'क्षणु' हिंसा अर्थवाली धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से 'क्षतः' शब्द की सिद्धि होती है और 'क्षत' उपपद में 'त्रैङ्' पालन करने अर्थवाली धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' (पा० ३।२।१०१) सूत्र से 'उः' प्रत्यय पूर्वपदान्त्याकार लोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना। 'क्षत्र एव क्षत्रियः' स्वार्थ में 'इयः' होने से क्षत्रियः अथवा क्षत्रस्य अपत्यमिति क्षत्रियः। 'क्षदति रक्षति जनान् स क्षत्रियः, जो लोगों की रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। ब्राह्मणग्रन्थों में—'क्षत्रं राजन्यः' (ऐत० ३।४, ८।२); 'क्षत्रस्य वा एतद्रूपम् यद् राजन्यः' (शत० १३।१।५।३) क्षत्रिय क्षत्र का ही एक रूप है, जो प्रजा का रक्षक होता है।

वैश्य—'विश्' प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में 'यञ्' छान्दस प्रत्यय से वैश्य शब्द बना—'यो यत्र तत्र व्यवहारविद्यासु प्रविशति स क्षत्रियः' 'व्यवहारविद्या कुशलः जनो वा' जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रविष्ट रहता है या विविध विद्याओं में कुशल रहता है, वह वैश्य कहाता है। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार 'एतद्वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशवः' (ता० १८।४।६) तस्माद् बहुपशुर्वैश्यदेवो हि जगतो वैश्यः' (ता० ६।१।१०) पशुपालन से वैश्य की समृद्धि होती है, यह वैश्य का कर्त्तव्य होता है।

शूद्र—'शुच्' शोकार्थक धातु से 'शुचेर्दक्षश्च' (उणादि० २।१९) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय के योग से 'उकार' को दीर्घ और 'च' को 'द' होकर शूद्र शब्द सिद्ध होता है। शूद्रः=शोचनीयां शोच्याः स्थितिमापन्नो वा सेवायां साधुरविद्यादिगुणसहितो मनुष्यो वा'। शूद्र वह व्यक्ति बनता है जो अपनी विद्या में पिछड़ जाने से किसी प्रकार की उन्नत स्थिति को प्राप्त नहीं कर सका और इस कारण अपनी निम्न स्थिति से चिन्तित व दुःखी रहता है, किन्तु सेवाकार्य में दक्ष होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है—**'असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्रः'** (तै० ३।२।३।९) असतः-अविद्यातः। अज्ञान के कारण जिसकी निम्न स्थिति रहती है और जो केवल सेवाकार्य ही कर सकता है वह शूद्र है। द्विज प्रयत्नपूर्वक बनाये जाते हैं। शूद्र बनाया नहीं जाता, द्विज बनने से जो रह जाता है वह शूद्र कहाता है। शूद्र को न पढ़ने पर एक जाति कहा जाता है।

मनुस्मृति में अनेक स्थलों में ऐसे वर्णन उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि मनु वर्णव्यवस्था का निर्धारण गुण-कर्म-स्वभाव से मानते हैं, जन्म से नहीं। किसी भी बालक के माता-पिता उसे अपने या अन्य किसी भी वर्ण में दीक्षित करा सकते हैं, किन्तु अन्ततः वर्ण का निश्चय शैक्षिक काल की समाप्ति पर उसके गुण-कर्म-स्वभाव, संस्कार आदि के आधार पर आचार्य करता है। बाद में कर्मों या व्यवसाय के आधार पर उसमें परिवर्तन हो सकता है।

सृष्टि के आदि में अनेक मनुष्य पैदा हुए। जन्म के समय तो सभी एक-जैसे थे। फिर जैसे-जैसे उनके गुण-कर्म-स्वभाव का निश्चय होता गया, वैसे-वैसे वर्णविशेष में प्रतिष्ठित किया जाता रहा।

महाभारत के अन्तर्गत यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा। ब्राह्मणः केन भवति एतद् ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्। कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्य ब्राह्मणेन विशेषतः। अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥

अन्यत्र कहा है—

संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः।
तस्मात् शीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥

—महा० पूना, ३।१७७।२६॥

भिन्न-भिन्न वर्णों के बीच विवाह-सम्बन्ध होने पर उनसे उत्पन्न सन्तान के वर्ण का निश्चय कैसे हो? इसका समाधान करते हुए युधिष्ठिर ने बताया—उसके शील=चरित्र के अनुसार ही उसका वर्ण निर्धारित होगा।

भगवद्गीता के निम्न श्लोक में तो बड़े स्पष्ट शब्दों में इस सिद्धान्त की घोषणा की है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। —गीता ४।१३॥

डॉ० राधाकृष्णन ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

"The emphasis is on guna (aptitude) and karma (function) and not on birth. The Varna or order, to which we belong, is indepedent of sex, birth or breeding. A class determined by temperament and vocation is not a caste determined by birth and heredity."

'**चातुर्वर्ण्यम्**—यहाँ मनुष्य के गुण-कर्म-स्वभाव पर बल दिया है, न कि जन्म या जाति पर। हमारे वर्ण का लिंग, जन्म या पैतृक परम्परा के आधार पर निर्धारण नहीं किया जा सकता।'

इस सन्दर्भ में कुछ मूढ़मति यह कल्पना कहते हैं कि यदि कोई शूद्र इस जन्म में ब्राह्मणादि के गुण-कर्म-स्वभाव प्राप्त कर लेता है तो उसका अगला जन्म तत्तद् गुण-कर्म-स्वभावयुक्त कुल में होगा और तब यह ब्राह्मणादि को प्राप्त अधिकारों का उपभोग करेगा। गीता के उपर्युक्त श्लोक का यही अभिप्राय है कि भगवान् इस जन्म के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अगला जन्म देता है। यह कल्पना उपहासास्पद होने के साथ-साथ अत्यन्त मूर्खतापूर्ण भी है। यह ऐसा ही है, जैसे शूद्रकुलोत्पन्न व्यक्ति के एम०ए० कर लेने पर यह कहा जाए कि कॉलिज में अध्यापक पद पर नियुक्ति के लिए तुम्हारे प्रार्थनापत्र पर अगले जन्म में विचार होगा। फिर यदि शूद्र होने के कारण किसी को इस जन्म में पढ़ने का अधिकार नहीं मिलेगा तो वह अगले जन्म में उच्चवर्णस्थ कुल में जन्म लेने के लिए अपेक्षित गुण-कर्म-स्वभाव कैसे अर्जित करेगा? एक बात और है—इस कल्पना के अनुसार वर्त्तमान में जो भी ब्राह्मण कुलोत्पन्न मनुष्य हैं, निश्चय ही वे अपने पूर्वजन्म में ब्राह्मणोचित गुण-कर्म-स्वभाव प्राप्त जीवात्माएँ हैं, परन्तु हम देखते हैं कि वर्त्तमान में उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर है और लोगों के घरों में 'महाराज' कहलाकर चूल्हा झोंक रहे हैं। कहाँ गई उनकी पूर्वजन्म में संचित ब्राह्मणोचित गुण-कर्म-स्वभाव की पूँजी जिसके आधार पर उन्हें वर्त्तमान में ब्राह्मणकुल में जन्म मिला? पूर्वोद्धृत विश्वामित्र, वसिष्ठ, मातंग, कवष ऐलूष आदि के उदाहरणों से स्पष्ट है कि गुण-कर्म-स्वभाव के बदलने पर इसी जन्म में न केवल वर्ण बदल जाता है, अपितु ऋषित्व तक प्राप्त हो जाता है।

ब्राह्मण की पहचान क्या है? महाभारतकार बताते हैं—

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा। तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥

—महा० शा० १८८।४।८॥

जिसमें सत्य, दान, अद्रोह, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया और तप दिखाई दें वह ब्राह्मण कहाता है। यदि ये गुण शूद्र में दिखाई दें और ब्राह्मण में न मिलें तो न ऐसा शूद्र शूद्र है और न ऐसा ब्राह्मण ब्राह्मण है।

कितनी स्पष्ट घोषणा है वर्णव्यवस्था के गुण-कर्म-स्वभावाश्रित होने की।

यदि मन्वादि ऋषि और आचार्य किसी वर्ण को श्रेष्ठ और किसी को हीन मानते तो उन्हें वर्णों के कर्तव्य निश्चय करने की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि जो व्यक्ति जन्म के आधार पर ही श्रेष्ठ या हीन माना जा रहा है वह तो वैसा ही रहेगा, चाहे वह कर्म करे या न करे, सत्कर्म करे या दुष्कर्म करे। यतो हि शैशवावस्था और कौमार्यावस्था में भी वह वर्णों के लिए निर्धारित कर्म नहीं करता, अपितु बहुत बार विरोधी कर्म भी कर बैठता है, जब उस अवस्था में भी उसे जन्मतः ब्राह्मण या धर्म की मूर्त्ति माना जा रहा है तो बाद में कर्मों के न करने या अन्यथा करने पर भी उसका ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं होना चाहिए, परन्तु मनुस्मृति में सभी विधि-निषेध वचनों, व्यवस्थाओं और वर्णों के लिए निर्धारित कर्मों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु धर्म-अधर्म, कर्म और व्यवस्थाओं से ही वर्णव्यवस्था मानते हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो मनुस्मृति तथा अन्यान्य शास्त्रों द्वारा अनुमोदित सम्पूर्ण कर्मविधान ही नष्ट हो जाएगा।

वैदिक धर्म से निःसृत बौद्ध तथा जैन मतों में भी वर्णव्यवस्था को इसी रूप में स्वीकार किया गया है। तद्यथा—

न जच्चा (जन्मना) वुसलो (वृषलो) होति न जच्चा होति ब्राह्मणः।
कम्मना (कर्मणा) वुसलो होति कम्मना होति ब्राह्मणः॥ —धम्मपद

कम्मुणा बंभणो होई कम्मुणा होई खत्तियो। वइयो कम्मुणा होई खुद्दो होई कम्मुणा॥

—महावीर स्वामी

यस्मादेते—आजकल शतपथब्राह्मण में यह पाठ उपलब्ध है—'**तस्मात्पुरुषात्पूर्वं ब्रह्मैवासृज्यत तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत**'। भाव दोनों का एक है। शतपथब्रा० ३।९।१।१४ में पाठ इस प्रकार है—'अस्यैवैतत्सर्वस्य ब्रह्म मुखं करोति तस्मादस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम्', अर्थात् यतः ब्रह्म=ज्ञान-विज्ञान को इस समस्त संसार का मुख बनाया है, अतएव ब्राह्मण इस समस्त जगत् का मुख है। ताण्ड्यब्राह्मण ६।१।६ में इस आशय के ये शब्द मिलते हैं—"**ब्राह्मणो मनुष्याणां मुखं तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति। मुखतो हि सृष्टिः**"—अर्थात् ब्राह्मण मनुष्यों में मुख्य है, अतएव ब्राह्मण मुख से शक्तिप्रदर्शन करता है, इसीलिए कहा जाता है कि ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ। आग्निवेश्यगृह्यसूत्र (त्रिवांकुर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित) के पृष्ठ १ पर टिप्पणी में सम्पादक ने श्रुति के नाम से पाठ दिया है—'गायत्रीछन्दो रथन्तरं साम ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, अजः पशूनां तस्मादेते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्त'।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ ३॥

—मनुस्मृतौ॥[1]

अर्थः—धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और उस वर्ण में जो-जो कर्त्तव्य—अधिकाररूप कर्म हैं, वे सब गुण-कर्म उस पुरुष और स्त्री को प्राप्त होवें॥ १॥ वैसे ही अधर्माचरण से उत्तम-उत्तम वर्ण नीचे-नीचे के वर्ण को प्राप्त होवें और वे ही उस-उस वर्ण के अधिकार और कर्मों के कर्त्ता होवें॥ २॥ उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से जो शूद्र है, वह वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ब्राह्मण वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है। वैसे ही नीच कर्म और गुणों से जो ब्राह्मण है, वह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और क्षत्रिय वैश्य, शूद्र तथा वैश्य शूद्र वर्ण के अधिकार और कर्मों को प्राप्त होता है॥ ३॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति—मनु द्वारा प्रतिपादित वर्णव्यवस्था के सन्दर्भ में यह श्लोक बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस श्लोक के अनुसार श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के आधार पर शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, अर्थात् ब्राह्मणोचित गुण-कर्मों के अनुरूप कोई ब्राह्मण हो तो वह ब्राह्मण रहता है और यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार शूद्रकुलोत्पन्न भी यदि मूर्ख है तो वह मूर्ख बना रहता है, किन्तु यदि वह ब्राह्मणादि के लिए अपेक्षित गुणों को धारण कर लेता है तो वह यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बन जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य का भी वर्ण परिवर्तन समझना चाहिए। मनु के मत में अपने किये विहित कर्मों का पालन न करनेवाला कोई भी व्यक्ति शूद्र बन जाता है। इसमें प्रमाण हैं—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

—मनु० २।१६८॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

—मनु० २।१०३॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते। योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

—महा०

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लायते सकृत्। तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति॥

—मनु० ११।९७॥

गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामतिः। तपसो ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम्॥
जातो व्यासश्च कैवर्त्याः श्वपाक्यास्तु पराशरः। बहवो अन्येऽपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्वमद्विजाः॥

नियत आयु तक उपवीत न होने पर द्विज बनने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति व्रात्यसंज्ञक शूद्र कहाता है (मनु० २।३७-४०)। अन्यत्र (४।२४५) मनु कहते हैं—

उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान् हीनाँश्च वर्जयन्। ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्॥

अर्थात् उत्तमोत्तम व्यक्तियों से सम्बन्ध बढ़ाते हुए और निकृष्ट व्यक्तियों से सम्बन्ध तोड़ते हुए ब्राह्मण और अधिक श्रेष्ठता को प्राप्त करता है। इसके विपरीत व्यवहार करने से वह शूद्रत्व को प्राप्त

---

१. मनु० १०।६५॥

इसी प्रकार वर्णव्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बने रहते और उत्तम बनने में प्रयत्न करते और उत्तम वर्ण इस भय से कि मैं नीच वर्ण न हो जाऊँ, इसलिए बुरे कर्म छोड़ उत्तम कर्मों ही को किया करते हैं। इससे संसार की बड़ी उन्नति है। आर्यावर्त्त देश में जबतक ऐसी वर्णव्यवस्था और पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य, विद्याग्रहण, उत्तमता से स्वयंवर विवाह होता था, तभी देश की उन्नति थी। अब भी ऐसा ही होना चाहिए, जिससे आर्यावर्त्त देश अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होकर आनन्दित होवे।

होता है। इस श्लोक में ब्राह्मण शब्द उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

ग्रन्थकार के जीवन की एक घटना इस प्रकार है—एक दिन पं० गङ्गाप्रसादजी ने स्वामीजी के चरणों में निवेदन किया—'महाराज! मैंने बहुत बड़ी संख्या को जनेऊ धारण कराये हैं।' स्वामीजी ने उसके इस कार्य की आशीर्वादसहित स्तुति करते हुए कहा—'यज्ञोपवीत देते ही जाते हो या किसी के उतरवाते भी हो'? उसने विनय की 'हे भगवन्! कभी जनेऊ उतारा भी जाता है?' स्वामीजी ने कहा—'हाँ, जो जन धर्म-कर्म हीन हो जाएँ उनके यज्ञोपवीत उतार देने चाहिएँ'। भले ही कोई ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ हो, पर अब शूद्र हो गया है। उसे यज्ञोपवीत धारण करने का कोई अधिकार नहीं।

इसके साथ ही शूद्रत्व को प्राप्त व्यक्ति यदि अपने कर्मों को सुधार लेता है तो वह पुनः अपने वर्ण को प्राप्त कर लेता है। मनु ने यह मान्यता व्रात्यसंज्ञक शूद्रों के लिए और अपने वर्ण की मर्यादा के विरुद्ध कार्य करने के कारण ब्राह्मण वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चितों में व्यक्त की है (मनु० ११।१९१-१९६)। इससे भी प्रकारान्तर से वर्णव्यवस्था कर्मानुसार ही सिद्ध होती है।

धर्मचर्यया—'ऐतरेयब्राह्मण २।१९ में कवष एलूष नामक व्यक्ति की घटना वर्णित है जो वर्णपरिवर्तन तथा प्रत्यावर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है। "**ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। ते ऋषयः कवष ऐलूषं सोमादनयन्, ' दासीपुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति।..........स बहिर्धन्वोदूढ ह पिपासया दित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्—'अदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु इति**"।

अर्थात् ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में भाग लेने आये हुए कवष ऐलूष को ऋषियों ने सोम से वंचित कर दिया, यह सोचकर कि यह दासी का पुत्र, कपट आचरणवाला अब्राह्मण किस प्रकार हमारे बीच दीक्षित हो गया है। यज्ञ से बाहर निकाल दिये जाने पर वह कवष ऐलूष पिपासा से सन्तप्त हुआ बाहर जंगल में चला गया। वहाँ उसने 'अपोनप्त्र' देवतावाले सूक्त का अर्थदर्शन किया। तब ऋषियों ने उसे वेदार्थद्रष्टा होने के कारण पुनः अपने पास बुलाकर यज्ञ में दीक्षित किया।

१६ अप्रैल १८८१ को चौबे कन्हैयालालजी को एक पत्र में महर्षि ने लिखा—"मुसलमान आदि अन्य मतवाले वैदिक धर्म में आवें तो वे जिस गुण और कर्मयुक्त हों उसी वर्ण में रह सकते हैं। विवाह और खान-पान आदि व्यवहार भी अपने समान वर्ण के साथ करें। इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती" —पत्र है और विज्ञापन, पृ० १८७॥

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वर्णाश्रमविषय के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने लिखा है—"मनुष्यजाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण कहाते हैं। वेदरीति से इनके दो भेद हैं—एक आर्य और

[वधू-वर के गुण-कर्म-स्वभाव की परीक्षा]

अब वधू-वर एक-दूसरे के गुण-कर्म और स्वभाव की परीक्षा इस प्रकार करें—

दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रूपादि गुण, अहिंसकता, सत्य, मधुर भाषण, कृतज्ञता, दयालुता, निर्लोभता, देश का सुधार, विद्याग्रहण, सत्योपदेश करने में निर्भयता, उत्साह, अहंकार, मत्सर, ईर्ष्या, काम-क्रोध, कपट, द्यूत, चोरी, मद्यमांसाहारादि दोषों का त्याग, गृह्य-कार्यों में अति चतुरता हो। जब-जब प्रातःसायं वा परदेश से आकर मिलें, तब-तब 'नमस्ते' इस वाक्य से परस्पर नमस्कार कर, स्त्री पति के चरणस्पर्श पादप्रक्षालन आसनदान करे तथा दोनों परस्पर प्रेम बढ़ानेहारे वचनादि व्यवहारों से वर्त्तकर आनन्द भोगें। वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के स्कन्धे के तुल्य स्त्री का शिर होना चाहिए। तत्पश्चात् भीतर की परीक्षा स्त्री-पुरुष वचनादि-व्यवहारों से करें।

दूसरा दस्यु। इसमें यह प्रमाण है—**'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः'** तथा **'उत शूद्र उतार्ये'**। इस मन्त्र से भी आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अनार्य अनाड़ी जोकि शूद्र कहाते हैं, ये दो भाग जाने गये हैं। **'असुर्या नाम ते लोकाः'** इत्यादि मन्त्र (यजुः० ४०।३) से भी देव और असुर, अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये ही दो भेद जाने जाते हैं और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर-संग्राम कहते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण-कर्म-स्वभाव से किये गये हैं। इस सन्दर्भ को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों को दो भागों में बाँटा गया है—(१) आर्य और (२) दस्यु। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की गणना 'आर्य' के अन्तर्गत की गई है और शूद्र को 'अनार्य' कहा गया है। आगे इन्हीं की 'देव' और 'असुर' संज्ञा कही गई है। इससे अनार्य, दस्यु, शूद्र और असुर एकार्थक सिद्ध होते हैं, परन्तु वेद तथा मनुस्मृति आदि प्रामाणिक ग्रन्थ ऐसा नहीं मानते। दस्यु, दास, असुर तथा अनार्य तो एकार्थक हो सकते हैं, किन्तु शूद्र को उनके साथ नहीं जोड़ा जा सकता। 'दस्यु' शब्द 'दसु उपक्षये' धातु से निष्पन्न होता है। दस्यु समाज का निर्माता नहीं विघातक होता है। उसे चोर, लुटेरा, डाकू, लम्पट आदि शब्दों से पुकारा जा सकता है। दस्युओं को समाज में अपराधी तथा दण्डनीय माना जाता है। **'वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेन'** (ऋ० १।३३।४) इस वेदमन्त्र के अनुसार धनवान् दस्यु को भी मार डालने का विधान है। इससे अगले मन्त्र में दस्यु को 'अयज्वा'=याज्ञिकों से ईर्ष्या करनेवाला और 'अव्रती' अर्थात् धार्मिक, सामाजिक तथा राजकीय नियमों का उल्लघंन करनेवाला कहा गया है। **'अवादहो दिव आ दस्युम्'** (ऋ० १।३३।४) इस मन्त्र में दस्यु को जला डालने का आदेश दिया गया है। 'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धय शासदव्रतान्' (ऋ० १।५१।८)—यहाँ दस्युओं को नष्ट करने और वश में लाने का विधान है। 'दस्युं' वकुरेणाधमन्ता' (ऋ० १।१७७।२१) इस मन्त्र में भी दस्यु को शस्त्रास्त्र से मारने का विधान है। अन्यत्र—

हत्वी दस्यून् आर्यं वर्णमावत्। —ऋ० ३।३४।९॥

यथा वशं नयति दासमार्यः। —ऋ० ५।३४।६॥

विशोऽव तारीर्दासीः। —ऋ० ६।२५।२॥

यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। —ऋ० २।१२।४॥

ओम् ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठतम्।

यदियं कुमार्य्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यताम्। यत्सत्यं तद् दृश्यताम्॥

अर्थः—जब विवाह करने का समय निश्चय हो चुके, तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और वर चतुर स्त्रियों से कन्या की परोक्ष में परीक्षा करावे। पश्चात् उत्तम विद्वान् स्त्री-पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें कि—''हे स्त्री वा हे पुरुष! इस जगत् के पूर्व ऋत—यथार्थस्वरूप महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था और उस महत्तत्त्व में सत्य, त्रिगुणात्मक, नाशरहित प्रकृति प्रतिष्ठित है। जैसे पुरुष और प्रकृति के योग से सब विश्व उत्पन्न हुआ है, वैसे मैं कुमारी और मैं कुमार पुरुष इस समय में दोनों विवाह करने की सत्य प्रतिज्ञा करती वा करता हूँ। उसको यह कन्या और मैं वर प्राप्त होवें और अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए दृढ़ोत्साही रहें॥''

अव गिरेर्दासं शम्बरं हन्। —ऋ० ६।२६।५॥

इत्यादि अनेक मन्त्रों में दास या दस्यु के लिए अत्यन्त घृणित शब्दों का प्रयोग करते हुए उन्हें वश में करने और अनेक प्रकार से दण्डित करने का विधान है, क्योंकि ये समाज के शत्रु हैं। दस्यु भी असुर कहाते हैं। ऋग्वेद १।५१।५ में दस्युओं के लिए 'अधि शुप्रावजिह्वत' विशेषण का प्रयोग हुआ है। यही भाव कौषीतकिब्राह्मण में व्यक्त हुआ है—'असुरा वा आत्मन्यजुहवुः', अर्थात् असुर आदि यज्ञादि परोपकार के कार्य न करके केवल अपना ही पेट पालने में प्रवृत रहते हैं। ग्रन्थकार ने भी अपने यजुर्भाष्य (४०।३) में असुर शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—'असुर्या=असुराणामिमे असुर्याः=असुषु प्राणेषु रमन्तेऽसुराः प्राणपोषणपराः'—अर्थात् जिन्हें हर समय अपने प्राणों—शरीर के पालन-पोषण की चिन्ता रहती है, वे असुर कहाते हैं।

इसके विपरीत जब हम शूद्र शब्द के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो पता चलता है कि वेदादि शास्त्रों की दृष्टि में शूद्र एक सत्पुरुष है जो दस्यु से सर्वथा भिन्न है। यजुर्वेद ३०।५ में कहा है—'तपसे शूद्रम्', अर्थात् शूद्र वह है जो परिश्रमी, साहसी तथा तपस्वी है। वेद में उसे सर्वत्र अन्य वर्णों की भाँति ही सम्मान की दृष्टि से देखा गया है, जैसाकि इन मन्त्रों से स्पष्ट है—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥
—यजुः० १८।४८॥

यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं........तस्यावयजनमसि। —यजुः० २०।१७॥

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च। —अथर्व० १९।३२।८॥

मनुस्मृति के एक श्लोक में कहा है—

मुखबाहूरुपज्जानां या जातयो लोके बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥
—१०।४५॥

इस श्लोक के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों से जो भिन्न हैं वे सब दस्यु हैं। इस प्रकार स्पष्टतः यहाँ शूद्र को दस्यु से भिन्न बताया है। वह आर्यसमाज का ही अंग है जो बौद्धिक स्तर पर हीन होने से शारीरिक श्रम के द्वारा समाजसेवा में प्रवृत्त रहता है। आधुनिक सन्दर्भ में वह श्रमिकों की श्रेणी (Labour Class) के अन्तर्गत है। अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा बौद्धिक क्षमता की दृष्टि से हीन होने पर भी उसे नितान्त निर्बुद्धि या हीन नहीं कहा जा सकता। 'उत शूद्र

उतार्ये' (अथर्व० १९।६२।१) इस मन्त्रांश को देखने से प्रतीत होता है कि यहाँ शूद्र और आर्य में भेद किया गया है, परन्तु पूरे मन्त्र को ध्यानपूर्वक पढ़ने से इस भ्रान्ति का निवारण हो जाता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

भ्रान्ति का कारण 'उतार्ये' को 'उत+अर्ये' न मानकर 'उत+आर्ये' समझ लेना है। व्याकरण की दृष्टि से दोनों ठीक हैं, परन्तु 'प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः' प्रकरण के अनुसार ही वेदमन्त्रों का अर्थ करना चाहिए। यहाँ प्रार्थयिता सम्पूर्ण समाज में प्रिय बनने की कामना कर रहा है। समाज चार भागों=वर्णों में विभक्त है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मन्त्रगत देवेषु, राजसु तथा शूद्रे पद क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र के वाचक हैं। तब यहाँ चौथे वर्ण वैश्य का भी उल्लेख होना चाहिए। वही मन्त्र में 'अर्य' पद वाच्य है। अर्य शब्द ईश्वर और वैश्य दोनों का वाचक है, किन्तु प्रकरण में परिशेषन्याय से उससे वैश्य का ही ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान में न्यूनाधिक्य की दृष्टि से भी समाज के दो भाग हो सकते हैं—विशेषरूप से पढ़े-लिखे और सामान्यरूप से पठित या अपठित। इस आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को विशिष्ट ज्ञानवान् होने से आर्य कहा जा सकता है और शूद्र को अनाड़ी। बोलचाल की भाषा में अनाड़ी शब्द से अपढ़, सीधा-सादा व्यक्ति अभिप्रेत है, दस्यु या दुष्ट नहीं।

संस्कारविधि में उपनयन-संस्कार के प्रसंग में गृह्यसूत्रों से उद्धृत वचनों की व्याख्या करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन संस्कार के काल का निर्देश किया गया है। उसके आधार पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि वहाँ ब्राह्मण आदि का निर्देश होने से वर्णव्यवस्था का जन्म पर आधारित होना सिद्ध होता है। वस्तुतस्तु वहाँ ब्राह्मणादि पद ब्राह्मणादि से उत्पन्न बालक को जातिदि सम्बन्धरूप लक्षणा से कहते हैं। अतएव वहाँ पर मनु के 'ब्रह्मवर्चसकामस्य' इत्यादि श्लोक (२।३७) को उद्धृत करके लिखा है—'जिसकी शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो, बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का.......क्षत्रिय के लड़के का.........वैश्य के लड़के का।' इससे वहाँ स्पष्टतः ब्राह्मणादि के लड़कों का निर्देश किया है। इतना ही नहीं, यदि मनु के उक्त श्लोक में विप्र, राजा और वैश्य शब्द उनके बालक के लिए लक्षणा से प्रयुक्त न मानें तो क्या ५,६ वा ८ वर्ष का बालक स्वयं ब्रह्मवर्चस, बल और व्यवहार की कामना कर सकता है? मनु का अभिप्राय स्पष्ट है कि जिस ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को अपने बालक को वर्चस्वी, बलवान् या व्यवहार-कुशल बनाने की इच्छा हो वह अपने पुत्रों का यज्ञोपवीत ५, ६ या ८ वर्ष की अवस्था में करे।

इसी प्रकार 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' आदि वचनों की व्याख्या में भी ब्राह्मण का लड़का, क्षत्रिय का लड़का, वैश्य का लड़का शब्दों का व्यवहार किया है।

यदि किसी को उक्त स्पष्टीकरण से सन्तोष न हो तो उसके लिए दूसरा समाधान भी है। वह है 'भावी संज्ञा' का। छोटे बछड़े को बिल्वाद (बेल का फल खानेवाला) कहते हैं। उस समय वह बिल्वफल खाने में सर्वथा असमर्थ होता है, क्योंकि उसके पूरे दाँत नहीं होते। मुर्गे के बच्चे को भी 'लम्बचूड़' (लम्बी कलगीवाला) कहते हैं, जबकि उस समय उसके कलगी होती ही नहीं। इसलिए यास्काचार्य कहते हैं—'पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद् भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां

नैकेषां यथा बिल्वादो लम्बचूड़क:' (निरुक्त १।१४)। अर्थात् इस लोक में हम देखते हैं कि पूर्व उत्पन्न वस्तु का उत्तरकाल में होनेवाले भाव से किन्हीं को नामधेय की प्राप्ति होती है, किन्हीं को नहीं, जैसे—बिल्वाद, लम्बचूड़क।

महाभाष्यकार ने इसी भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'कश्चित् कंचित् तन्तुवायमाह—अस्य सूत्रस्य शाटकं वय इति। स पश्यति—यदि शाटको न वातव्योऽथ वातव्यो न शाटक:। शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम्। भाविनी खल्वस्य संज्ञाऽभिप्रेता, स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद् भवति।'

अर्थात् कोई किसी जुलाहे को कहता है—इस सूत की धोती बुन दे। जुलाहा सोचता है—यदि वह धोती है तो बुनने योग्य नहीं, यदि बुनने योग्य है तो धोती नहीं। धोती और बुनने योग्य, ये दोनों विरोधी हैं। इस कहनेवाले को भाविनी (बुनने के बाद काम में आनेवाली) संज्ञा अभिप्रेत है, अत: इसे इस प्रकार बुनना चाहिए जिससे बुन जाने पर इसकी संज्ञा धोती हो।

इसी प्रकार प्रकृत में भी 'उस बालक का आठवें, दसवें, बाहरवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए' जो अध्ययन करने के पश्चात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहावे। महाभाष्य २।२।६ में लिखा है—

तप: श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तप:श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एष स:॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्द गुणसमुदाय में प्रयुक्त होते हैं। तप, श्रुत और योनि (जन्म) ये ब्राह्मण को बनानेवाले हैं। तप और श्रुत से हीन व्यक्ति ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण जन्म से ब्राह्मण है।

कुलविशेष में जन्म पूर्वकृत कर्मों के अनुसार-मिलता है और ब्राह्मणादि कुलविशेष में जन्म उस बालक को उस कुल के अनुरूप बनाने में सहायक होता है। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार ने योनिविशेष को भी ब्राह्मणत्व निष्पत्ति में निमित्त कहा है। गीता के अनुसार—

तत्र तं बुद्धियोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूय: संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

—६।४३॥

इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्वजन्म के बुद्धि-संस्कार को पाता है और हे कुरुनन्दन! यह उससे भूय:, अर्थात् अधिक बुद्धि पाने का प्रयत्न करता है।

ऋतुदान—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञाविषय में लिखा है—'एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽअर्थ: प्रकाश्यते न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया उच्यत इति।' इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, प्राय: प्राचीन ऋषि-मुनियों की मान्यताओं तथा परम्पराओं के आधार पर ही लिखा है, तथापि अपने स्वल्पज्ञान के कारण हमें कहीं-कहीं ऐसी बातें भी मिलती हैं जो प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। ऐसी अवस्था में हमारा मार्गदर्शन महर्षि जैमिनि ने किया है। प्राचीन कल्पशास्त्र (श्रौत्र-स्मार्त-गृह्यसूत्र) के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में उन्होंने लिखा है—'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्'। (मीमांसा १।१।३) अर्थात् कल्पशास्त्र की जो विधियाँ वेदवचन के विरुद्ध हैं उनकी उपेक्षा करनी चाहिए—उन्हें प्रमाण नहीं मानना चाहिए, किन्तु जिन विधियों के विरुद्ध वेदवचन उपलब्ध न हों, वहाँ अनुमान करना चाहिए कि उन्होंने उक्त विधियाँ किन वेदवचनों के

आधार पर लिखी हैं। इस न्याय के अनुसार अनुपलभ्यमान प्रमाणमूलक शास्त्रविरुद्ध ग्रन्थकार के वचनों के सम्बन्ध में यह मानकर कि उक्त बातें भी किसी आधार पर लिखी हैं, उस आधार की खोज करनी चाहिए। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वामी दयानन्द भी उसी कोटि के आप्तपुरुष हैं जिस कोटि के गृह्यसूत्रकार। दोनों में यदि विरोध दृष्टिगत हो तो उसपर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करना चाहिए। वह शास्त्रीय पद्धति क्या है? इसका उत्तर महाभाष्यकार पतंजलि देते हैं—'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति' (महाभाष्य १।१, ऋलृक् भाष्य), अर्थात् वहाँ पक्षान्तर मानकर परिहार (समाधान) करना चाहिए।

यहाँ एक पक्ष है—विवाह (पाणिग्रहण) की रात्रि में ही श्वसुरगृह (कन्या के पितृगृह में गर्भाधान करना और दूसरा पक्ष है—तीन रात्रि व्रतस्थ रहकर स्वगृह पर आकर चतुर्थ रात्रि में गर्भाधान करना। ग्रन्थकार ने यहाँ द्वितीय पक्ष को पक्षान्तररूप में स्वीकार किया हैं। पक्षान्तर स्वीकार करने पर भी एक शंका तदवस्थ ही रहती है, वह है 'चतुर्थी कर्मसंज्ञा'। विवाह–रात्रि में ही सहवास मानने पर चतुर्थी कर्मसंज्ञा कैसे होगी? तीन दिन व्रतस्थ रहकर सहवास करने पर ही 'चतुर्थीकर्म' संज्ञा उपपन्न हो सकती है।

इसका समाधान यह है कि चतुर्थीकर्म वास्तव में गर्भाधान का ही अपर नाम है। लोगाक्षीगृह्यसूत्र का भाष्यकार देवपाल विवाहकर्म के अनन्तर ब्रह्मचर्य–विधायक सूत्र 'संवत्सरं ब्रह्मचर्यम्' की उत्थानिका में लिखता है—'अथ गर्भाधानम्' (कं० ३०।१, पृष्ठ ३०३)। पारस्करगृह्यसूत्र में गर्भाधान का निर्देश विवाह के पश्चात् 'चतुर्थ्यामपररात्रे' (१।१।१) सूत्र में 'चतुर्थी' निर्देश करके किया है।

रजस्वला होने के पश्चात् रजोदर्शन की निवृत्ति होने पर चौथी रात्रि गर्भाधान का काल माना गया है, अतः 'चतुर्थीकर्म' संज्ञा लक्षणा से गर्भाधान को ही कहती है। यदि ऐसा न माना जाए तो दूसरे मत में भी दोष आता है। जिन ग्रन्थों में चतुर्थीकर्म का उल्लेख है, उनमें भी कहा है—

'अक्षारलवणाशनौ ब्रह्मचारिणावलंकुर्वाणावधः शायिनौ स्यातम्।
अत ऊर्ध्वं त्रिरात्रं, द्वादशरात्रं संवत्सरं चैके ऋषिर्जायते।'
'त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ स्यातामधः शयताम्।
संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्, द्वादशरात्रं त्रिरात्रमन्ततः।' —पार० गृह्य० १।८।२१॥

दोनों का भाव यही है कि विवाह के पीछे तीन रात्रि तक व्रतस्थ रहें। संवत्सर पर्यन्त सहवास न करें, अथवा १२ रात्रि तक, अथवा छह रात्रि तक, कम–से–कम ३ रात्रि तक। इन वचनों के अनुसार षड्रात्र, द्वादश रात्र और संवत्सर के पश्चात् सहवास करने पर चतुर्थीकर्म संज्ञा कैसे उपपन्न होगी। अन्ततः इन पक्षों को लक्षणा का आश्रय लेना होगा। इतना ही नहीं, काठकगृह्यसूत्र (३०।१, पृष्ठ १२७) तथा लौगाक्षीगृह्यसूत्र (कं० ३०।१, पृष्ठ ३०३) में न्यूनातिन्यूनपक्ष 'एकां वा' भी लिखा है। पर 'एकां वा' पक्ष में तो चतुर्थीकर्म संज्ञा लक्षणा से भी उपपन्न नहीं होगी, अतः स्पष्ट है कि चतुर्थी कर्म को गर्भाधान मानना ही युक्त है।

काठक और लौगक्षि के 'एकां वा' पक्ष में और ग्रन्थकार के 'सद्य' पक्ष में बहुत स्वल्प अन्तर है।

सद्य पक्ष में प्रमाण—जो लोग ग्रन्थकार को आप्त पुरुष नहीं मानते वे कह सकते हैं कि हम गृह्यसूत्रों के विपरीत स्वामी दयानन्द के कथनमात्र से सद्यः पक्ष को प्रमाण नहीं मानते। उनके

[प्राग्विधि]

विधिः—जब कन्या रजस्वला होकर पृष्ठ ७२-८० में लिखे प्रमाणे शुद्ध हो जाए, तब जिस दिन गर्भाधान की रात्रि निश्चित की हो, उस रात्रि में विवाह[1] करने के लिए प्रथम ही सब सामग्री

लिए इस विषय में हम प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। आश्वलायन के टीकाकार गार्ग्यनारायण १।७।२ की टीका में लिखते हैं—

'वैदेहेषु सद्य एव व्यवायो दृष्टः। गृह्यो ब्रह्मचारिणौ ब्रह्मचर्यं विहितम्'

—१।७।२, पृष्ठ २१

अर्थात् विदेह निवासियों में सद्यः (विवाहरात्रि में ही) सहवास देखा जाता है, परन्तु गृह्यसूत्रों में तीन रात्रि-पर्यन्त ब्रह्मचर्य का विधान किया है।

महाभारत में द्रौपदी का पाँच पाण्डवों के साथ विवाह का वर्णन मिलता है (आदिपर्व, अ० १९८, श्लोक १३, १४)। इस प्रकरण को प्रक्षिप्त मानने पर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि जब यह प्रक्षेप हुआ उस समय सद्यः सहवास की प्रथा प्रचलित थी, क्योंकि इस प्रकरण में प्रथम रात्रि में ही सहवास का उल्लेख हुआ है। महाभारत मीमांसा ग्रन्थ के लेखक चिन्तामणि विनायक वैद्य ने लिखा है—

पहले दिन द्रौपदी के साथ युधिष्ठिर का विवाह हुआ तब उसी रात को समागम हुआ। धर्मशास्त्रों में भी कई स्थानों पर आता है कि विवाह के दिन ही पति-पत्नी का सहवास हो। (पृष्ठ २२३, कालम १)।

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का सद्यः सहवासपक्ष उनकी अपनी कल्पना नहीं है। प्राचीन काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। इसीलिए हम पक्षान्तर कल्पना द्वारा समाधान करना युक्त मानते हैं।

गर्भाधान की स्थिति—गृहस्थों के लिए गर्भाधान की विधि का निर्देश करना नितान्त आवश्यक था। इसे न जानने के कारण अनेक स्त्रियाँ सन्तान-सुख से वंचित रहती हैं। युवावस्था में कामासक्त दम्पती मैथुन के समय क्या-क्या उलट-पुलट क्रियाएँ करते हैं, इसके लिखने की आवश्यकता नहीं। इसलिए सब विद्याओं का बीजरूप से उपदेश देनेवाले जगन्नियन्ता परमात्मा ने गृहस्थों का मार्गदर्शन करने के लिए साक्षात् वेद में गर्भाधान की विधि का संकेत कर दिया। कालान्तर में इस विद्या में निष्णात आचार्यों ने उसका विकास और विशदीकरण किया। इसी शास्त्रोक्त विधि से गर्भाधान करने से अविकलांग, सुन्दर तथा हृष्ट-पुष्ट सन्तान उत्पन्न हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस विषय का विस्तार हम गर्भाधान संस्कार के अन्तर्गत कर आये हैं।

विवाह-विधिः

वर के कन्या के घर पहुँचने पर स्वागत-सत्कार से लेकर वस्त्रप्रदान तक पुरोहित की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह सारा कार्य कन्या तथा कार्यकर्त्ता (पिता) द्वारा होता है, परन्तु उनके विधि-विधान से अनभिज्ञ होने के कारण उन्हें निर्देश देते रहने के लिए वहाँ पुरोहित की

१. इस कर्म में दो परस्पर विरोधी विधान हैं। एक—गर्भाधान की रात्रि में विवाह और तीन रात्रि ब्रह्मचर्य रखना। दूसरा—रात्रि में विवाह का विधान और सूर्य-दर्शन का विधान। इन दोनों विरोधों के परिहार के लिए संस्कार-विधि का आ० स० शताब्धी संस्करण, प्रथम परिशिष्ट पृष्ठ ३४२-३४६ देखें।

जोड़ रखनी चाहिए और पृष्ठ ४९-५५ में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला, वेदी, ऋत्विक्, यज्ञपात्र, शाकल्य आदि सब सामग्री शुद्ध करके रखनी उचित है। पश्चात्* एक घण्टेमात्र रात्रि जाने[१] पर—

ओं काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुः सुरा ते अभवत्।
परमत्र जन्माग्रे तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा॥ १॥
ओम् इमं त उपस्थं मधुना सꣳसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतत् द्वितीयम्।
तेन पुꣳसोभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्यसि राज्ञि स्वाहा॥ २॥
ओम् अग्निं क्रव्यादमकृन्वन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः।
तेनाज्यकृण्वꣳस्त्रै शुङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद्दधातु स्वाहा॥ ३॥[२]

इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू और वर स्नान कर, पश्चात् वधू उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात् पृष्ठ ३६ से ४८ तक लिखे प्रमाणे ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण करें। तत्पश्चात् पृष्ठ ५६-५७ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, पृष्ठ ५० में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक आदि यथोक्त कर वेदी के समीप रक्खें। वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालङ्कार धारण करके, यज्ञशाला में आ, उत्तमासन पर पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ३६-४२ में लिखे प्रमाणे +ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना कर वधू के घर को जाने का ढंग करे। तत्पश्चात् कन्या के और वरपक्ष के पुरुष बड़े सम्मान से वर को घर ले-जावें। जिस समय वर वधू के घर में प्रवेश करे, उसी समय वधू और कार्यकर्त्ता मधुपर्क आदि से वर का निम्नलिखित प्रकार से आदर-सत्कार करें—

[मधुपर्क-विधि]

उसकी रीति यह है कि वर-वधू के घर में प्रवेश करके पूर्वाभिमुख खड़ा रहे और वधू तथा कार्यकर्त्ता वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े रहके, वधू और कार्यकर्त्ता—

साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम्॥[३]

इस वाक्य को बोलें। उसपर वर—

ओम् अर्चय॥

ऐसा प्रत्युत्तर देवे।

उपस्थिति अनिवार्य है। पुरोहित की विधिवत् नियुक्ति और तदर्थ ऋत्विग्वरण वस्त्रधारण किये वर-वधू के मण्डप में पहुँचने पर किया जाता है।

साधु भवान्—आप आराम से बैठिए, हम आपका सत्कार करेंगे।

अर्चय—मुझे स्वीकार है। वर यह कहकर प्रसन्तापूर्वक अपनी स्वीकृति प्रदान करता है।

---

* यदि आधी रात तक विधि पूरा न हो सके तो मध्याह्नोत्तर आरम्भ कर देवें कि जिससे मध्य रात्रि तक विवाहविधि पूरा हो जावे॥ —द०स०

+ विवाह में आये हुए स्त्री-पुरुष भी एकाग्रचित, ध्यानावस्थित होके इन तीन कर्मों के अनुसार ईश्वर का चिन्तन किया करें॥ —द०स०

---

१. सत्यार्थप्रकाश समु० ४ में भी रात्रिविवाह कहा है।

२. मन्त्रब्रा० १।१।२-४॥ ३. पार० गृह्य० १।३।४॥

पुनः जो वधू और कार्यकर्त्ता ने वर के लिए उत्तम आसन सिद्ध कर रक्खा हो, उसको वधू हाथ में लेकर आगे खड़ी रहे—

ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम् ॥[१]

यह उत्तम आसन है, आप ग्रहण कीजिए। वर—

ओम् प्रतिगृह्णामि ॥[२]

इस वाक्य को बोलके वधू के हाथ से आसन ले, बिछा, उसपर सभामण्डप में पूर्वाभिमुख बैठके, वर—

ओं वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥[३]

इस मन्त्र को बोले।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भरके कन्या के हाथ में देवे और कन्या—

ओं पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥[४]

इस वाक्य को बोलके वर के आगे धरे[५]। पुनः वर—

गृह्यसूत्र के अनुसार सत्कार के लिए अपेक्षित 'आहरन्ति विष्टरं पाद्यं पादार्थमुदकमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कं दधिमधुघृतमविहितं कांस्ये कांस्येन'—कुशादि का आसन, पाद्य अर्थात् पैर धोने के लिए जल, मुँह धोने के लिए जल और कांसे के पात्र में कांसे से ढका मधुपर्क अर्थात् दही, शहद और घी लाते हैं। वस्तुतः ये सब पदार्थ आरम्भ में संकलित कर एकत्र रख लेने चाहिएँ।

शास्त्रीय विधान के अनुसार "अन्यांस्त्रिभिः प्राह विष्टरादीनि" (पार० १।३।७)—ग्रहण करनेवाले से भिन्न अर्चक (पिता) अथवा सहायक कार्यकर्त्ता आसन से लेकर मधुपर्क तक वस्तुओं को आदरार्थ तीन-तीन बार बोले, यथा 'विष्टरो विष्टरो विष्टरः'। कार्यकर्त्ता देय वस्तु को कन्या के हाथों में पकड़ाकर तीन बार उसका निर्देश करे। जब वह कह चुके तब कन्या वर की ओर हाथ बढ़ाकर 'प्रतिगृह्यताम्' कहते हुए दोनों हाथों से उस वस्तु को वर के हाथों में दे दे और वर 'प्रतिगृह्णामि' कहते हुए उसे ग्रहण करके अपेक्षित क्रिया करे। तदनुसार ही—

'विष्टरो विष्टरः—कन्या के ऐसा कहने पर कन्या के हाथों से आसन को ग्रहण करके—वर्ष्मोऽस्मि' इत्यादि मन्त्र का पाठ करे। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(समानानम्) अपने बराबरवालों में मैं (वर्ष्मोऽस्मि) श्रेष्ठ हूँ (उद्यताम्) जीवन में उभरनेवालों में मैं (सूर्यइव) सूर्य के समान तेजस्वी हूँ। (यः कश्च) जो कोई भी (मा अभिदासति) मुझे दबाएगा (इमं तं) उसे मैं इस आसन की तरह दबाने—अनुशासित करने में समर्थ हूँ।

पार० गृह्यसूत्र १।३।१० में इतना और लिखा है—"पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय" आसन पर बैठे हुए के आराम से बैठने के लिए दोनों पैरों को रखने के लिए एक और आसन दिया जाता

---

१. तुलना—पार० गृह्य० १।३।६॥

२. तुलना—पार० गृह्य १।३।७॥

३. पार० गृह्य० १।३।८॥

४. तुलना—पार० गृह्य० १।३।९॥

५. 'धरे' अर्थात् करे। देखो—आगे 'ओम् आचमनीयम्.....' से अगले वाक्य में—'सामने करे'।

ओम् प्रतिगृह्णामि ॥[१]

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से उदक ले पग-प्रक्षालन* करे। और उस समय—

ओं विरोजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥

इस मन्त्र को बोले।

तत्पश्चात् फिर भी कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भर कन्या के हाथ में देवे। पुनः कन्या—

ओम् अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम् ॥[२]

है। आसन के पश्चात् 'पाद्य' पैर धोने के लिए जल दिया जाता है। उसे कन्या से ग्रहण करके वर 'विराजो दोहोऽसि' मन्त्र को पढ़कर अपने पैर धोता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे जल! तू (विराजो) विविध प्रकार के प्रकाशमान पदार्थों का (दोहोऽसि) सार है। (विराजो दोहमशीय) ऐसे शोभायमान रस का मैं सेवन करूँ जो इस समय (मयि) मुझे (पाद्यायै) पैर धोने के लिए प्राप्त है।

ग्रन्थकार ने टिप्पणी में लिखा है—"यदि वर ब्राह्मणवर्ण हो तो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बायाँ और अन्य क्षत्रियादि वर्ण हो तो प्रथम बायाँ पग धोवे, पश्चात् दाहिना। पारस्करगृह्यसूत्र से इसकी पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है—'सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति, ब्राह्मणश्चेद् दक्षिणं प्रथमम्'' (१।३।११-१२)—बाएँ पैर को धोकर दाएँ को धोता है, यदि ब्राह्मण हो तो पहले दाएँ पैर को धोए। पैर धोने में भी जाति (वर्ण) भेद क्यों? यह विधि मध्यकाल में प्रचलित हुई प्रतीत होती है जब 'ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः' का नाद गूँजता था और '**सीयराममय सब जग जानी**' के उद्घोषक महात्मा तुलसी दास तक कहते थे—**पूजिय विप्र शीलगुणहीना। शूद्र न गुणगणज्ञानप्रवीना ॥**

अथवा ग्रन्थकार ने यह स्थापना समाज में ब्राह्मण को शीर्षस्थान प्राप्त होने के कारण की हो—"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्", "ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न च वैश्यः"। (अथर्व०) 'समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टम्' (ऋग्० १०।११७।९) 'कृतं मे दक्षिणे हस्ते', 'मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम' दोनों हाथ एक-जैसे होने पर भी समान काम नहीं करते। दाएँ हाथ में अधिक शक्ति होती है। खाना-पीना, लेना-देना, हाथ मिलाना, सैल्यूट करना, हाथ पकड़ना, लिखना, संकेत करना—सर्वत्र दाएँ हाथ का महत्त्व है। जब समस्त शरीर का संचालन मस्तिष्क से होता है तो समाज में उसके प्रतीक ब्राह्मण को दाएँ का महत्त्व दिया ही जाना चाहिए। इस प्रकार पहले दाएँ पाँव को धोना ब्राह्मण का आदर करना है। अन्य वर्णों के विषय में बाँया पैर धोने का विधान उनके ब्राह्मणानुवर्ती होने के कारण भी किया गया हो सकता है। पाद्य के पश्चात् अर्घ्यदान होता है। पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार—'षडर्घ्या भवन्ति—आचार्य ऋत्विग् वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति'। —१।३।१-२ ॥

छह व्यक्ति मधुपर्कादि विधि से सत्करणीय अर्थात् पूजा के योग्य होते हैं—श्रेष्ठ विद्या देनेवाला

---

* यदि घर का प्रवेशक द्वार पूर्वाभिमुख हो तो वर उत्तराभिमुख और वधू तथा कार्यकर्त्ता पूर्वाभिमुख खड़े रहके, यदि ब्राह्मण वर्ण हो तो प्रथम दक्षिण पग पश्चात् बायाँ और अन्य क्षत्रियादि वर्ण हो तो प्रथम बायाँ पग धोवे, पश्चात् दहना ॥ —द०स०

---

१. तुलना—पार० गृह्य० १।३।७॥ २. पार० गृह्य० १।३।१२॥

इस वाक्य को बोलके वर के हाथ में देवे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ।।[1]

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से जलपात्र लेके उससे मुखप्रक्षालन करे और उसी समय वर मुख धोके—

ओम् आप स्थ युष्माभिः सर्वान् कामानवाप्नवानि ।।

ओं समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत।

अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः ।।[2]

इन मन्त्रों को बोले। तत्पश्चात् वेदी के पश्चिम में बिछाये हुए उसी शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठे—

आचार्य, यज्ञीयविधि सम्पादन करनेवाला ऋत्विक्, विवाह के लिए आया हुआ वर, अभिषिक्त राजा, मित्रादि प्रियजन तथा स्नातक। इन अर्घ्यों के विषय में मतभेद है। शांख्यायनगृह्यसूत्र २।१५।१ तथा ४।२१।१ में नारायण ने 'वैवाह्य' का अर्थ श्वसुर किया है। उसी का अनुसरण करते हुए ओलडनवर्ग ने भी यह अर्थ कर दिया, किन्तु यह युक्तियुक्त नहीं है। पारस्करगृह्यसूत्र के सभी टीकाकारों ने वैवाह्य का अर्थ वर ही किया है। स्थल-प्रकरणादि के अनुसार यही संगत है।

विवाह संस्कार में यहाँ अर्घ्य (पूजा के योग्य) वर है और उसकी पूजा करनेवाला कन्या का पिता या उसके अभाव में जो कार्यकर्त्ता है वह अर्चक, अर्चयिता या अर्घयिता कहाता है। वर के मण्डप के द्वार पर आने पर सबसे पहले वही आसन मँगवाकर पूर्वाभिमुख खड़े वर से कहता है—'साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम्'। मुख प्रक्षालन के बाद 'आप स्थ युष्माभिः' इत्यादि मन्त्र पढ़ा जाता है। जिसका अर्थ है—(आपःस्थ) तुम जल हो (युष्माभिः सर्वान् कामान्) तुम्हारे द्वारा मैं सारी कामनाओं को (अवाप्नवानि) प्राप्त करूँ। (वः) तुम जलों को मैं (समुद्रं) आकाश में (प्रहिणोमि) भेजता हूँ। (स्वां योनिं) अपनी योनि, अर्थात् कारणभूत मेघ अथवा समुद्र में (अभिगच्छत) परिणत हो जाओ। (अस्माकं वीराः) हमारी वीर सन्तानें (अरिष्टाः) रोग और दुःखरहित हों। (पयः) मंगलकारी (मत्) मुझसे (मा परासेचि) दूर न हों—सदा उपलब्ध हों।

समुद्र का जल वाष्परूप होकर आकाश में पहुँचकर मेघरूप हो जाता है। वही वर्षा के द्वारा पृथिवी पर आकर नदी, नालों, कुओं और तालाबों से हमें प्राप्त होता है। पुनः वही धरती पर बहता हुआ समुद्र में जा पहुँचता है। फिर वहाँ से वाष्परूप हो आकाश में पहुँचकर बरसता है। इस प्रकार समुद्र और आकाश दोनों को जल की योनि=उद्गम कहा जा सकता है। 'आपः......भिषजां सुभिषक्तमाः'—समस्त रोगों की सर्वश्रेष्ठ ओषधि जल है, इस प्रकार के वचन वेदों में अनेकत्र उपल्बध हैं: वायु के बाद जल ही जीवन का आधार है, इसलिए प्रार्थना की गई है कि हमें जल का अभाव कभी न हो।

हरिहर तथा वासुदेव ने अर्घजल को सिर से अभिवादन करके भूमि पर डाल देने का विधान किया है, जबकि ग्रन्थकार ने उसका विनियोग मुख धोने में किया है। बाहर से आकर बैठे व्यक्ति के स्वागत-सत्कार के प्रसङ्ग में व्यवहार्य होने से यही अर्थ युक्तिसंगत है।

---

१. पार० गृह्य० १।३।५, १३॥

२. पार० गृह्य० १।३।१३, १४॥

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उपपात्र जल से पूर्ण भर, उसमें आचमनी रख, कन्या के हाथ में देवे और उस समय कन्या—

ओम् आचमनीयमाचमनीयमाचमनीयं प्रतिगृह्यताम्॥[१]

इस वाक्य को बोलके वर के सामने करे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि॥[२]

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ में से जलपात्र को ले, सामने धर, उसमें से दाहिने हाथ में जल, जितना अंगुलियों के मूल तक पहुँचे उतना लेके, वर—

ओम् आमागन् यशसा सꣳसृज वर्चसा।
तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम्॥[३]

इस मन्त्र से एक आचमन। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी बार इसी मन्त्र को पढ़के दूसरा और तीसरा आचमन करे।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता मुधपर्क+ का पात्र कन्या के हाथ में देवे। और कन्या—

ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्॥[४]

तत्पश्चात् आचमन के लिए जल को ग्रहण करके 'आमागन्' इत्यादि मन्त्र को पढ़कर तीन बार आचमन किया जाता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

हे जल! (मा) मुझे (यशसा आगन्) यशस्वी बनाओ (वर्चसा संसृज) मुझे तेज से युक्त करके तेजस्वी बनाओ। (तम् मा) उस मुझको (प्रजानां प्रियः) सन्तान का प्रिय और (पशूनां पतिः) पशुओं का स्वामी (कुरु) बनाओ। (तनूनाम् अरिष्टिम्) मेरे शरीरावयवों को नीरोग रक्खो। जल के व्याज से यह प्रार्थना परमेश्वर से की गई है—'अचेतनेष्वपि चेतनवद् व्यापारः।'

मधुपर्क—घर में आये सम्माननीय व्यक्ति के लिए गृहस्थ अच्छे-से-अच्छा भोजन देने का उद्योग करता है। मधुपर्क में मधु उपलक्षण है फल, फूल, शाक-पात एवं जंगल में उत्पन्न होनेवाले समस्त उत्तमोत्तम पदार्थों का और है भी सर्वोत्तम। ग्राम में उपलब्ध खाद्य-पदार्थों में, जो गृहस्थ-घर में मिल सकते हैं, उनमें सर्वोत्तम हैं—दूध, दही तथा घी और आस-पास के पेड़ों पर लगे मधुमक्खियों के छत्ते से प्राप्त मधु। इस प्रकार जंगल और घर में उपलब्ध होनेवाले सर्वोत्तम पदार्थों के संयुक्त प्रतिनिधि के रूप में मधुपर्क का ग्रहण किया जाता है। इसमें प्रयुक्त तीनों पदार्थों के आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित गुणों का उल्लेख हम जातकर्म संस्कार के अन्तर्गत कर आये हैं।

मधुपर्क से अधिक स्वास्थ्यप्रद, आयुवर्द्धक, बुद्धिवर्द्धक, सर्वरोगनिवारक और स्वादिष्ट पदार्थ

+ मधुपर्क उसको कहते हैं—जो दही में घी वा शहद मिलाया जाता है। उसका परिमाण—१२ [बारह] तोले दही में ४ [चार] तोले शहद, अथवा ४ [चार] तोले घी मिलाना चाहिए और यह मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है —द०स०

---

१. तुलना—पार० गृह्य० १।३।५-६॥
२. तुलना—पार० गृह्य० १।३।७॥
३. पार० गृह्य० १।३।१५॥
४. तुलना—पार० गृह्य० १।३।५-६॥

अन्य नहीं मिलेगा। मधुपर्क में दही, घृत और मधु के प्रयोग के सम्बन्ध में तैत्तिरीयब्राह्मण में लिखा है—

घृतञ्च वै मधु च प्रजापतिरासीत्। यतो मध्वासीत् ततः प्रजा असृजत।
यज्ञो वा आज्यं यज्ञेनैव यज्ञं प्रचरन्ति॥ —३।३।४॥

इस प्रकार मधुपर्क में मधु के साथ घृत मिलाने का अर्थ हुआ—प्रजा को यज्ञ से संयुक्त करना और जो सन्तान यज्ञ के साथ संयुक्त होगी वही माधुर्यगुण से युक्त होकर गुरुजनों का आदर करनेवाली, समवयस्कों से मिलकर रहनेवाली और छोटों से स्नेहसिक्त होकर उनका मार्गदर्शन करनेवाली और यज्ञानुष्ठान करनेवाली होगी। 'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु'—यह भाव वर को जताने के लिए मधुदधिघृतमिश्रित मधुपर्क दिया जाता है।

भोजन विशेषज्ञों का कहना है कि दीर्घजीवन के लिए दही से बढ़कर उत्तम पदार्थ दूसरा कोई नहीं है। जिन देशों के लोग केवल दही पर निर्वाह करते हैं, उनकी आयु प्रायः सौ वर्ष से अधिक होती है। कार्बोहाइड्रेट्स में शहद सर्वोत्तम खाद्य-पदार्थ है। घी प्राणशक्ति और आयुवृद्धि दोनों के लिए परम उपयोगी है—**'घृतं वै आयुः।'** इस दृष्टि से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवालों को इन तीन तत्त्वों से बने आदर्श खाद्य से परिचित कराया जाता है।

अन्तो वै रसानां यन्मधुः परमं वा एतदन्नाद्यं यन्मधुः।
ताण्ड्यब्राह्मणे ग्राम्यं वा एतदन्नं यद्दधि। आरण्यं मधुः।
यद्दध्ना मधुमिश्रेण पूरयत्युभयावयवरुद्ध्यै॥ —तै० संहिता ५।२।९॥

गृहस्थाश्रम में यह सर्वोत्कृष्ट आहार सबको सर्वदा उपलब्ध होना चाहिए।

मधुपर्क और गोमांस—सूत्रग्रन्थों और स्मृतियों में अनेकत्र मधुपर्क में शहद और दही के साथ गौ का रुधिर मिलाने और उसके लिए गोवध करने का उल्लेख हुआ है। कौशिकसूत्र ९२।१६ में लिखा है—"नालोहितो मधुपर्को भवति"—बिना रुधिर के मधुपर्क नहीं होता। आश्वलायनगृह्यसूत्र १।२४ के अनुसार "नामांसो मधुपर्को भवति"—बिना मांस के मधुपर्क नहीं होता। पारस्करगृह्यसूत्र १।३।२९-३० व गोभिलगृह्यसूत्र ४।१०।२१-२२ में भी मधुपर्क के समय गोवध का उल्लेख मिलता है। "अर्हयेत् प्रथमं गवा" (मनु० ३।३)—स्नातक का पहले गोदान से सत्कार करे। इसका कुल्लूकभट्ट ने यह अर्थ किया है कि "गोसाधनमधुपर्केणेति"— गोमांस द्वारा सिद्ध मधुपर्क से स्नातक का सत्कार करे। इस श्लोक के अर्थ का जो अनर्थ किया हुआ है उसके लिए देखें—काशी राजकीय संस्कृत पाठशाला के धर्मशास्त्राध्यापक गुलज़ार पण्डित की मनुस्मृति पर टीका—"गो को मारके उसके रक्त से मधुपर्क बनाके पूजन करे"—(मानवधर्मप्रकाश १८७८ ई० में लाजरस कम्पनी बनारस से दूसरी बार प्रकाशित)।

"महोक्षं महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्"—(याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय श्लोक १८) वेद पढ़े हुए ब्राह्मण के लिए बड़े बैल या बड़े बकरे को काटकर बनाये। वसिष्ठधर्मसूत्र (४।८) में भी ऐसा ही लिखा है। शांखायनगृह्यसूत्र में लिखा है—

"षण्णां चेदर्घ्याणामन्यतम आगच्छेद् गां पशुमजमन्नं वा यत्सामान्यतमं मन्येत तत्कुर्यान्नामांसोऽर्घः स्यादधियज्ञमधिविवाहं कुरुतेत्येव ब्रूयात्" —(शा० गृ० अ० २।खण्ड १५)—स्नातक, वर आदि

छह सत्करणीय, जो कहे हुए हैं, यदि उनमें से कोई एक भी घर पर आये तो गौ, बकरा या अन्न जिसे उचित समझे, उससे सत्कार करे, परन्तु इतना स्मरण रक्खे कि अर्घ्य=सत्कार मांस के बिना नहीं होता। यज्ञ और विवाह में वध्य पशु जब काटे जाने के लिए सामने आये तो अतिथि, जिसके सत्कार में उस पशु का वध होना है, आतिथ्यकर्त्ता को 'कुरुत'—काटो, ऐसा कहे''। ''कुरुतेति गवि प्राप्तायां ब्रूयात्'—(लाट्यायन श्रौतसूत्र १।२।१२)—जब गौ आ जाए तो कहे—हाँ, वध करो।''

मधुपर्के च सोमे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्यान्नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः॥

—कौशीतकिगृ० २।१६॥ वसिष्ठधर्मसूत्र ४।६॥

मधुपर्क, सोमयज्ञ, पितृयज्ञ तथा देवयज्ञ कर्मों में ही पशुहिंसन करना चाहिए, अन्यत्र नहीं, ऐसा मनु ने कहा है, और अन्त में—

''ब्रह्मणे मधुपर्कमाहारयति, गां वेदयन्ते, कुरुत इत्याह, तस्या दक्षिणमर्धं ब्राह्मणान् भोजयति सव्यं पितॄन्'' —(कौ० ८।३२-३५)।

ब्राह्मण के लिए मधुपर्क लाता है, गौ को प्राप्त कराते हैं, काटो, ऐसा कहता है। उस कटी हुई गाय का दायाँ आधा भाग ब्राह्मणों को खिलाये और बायाँ आधा भाग पितरों को।

इन पामर वाममार्गियों ने हमारे धर्मग्रन्थों में घृणित विधियों का प्रक्षेप करके उन्हें दूषित करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन वेदमन्त्रों को सूत्रग्रन्थों में गोवध के समय पढ़ना लिखा है, उनमें गोवध का विधान न होकर स्पष्ट निषेध लिखा है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागां अदितिं वधिष्ट॥ —ऋ० ८।१०६।१५॥

(हे मनुष्यो! यह गाय) रुद्र ब्रह्मचारियों की मातृवत् पूजनीय है, वसु ब्रह्मचारियों के लिए कन्यावत् पालनीय है और आदित्य ब्रह्मचारियों के लिए बहिन की तरह सत्करणीय है। यह गाय जो दुग्धरूपी अमृत की नाभि=स्रोत है, ज्ञानी मनुष्यों से मैं यही कहता हूँ कि इस निरपराध एवं अवध्य गाय का वध मत करो।

मनु कहते हैं—''गवार्थे ब्राह्मणार्थे च सद्यः प्राणान् परित्यजेत्''—गौ और ब्राह्मण की रक्षा के लिए तत्काल अपने प्राण न्योछावर कर दे। आश्चर्य है, उन्हीं ब्राह्मणों ने गोवध को प्रोत्साहन देने के लिए वाममार्गियों के साथ मिलकर शास्त्रों को दूषित कर दिया। वेदों में शतशः स्थानों पर गौ को 'अघ्न्या' कहा है जिसका अर्थ है—अहन्तव्या=जिसे किसी भी अवस्था में नहीं मारा जा सकता, यहाँ तक कि गोहत्यारे के लिए मृत्युदण्ड का विधान किया गया है—

(क) **अन्तकाय गोघातकम्**—यजुः०—गोहत्यारे को मार डालो।

(ख) **यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।**
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसोऽवीरहा॥ —अथर्व०

यदि कोई हमारी गाय, घोड़े अथवा मनुष्य को मारेगा तो हम उसे गोली से उड़ा देगें, जिससे कोई हमारे वीरों का नाश न कर सके।

गाय और घोड़े ही नहीं, वेद पशुमात्र की हत्या का निषेध करता है। तद्यथा—

ऐसी विनती वर से करे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि॥

इस वाक्य को बोलके कन्या के हाथ से ले और उस समय—

ओं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे॥[१]

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोलके मधुपर्क को अपनी दृष्टि से देखे। और—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि॥[२]

इस मन्त्र को बोलके मधुपर्क के पात्र को वाम हाथ में लेवे और—

१—**पशून् पाहि**—यजुः० १।१ सब पशुओं की रक्षा करो।

२—**अजां मा हिंसीः**—बकरी को मत मार।

३—**अविं मा हिंसीः**—भेड़ को मत मार।

४—**इमं मा हिंसीः द्विपादं पशुम्**—दोपायों को मत मार।

५—**मा हिंसीरेकशफं पशुम्**—घोड़े आदि एक खुरवाले पशु को मत मार।

६—**मा हिंस्याः सर्वा भूतानि**—किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।

बिना हिंसा के न रक्त मिल सकता है और न मांस। जब प्राणिमात्र की हिंसा का वेद में निषेध है तो वैदिक यज्ञ में, संस्कार में या किसी भी कार्य में मांसादि का प्रयोग कैसे हो सकता है? इसलिए मधुपर्क में मांसमात्र का विधान सम्भव नहीं।

मित्रस्य त्वेति—खाद्य-पदार्थ को यदि प्रेम=रुचि की दृष्टि से प्रसन्नतापूर्वक नहीं देखा जाएगा तो वह अंग नहीं लगेगा, अर्थात् उससे शरीर का यथावत् पोषण नहीं होगा। जिस पदार्थ में मनुष्य की रुचि होती है वह न केवल अधिक स्वादिष्ट लगेगा, उसके खाने से होनेवाली तृप्ति और प्रसन्नता के कारण उससे बल और स्फूर्ति भी मिलेगी। कहा जाता है कि आवेश और क्रोध में खाया भोजन तो विष बन जाता है। इस तथ्य को हृदयङ्गम कराने के लिए इन सीखतड़ गृहस्थों को भोजन को मित्रभाव से देखने और लेने-देने की प्रेरणा की जा रही है।

भावी पत्नी के हाथ से मधुपर्क को ग्रहण करके उसे मित्र की दृष्टि से देखते हुए वर 'देवस्य त्वा' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करके बायें हाथ में ले ले। उस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

हे मधुपर्क! मैं (त्वा) तुझको (सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक प्रभु के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए जगत् में (अश्विनोः बाहुभ्यां) सूर्य और चन्द्र की तीक्ष्ण और शीतल किरणरूप बाहुओं से तथा (पूष्णः) पोषक पृथिवी के (हस्ताभ्याम्) धारण तथा आकर्षणरूपी हाथों से, अर्थात् उपर्युक्त गुणों से युक्त होकर (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूँ।

यह आलंकारिक काव्यात्मक कथन है जिसका अभिधेयार्थ है कि जैसे भगवान् सूर्य को थाम-कर सृष्टि को जीवन देता है, वैसे ही मैं इस मधुपर्क का सेवन करता हुआ अपने आपको स्वस्थ एवं दीर्घजीवी बनाने का प्रयत्न करूँगा।

तत्पश्चात् तीन मन्त्रों से मधुपर्क का अवलोकन करने का निर्देश किया गया है। इस विषय

---

१. पार० गृह्य० १।३।१६॥ काण्वस० २।३।४॥ स्वरचिह्न हमने दिये हैं।

२. द्र०—पार० गृह्य० १।३।१७॥ यजुः० १।१०॥ 'प्रतिगृह्णामि' पदरहित पाठ। स्वरचिह्न हमने दिये हैं।

ओं भूर्भुवः स्वः। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥ १॥
ओं भूर्भुवः स्वः। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥ २॥
ओं भूर्भुवः स्वः। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ ३॥[1]

इन ३ [तीन] मन्त्रों से मधुपर्क की ओर अवलोकन करे।

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि॥[2]

इस मन्त्र को पढ़, दाहिने हाथ की अनामिका और अंगुष्ठ से मधुपर्क को तीन बार बिलोवे और उस मधुपर्क में से वर—

में पार० १।३।२२ में लिखा है—"मधुमतीभिर्वाप्रत्यृचम्"—वा=अथवा मधुमतीसंज्ञक तीन ऋचाओं में से एक-एक ऋचा बोलकर मधुपर्क अवलोकन कर मधुपर्क का प्राशन करे। ग्रन्थकार ने 'नमः श्यावास्याय' से पूर्व इन ऋचाओं की मधुपर्क अवलोकन में अनिवार्यता कर दी है। ये ऋचाएँ वेद की होने से उन्होंने इनके लिए विकल्प को समाप्त कर दिया है। यहाँ उनका पाठ व्याहृतियों सहित दिया है। यजुर्वेदभाष्य के अनुसार इन ऋचाओं का ऋषिकृत अर्थ इस प्रकार है—

मधु वाता०—जैसे वसन्तऋतु में (नः) हम लोगों के लिए (वातः) वायु (मधु) मधुरता के साथ (ऋतायते) जल के समान चलते हैं (सिन्धवः) नदियाँ वा समुद्र (मधु) कोमलतापूर्वक (क्षरन्ति) बरसते हैं, वैसे ही (ओषधीः) ओषधियाँ (माध्वीः) मधुर रस के गुणों से युक्त हों।

मधु नक्तम्०—जैसे वसन्तऋतु में (नक्तम्) रात्रि (मधु) कोमलता से युक्त (उत) और (उषसः) उषा=प्रातःकाल से लेकर दिन मधुर (पार्थिवम्) पृथिवी का (रजः) द्व्यणुक वा त्रसरेणु आदि (मधुमत्) मधुर गुणों से युक्त हैं वैसे ही (द्यौः) प्रकाश भी (मधु) मधुरतायुक्त हो।

मधुमान्नो०—जैसे वसन्तऋतु में (नः) हमारे लिए (वनस्पतिः) पीपल आदि वनस्पति (मधुमत्) प्रशंसित गुणोंवाले हैं, वैसे ही (सूर्यः) भी (मधुमान्) कोमलतायुक्त (अस्तु) होवे और (नः) हमारे लिए (गावः) गौओं के समान (माध्वीः) कोमलता गुणोंवाली किरणें (भवन्तु) हों।

खाने से पहले खाद्य-पदार्थ को अच्छी तरह देख लेना चाहिए जिससे अनजाने में कोई अभक्ष्य वस्तु मुँह में न चली जाए। इसके महत्त्व को ध्यान में रखते हुए शास्त्र ने निर्देश किया है कि मधुपर्क को बाएँ हाथ में थामकर दाएँ हाथ की अनामिका (सबसे छोटी अंगुली के पासवाली) और अंगूठे से तीन बार बिलोते हुए उसमें दृष्ट अवांछनीय तत्त्व को निकाल बाहर करे। ऐसा करते हुए पढ़े जानेवाले मन्त्र का अर्थ है—

नमः श्यावास्याय०—(श्यावास्याय) श्याव=कपिश अर्थात् भूरे या पीले मुखवाली जठराग्नि के लिए यह मधुपर्क (नमः) अन्नरूप है। (यत्) जो (आविद्धम्) तिनका आदि अखाद्य-पदार्थ मिल गया हो, उसे (ते) तेरे अन्दर से (निष्कृन्तामि) निकालता हूँ। यहाँ यज्ञाग्नि में आहुति का प्रसङ्ग न होकर खाद्य-पदार्थ का विषय होने से 'श्यावास्य' का अर्थ पित्तरूपी पीले रंगवाली जठराग्नि ही प्रकरणानुकूल होने से संगत है, कपिश=भूरे-काले रंगवाली भौतिक अग्नि नहीं।

अपस्वार्थी लोग पशुवत् अपने ही पेट की चिन्ता करते हैं और भोजन के सामने आते ही चुपचाप

---

१. यजुर्वेद १३।२७-२९॥ व्याहृतियाँ छोड़कर मन्त्रपाठ।

२. पार० गृह्य० १।३।१८॥

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण च्छन्दसा भक्षयन्तु॥[1]

इस मन्त्र से पूर्व दिशा।

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु॥[2]

इस मन्त्र से दक्षिण दिशा।

ओम् आदित्यास्त्वा जागतेन च्छन्दसा भक्षयन्तु॥[2]

इस मन्त्र से पश्चिम दिशा। और—

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु॥[2]

इस मन्त्र से उत्तर दिशा में थोड़ा-थोड़ा छोड़े, अर्थात् छींटे देवे।

खाने लग जाते हैं। ब्रह्मचर्यकाल में मनुष्य की प्रवृत्तियों का केन्द्र 'स्व' ही होता है—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। गृहस्थ बनने पर उसके 'स्व' का विस्तार होता है और माता-पिता, बहिन-भाई आदि बन्धु-बान्धव, पड़ोसी, ग्रामवासी, देशवासी—क्रमशः सभी उसके 'स्व' के अन्तर्गत आ जाते हैं और एक दिन उसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना उभरती है। इस प्रवृत्ति का आरम्भ प्रतीक के रूप में विवाह के अवसर पर मधुपर्क की क्रिया के द्वारा होता है।

अभी तक उसके परिचय का क्षेत्र गुरुकुल में पढ़ रहे अपने छोटे-बड़े साथियों, अर्थात् ब्रह्मचारियों तक सीमित था। अबतक वही उसके निकटतम और घनिष्ठतम थे। उन्हें वह अभी भूला नहीं है। इसलिए मधुपर्क खाने से पूर्व उनका स्मरण करते हुए प्रतीकरूप में वह चारों ओर छींटे देता है। इस प्रकार संस्कार के माध्यम से ब्रह्मचारी से गृहस्थ बन रहे (Brahmachari turned house-holder) को यह प्रेरणा दी जा रही है कि गृहस्थ को स्वयं खाने से पूर्व वसु, रुद्र तथा आदित्य कोटि के ब्रह्मचारियों, अन्य विद्वानों, अतिथियों आदि को खिलाना चाहिए। 'भूतेभ्यस्त्वा' कहकर तीन बार ऊपर की ओर फेंकने का तात्पर्य ज्ञात-अज्ञात, थलचर, जलचर तथा नभचर सभी प्राणियों को देना प्रतीत होता है। वेद में पढ़ा हुआ उसे स्मरण है—'केवलाघो भवति केवलादी।'

एक वेद में पारङ्गत (गृहस्थ में प्रवेश पानेवाले की न्यूनतम योग्यता) ब्रह्मचारी 'वसु' कहलाता है, ३६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला 'रुद्र' और ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करनेवाला 'आदित्य' कहलाता है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र में लिखा है—''ब्राह्मणायोदङ्ङुच्छिष्टं प्रयच्छेदलाभेऽप्सु'' (आश्व० १।२४।१९)—उत्तर की ओर मुख करके बैठा हुआ मधुपर्कभोजी अपना उच्छिष्ट मधुपर्क ब्राह्मण को दे दे। ब्राह्मण के अभाव में इसे जल में डाल देवे। ब्राह्मण जैसे पूजनीय पुरुष को जूठा खिलाना निश्चय ही पाप है।

ऐसा ही गोभिलगृह्यसूत्र (४।१०।१६) में लिखा है—''भूय एवाभिपाये शेषं ब्राह्मणाय दद्यात्''—चार बार पीने पर भी यदि मधुपर्क न घटे, तो पाँचवी बार पीवे और भोजन से बचे हुए मधुपर्क को ब्राह्मण को देवे।

इस सबका यही आशय है कि उच्छिष्ट मधुपर्क ब्राह्मण को दे देना चाहिए।

---

१. आश्व० गृह्य० १।२४।१४॥

२. आश्व० गृह्य० १।२४।१५॥

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि ॥[१]

इस मन्त्रस्थ वाक्य को बोलके पात्र के मध्य भाग में से लेके ऊपर की ओर तीन बार फैंकना[२]। तत्पश्चात् उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन काँसे के पात्रों में धर, भूमि में अपने सम्मुख तीनों पात्र रक्खे। रखके—

ओं यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यम्।
तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि ॥[३]

इस मन्त्र को एक-एक बार बोलके एक-एक भाग में से वर थोड़ा-थोड़ा प्राशन करे वा सब प्राशन करे। जो उन पात्रों में शेष उच्छिष्ट मधुपर्क रहा हो, वह किसी अपने सेवक को देवे वा जल में डाल देवे। तत्पश्चात्—

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥[४]
ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥[५]

इन दो मन्त्रों से दो आचमन, अर्थात् एक से एक और दूसरे से दूसरा वर करे। तत्पश्चात् वर पृष्ठ ५५-५६ में लिखे प्रमाणे चक्षुरादि इन्द्रियों का जल से स्पर्श करे।[६] पश्चात् कन्या—

ओं गौर्गौर्गौः प्रतिगृह्यताम् ॥[७]

यहाँ उच्छिष्ट का अर्थ खाने से बचा शुद्ध मधुपर्क नहीं माना जा सकता, क्योंकि पारस्करगृह्यसूत्र में लिखा है—उच्छिष्ट मधुपर्क पुत्र या शिष्य को दे देवे। उसी प्रकरण में पारस्करगृह्य० के टीकाकार जयराम लिखते हैं—"मधुपर्के च सोमे च नोच्छिष्टो भवति द्विजः"—मधुपर्क और सोमयज्ञ में द्विज जूठा नहीं होता। इस वाक्य से भी स्पष्ट है कि वहाँ उच्छिष्ट का अर्थ जूठा ही है, बचा हुआ शुद्ध नहीं। प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने इसमें ब्राह्मण का अपमान समझकर 'यह उच्छिष्ट सेवक को देवे' ऐसा लिख दिया, परन्तु मनु ने तो स्पष्टतः किसी को भी जूठा देने का निषेध किया है—"नोच्छिष्टं कस्यचिद्द्यात्"। इसलिए केवल जल में ही डालना उचित है। यहाँ उच्छिष्ट का अर्थ जूठा ही है, बचा हुआ नहीं, क्योंकि उसके लिए उच्छिष्ट से पहले 'शेष' शब्द विद्यमान है।

यन्मधुनो—(मधुनः) मधु का (यत्) जो (मधव्यं) माधुर्ययुक्त (परमं) परमोत्कृष्ट (अन्नाद्यम्) भक्षण करने योग्य (रूपं) रूप है (तेन मधव्येन) उस माधुर्ययुक्त (परमेण रूपेण) परमोत्कृष्ट रस से (अहम्) मैं (परमः) सर्वाधिक (मधव्यः) माधुर्ययुक्त (अन्नादः) अन्न का खानेवाला (असानि) होऊँ।

यहाँ अन्न से मनुष्य का स्वाभाविक भोजन अभिप्रेत है और वह अन्न=भोजन है—मुख्यतः '**पयः पशूनां रसमोषधीनाम्**'। प्रकारान्तर से वर यहाँ मांसाहार न करके शाकाहार करने की घोषणा कर रहा है।

गोदान—गृहस्थी के लिए गौ कितनी आवश्यक है, इसे प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य सहज ही

---

१. आश्व० गृह्य० १।२४।१५॥ 'परिगृह्णामि' यह अध्याहृत पद है।

२. आश्व० गृह्यटीकाकार के अनुसार 'भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि' मन्त्र तीन बार उच्चारण करके तीन बार छिटकने का विधान है।

३. पार० गृह्य० १।३।२०॥ ४. आश्व० गृह्य० १।२४।२१॥ 'स्वाहा' पदरहित पाठ।

५. आश्व० गृह्य० १।२४।२२॥ 'स्वाहा' पदरहित पाठ।

६. '**ओं वाङ् मे आस्येऽस्तु**' आदि मन्त्रों से। ७. तुलना—पार० गृह्य० १।३।२६॥

इस वाक्य से वर की विनती करके अपनी शक्ति के योग्य वर को गोदानादि द्रव्य, जोकि वर के योग्य हो, अर्पण करे। और वर—

ओं प्रतिगृह्णामि ।।[१]

इस वाक्य से उसको ग्रहण करे। इस प्रकार मधुपर्क विधि यथावत् करके, वधू और कार्यकर्त्ता वर को सभामण्डपस्थान* से घर में ले-जाके शुभ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठाके, वर के सामने पश्चिमाभिमुख वधू को बैठावे और कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठके—

[कन्या-प्रतिग्रहण-विधि]

ओम् अमुक § गोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नीम् ‡ अलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान् ।।

इस प्रकार बोलके वर का हाथ चत्ता, अर्थात् हथेली ऊपर रखके, उसके हाथ में वधू का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखना, और वर—

ओम् प्रतिगृह्णामि ।। ऐसा बोलके—

अनुभव कर सकता है। प्राचीन काल में प्रत्येक गृहस्थ के घर में एक गाय अवश्य रहती थी। इसलिए उनके यहाँ वह उत्तम आहार मिलता था जो आज बड़े नगरों में रहनेवाले बड़े-बड़े लोगों को मिलना कठिन हो रहा है। यह अमूल्य दहेज है जो एक पिता अपनी पुत्री को विवाह के समय अनिवार्य रूप से देता था। पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार गौ को ग्रहण करते समय माता 'रुद्राणाम्' इत्यादि मन्त्र बोलता है और सत्कर्ता को विश्वास दिलाता है कि मैं इस गाय की प्राणपण से रक्षा करूँगा, क्योंकि यह गाय सारे समाज से जुड़ी है। इसके दुग्धादि से प्राणों की शक्ति बढ़ती है और वसु आदि ब्रह्मचारी अपने व्रत का पालन करने में समर्थ होते हैं। आज-कल गौ न देकर उसके बदले प्रतीकरूप कुछ रूपये देकर रस्म पूरी की जाती है। यह प्रथा दूर होनी चाहिए।

कन्यादान—हमारे विचार में गोदान से पहले कन्यादान होना चाहिए। कन्यादान के द्वारा पिता अपनी पुत्री को वर के हाथों में सौंपता है और वर उसे स्वीकार करता है। तब दोनों का पति-पत्नी के रूप में सम्बन्ध होकर गृहस्थ की नींव रक्खी जाती है। इस सम्बन्ध के प्रतीकरूप में कन्या की ओर से वर को गौ और वर की ओर से कन्या को वस्त्र प्रदान किये जाते हैं। जबतक सम्बन्ध नहीं होता तबतक परस्पर लेने-देने का कोई औचित्य नहीं बनता। पौराणिक पद्धति में गोदान पुरोहित के लिए किया जाता है और वही उसे ग्रहण करता है। पुरोहित के प्रति पूज्यभाव होने से विवाह की पहली क्रिया कन्यादान का आरम्भ पुरोहित को सत्कृत करके की जाती है, किन्तु वैदिक पद्धति में गौ वर को दी जाती है। इसलिए गोदान तब होना चाहिए जब वर कन्या को विधिवत् स्वीकार कर ले। सम्बन्ध हो जाने पर वर का कन्या को वस्त्र प्रदान करना समीचीन है। यह एक मौलिक विचार है, अतः इसपर और विचार अपेक्षित है।

---

* यदि सभामण्डप स्थापन न किया हो तो जिस घर में मधुपर्क हुआ हो, उससे दूसरे घर में वर को ले-जावे ।। —द०स०

§ अमुक इस पद के स्थान में जिस गोत्र और कुल में वधू उत्पन्न हुई हो उसका उच्चारण, अर्थात् उसका नाम लेना ।। —द०स०

‡ "अमुकनाम्नीम्" इस स्थान पर वधू का नाम द्वितीया विभक्ति के एकवचन से बोलना ।। —द०स०

---

१. द्र०—पृ० २५१, टि० १ ।।

कन्यादान का स्वरूप—दान का अर्थ है—'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादनं दानम्', अर्थात् देय वस्तु पर अपना अधिकार त्यागकर उसे दूसरे के अधिकार में दे देना। क्या कन्या भी इसी प्रकार से दे दी जाती है? निश्चय ही अन्य पदार्थों की भाँति कन्यादान का स्वरूप स्वस्वत्वनिवृतिपूर्वक परस्वत्वापादन नहीं है, क्योंकि कन्यादान के पश्चात् भी न तो स्वत्वनिवृत्ति ही होती है और न ही कन्या गाय-बैल की तरह ऐसी सम्पत्ति है जिसका इस प्रकार दान किया जा सके। यदि कन्यादान के पश्चात् स्वत्वनिवृत्ति हो जाती तो फिर लोक में मेरी पुत्री, मेरी बहिन, मेरी धेवती, मेरी भानजी, मेरी भतीजी आदि व्यवहार कन्या के विषय में नहीं होने चाहिएँ थे, क्योंकि जब कन्या ही अपनी नहीं रही तो उसकी सन्तान के साथ अपनापन कैसे रह सकता है? परन्तु कन्या के विषय में इस प्रकार के प्रयोग देर तक और दूर तक (मेरा परधेवता) चलते रहते हैं। पारस्करगृह्यसूत्र के १।४।१६ सूत्र पर भाष्य करते हुए प्रसिद्ध पण्डित गदाधर लिखते हैं—

''स्वत्वत्यागपूर्वकं हि परस्वत्वापादनं दानम् न च कथंचिदप्यस्वकन्या कर्त्तुं शक्यते, नापि परस्य कन्या भवति विवाहोत्तरमपि ममेयं कन्या कन्येत्यभिधानात्। अत्र गौणो ददाति।''

अर्थात् स्वत्व त्यागपूर्वक परस्वत्वापादन दान है, परन्तु स्वकन्या किसी प्रकार से स्वकन्या न रहे, ऐसा नहीं किया जा सकता और न ही कन्या दूसरे की हो जाती है, यत: विवाहोपरान्त भी 'यह मेरी कन्या है' इस कथन से। इसलिए विवाह-संस्कार में कन्या के लिए दान शब्द का गौण प्रयोग जानना चाहिए।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (६।१३।१०) में लिखा है—''यथादानं क्रयविक्रयधर्माश्चापत्यस्य न विद्यते''—अन्य वस्तुओं की भाँति कन्या का दान नहीं होता, क्योंकि शास्त्र सन्तान के क्रय-विक्रय का निषेध करता है।

इसपर हरदत्त मिश्र अपनी उज्ज्वला टीका में लिखते हैं—''विश्वजिति च सर्वस्वदाने गवादिवदपत्यं न देयमिति'', अर्थात् विश्वजित् यज्ञ में यजमान सर्वस्व दान करते समय गाय-बैल की तरह अपनी सन्तान का दान न करे, क्योंकि सन्तान का क्रय-विक्रय नहीं होता।

कन्या के साथ दान शब्द मुख्यार्थ में कहीं भी प्रयुक्त नहीं होता। मनुस्मृति में दान शब्द ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य विवाह में उसके भरण-पोषण तथा उसकी मान-मर्यादा की रक्षार्थ दायित्व सौंपने एवं सख्यभाव से परस्पर मिलकर गृहस्थाश्रम में रहते धर्माचरणपूर्वक धनोपार्जन कर उसका उपभोग करने तथा प्रजोत्पादन करने की अनुमति देने के अर्थ में ही आया है, जैसाकि वैखानसगृह्यसूत्र में पढ़े गये ब्राह्मादि विवाहों के सङ्कल्प से स्पष्ट होता है—

अस्य सहधर्मचारिणी भवतीति ब्राह्मे विवाहे धर्मप्रजासम्पत्यर्थम्। यज्ञापत्यर्थम्। ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थम्। प्रजासहत्वकर्मभ्यो ददामीति उदकेन तां दद्यात्॥ —३।२॥

अन्वयार्थ—ब्राह्मविवाह में यज्ञानुष्ठानादि धर्माचरण, प्रजोत्पादन तथा गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्यों में सहयोग के लिए, दैव में धर्माचरण, प्रजोत्पादन एवं धनोपार्जनादि गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्यों में सहयोग के लिए, आर्ष में यज्ञानुष्ठानादि पुण्यकर्म, सन्तानोत्पत्ति तथा गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्यों में सहयोग के लिए, प्राजापत्य में ब्रह्मयज्ञादि के अनुष्ठान, देव, ऋषि और पितरजनों की सेवा-शुश्रूषा, सन्तानोत्पत्ति तथा गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्यों में सहयोग के लिए धर्मपत्नी के रूप में अपनी

[कन्या को वस्त्र-प्रदान]

ओं जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवा कृष्टीनामभिशस्तिपावा।
शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥[१]

इस मन्त्र को बोलके वधू को उत्तम वस्त्र देवे। तत्पश्चात्—

ओं या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ।
तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥[२]

इस मन्त्र को बोलके वधू को वर उपवस्त्र देवे। वह उपवस्त्र को यज्ञोपवीतवत् धारण करे।

पुत्री आपको सौंपता हूँ—ऐसा कहकर उदक प्रदानपूर्वक कन्या वर को सौंपे।

कन्यादान का अभिप्राय व्यक्त करते हुए आचार्य शौनक कहते हैं—"कन्यां सहत्व कर्मभ्यः करोति प्रतिपादनम्", अर्थात् परस्पर मिलकर प्रजोत्पादन तथा श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करने के लिए पिता अपनी पुत्री वर को सौंपता है।

उपर्युक्त सन्दर्भों से स्पष्ट हो जाता है कि कन्या स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक गोवृषादिवत् या दास-दासीवत् वर को नहीं दी जाती, वरन् गृहस्थाश्रम के दायित्वों को निभाने के लिए एक सहयोगी के रूप में दी जाती है। कन्यादान की वर्त्तमान दूषित भावना पौराणिक काल की देन है।

कन्यादान का परिभाषित अर्थ—

कन्या पिता के परिवार में प्रायः न्यूनतम १६-१७ वर्ष तक रही। इस बीच वह माता-पिता, भाई-बहिन, सखी-सहेलियों का भरपूर प्यार पाती रही। विवाह-संस्कार के पश्चात् वह उन सबसे दूर पति के घर चली जाएगी। इस दुःखद चिरकालीन विदाई के समय परिवार के सभी सदस्य, सखी-सहेली आदि अपनी प्रेमभरी भेंट उसे भेंट करते हैं। वास्तव में इसे 'कन्यादान' कहा जा सकता है—'कन्यायै दानमिति कन्यादानम्'। विवाह के अवसर पर कन्या को मिलनेवाली यह सम्पूर्ण राशि कन्या-धन होता है। पुरोहित लोग कन्यादान के नाम से ही यह धन कन्या को दिलवाते हैं, अतः कन्या के लिए दिये भेंटस्वरूप धन का ही मुख्य अथवा परिभाषित नाम कन्यादान है।

(जरां गच्छ)—युवावस्था को भोगकर वृद्धावस्था को प्राप्त कर, अर्थात् दीर्घजीवी हो, (वासो परिधत्स्व) वस्त्र धारण करो (कृष्टीनाम्) कामी लोगों के बीच (अभिशस्तिपावा) पाप से अपनी रक्षा करो (सुवर्चाः) तेजस्विनी होकर (शतं च शरदः जीव) सौ वर्ष तक जियो (रयिं पुत्रान् च) धन और सन्तानों को (अनु संव्ययस्व) शास्त्रीय विधान के अनुसार प्राप्त करो (आयुष्मति) हे आयुष्मति! (वासः) वस्त्रों को (परिधत्स्व) धारण करो।

या अकृन्तन्—(याः देवीः) जिन देवियों ने इन वस्त्रों का सूत (अकृन्तन्) काता है (च) और (याः अवयन्) जिन देवियों ने बुना है (याः अतन्वत) जिन्होंने ताना है (च याः) और जिन्होंने (अभितः) चारों ओर से (तन्तून् ततन्थ) तन्तुओं को गूँथा है, ईश्वर करे (ताः देवीः) वे देवियाँ तुम्हें इसी प्रकार (जरसे) वृद्धावस्था तक (संव्ययस्व) वस्त्र पहनाती रहें। (आयुष्मति) दीर्घावस्था तक (इदं वासः) इसी प्रकार के वस्त्र (परिधत्स्व) पहनती रहो।

निश्चय ही, जब इस सूत्र की रचना हुई थी तब कुटीर उद्योग के रूप में स्त्रियाँ सूत कातने,

---

१. पार० गृह्य० १।४।१२॥ २. पार० गृह्य० १।४।१३॥

[वर का वस्त्र-परिधान]

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥[१]

इस मन्त्र को पढ़के वर आप अधोवस्त्र धारण करे और—

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती।
यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥[२]

इस मन्त्र को पढ़के द्विपट्टा धारण करे।

[विवाहकर्म की तैयारी]

इस प्रकार वधू वस्त्र-परिधान करके जबतक सँभले, तबतक कार्यकर्त्ता अथवा दूसरा कोई यज्ञमण्डप में जा कुण्ड के समीपस्थ हो पृष्ठ ५६-५७ में लिखे प्रमाणे ईंधन और कर्पूर वा घृत से कुण्ड के अग्नि को प्रदीप्त करे और आहुति के लिए सुगन्ध डाला हुआ घी बटलोई में करके कुण्ड के अग्नि पर गरम कर, कांसे के पात्र में रक्खे और स्रुवादि होम के पात्र तथा जलपात्र इत्यादि सामग्री यज्ञकुण्ड के समीप जोड़कर रक्खे।

और वरपक्ष का एक पुरुष शुद्ध वस्त्र धारण कर, शुद्ध जल से पूर्ण एक कलश को लेके यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर, कुण्ड के दक्षिणभाग में उत्तराभिमुख हो कलशस्थापन, अर्थात् भूमि पर अच्छे प्रकार अपने आगे धरके जबतक विवाह का कृत्य पूरण न हो जाए, तबतक उत्तराभिमुख बैठा रहे।

ताना लगाने, कपड़ा बुनने, चारों ओर किनारी या गोट लगाने, किनारे गूँथने आदि कार्यों को करते हुए वधू के उज्ज्वल भविष्य तथा दीर्घ जीवन की कामना किया करती थी तथा विवाह आदि विशेष अवसरों पर घर के कते और घर के बुने वस्त्र भेंट किये जाते थे। विशेष अवसरों पर दिये जाने से यह भी प्रतीत होता है कि कलात्मकता की दृष्टि से भी वे वस्त्र अत्यन्त आकर्षक होते थे।

परिधास्यै—(परिधास्यै) शरीर को ढकने के लिए (यशोधास्यै) यश पाने के लिए (दीर्घायुत्वाय) लम्बी आयु प्राप्त करने के लिए (जरदष्टिरस्मि) मैं वृद्धावस्था तक जीना चाहता हूँ। (पुरूची) आगे-आगे बढ़ते जाने के लिए (शतं शरदः जीवामि) मैं सौ वर्ष तक जीना चाहता हूँ। (रायः पोषम्) धन और पोषण को (अभि संव्ययिष्ये) मर्यादा में रखूँगा।

यशसा मा—(मा) मुझे (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी से=चारों ओर से (यशसा प्रतिपद्यताम्) यश मिले। (इन्द्राबृहस्पती) धनवालों और ज्ञानवालों दोनों से (यशः भगश्च) यश और ऐश्वर्य (प्रतिपद्यताम्) प्राप्त हो।

कलश और दण्ड लेकर बैठना किसी आकस्मिक दुर्घटना की स्थिति में सावधानी बरतने की दृष्टि से है। बड़ा यज्ञ है। यदि कहीं किसी के कपड़े या शामियाने आदि में आग लग जाए तो उस समय पानी के लिए दौड़ना न पड़े। इसलिए एक व्यक्ति जल-भरा घड़ा लेकर आद्योपान्त बैठा रहता है। परिक्रमा के समय तनिक-सी असावधानी होने पर हवनकुण्ड की अग्नि से स्पर्श होने का भय रहता है। इसलिए परिक्रमाओं में वह व्यक्ति घड़ा उठाकर वर-वधू के साथ-साथ चलता है। इसी

---

१. पार० गृह्य० २।६।२०॥
२. द्र०—पृ० २०५, टि० ५॥

और उसी प्रकार वर के पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड लेके कुण्ड के दक्षिणभाग में कार्य-समाप्ति-पर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे।

और इसी प्रकार सहोदर वधू का भाई अथवा सहोदर न हो तो चचेरा भाई, मामा का पुत्र अथवा मौसी का लड़का हो, वह चावल वा जुवार की धाणी और शमी वृक्ष के सूखे पत्ते इन दोनों को मिलाकर शमीपत्रयुक्त धाणी की ४ [चार] अञ्जलि एक शुद्ध[१] सूप में रखके धाणीसहित सूप लेके यज्ञकुण्ड के पश्चिमभाग में पूर्वाभिमुख बैठा रहे।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता एक सपाट शिला, जोकि सुन्दर, चिकनी हो उसको तथा वधू और वर को कुण्ड के समीप बैठाने के लिए दो कुशासन वा यज्ञिय तृणासन अथवा यज्ञिय वृक्ष की छाल के जोकि प्रथम से सिद्ध कर रक्खे हों, उन आसनों को रखवावे।

[वर-वधू का यज्ञमण्डप में आगमन]

तत्पश्चात् वस्त्र धारण की हुई कन्या को कार्यकर्त्ता वर के सम्मुख लावे और उस समय वर और कन्या—

ओं सम॑ञ्जन्तु विश्वे॑ दे॒वाः समापो॒ हृद॑यानि नौ।
सं मा॒त॒रिश्वा॒ सं धा॒ता सम॒ु देष्ट्री॑ दधातु नौ *॥[२]

प्रकार अचानक किसी कुत्ते-बिल्ली के चले आने पर उसे भगाने में दण्डा सहायक होता है।

लाजाहोम कौन करे? इस विषय में पारस्करगृह्यसूत्र (१।६।१) में लिखा है—

"कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्रांल्लाजानञ्जलिनाञ्जलावावपति"—कुमारी का भाई शमी के पत्ते मिली धान या ज्वार की खीलों को अपनी अञ्जलि से अपनी बहिन की अञ्जलि में डालता है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।७।८), शांखायनगृह्यसूत्र १३।१५ तथा गोभिलगृह्यसूत्र २।२३ का भी यही मत है। ग्रन्थकार के अनुसार माता भी खीलें डाल सकती है। खादिरगृह्यसूत्र १।३।२० में कहा है—'वध्वाञ्जलावावपेत् भ्राता'—वधू की अञ्जलि में उसका भाई खीलें डालें। आगे १।३।२१ सूत्र में कहा है 'सुहृद्वा कश्चित्', अर्थात् 'भ्रातुरलाभे वध्वा हितैषी कश्चित् पुरुषः आवपेत्'—भाई न हो तो वधू का कोई हितैषी खीलें डाल दे।

यज्ञमण्डप में आगमन

वर द्वारा प्रदत्त वस्त्रों को धारण की हुई कन्या को उसका पिता (कार्यकर्ता) वर के सम्मुख लाये। तब दोनों खड़े हुए 'समञ्जन्तु विश्वे देवा' इत्यादि मन्त्र को बोलें। तब अपने दक्षिण हाथ

---

* वर और कन्या बोले कि हे (विश्वे देवाः) इस यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वान् लोगो! आप हम दोनों को (समञ्जन्तु) निश्चय करके जानें कि अपनी प्रसन्नतापूर्वक गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिए एक-दूसरे का स्वीकार करते हैं कि (नौ) हमारे दोनों के (हृदयानि) हृदय (आपः) जल के समान (सम्) शान्त और मिले हुए रहेंगे। जैसे (मातरिश्वा) प्राणवायु हमको प्रिय है, वैसे (सम्) हम दोनों एक-दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे। जैसे (धाता) धारण करनेहारा परमात्मा सबमें (सम्) मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है, वैसे हम दोनों एक-दूसरे को धारण करेंगे। जैसे (समुदेष्ट्री) उपदेश करनेहारा श्रोताओं से प्रीति करता है, वैसे (नौ) हमारे दोनों की आत्मा एक-दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को (दधातु) धारण करे॥ —द०स०

---

१. अर्थात् चमड़ा वा तांत से रहित। २. ऋ० १०।८५।४७, पार० गृह्य० १।४।१४॥

इस मन्त्र को बोलें। तत्पश्चात् वर अपने दक्षिण हाथ से वधू का दक्षिण हाथ पकड़के—

ओं यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा।

हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु, असौ‡ ॥[१]

इस मन्त्र को बोलके, उसको लेके घर के बाहर मण्डपस्थान में कुण्ड के समीप हाथ पकड़े हुए वधू तथा वर दोनों आवें और वर निम्न दो मन्त्रों को बोले—

ओं भूर्भुवः स्वः। अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।

वीरसूर्देवृकामा[२] स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे§ ॥[३]

ओं भूर्भुवः स्वः। सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर।

यस्यामुशन्तः प्रहराम शेफं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै ॥[४]

में वधू का दक्षिण हाथ पकड़के वर 'यदैषि मनसा' इत्यादि मन्त्र बोले। मन्त्र बोलने के पश्चात् वर वधू का हाथ पकड़े हुए कुण्ड के पास आये। वहाँ खड़े होकर वर 'अघोरचक्षुः०' और 'सा नः पूषा०' इन दो मन्त्रों को बोले।

'समञ्जन्तु०' से लेकर 'सा नः पूषा' तक के चार मन्त्रों में 'समञ्जन्तु०' दोनों का है, केवल वर का नहीं, शेष तीन वर के हैं। उनमें भी एक 'यदैषि मनसा०' का सन्दर्भ 'घर से बाहर कुण्ड के समीप हाथ पकड़े हुए वधू और वर दोनों आवें' अलग है। तत्पश्चात् 'अघोरचक्षुः०' तथा 'सा

---

‡ (असौ) इस पद के स्थान में कन्या का नाम उच्चारण करना है। हे वरानने वा वरानन! (यत्) जो तू (मनसा) अपनी इच्छा से मुझको जैसे (पवमानः) पवित्र वायु (वा) जैसे (हिरण्यपर्णो वैकर्णः) तेजोमय जल आदि को किरणों से ग्रहण करनेवाला सूर्य (दूरम्) दूरस्थ पदार्थों और (दिशोऽनु) दिशाओं को प्राप्त होता है, वैसे तू प्रेमपूर्वक अपनी इच्छा से मुझको प्राप्त होती वा होता है। उस (त्वा) तुझको (सः) वह परमेश्वर (मन्मनसाम्) मेरे मनके अनुकूल (करोतु) करे और हे वीर! जो आप मनसे मुझको (ऐषि) प्राप्त होते हो, उस आपको जगदीश्वर मेरे मनके अनुकूल सदा रक्खे॥ —द०स०

§ हे वरानने! (अपतिघ्नि) पति से विरोध न करनेहारी तू जिसके (ओम्), अर्थात् रक्षा करनेवाला, (भूः) प्राणदाता, (भुवः) सब दुःखों को दूर करनेहारा, (स्वः) सुखस्वरूप और सब सुखों का दाता आदि नाम हैं, उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से (अघोरचक्षुः) प्रियदृष्टि (एधि) हो। (शिवा) मङ्गल करनेहारी (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्रान्तःकरणयुक्त, प्रसन्नचित्त (सुवर्चाः) सुन्दर, शुभ गुण-कर्म-स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित (वीरसूः) उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई, अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी (स्योना) सुखयुक्त होके (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिए (शम्) सुख करनेहारी (भव) सदा हो और (चतुष्पदे) गाय आदि पशुओं को भी (शम्) सुख देनेहारी हो। वैसे मैं तेरा पति भी वर्त्ता करूँ॥ —द०स०

---

१. पार० गृह्य० १।४।१५॥

२. ऋग्वेद का पाठ 'देवकामा' है। अथर्व० (१४।२।१७,१८) में 'देवृकामा' और 'देवकामा' दोनों पाठ हस्तलेखों में उपलब्ध होते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋग्वेद के पाठ में भी 'देवृकामा' पाठ ही मानते हैं। इसकी पुष्टि संस्कारविधि के प्रथम सं० से होती है। प्र० संस्करण पृष्ठ ९१ पं० ९ में ऋङ्मन्त्र पाठ में 'देवकामा' पाठ छप गया था, परन्तु संशोधनपत्र पृष्ठ ९ कालम २ में 'देवका' का 'देवृका' शुद्ध पाठ दर्शाया है। प्र० संस्करण पृ० ८४ पं० २३ में पारस्करगृह्य के पाठ में भी प्रकृत मन्त्र में 'देवृकामा' पाठ ही मिलता है।

३. ऋग्वेद १०।८५।४४॥ व्याहृतियाँ मन्त्रपाठ में नहीं है।

४. पार० गृह्य० १।४।१६॥ व्याहृतियाँ मन्त्रपाठ में नहीं है। सं० वि० सं० २ में मुद्रित 'उशति' अशुद्ध पाठ २४ वें संस्करण तक छपता रहा है, जबकि सं० २ के शुद्धिपत्र पृष्ठ २ कालम २ में ही इसका 'उशती'

इन दो मन्त्रों को वर बोलके, दोनों वर-वधू यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके, कुण्ड के पश्चिम भाग में प्रथम स्थापन किये हुए आसन पर पूर्वाभिमुख वर के दक्षिण-भाग में वधू और वधू के वाम-भाग में वर बैठके, वधू—

ओं प्र मे पतियानः पन्था कल्पताꣳ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम्॥[१]

इस मन्त्र को बोले।

[विवाह-यज्ञ का आरम्भ]

तत्पश्चात् पृष्ठ ५४-५५ में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड के समीप दक्षिणभाग में उत्तराभिमुख पुरोहित की स्थापना करनी[२]। तत्पश्चात् पृष्ठ ५५ में लिखे प्रमाणे (ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा) इत्यादि तीन मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र से एक-एक आचमन, वैसे तीन आचमन वर-वधू और पुरोहित और कार्यकर्त्ता करके, हस्त और मुख प्रक्षालन एक शुद्धपात्र में करके दूर रखवा दें। हाथ और मुख पोंछके पृ० ५६ में लिके प्रमाणे यज्ञकुण्ड में (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव०) इस मन्त्र से अग्न्याधान पृ० ५७ में लिखे प्रमाणे (ओम् अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान और पृष्ठ ५८ में लिखे प्रमाणे (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि ३ [तीन] मन्त्रों से कुण्ड की तीन ओर और (ओं देव सवितः प्रसुव०) इस मन्त्र से कुण्ड की चारों ओर दक्षिण हाथ की अञ्जलि से शुद्ध जल सेचन करके, कुण्ड में डाली हुई समिधा प्रदीप्त हुए पश्चात् पृष्ठ ५८-५९ में लिखे प्रमाणे वधू-वर पुरोहित और कार्यकर्त्ता आघारावाज्य-भागाहुति[३] ४ [चार] घी की देवें। तत्पश्चात् पृ० ६० में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति[४] ४ [चार] घी की और पृष्ठ ६१-६२ में लिखे प्रमाणे अष्टाज्याहुति[५] ८ [आठ], ये सब मिलके १६ सोलह आज्याहुति देके प्रधान होम का प्रारम्भ करें।

नः पूषाः० भिन्न सन्दर्भ में प्रदक्षिणा से सम्बन्धित उससे पूर्व वर को बोलने हैं। इसलिए हमने 'इन चार मन्त्रों को वर बोलके' में 'चार' के स्थान पर 'दो' कर दिया है।

'प्र मे पतियानः०' इस मन्त्र का अर्थ ग्रन्थकार ने नहीं किया है, उसे हम यहाँ दे रहे हैं—

हे प्रभो! (पतियानः) पति के मार्ग को (मे) मेरा (पन्थाः) मार्ग (कल्पताम्) बनाइए, जिससे मैं (शिवा) सुख पाती हुई (अरिष्टाः) दुःख—रोग से मुक्त होकर (पतिलोकं) पति के घर को (गमेयम्) प्राप्त करूँ।

पुरोहित की नियुक्ति—मण्डप में आकर वर-वधू के यथास्थान बैठ जाने पर विधिवत् पुरोहित की स्थापना की जाए। आगे कार्य वही कराए।

प्रदक्षिणा में आगे-पीछे—प्रदक्षिणा अथवा परिक्रमा में पति-पत्नी में कौन आगे चले, इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। हमारे विचार में पति-पत्नी में सहभाव अथवा सख्यभाव होने से किसी के भी आगे या पीछे चलने का प्रश्न नहीं उठता। दोनों को सदा साथ-साथ चलना चाहिए। विवाह-

---

संशोधन कर दिया गया था।

१. मन्त्रब्रा० १।१।८॥ 'पतियानः' एकं पदमिति सायणः, 'पति या नः' पदत्रयमिति गुणविष्णुः।

२. अर्थात् इस समय अपने परिवार के यज्ञ आदि गृह्यकर्म कराने के लिए किसी पुरोहित को सदा के लिए नियत करना चाहिए। आगे का कार्य यही पुरोहित कराएगा।

३. 'अग्नये स्वाहा' आदि मन्त्रों से। ४. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि मन्त्रों से।

५. 'त्वन्नो अग्ने०' आदि मन्त्रों से।

[प्रधान होम]

प्रधान होम के समय वधू अपने दक्षिण हाथ को वर के दक्षिण स्कन्धे पर स्पर्श करके पृ० ६१ में लिखे प्रमाणे (ओम् भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से, अर्थात् एक-एक से एक-एक मिलके ४ चार आज्याहुति क्रम से करें। और—

ओं भूर्भुवः स्वः। त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि।

अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा॥

इदमग्नये—इदन्न मम॥[1]

इस मन्त्र को बोलके ५ पाँचवीं आज्याहुति देनी। तत्पश्चात्—

संस्कार की दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्रियाएँ हैं—पाणिग्रहण और सप्तपदी। पाणिग्रहण के प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने स्पष्ट लिखा है—

"पाणिग्रहण के छह मन्त्रों को बोलके, पश्चात् वर वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के उठाए और उसको साथ लेके चले।" इस प्रकार यहाँ दोनों के साथ-साथ चलने का स्पष्ट निर्देश होते हुए किसी मतभेद की गुंजाइश नहीं है। सप्तपदी में भी दोनों बगल में रहकर ही साथ-साथ चलते हैं, उससे पूर्व लाजाहोम से सम्बन्धित प्रदक्षिणाओं के सन्दर्भ में लिखा है—"वर अपने जमणे (दाएँ) हाथ की हस्ताञ्जलि से वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करे।" यहाँ वधू की हस्ताञ्जलि कौन से हाथ की हो, इसका संकेत नहीं है, क्योंकि यह सामान्य व्यावहारिक ज्ञान (common sence) का विषय है। जब भी कोई चलने के प्रसङ्ग में दाएँ हाथ से किसी की हथेली पकड़ेगा तो वह अनिवार्यतः उसके बाएँ हाथ की ही होगी। दाएँ हाथ से दूसरे के दाएँ हाथ की हथली पकड़कर चलना सहज नहीं होगा। फिर पाणिग्रहण सम्बन्धी प्रदक्षिणा के विषय में साथ लेके चलने का निर्देश पहले ही किया जा चुका है।

नौसेनाध्यक्ष के पद से अवकाश करते समय एडमिरल रामदास से पूछा गया कि प्रत्येक सफल व्यक्ति के पीछे कोई महिला होती है, इसपर आपका क्या कहना है? इसपर उन्होंने कहा—"मेरे मामले में तो मेरी पत्नी मेरे पीछे नहीं बल्कि मेरी बगल में रही है। शादी के समय जब हम अग्नि की परिक्रमा करते हैं तब हम एक जोड़ी बैल की तरह बँधते हैं। इसलिए मैं अपनी पत्नी को ऐसे व्यक्ति के रूप में रक्खूँगा, जिसने जीवनभर मुझे असीम सहयोग और प्रेरणा प्रदान की।"

—नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली २९ सितम्बर १९९३

हमारे यहाँ सामान्य बोलचाल में पति-पत्नी को गृहस्थरूपी गाड़ी के दो पहिए कहा जाता है जो बैलों की जोड़ी की तरह ही अगल-बगल, साथ-साथ चलते हैं, आगे-पीछे नहीं। सप्तपदी की क्रिया में अन्तिम मन्त्र में पति-पत्नी में सख्यभाव होने का निर्देश किया है। मित्रभाव रखनेवाले आगे-पीछे न चलकर साथ-साथ मिलकर ही चलते हैं।

'सा मामनुव्रता भव' में अनुव्रता का अर्थ पीछे चलनेवाली नहीं, अनुकूल रहनेवाली है। अथर्ववेद १४।१।४२ में आये 'पत्युः अनुव्रता' का अर्थ वेदों के प्रामाणिक भाष्यकार पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ने 'पति के अनुकूल चलनेवाली' किया है। 'अनुव्रतः पितुः पुत्रः' में 'अनुव्रतः' से

---

१. ऋ० ५।३।२॥ व्याहृतियाँ, स्वाहापद तथा 'इदं—न मम' मन्त्र से बहिर्भूति हैं।

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदमृताषाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय—इदन्न मम॥ १॥

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः—इदन्न मम॥ २॥

ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं संहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय—इदन्न मम॥ ३॥

ओं संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम। ताभ्य स्वाहा। इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः—इदन्न मम॥ ४॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय—इदन्न मम॥ ५॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः—इदन्न मम॥ ६॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय—इदन्न मम॥ ७॥

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदमद्भ्योऽप्सरोभ्यऽऊर्ग्भ्यः—इदन्न मम॥ ८॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय—इदन्न मम॥ ९॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः—इदन्न मम॥ १०॥

'अनुकूल आचरण करनेवाले' का ही ग्रहण होता है।

'अनुव्रतः' का यही अर्थ सातवलेकरजी तथा स्वामी वेदानन्दजी ने किया है।

यदि आगे-पीछे ही चलना हो तो हमारे मत में वर को आगे और वधू को उसके पीछे चलना चाहिए, क्योंकि 'गृभ्णामि ते हस्तम्' वर ने वधू का हाथ पकड़ा है, वधू ने वर का नहीं। उसका दायित्व अधिक होने से वह आगे-आगे चले। कभी वर को और कभी वधू को (जैसा अनेक पुरोहित करते हैं) आगे करना ठीक नहीं हैं।

मण्डप में आने के पश्चात् जो प्रधान होम होता है उसके अन्तरगत 'चित्तं च स्वाहा' इत्यादि १३ मन्त्रों से 'जयाहोम' में चित्त आदि १३ के प्रति स्वाहापूर्वक आहुति दी जाती हैं। गृहस्थाश्रम में इन सबको अपनाने पर परिवार विजय की ओर अग्रसर होगा, यह सूचित होता है—'प्रजापतिर्जयान् इन्द्राय वृष्णे प्रायच्छत्' यहाँ इन्द्र गृहस्थ है।

तत्पश्चात् 'अभ्यातन होम' में अग्नि आदि से विवाहकर्म या गृहस्थाश्रम में (अस्मिन् कर्मणि अस्यां देवहूत्याम्) रक्षा की प्रार्थना की गई है।

पाणिग्रहण के समय वधू बैठी रहती है और वर खड़ा हो, नमकर उसके हाथ को ग्रहण करता है। उसके एक ही हाथ को उठाने में पहले अपने बाएँ हाथ से ऊँचा करना और फिर दाएँ हाथ

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वाय—इदन्न मम॥ ११॥

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदमृक्सामेभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः—इदन्न मम॥ १२॥[१]

इन १२ [बारह] मन्त्रों से १२ [बारह] आज्याहुति देनी। तत्पश्चात् **जयाहोम** करना—

ओं चित्तं च स्वाहा॥ इदं चित्ताय—इदन्न मम॥ १॥

ओं चित्तिश्च स्वाहा॥ इदं चित्त्यै—इदन्न मम॥ २॥

ओम् आकूतं च स्वाहा॥ इदमाकूताय—इदन्न मम॥ ३॥

ओम् आकूतिश्च स्वाहा॥ इदमाकूत्यै—इदन्न मम॥ ४॥

ओं विज्ञातं च स्वाहा॥ इदं विज्ञाताय—इदन्न मम॥ ५॥

ओं विज्ञातिश्च स्वाहा॥ इदं विज्ञात्यै—इदन्न मम॥ ६॥

ओं मनश्च स्वाहा॥ इदं मनसे—इदन्न मम॥ ७॥

ओं शक्वरीश्च स्वाहा॥ इदं शक्वरीभ्यः—इदन्न मम॥ ८॥

ओं दर्शश्च स्वाहा॥ इदं दर्शाय—इदन्न मम॥ ९॥

ओं पौर्णमासं च स्वाहा॥ इदं पौर्णमासाय—इदन्न मम॥ १०॥

ओं बृहच्च स्वाहा॥ इदं बृहते—इदन्न मम॥ ११॥

ओं रथन्तरं च स्वाहा॥ इदं रथन्तराय—इदन्न मम॥ १२॥

ओं प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णो प्रायच्छदुग्रः प्रतना जयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इ हव्यो बभूव स्वाहा॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय—इदन्न मम॥ १३॥[२]

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक करके जयाहोम की १३ [तेरह] आज्याहुति देनी।

तत्पश्चात् अभ्यातन होम करना। इसके मन्त्र ये हैं—

ओम् अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬ स्वाहा॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये—इदन्न मम॥ १॥

से उठाना सचमुच अपनी पत्नी को अत्यधिक सम्मान देना है। अपने आसन से उठकर उसके सामने जाकर हाथ पकड़ना यदि सम्मान देना न होता तो अपने स्थान पर बैठे-बैठे हाथ पकड़ सकता था।

प्रदक्षिणा क्यों? वैदिक संस्कृति में पाणिग्रहणपूर्वक यज्ञाग्नि की प्रदीक्षणा करना सख्यभाव एवं विवाह-संस्कार की दृढ़ता तथा स्थायित्व को सत्यापित करना समझा जाता रहा है। वाल्मीकि रामायण में राम और सुग्रीव के समझौते का वर्णन करते हुए लिखा है—

---

१. यजुः० १८।३८-४३॥ इन मन्त्रों में 'इदं न.........मम' त्यागांश मन्त्र से बहिर्भूत है। प्रारम्भिक ८ मन्त्रों के प्रथम पद के दो-दो अक्षर अनुदात्त हैं, परन्तु उदात्त 'ओम्' का संयोग होने से प्रथम अनुदात्त अक्षर को स्वरित हो जाता है, अतः हमने यहाँ ओम् के साथ यथाशास्त्र संहिता-स्वर स्वरित दर्शाया है।

२. द्र० पार० गृह्य० १।५।९॥ इन मन्त्रों में त्यागांश मन्त्र से बहिर्भूत है। इसी प्रकार प्रथम १२ मन्त्रों में 'स्वाहा' पद भी 'स्वाहाकारप्रदानाः' नियम से संयोजित पद है। 'स इ हव्यो' में 'इ' इवार्थक है।

ओम् इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधाया-मस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये—इदन्न मम॥ २॥

ओं यमः पृथिव्याऽअधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये—इदन्न मम॥ ३॥

ओं वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधाया-मस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं वायवे अन्तरिक्षस्याधिपतये—इदन्न मम॥ ४॥

ओं सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये—इदन्न मम॥ ५॥

ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये—इदन्न मम॥ ६॥

ओं बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये—इदन्न मम॥ ७॥

ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधाया-मस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये—इदन्न मम॥ ८॥

ओं वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं वरुणायापामधिपतये—इदन्न मम॥ ९॥

ओं समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये—इदन्न मम॥ १०॥

ओम् अन्नꣳ साम्राज्यानामधिपतिस्तन्मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये—इदन्न मम॥ ११॥

ओं सोमऽओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधाया-मस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं सोमाय ओषधीनामधिपतये—इदन्न मम॥ १२॥

ओं सविता प्रसवानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये—इदन्न मम॥ १३॥

ओं रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳫं स्वाहा॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये—इदन्न मम॥ १४॥

संप्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना। ततोऽग्निं दीप्यमानो तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम्॥

—कि० काण्ड सर्ग ५

अर्थात् रामचन्द्रजी ने हर्षित मन से अपने हाथ से सुग्रीव का हाथ पकड़ लिया और राम तथा सुग्रीव दोनों ने प्रदीप्त यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा की।

विवाह भी स्त्री–पुरुष के बीच एक समझौता है जिसके सम्पन्न होने पर दो स्त्री–पुरुष यावज्जीवन के लिए अभिन्नहृदय सखा और सब प्रकार के सुख–दुःख के सर्वथा साथी हो जाते हैं। **'भार्या श्रेष्ठतमः सखा'** यह स्मृतिवचन भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है।

ओं त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधाया-मस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये—इदन्न मम॥ १५॥

ओं विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये—इदन्न मम॥ १६॥

ओं मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधाया-मस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः—इदन्न मम॥ १७॥

ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यश्च—इदन्न मम॥ १८॥[1]

इस प्रकार अभ्यातन होम की १८ [अठारह] आज्याहुति दिये पीछे, पुनः—

[अष्ट आज्याहुति]

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयꣳ राजा वरुणोऽनु-मन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघन्न रोदात् स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥

ओम् इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ २॥

ओम् स्वस्ति नोऽग्ने दिवा पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र। यदस्यां मयि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ३॥

ओं सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्नऽआयुः। अपैतु मृत्युरमृतं म[2] आगाद् वैवस्वतो नोऽअभयं कृणोतु स्वाहा॥ इदं वैवस्वताय—इदन्न मम॥ ४॥

ओं परं मृत्योऽअनु परेहि पन्थां यत्र नोऽअन्य इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरान्त्स्वाहा॥ इदं मृत्यवे—इदन्न मम॥ ५॥[3]

ओं द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च। स्तन्धयस्ते पुत्रान्त्सविताभिरक्षत्वावाससः परिधानाद् बृहस्पतिर्विश्वे देवा अभिरक्षन्तु पश्चात्स्वाहा॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः—इदन्न मम॥ ६॥

ओं मा ते गृहेषु निशि घोष उत्त्थादन्यत्र त्वद् रुदत्यः संविशन्तु मा त्वꣳ रुदत्युरऽआवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजाꣳ सुमनस्यमानाꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ७॥

ओम् अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यपाप्मानमुत वाऽ अघम्। शीर्ष्णस्त्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रति-मुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ८॥[4]

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक आहुति करके ८ [आठ] आज्याहुति दीजिए।

तत्पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे (ओं भूरग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ चार मन्त्रों से ४ चार आज्याहुति दीजिए।

पाणिग्रहण के पश्चात् सूचनार्थ एक परिक्रमा की जाती है। इस परिक्रमा का भाव यह है कि उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण मंज़िल की ओर बढ़ना शुरू कर दिया है।

---

१. द्र०—पार० गृह्य० १।५।१०॥ २. पार० गृह्य० में 'नः' पाठ भी मिलता है।

३. द्र०—पार० गृह्य० १।५।११, १२॥ ४. मन्त्रब्रा० १।१।११-१४॥

[प्रतिज्ञा-विधि]

ऐसे होम करके वर आसन से उठ, पूर्वाभिमुख बैठी वधू के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर अपने वामहस्त से वधू का दहिना हाथ चत्ता धरके ऊपर को उचाना और अपने दक्षिण हाथ से वधू के उठाये हुए दक्षिण हस्ताञ्जलि अंगुष्ठसहित चत्ती ग्रहण करके, वर—

ओं गृभ्णामि॑ ते सौभग॒त्वाय॒ हस्तं॑ मया॒ पत्या॑ ज॒रद॑ष्टि॒र्यथास॑ः।
भगो॑ अर्य॒मा स॑वि॒ता पुर॑न्धि॒र्मह्यं॑ त्वादु॒र्गार्ह॑पत्याय दे॒वाः* ॥ १ ॥[1]

ओं भग॑स्ते॒ हस्त॑मग्रभीत् सवि॒ता हस्त॑मग्रभीत्। पत्नी॒ त्वम॑सि॒ धर्म॑णा॒हं गृ॒हप॑ति॒स्तव॑§ ॥ २ ॥[2]

ममे॒यम॑स्तु॒ पोष्या॒ मह्यं॑ त्वादा॒द् बृह॒स्पति॑ः। मया॒ पत्या॑ प्रजावति॒ सं जी॑व श॒रद॑ः श॒तम्‡ ॥ ३ ॥

त्वष्टा॒ वासो॒ व्य॑दधाच्छु॒भे कं बृह॒स्पते॑ः प्र॒शिषा॑ क॒वीनाम्।
तेने॒मां नारीं॑ सवि॒ता भग॑श्च सू॒र्यामि॑व॒ परि॑ धत्तां प्र॒जया॑¶ ॥ ४ ॥[3]

---

* हे वरानने! जैसे मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य, सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिए (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूँ, तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था को प्राप्त सुखपूर्वक (आसः) हो तथा हे वीर! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिए आपके हस्त को ग्रहण करती हूँ। आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिए। आपको मैं और मुझको आप आज से पति-पत्नीभाव करके प्राप्त हुए हैं। (भगः) सकल ऐश्वर्ययुक्त (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता (पुरन्धिः) बहुत प्रकार के जगत् का धर्त्ता परमात्मा और (देवाः) ये सब सभामण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग (गार्हपत्याय) गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिए (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझे (अदुः) देते हैं। आज से मैं आपके हस्ते और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं। कभी एक-दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे॥ —द०स०

§ हे प्रिये! (भगः) ऐश्वर्ययुक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण करता हूँ तथा (सविता) धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण कर चुका हूँ। (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी (पत्नी) भार्या (असि) है और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूँ। अपने दोनों मिलके घर के कामों की सिद्धि करें और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है, उसको कभी न करें। जिससे घर के सब काम सिद्ध, उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती सदा होती रहे॥ —द०स०

‡ हे अनघे! (बृहस्पतिः) सब जगत् का पालन करनेहारे परमात्मा ने जिस (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझे (अदात्) दिया है, (इदम्) यही तू जगत्भर में मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो। हे (प्रजावति) तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु, अर्थात् शतवर्षपर्यन्त (सं जीव) सुखपूर्वक जीवन धारण कर। वैसे ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे—'हे भद्रवीर! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो। मेरे लिए आपके बिना इस जगत् में दूसरा पति, अर्थात् स्वामी, पालन करनेहारा, सेव्य, इष्टदेव कोई नहीं है। न मैं आपसे अन्य दूसरे किसी को मानूँगी। जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे, वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से न वर्त्ता करूँगी। आप मेरे साथ सौ वर्षपर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिए'॥ —द०स०

¶ हे शुभानने! जैसे (बृहस्पतेः) इस परमात्मा की सृष्टि में और उसकी तथा (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) शिक्षा से दम्पती होते हैं, (त्वष्टा) जैसे बिजली सबको व्याप्त हो रही है, वैसे तू मेरी प्रसन्नता

---

१. ऋ० १०।८५।३६॥

२. द्र०—अथर्व १४।१।५१॥ 'अग्रभीत्' के स्थान पर 'अग्रहीत्' पाठ है। आपस्तम्बमन्त्रपाठ (२।३।१०) तथा शाङ्खायनगृह्य० (२।३।१) में 'अग्रभीत्' पाठ है।

३. अथर्व० १४।१।५३॥

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५ ॥[१]
अहं विष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन्मनसः कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्† ॥ ६ ॥

इन पाणिग्रहण के ६ [छह] मन्त्रों को बोलके, पश्चात् वर-वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के उठावे और उसको साथ लेके जो कलश कुण्ड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापन किया था, उसको वही पुरुष जो कलश के पास बैठा था, वर-वधू के साथ उसी कलश को लेकर चले। यज्ञकुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा करके—

ओम् अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव

अमोऽहमस्मि—यह मन्त्र केवल पति के बोलने के लिए है, पति-पत्नी दोनों के लिए नहीं, यह बात मन्त्र के अर्थों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ—पति कहता है कि 'मैं ऋग्वेद के तुल्य हूँ तो तू सामवेद के तुल्य है, मैं द्यौः हूँ तो तू पृथिवी है।' जब वधू इसी मन्त्र

के लिए (वासः) सुन्दर वस्त्र और (शुभे) शोभा के लिए आभूषण तथा (कम्) मुझसे सुख को प्राप्त हो। इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा (व्यदधात्) सिद्ध करे। जैसे (सविता) सकल जगत् की उत्पत्ति करनेहारा परमात्मा (च) और (भगः) पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (प्रजया) उत्तम प्रजा से (इमाम्) इस तुझ (नारीम्) मुझ नर की स्त्री को (परिधत्ताम्) आच्छादित, शोभायुक्त करे, वैसे मैं (तेन) इस सबसे (सूर्यामिव) सूर्य की किरण के समान तुझको वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित सदा रक्खूँगा। तथा हे प्रिय! आपको मैं इसी प्रकार सूर्य के समान सुशोभित, आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके (प्रजया) ऐश्वर्य, वस्त्राभूषण आदि से सदा आनन्दित रक्खूँगी॥ —द०स०

¤ हे मेरे सम्बन्धी लोगो! जैसे (इन्द्राग्नी) बिजली और प्रसिद्ध अग्नि, (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि, (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु, (मित्रावरुणा) प्राण और उदान, तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विना) सद्वैद्य और सत्योपदेशक (उभा) दोनों, (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ, न्यायकारी, बड़ी प्रजा का पालन करनेहारा राजा, (मरुतः) सभ्य मनुष्य, (ब्रह्म) सबसे बड़ा परमात्मा और (सोमः) चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधिगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं, वैसे (इमां नारीम्) इस मेरी स्त्री को (प्रजया) प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी (वर्धयन्तु) बढ़ाया करो। जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूँगा, वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस मेरे पति को सदा आनन्द, ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूँगी। जैसे ये दोनों मिलके प्रजा को बढ़ाया करते हैं, वैसे तू और मैं मिलके गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें॥ —द०स०

† हे कल्याणक्रोडे! जैसे (मनसः) मन से[२] (कुलायम्) कुल की वृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहम्) मैं (अस्याः) इस तेरे (रूपम्) रूप को (विष्यामि) प्रीति से प्राप्त और इसमें प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूँ, वैसे यह तू मेरी वधू (मयि) मुझमें प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को (वेदत्) प्राप्त होवे। जैसे (मनसा) मन से भी इस तुझ वधू के साथ (स्तेयम्) चोरी को (उद्मुच्ये) छोड़ देता हूँ, और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से (नाद्मि) भोग नहीं करता हूँ, (स्वयम्) आप (श्रथ्नानः) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बन्धनों को दूर करता रहूँ, वैसे (इत्) ही यह वधू भी किया करे। इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि मैं इसी प्रकार आपसे वर्त्ता करूँगी। —द०स०

---

१. अथर्व० १४।१।५४॥ २. विभक्तिव्यत्यय से।

विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्§॥ ७॥[१]

इन प्रतिज्ञा-मन्त्रों से दोनों प्रतिज्ञा करके—

[शिलारोहण-विधि]

पश्चात् वर-वधू के पीछे रहके, वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रहके, वधू की दक्षिणाञ्जलि अपनी दक्षिणाञ्जलि से पकड़के दोनों खड़े रहें और वह पुरुष पुनः कुण्ड के दक्षिण में कलश लेके वैसे बैठे। तत्पश्चात् वधू की माता अथवा भाई जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रखी थी, उसको बाएँ हाथ में लेके दाहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवाके पत्थर की शिला पर चढ़वावे और उस समय वर—

को बोलेगी तो पति के स्थान पर वह ऋग्वेद और द्यौः बन जाएगी और पति सामवेद और पृथिवी बन जाएगा। पत्नी निश्चितरूप से क्षेत्र होने से पृथिवी के तुल्य है, वह बीज (वीर्यरूप) कैसे हो सकती है?

'अमोऽहमस्मि' इस वक्तव्य के द्वारा सार्वजनिक मंच पर घोषणा की जा रही है कि हम यह विवाह ज्ञानपूर्वक, अर्थात् सोच-समझकर कर रहे हैं। यह बात 'अष्टवर्षा' कन्या और उसका समवयस्क बालक नहीं कह सकते।

पौराणिक टीकाकारों ने यहाँ आये 'अमः' पद से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का ग्रहण किया है और 'सा' को 'लक्ष्मी' माना है। इस प्रकार लक्ष्मी को 'विष्णुप्रिया' न रहने देकर तीन की पत्नी बना दिया है।

शिलारोहण—शिलारोहण एक स्वतन्त्र क्रिया है। इसका न लाजाहोम से सम्बन्ध है, और न परिक्रमाओं से। तीनों परिक्रमाओं में लाजाहोम के बाद कलशसहित व्यक्ति को साथ लेकर चलने का तो उल्लेख है, परन्तु शिलारोहण का संकेत तक नहीं। पुरोहित लोग यदृच्छया प्रत्येक परिक्रमा से पूर्व शिलारोहण की क्रिया करवाते हैं, परन्तु इसका निर्देश न गृह्यसूत्रों में है और न संस्कारविधि में।

---

§ हे वधू! जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करनेवाला (अस्मि) होता हूँ, वैसे (सा) सो (त्वम्) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी (असि) है। जैसे (अहम्) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझको भी ग्रहण करता हूँ, वैसे (सा) सो मैंने ग्रहण की हुई (त्वम्) तू मुझको ग्रहण करती है। (अहम्) मैं (साम) सामवेद के तुल्य प्रशंशित (अस्मि) हूँ। हे वधू! तू (ऋक्) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है। (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है और मैं (द्यौः) वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूँ। वह तू और मैं (तावेव) दोनों ही (विवहावहै) प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें। (सह) साथ मिलके (रेतः) वीर्य को (दधावहै) धारण करें। (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को (प्रजनयावहै) उत्पन्न करें। (बहून्) बहुत (पुत्रान्) पुत्रों को (विन्दावहै) प्राप्त होवें। (ते) वे पुत्र (जरदष्टयः) जरावस्था के अन्त तक जीवनयुक्त (सन्तु) रहें। (संप्रियौ) अच्छे प्रकार एक-दूसरे से प्रसन्न, (रोचिष्णू) एक-दूसरे में रुचियुक्त, (सुमनस्यमानौ) एक-दूसरे से अच्छे प्रकार विचार करते हुए, (शतम्) सौ (शरदः) शरदृतु, अर्थात् शत वर्षपर्यन्त एक-दूसरे को प्रेम की दृष्टि से (पश्येम) देखते रहें। (शतं शरदः) सौ वर्षपर्यन्त आनन्द से (जीवेम) जीते रहें और (शतं शरदः) सौ वर्षपर्यन्त प्रिय वचनों को (शृणुयाम) सुनते रहें॥ —द०स०

---

१. तु०—पार० गृह्य० १।६।३॥ इस गृह्य० में 'तावेव' के स्थान में 'तावेहि' और 'विन्दावहै' के स्थान में 'विन्द्यावहै' पाठ है। जयराम, गदाधर 'तावेव आवाम्' व्याख्यान करते हैं।

ओम् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः॥ १॥[१]

इस मन्त्र को बोले।

[लाजा-होम]

तत्पश्चात् वधू-वर कुण्ड के समीप जाके पूर्वाभिमुख दोनों खड़े रहें और यहाँ वधू दक्षिण ओर रहके अपनी हस्ताञ्जलि को वर की हस्ताञ्जलि पर रक्खे।

तत्पश्चात् वधू की माँ या भाई, जो बाएँ हाथ में धाणी का सूपड़ा पकड़के खड़ा रहा हो, वह धाणी का सूपड़ा भूमि पर धर अथवा किसी के हाथ में देके, जो वधू-वर की एकत्र की हुई, अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जलि है, उसमें प्रथम थोड़ा घृत सिंचन करके, पश्चात् प्रथम सूप में से दाहिने हाथ की अञ्जलि से दो बार लेके वर-वधू की एकत्र की हुई अञ्जलि में धाणी

पारस्करगृह्यसूत्र में सीधे कन्या को ही शिला पर चढ़ने, अर्थात् पैर रखने का आदेश दिया गया है। यह 'आरोह' के मध्यमपुरुष की क्रिया होने से स्पष्ट है। गदाधर ने वासुदेव के मत को उद्धृत करके कहा है कि वर अपने दाएँ हाथ से वधू का दाहिना पैर पकड़कर पत्थर पर रखवाये। हरिहर ने भी गदाधर का ही अनुसरण किया है, यद्यपि सूत्र में ऐसा कोई संकेत नहीं, परन्तु यदि शिला पर पैर रखने का आदेश स्वयं वर ने दिया है तो वधू के विवेक और सामर्थ्य की उपेक्षा करके स्वयं वही बलात् उसका पैर उठवाकर पत्थर पर रखवा दे तो यह किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता, अतः गदाधर और हरिहर का मत मन्त्र के विपरीत होने के साथ-साथ असङ्गत भी है। तब यह आदेश किसने दिया? 'आरोहेममश्मानम्' भाग है उस मन्त्र का जिसे बोलने का निर्देश पुरोहित ने वर को दिया था। तब यह आदेश निश्चितरूप से वर का ही ठहरता है। कन्या को कुछ संकोच करते देखकर कोई कन्यापक्ष का व्यक्ति ही उसकी सहायता के लिए आनेवाला हो सकता है। भाई से अच्छा कौन होगा! उसके सहयोग का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि संकट की घड़ी में बहिन अपने को असहाय न समझे। आवश्यकता होने पर उसे भाई का सहयोग सदा उपलब्ध रहेगा। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(इममश्मानम्) इस पत्थर पर चढ़ो=पैर रक्खो और (अश्ममेव) पत्थर की भाँति (स्थिरा भव) सदा स्थिर-अडिग रहो। (पृतन्यतः) दुष्ट लोगों को (अभितिष्ठ) परास्त करो और (पृतनायतः) विरोधियों को (अव बाधस्व) परे धकेल दो।

घर में प्रवेश करनेवाली बहू से आशा की जाती है कि वह बड़े-से-बड़े संकटों से घबराएगी नहीं अपितु पर्वत की तरह अडिग रहकर उनका सामना करेगी।

पत्थर की दृढ़ता से तात्पर्य उसका उस पर्वत का प्रतिनिधि होना है जो झंझावातों से पिघलता नहीं। उससे टकराकर तूफ़ानों को ही लौटना पड़ता है। उष्णता (ताप) से लोहा पिघल जाता है, किन्तु पर्वत उसे भी सहन कर लेता है, इसलिए परिस्थितियों से जूझने में पत्थर आदर्श का प्रतीक है।

खीलों तथा शमीपत्रों का प्रयोग—लाजाहोम में प्रयुक्त शमीपत्र तथा खीलों को भावी गृहस्थ

---

१. पार० गृह्य० १।७।१॥

डाले। पश्चात् उस अञ्जलिस्थ धाणी पर थोड़ा-सा घी सिंचन करे। पश्चात् वधू वर की हस्ताञ्जलिसहित अपनी हस्ताञ्जल को आगे से नमाके—

जीवन में महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं के प्रतीकरूप में ग्रहण किया गया है। शमीपत्रों के विषय में लिखा है—

१—**वनस्पतीन् वा उग्रो देव उदौषत् तं शम्या अध्यशमयंस्तत् शम्या शमीत्वम्।**

—मैत्रायणीसं० ४।१।१॥

शीतरूप उग्रदेव ने आम, शीशम आदि सबको जला डाला, उसे शमी ने शमन किया, यह शमी का शमीत्व है।

२—**शमीपत्राणि भवन्ति शन्त्वाय।** —मैत्रा० संहिता १।१०।१२॥

शमीपत्र शान्ति के लिए होते हैं।

३—**शमौप्लाशान्यवपति। शं वै प्रजापतिः। एतत् प्रजाभ्यः शमीप्लाशैरकुरुत। शम्वेवैष एतत् प्रजाभ्यः कुरुते।** —शत० २।५।२।१२॥

उनके ऊपर वह शमी के पत्ते भी डालता है। प्रजापति ने प्रजाओं को शमी के पत्तों से ही शान्त किया। इसलिए वह प्रजाओं को उसी से शान्त करता है। इसी प्रकार खीलों के विषय में बताया है—

१—**आदित्यानां वा एतद् रूपं यल्लाजाः।** —शत० ब्रा० १३।२।१।५॥

ये जो खीलें हैं, वे आदित्यों की प्रतिनिधि हैं।

२—**नक्षत्राणां वा एतद् रूपं यल्लाजाः।** —शत० १३।२।१।५

ये जो खीलें हैं वे नक्षत्रों की प्रतिनिधि हैं।

शमीपत्रयुक्तलाजाहोम के द्वारा वर-वधू को यह बताया जा रहा है कि भयङ्कर ग्रीष्मऋतु में सब घास-फूँस सूख जाता है, पर शमी तब भी ज्यों-की-त्यों हरी-भरी लहराती खड़ी रहती है, मानो इतनी भयङ्कर धूप भी उसपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकी। वर्षा आरम्भ हुई, सब पेड़-पौधे हर्षोल्लास में झूम उठे, पर वाह री शमी, तू इतनी खुशी के अवसर पर भी समानभाव से खड़ी रही। अब आया जाड़ा। यह उग्रदेव है। इसने भी लहलहाते हुए आम, नीम, शीशम आदि बड़े-बड़े पेड़ों से लेकर छोटे-छोटे पौधों तक को झुलस डाला, परन्तु शमी पर इस उग्रदेव का भी प्रभाव नहीं पड़ा। सब तरह से हरी-भरी खड़ी रहती है। मानो इसने पतझड़ देखी ही नहीं। शमी से शिक्षा लो। बड़ी-से-बड़ी आपत्ति और बड़ी-से-बड़ी सम्पत्ति में भी इस शमीवृक्ष की तरह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ना। '**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ**' का योग सिखाती है शमी।

दुःखों की, आपत्तियों की अँधेरी रातो में सदा खिले रहने, चमकते रहने और खिखिलाते रहने का सन्देश देती हैं खीलें—खीलें जो प्रतिनिधि हैं आकाश में खिले हुए नक्षत्रों की। ये नक्षत्र अँधेरी रात में तो चमकते हैं, पर चाँदनी में नहीं। इसी प्रकार तुम्हें चाहिए की ऐश्वर्य को पाकर इतराते न फिरो जिससे तुम्हारे आस-पास के लोगों में ईर्ष्या के भाव न उभरें। अच्छे और बुरे दिन गृहस्थ के जीवन में आते रहते हैं। अपने जीवन में सन्तुलन बनाये रहना गृहस्थ में सुख की कुंजी है।

लाजाहोम की पहली प्रदक्षिणा के पश्चात् लिखा है—"पुनः दो बार"। इस प्रकार लाजाहोम की कुल तीन परिक्रमा बनती हैं। अगले ही वाक्य में भी लिखा है—"उक्त रीति से तीन बार क्रिया

ओम् अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत।
स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा॥ इदमर्यम्णे अग्नये—इदन्न मम॥ १॥
ओम् इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका।
आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ २॥
ओम् इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव।
मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियथ्ꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ३॥[1]

इन ३ [तीन] मन्त्रों में एक-एक मन्त्र से एक-एक बार थोड़ी-थोड़ी धाणी की आहुति तीन बार प्रज्वलित ईंधन पर देके, वर—

ओं सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजनीवति। यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः यस्यां भूतꣳ समभवद् यस्यां विश्वमिदं जगत्। तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥ १॥[2]

हुए पश्चात्''। इसलिए ''सब मिलाके चार परिक्रमा करके'' लिखने या छपने में भूल हो गई है। 'हमने ४ चार' के स्थान ३ तीन कर दिया है। एक प्रदक्षिणा पाणिग्रहण के पश्चात् की जाती है। उसे मिलाके लोक में इन चार प्रदक्षिणाओं को फेरे कहते हैं।

तीन प्रदक्षिणा क्यों? गृहस्थाश्रम का उद्देश्य स्त्री-पुरुष का मिलकर धर्म, अर्थ और काम इस फलत्रय की प्राप्ति करना है। **'जाया त्वर्धं शरीरस्य नृणां धर्मादिसाधने'** इस स्मृतिवचन में धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि में जाया नाम पत्नी पुरुष का आधा शरीर होती है। इस प्रकार वैवाहिक समझौता और सख्यभाव के परिणामस्वरूप पति-पत्नी-सम्बन्ध धर्म, अर्थ एवं काम इन तीन फलों की प्राप्त्यर्थ होता है, इसलिए विवाह-संस्कार लाजाहोमयुक्त प्रदक्षिणा भी तीन ही होती हैं। इसमें गृह्यसूत्र भी प्रमाण हैं—

१—त्रिः परिणयञ्जयति। —आश्वलायन०
२—एवं द्विरपरं लाजादि। —पारस्कर०
३—एवं त्रिः लाजादि। —गोभिल०

परम्परा से भी इसकी पुष्टि होती है, जैसे—वाल्मीकिरामायण (बालकाण्ड सर्ग ७३) में—

त्रिरग्निं ते प्रदक्षिणीकृत्य ऊहुर्भार्या महौजसः॥ —४०॥

रामादिकों ने सीतादि के साथ अग्नि की तीन प्रदक्षिणा करके विवाह-विधि सम्पन्न कराई। इस संस्कार में पुरोहित थे—महर्षि वसिष्ठ।

लाजाहोम से सम्बन्धित मन्त्रों के भावार्थ

अर्यमणम्—न्यायकारी ईश्वर हमें इस पितृकुल से छुड़ाए, पर पतिकुल से कभी न छुड़ाए।

इयं नार्युपब्रूते०—खीलों को अग्नि में डालनेवाली यह स्त्री पति के समीप कहती है कि ईश्वरकृपा से मेरा पति दीर्घजीवी हो और मेरे कुटुम्बीजन सम्पन्न हों।

इमांल्लाजान्०—इन खीलों को मैं तेरी और अपनी वृद्धि और प्रीति के लिए अग्नि में डाल रही हूँ। परमेश्वर सहायता करे।

सरस्वतीप्रेदमव०—हे सुन्दर ऐश्वर्यवाली, अन्नवाली, सरस्वती देवी! इस यज्ञ की रक्षा कर।

---

१. पार० गृह्य० १।६।२॥ २. पार० गृह्य० १।७।२॥

इस मन्त्र को बोलके अपने जमणे हाथ की हस्ताञ्जलि से वधू की हस्ताञ्जलि पकड़के, वर—

ओं तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥ १ ॥[1]

ओं कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमप दीक्षामयष्ट।

कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः॥ २ ॥[2]

इन मन्त्रों को पढ़, यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके, यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके थोड़ी देर दोनों खड़े रहें।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार कलशसहित यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा कर, पुनः दो बार इसी प्रकार, अर्थात् सब मिलके ३ [तीन] परिक्रमा करके, अन्त में यज्ञकुण्ड के पश्चिम में थोड़ा खड़ा रहके, उक्त रीति से तीन बार क्रिया पूरी हुए पश्चात् वधू की माँ अथवा भाई उस सूप को तिरछा करके उसमें बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जलि में डाल देवे। पश्चात् वधू—

ओं भगाय स्वाहा॥ इदं भगाय—इदन्न मम॥[3]

इस मन्त्र को बोलके प्रज्वलित अग्नि पर वेदी में उस धाणी की एक आहुति देवे। पश्चात् वर-वधू को दक्षिण भाग में रखके कुण्ड के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठके—

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥[4]

इस मन्त्र को बोलके स्रुवा से एक घृत की आहुति देवे।

[केश-विमोचन]

तत्पश्चात् एकान्त में जाके वधू के बँधे हुए केशों को वर—

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः।

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि॥ १ ॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति॥ २ ॥[5]

मैं इस दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति करनेवाले प्रभु की कीर्ति की स्तुति का गान किया करूँगा जिसके सुनने पर स्त्रियों का यश फैले।

तुभ्यमग्रे०—मैंने इस कन्या को पत्नीरूप में ग्रहण किया है। इसके साथ मैं प्रतिष्ठा और कालान्तर में सन्तति को प्राप्त करूँ।

कन्यला०—यह कन्या पिता, भाई आदि को छोड़कर मुझे पत्नीरूप में प्राप्त हुई है। यह सदा मेरे साथ रहे और हम मिलकर कामादि शत्रुओं को जल की तरह बहा दें।

प्र त्वा मुञ्चामि०—मैं तुझे वरुण के बन्धन से मुक्त करता हूँ जिससे तुझे सेवा करने योग्य सविता ने बाँधा था। सदाचारों के घर में और सत्कर्मकर्त्ता के लोक में हिंसा के अयोग्य तुझको पति के साथ स्थापित करता हूँ।

प्रेतो मुञ्चामि०—मैं तुझे पितृकुल से मुक्त करता हूँ, पतिकुल से नहीं, वहाँ तुझे अच्छी तरह

---

१. ऋ० १०।८५।३८॥ पार० गृ० १।७।३ में 'दाऽग्ने' पाठ मिलता है। ब्लूमफील्ड ने वैदिक कान्कार्डेन्स में पार० का भी 'दा अग्ने' पाठ दिखाया है। कर्क आदि टीकाकार 'दाग्ने' पाठ ही मानकर व्याख्या करते हैं। सं० विधि के द्वि० संस्करण में 'दाग्ने' पाठ छपा था, परन्तु संशोधनपत्र में 'दा अग्ने' शोधन के पश्चात् भी १२वें संस्करण तक 'दाग्ने' पाठ और ऋग्वेद का पता छपता रहा।

२. मन्त्रब्रा० १।२।५॥ ३. पार० गृह्य० १।७।५॥

४. द्र०—पार० गृह्य० १।७।६॥ ५. ऋ० १०।८५।२४, २५॥

इन दोनों मन्त्रों को बोलके प्रथम वधू के केशों को छोड़ना।[१]

[सप्तपदी-विधि]

तत्पश्चात् सभामण्डप में आके 'सप्तपदी-विधि' का आरम्भ करे। इस समय वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गाँठ देनी, इसे 'जोड़ा' कहते हैं। वधू-वर दोनों जने आसन पर से उठके वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जलि पकड़के यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग में जावें। तत्पश्चात् वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्धे पर रखके दोनों समीप-समीप उत्तराभिमुख खड़े रहें। तत्पश्चात् वर—

मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम॥[२]

ऐसा बोलके वधू को उसका दक्षिण पग उठवाके चलने के लिए आज्ञा देनी और—

ओम् इष एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूँꣳस्ते सन्तु जरदष्टयः॥[३]

इस मन्त्र को बोलके वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग* चले और चलावे।

बाँधता हूँ। परमेश्वर इस वधू को उत्तम सन्तान और भाग्य प्रदान करे।

सप्तपदी०—विवाह-संस्कार की यह अन्तिम महत्त्वपूर्ण क्रिया है जिसके सम्पन्न हो जाने पर विवाह को वैधानिक दृष्टि से पूर्ण हुआ मान लिया जाता है। गठजोड़ा कोई शास्त्रीय विधान नहीं है, परन्तु वेदाविरुद्ध तथा परम्परागत लोकाचार होने से इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। महाकवि कालिदासरचित रघुवंश में इसका उल्लेख होने से इस प्रथा के कम-से-कम ढाई हज़ार वर्ष पुराना होने का निश्चय होता है। वहाँ लिखा है—

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाऽग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार॥ —रघु० ७।२०॥

वहाँ विदर्भराज के अग्नि के समान तेजस्वी पुरोहित ने घृत आदि सामग्रियों से हवन करके और उसी अग्नि को साक्षी करके वर-वधू (अज और इन्दुमती) का गठजोड़ा कर दिया।

(सङ्गमयाञ्चकार = योजयामास—मल्लिनाथ)।

मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम—बाएँ पैर से दाएँ पैर का उल्लंघन मत कर, अर्थात् बाएँ पैर को दाएँ से आगे मत रख।

इषे एकपदी भव०—(मेरे साथ मिलकर) अन्नादि के लिए पहला पैर चल। वह तू मेरे अनुकूल आचरण करनेवाली हो। परमात्मा हमें बहुत-से पुत्र दे। वे वृद्धावस्था तक जीते रहें।

---

* इस पग धरने का विधि ऐसा है कि वधू प्रथम अपना जमणा पग उठाके ईशानकोण की ओर बढ़ाके धरे। तत्पश्चात् दूसरे बाएँ पग को उठाके जमणे पग की पटली तक धरे, अर्थात् जमणे पग के थोड़ा-सा पीछे बायाँ पग रक्खे। इसी को एक पगला गिणना। इसी प्रकार अगले छह मन्त्रों से भी क्रिया करनी, अर्थात् १-१ मन्त्र से १-१ पग ईशान दिशा की ओर धरना॥ —द०स०

---

१. अर्थात् खोलना। २. गोभिलगृह्य० २।२।१२॥

३. इस तथा उत्तर मन्त्रों के लिए देखो आश्व० गृह्य० १।७।१९॥ पार० गृह्य० १।८।१, २ में कुछ भेद हैं।

ओम् ऊर्ज्जे द्विपदी भव०§ ॥ इस मन्त्र से दूसरा।

ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ इस मन्त्र से तीसरा।

ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से चौथा।

ओं प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव० ॥ इस मन्त्र से पाँचवाँ।

ओम् ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ इस मन्त्र से छठा॥ और—

ओं सखे सप्तपदी भव० ॥ इस मन्त्र से सातवाँ पगला चलना।

इस रीति से इन ७ [सात] मन्त्रों से ७ [सात] पग ईशान दिशा में चलाके वधू-वर दोनों गाँठ बँधे हुए शुभासन पर बैठें।

[जल से मार्जन]

तत्पश्चात् प्रथम से जो जल के कलश को लेके यज्ञकुण्ड के दक्षिण की ओर में बैठाया था, वह पुरुष उस पूर्व-स्थापित जलकुम्भ को लेके वधू-वर के समीप आवे और उसमें से थोड़ा-सा जल लेके वधू-वर के मस्तक पर छिटकावे, और वर—

ओम् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽ ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥
तस्माऽ अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥ [१]
ओम् आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ४ ॥ [२]

इन ४ [चार] मन्त्रों को बोले। तत्पश्चात् वधू-वर वहाँ से उठके—

ऊर्जे द्विपदी भव—बल प्राप्ति के लिए दूसरा पैर रख.......।

रायस्पोषाय त्रिपदी भव—धन व ज्ञान की प्राप्ति के लिए तीसरा पैर रख......।

मायोभवाय चतुष्पदी भव—सुख की प्राप्ति के लिए चौथा पैर रख........।

प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव—सन्तान के लिए पाँचवा पैर रख........।

ऋतुभ्यः षट्पदी भव—ऋतुओं के अनुकूल आचरण के लिए छठा पैर रख.......।

सखे सप्तपदी भव—मित्रता के लिए सातवाँ पैर रख.......।

आपो हि ष्ठा—हे जलो! तुम सुख देनेवाले हो, तुम हमें बल के लिए धारण करो और हमें बड़े रमणीय दर्शन के लिए धारण करो।

यो वः शिवतमो—हे जलो! तुम्हारा जो यह अत्यन्त कल्याणकारी रस है, उसे हमें इस लोक में प्राप्त करो। जैसे पुत्र को चाहनेवाली माताएँ अपने स्तन से रस पिलाती हैं, वैसे ही।

तस्मा अरङ्गमाम्—हे जल! जैसे अन्न के निवास के लिए तुम ओषधियों में निवास करते हो उसी अन्न के लिए हम तुम्हें पर्याप्तरूप से प्राप्त करते हैं।

आपः शिवाः—जो जल कल्याण के हेतुभूत अत्यन्त अभ्युदयकारी हैं, सुख—अधिक सुख

---

§ जो 'भव' के आगे मन्त्र में पाठ है, सो छह मन्त्रों के इस 'भव' पद के आगे पूरा बोलके पग धरने की क्रिया करनी॥ —द०स०

---

१. यजुः० ३६।१४-१६॥ द्र० ऋ० १०।९।१-३॥ द्र० पार० गृह्य० १।८।६॥

२. पार० गृह्य० १।८।५॥

[सूर्य-दर्शन]

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ १ ॥[१]

इस मन्त्र को पढ़के सूर्य का अवलोकन करें।

तत्पश्चात् वर-वधू के दक्षिण स्कन्धे पर अपना दक्षिण हाथ लेके उससे वधू का हृदय-स्पर्श करके—

[हृदयाऽऽलम्भन]

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्* ॥[२]

इस मन्त्र को बोले और उसी प्रकार वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके इसी ऊपर लिखे हुए मन्त्र को बोले§।

देनेवाले हो वे तेरी नीरोगता को प्राप्त करें।

तच्चक्षुर्देवहितम्—''सा च (वधूः) वरप्रेषितासती 'तच्चक्षुरिति' मन्त्रेण स्वयं पठितेन सूर्यन्निरीक्षते दिवा विवाहपक्षे'' (इति पार० गृ० का० १, क० ८ टीकायां हरिहरमिश्रः), अर्थात् वर के कहने से वधू 'तच्चक्षुः' इस मन्त्र को स्वयं बोलकर सूर्य को देखे, यदि दिन में विवाह हो तो, यह पार० गृ० के टीकाकार हरिहरमिश्र ने लिखा है। पार० गृ० के दूसरे टीकाकार गदाधराचार्य का मत है कि पारस्कर मतावलम्बियों को दिन में ही विवाह करना चाहिए, क्योंकि आगे यह भी लिखा है कि 'अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति', अर्थात् सूर्यास्त होने पर ध्रुव को दिखाए।

हमारा निश्चित मत है कि इस विधि से विवाह संस्कार करानेवाले सभी वैदिक धर्मावलम्बियों के लिए विवाह संस्कार अनिवार्यतः अपराह्णकाल में ही कराना चाहिए, अन्यथा नहीं।

'मम व्रते०'—विवाह-संस्कार की पूर्वविधि में यह अन्तिम क्रिया है। आशीर्वाद के पश्चात् लिखा है कि—''वर-वधू यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् बैठके।'' 'बैठने' का निर्देश किये जाने से स्पष्ट है कि उस समय खड़े थे। वास्तव में सूर्यावलोकन से आशीर्वाद प्राप्ति तक की सारी क्रिया

---

* हे वधू! (ते) तेरे (हृदयम्) अन्तःकरण और आत्मा को (मम) मेरे (व्रते) कर्म के अनुकूल (दधामि) धारण करता हूँ। (मम) मेरे (चित्तमनु) चित्त के अनुकूल (ते) तेरा (चित्तम्) चित्त सदा (अस्तु) रहे। (मम) मेरी (वाचम्) वाणी को तू (एकमनाः) एकाग्रचित से (जुषस्व) सेवन किया कर। (प्रजापतिः) प्रजा का पालन करनेवाला परमात्मा (त्वा) तुझको (मह्यम्) मेरे लिए (नियुनक्तु) नियुक्त करे॥ —द०स०

§ वैसे ही हे प्रियवर स्वामिन्! आपका हृदय, आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण कर्म में धारण करती हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप एकाग्र होके मेरी वाणी का जो कुछ मैं आपसे कहूँ, उसका सेवन सदा किया कीजिए, क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आपको मेरे अधीन किया है, जैसे मुझको आपके अधीन किया है, अर्थात् इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्ता करें, जिससे सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान् पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार, अप्रियभाषणादि को छोड़के परस्पर प्रीतियुक्त रहें॥ —द०स०

---

१. यजुः० ३६।२४॥ २. पार० गृह्य० १।८।८॥

[सुमङ्गली-आशंसन]

तत्पश्चात् वर-वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्वा याथास्तं वि परेतन॥[१]

इस मन्त्र को बोलके कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करना और इस समय सब लोग—

'ओं सौभाग्यमस्तु। ओं शुभं भवतु॥'

इस वाक्य से आशीर्वाद देवें।

तत्पश्चात् वधू-वर यज्ञकुण्ड के समीप पूर्ववत् बैठके, पुनः पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे दोनों (ओं यदस्य कर्मणो०), इस स्विष्टकृत् मन्त्र से होमाहुति, अर्थात् एक आज्याहुति और पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे (ओं भूरग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ [चार] मन्त्रों से एक-एक से एक-एक आहुति करके ४ [चार] आज्याहुति देवें और इस प्रमाणे विवाह का विधि पूरे हुए पश्चात् दोनों जने आराम, अर्थात् विश्राम करें।

[उत्तर-विधि]

इस रीति से थोड़ा-सा विश्राम करके विवाह का उत्तर-विधि करें। यह उत्तर-विधि सब वधू के घर की ईशान दिशा में, विशेष करके एक घर प्रथम से बना रक्खा हो, वहाँ जाके करना।

तत्पश्चात् सूर्य अस्त हुए पीछे जब आकाश में नक्षत्र दीखें, उस समय वधू-वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठें और पृष्ठ ५६ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ०) इस मन्त्र से करें। यदि प्रथम ही सभामण्डप ईशान दिशा में हुआ और प्रथम अग्न्याधान किया हो, तो अग्न्याधान न करें। (ओम् अयन्त इध्म०) इत्यादि ४ [चार] मन्त्रों से समिदाधान करके, जब अग्नि प्रदीप्त होवे तब पृष्ठ ५९ में लिखे प्रमाणे (ओम् अग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ [चार]

वर-वधू के खड़े रहकर सम्पन्न होती है। इस प्रकार 'पूर्ववत्' से सूर्यावलोकन के लिए उठकर जाने से पूर्व की स्थिति अभिप्रेत है। इससे स्पष्ट है कि सप्तपदी के पश्चात् भी बैठने की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया था। इसलिए सप्तपदी के बाद आसन-परिवर्तन का प्रश्न नहीं उठता।

उत्तरविधि

उत्तरविधि सूर्यास्त के पश्चात् "वधू के घर की ईशान दिशा में होती है।" इससे विदित होता है कि यह कार्य सार्वजनिकरूप से जनता के सामने नहीं होता। जनता पूर्वविधि के अन्त में आशीर्वाद देकर जा चुकी होती है। 'ईशान' पूर्व और उत्तर के बीच की दिशा होती है। सभामण्डप से उठकर बाहर उत्तर दिशा में खड़े होकर पति, पत्नी को ध्रुव तारे को देखने का निर्देश करता है। खगोल के उत्तरी भाग में सात तारों का एक समूह ऐसी आकृति का है जिसमें चार तारे खाट के समान और तीन पूँछ के समान प्रतीत होते हैं। पूँछ का जो अकेला अन्त का तारा है उसके सामने जो खाट के दो तारे हैं उनको मिलानेवाली रेखा यदि बढ़ाई जाए तो वह ध्रुव के बीच में से गुज़रेगी या यूँ कहो कि खाट के ये दो तारे और ध्रुव तारा एक सीध में होंगे। यह ध्रुव तारा तो अपने स्थान पर निश्चल रहता है, पर सप्त ऋषि के नाम से प्रसिद्ध ये सात तारे उसकी परिक्रमा करते रहते हैं।

---

१. ऋ० १०।८५।३३॥

मन्त्रों से आघारावाज्यभागाहुति ४ [चार] और पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे (ओं भूरग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ [चार] मन्त्रों से ४ [चार] व्याहृति आहुति, ये सब मिलके ८ [आठ] आज्याहुति देवें।

[प्रधान-होम]

तत्पश्चात् प्रधान-होम करें निम्नलिखित मन्त्रों से—

ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वारोकेषु च यानि ते।

तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै—इदन्न मम॥

ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत्। तानि०॥

ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि०॥

ओम् आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि०॥

ओम् ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते। तानि०॥

ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्।

पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा॥ इदं कन्यायै—इदन्न मम॥[१]

ये ६ [छह] मन्त्र हैं। इनमें से एक-एक मन्त्र बोल, एक-एक से एक-एक आहुति, अर्थात् ६ छह आज्याहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे (ओं भूरग्नये स्वाहा) इत्यादि ४ [चार] व्याहृति मन्त्रों से ४ [चार] आज्याहुति देके—

[ध्रुव-दर्शन]

वधू-वर वहाँ से उठके सभामण्डप के बाहर उत्तर दिशा में जावें। तत्पश्चात् वर—

ध्रुवं पश्य॥[२]

ऐसा बोलके वधू को ध्रुव का तारा दिखलावे* और वधू वर से बोले कि मैं—

पश्यामि॥[३]

ध्रुव के तारे को देखती हूँ।

तत्पश्चात् वधू बोले—

ओं ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य + असौ)॥[४]

इस मन्त्र को बोलके, तत्पश्चात्—

---

* हे वधू या वर! जैसे यह ध्रुव दृढ़, स्थिर है, इसी प्रकार आप और मैं एक-दूसरे के प्रियाचरणों में दृढ़, स्थिर रहें। —द०स०

+ (अमुष्य) इस पद के स्थान में षष्ठीविभक्त्यन्त पति का नाम बोलना। जैसे—शिवशर्मा पति का नाम हो तो "शिवशर्मणः" ऐसा और (असौ) इस पद के स्थान में वधू अपने नाम को प्रथमाविभक्त्यन्त बोलके इस मन्त्र को पूरा बोले। जैसे—'भूयासं सौभाग्यदाहं शिवशर्मणस्ते"। इस प्रकार दोनों पद जोड़के बोले—

हे स्वामिन्! सौभाग्यदा (अहम्) मैं (अमुष्य) आप शिवशर्मा की अर्धाङ्गी (पतिकुले) आपके कुल में (ध्रुवा) निश्चल जैसेकि आप (ध्रुवम्) दृढ़ निश्चयवाले मेरे स्थिर पति (असि) हैं, वैसे मैं भी आपकी स्थिर दृढ़ पत्नी (भूयासम्) होऊँ॥ —द०स०

---

१. मन्त्रब्रा० १।३।१-६॥ २. द्र०—गो० गृह्य० २।३।८॥ पार० गृह्य० १।८।१९, २०॥

३. द्र०—गो० गृह्य० २।३।८॥ पार० गृह्य० १।८।१९-२०॥

४. गो० गृह्य० २।३।९॥

[अरुन्धती-दर्शन]

अरुन्धतीं पश्य ॥[१]

ऐसा वाक्य बोलके वर वधू को अरुन्धती का तारा दिखलावे और वधू—

पश्यामि ॥[१]

ऐसा कहके—

ओम् अरुन्धत्यसि रुद्धाहमस्मि (अमुष्य* असौ) ॥[२]

इस मन्त्र को बोलके वर वधू की ओर देखके वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

[ध्रुवीभाव-आशंसन]

ओं ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्§ ॥[३]
ओं ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि।
मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम्‡ ॥[४]

पूँछ के तीन तारों में से सिरे के तारे को वसिष्ठ और उससे अगले पूँछ के तारे को मरीचि कहते हैं। वसिष्ठ तारे के निकट एक छोटा-सा तारा है उसे अरुन्धती कहते हैं। अरुन्धती तारा वसिष्ठ या सप्त ऋषि तारों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इसलिए विवाह में ध्रुव और अरुन्धती की उपमा दी जाती है।

---

* (अमुष्य) इस पद के स्थान में पति का नाम षष्ठ्यन्त और (असौ) इसके स्थान में वधू का प्रथमान्त नाम जोड़कर बोले ॥ —द०स०

§ हे वरानने ! जैसे (द्यौः) सूर्य की कान्ति वा विद्युत् (ध्रुवा) सूर्यलोक वा पृथिव्यादि में निश्चल, जैसे (पृथिवी) भूमि अपने स्वरूप में (ध्रुवा) स्थिर, जैसे (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) संसार प्रवाहस्वरूप में (ध्रुवम्) स्थिर है, जैसे (इमे) ये प्रत्यक्ष (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) अपनी स्थिति में स्थिर हैं, वैसे (इयम्) यह तू मेरी (स्त्री) पत्नी (पतिकुले) मेरे कुल में (ध्रुवा) सदा स्थिर रहे ॥ —द०स०

‡ हे स्वामिन् ! जैसे आप मेरे समीप (ध्रुवम्) दृढ़ संकल्प करके स्थिर (असि) हैं या जैसे मैं (त्वा) आपको (ध्रुवम्) स्थिर, दृढ़ (पश्यामि) देखती हूँ, वैसे ही सदा के लिए मेरे साथ आप दृढ़ रहिएगा, क्योंकि मेरे मन के अनुकूल (त्वा) आपको (बृहस्पतिः) परमात्मा (अदात्) समर्पित कर चुका है। वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजायुक्त होके (शतं शरदः) सौ वर्षपर्यन्त (सम् जीव) जीविए तथा हे वरानने पत्नि ! (पोष्ये) धारण और पालन करने योग्य (मयि) मुझ पति के निकट (ध्रुवा) स्थिर (एधि) रह। (मह्यम्) मुझको अपनी मनसा के अनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है। तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (प्रजावती) बहुत उत्तम प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर। वधू-वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिससे कभी उल्टे विरोध में न चलें ॥ —द०स०

---

१. द्र०—गो० गृह्य० २।३।१०, ११ ॥

२. यह मन्त्रार्थ १७वें संस्करण तक 'अरुन्धत्यसि' मन्त्र की टिप्पणी के अन्त में छपा हुआ मिलता है। १८वें संस्करण में 'अरुन्धत्यसि' मन्त्र की टिप्पणी '(अमुष्य) होऊँ' हटा दी गई और अन्त में तू अरुन्धती नक्षत्र के तुल्य है, मैं भी रुकी हुई हूँ। आपकी मैं' इतना अंश बढ़ा दिया। २१वें संस्करण में उक्त मन्त्रार्थ 'ध्रुवा द्यौः' की टिप्पणी के अन्त में यथास्थान जोड़ दिया गया।

३. मन्त्रब्रा० १।३।७॥ ४. पार० गृह्य० १।८।१९॥

इन दोनों मन्त्रों को बोले।

पश्चात् वधू और वर दोनों यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होके कुण्ड के समीप बैठें और पृष्ठ ५५ में लिखे प्रमाणे (ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा) इत्यादि ३ तीन मन्त्रों से एक-एक से एक-एक आचमन करके तीन-तीन आचमन दोनों करें। पश्चात् पृष्ठ ५६ में लिखी हुई समिधाओं से यज्ञकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त करके, पृष्ठ ५० में लिखे प्रमाणे घृत और स्थालीपाक, अर्थात् भात को उसी समय बनावें। पृष्ठ ५८ में लिखे प्रमाण (ओम् अयन्त इध्म०) इत्यादि ४ [चार] मन्त्रों से समिधा-होम दोनों जने करके, पश्चात् पृष्ठ ५९ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति[१] ४ [चार] और पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे व्याहृति[२] आहुति ४ [चार], दोनों मिलके ८ [आठ] आज्याहुति वर-वधू देवें।

[ओदन-आहुति]

तत्पश्चात् जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन, अर्थात् भात है, उसको एक पात्र में निकालके उसके ऊपर स्रुवा से घृत सेचन करके, घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ से थोड़ा-थोड़ा भात दोनों जने लेके—

ओम् अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः—इदन्न मम॥

ओम् अनुमतये स्वाहा॥ इदमनुमतये—इदन्नमम॥[३]

इनमें से प्रत्येक मन्त्र से एक-एक करके ४ [चार] स्थालीपाक, अर्थात् भात की आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे (ओं यदस्य कर्मणो०) इस मन्त्र से १ [एक] स्विष्टकृत् आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे व्याहृति आहुति[४] ४ [चार] और पृष्ठ ६१-६२ में लिखे प्रमाणे अष्टाज्याहुति[५] ८ [आठ], दोनों मिलके १२ [बारह] आज्याहुति देनी।

[ओदन-प्राशन]

तत्पश्चात् शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकालके उसपर घृत-सेचन और दक्षिण हाथ रखके—

ओम् अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना। बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते * ॥ १ ॥

ध्रुव को देखते समय पत्नी अपना और पति का नाम लेती है। रामायण में अनेक बार राम के सीता का और सीता के राम का नाम लेकर सम्बोधन करने का उल्लेख मिलता है, परन्तु हर समय नाम लेते रहना शिष्टाचार की दृष्टि से उचित नहीं है।

---

* हे वधू वा वर! जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है, वैसे (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय (च) और (मनः) मन (च) और चित्त आदि को (सत्यग्रन्थिना) सत्यता की गाँठ से (बध्नामि) बाँधती वा बाँधता हूँ॥ —द०स०

---

१. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
२. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
३. द्र०—गो० गृह्य० २।३।२०॥
४. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
५. 'ओम् त्वन्नो अग्ने०' आदि ८ मन्त्रों से।

ओम् यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम। यदिदꣳ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव* ॥ २ ॥

ओम् अन्नं प्राणस्य षड्विꣳशस्तेन बध्नामि त्वा असौ+ ॥ ३ ॥[१]

इन तीनों मन्त्रों को मन से जपके वर उस भात में से प्रथम थोड़ा-सा भक्षण करके, जो उच्छिष्ट शेष भात रहे वह अपनी वधू के लिए खाने को देवे और जब वधू उसको खा चुके, तब वधू-वर यज्ञमण्डप में सन्नद्ध हुए शुभासन पर नियम प्रमाणे पूर्वाभिमुख बैठें और पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे सामवेदोक्त महावामदेव्यगान करें।

तत्पश्चात् पृष्ठ ३६-४८ में लिखे प्रमाणे ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण कर्म करके क्षार[२]-लवणरहित मिष्ट, दुग्ध, घृतादिसहित भोजन करें।

तत्पश्चात् पृष्ठ ६३ में लिखे प्रमाणे पुरोहितादि सद्धर्मी और कार्यार्थ इकट्ठे हुए लोगों को सन्मानार्थ उत्तम भोजन कराना।

तत्पश्चात् यथायोग्य पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री आदर-सत्कार करके विदा कर देवें।

[त्रिरात्र ब्रह्मचर्य तथा चतुर्थी कर्म]

तत्पश्चात् दश घटिका रात जाए, तब वधू और वर पृथक्-पृथक् स्थान में भूमि में बिछौना करके तीन रात्रिपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रतसहित रहकर शयन करें और ऐसा भोजन करें कि स्वप्न में भी वीर्यपात न होवे। तत्पश्चात् चौथे दिवस विधिपूर्वक गर्भाधानसंस्कार करें। यदि चौथे दिवस कोई अड़चन आवे तो अधिक दिन ब्रह्मचर्यव्रत में दृढ़ रहकर जिस दिन दोनों की इच्छा हो और पृष्ठ ८६-८७ में लिखे प्रमाणे गर्भाधान की रात्रि भी हो, उस रात्रि में यथाविधि गर्भाधान करें।

[प्रतियात्रा=वापसी]

तत्पश्चात् दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वर पक्षवाले लोग वधू और वर को रथ में बैठाके बड़े सन्मान से अपने घर में लावें और जो वधू अपने माता-पिता के घर को छोड़ते समय आँख

यदेतद् हृदयं—यह तादात्म्यभाव की स्थिति है जिसमें पति-पत्नी दो शरीरों में एक आत्मा जैसे हो जाते हैं, बिल्कुल जैसे ईश्वर-भक्त प्रेम की पराकाष्ठा का वर्णन करते हुए कहता है—**''यदग्रे स्याहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्''** (ऋ० ८।४४।२३), अर्थात्—यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाए तो तेरा आशीर्वाद सत्य हो जाए।

---

* हे वर! हे स्वामिन् वा पत्नी! (यदेतत्) जो यह (तव) तेरा (हृदयम्) आत्मा वा अन्तःकरण है, (तत्) वह (मम) मेरा (हृदयम्) आत्मा अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (अस्तु) हो और (मम) मेरा (यदिदम्) जो यह (हृदयम्) आत्मा, प्राण और मन है, (तत्) सो (तव) तेरे (हृदयम्) आत्मादि के तुल्य प्रिय (अस्तु) सदा रहे॥ —द०स०

\+ (असौ) हे यशोदे! जो (प्राणस्य) प्राण का पोषण करनेहारा (षड्विंशः) २६ [छब्बीस]वाँ तत्त्व (अन्नम्) अन्न है, (तेन) उससे (त्वा) तुझको (बध्नामि) दृढ़ प्रीति से बाँधता हूँ॥ —द०स०

---

१. मन्त्रब्रा० १।३।८-१०॥ मन्त्र में पाठ 'पड्विंशः' है। ये तीन मन्त्र हैं, ऐसा गुणविष्णु का मत है। दूसरे-तीसरे को एक करके दो मन्त्र हैं, ऐसा सायण कहता है। पाँच अवसानोंवाला एक ही मन्त्र है, ऐसा गो० गृह्य० के टीकाकार भट्टनारायण का मन्तव्य है।

२. 'क्षार' शब्द से 'सज्जी' का ग्रहण होता है। कुछ आचार्य 'क्षार' शब्द से 'माष, राजमाष, मुद्ग, मसूर, अरहर' आदि का ग्रहण करते हैं। द्र०—आश्व० गृह्य० टीका १।८।१०॥

में अश्रु भर लावे तो—

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे॥[१]

इस मन्त्र को वर बोले और रथ में बैठते समय वर अपने साथ दक्षिण बाजू वधू को बैठावे। उस समय में वर—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥ १ ॥[२]
सुकिंशुकः शल्मलिं विश्वरूपः हिरण्यवर्णः सुवृतः सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकंᳶ स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥ २ ॥[३]

इन दो मन्त्रों को बोलके रथ को चलावे।

यदि वधू को वहाँ से अपने घर लाने के समय नौका पर बैठना पड़े तो इस निम्नलिखित मन्त्र को पूर्व बोलके नौका पर बैठें—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।[४]

और नाव से उतरते समय—

अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥[५]

इस उत्तरार्द्ध मन्त्र को बोलके नाव से उतरें।

पुनः इसी प्रकार मार्ग में चार मार्गों का संयोग, नदी, व्याघ्र, चोर आदि से भय या भयङ्कर स्थान, ऊँचे-नीचे खाढ़ावाली पृथिवी, बड़े-बड़े वृक्षों का झुण्ड या श्मशानभूमि आवे, तो—

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः॥[६]

इस मन्त्र को बोले।

तत्पश्चात् वधू-वर जिस रथ में बैठके जाते हों, उस रथ का कोई अङ्ग टूट जाए, अथवा किसी प्रकार का अकस्मात् उपद्रव होवे, तो मार्ग में कोई अच्छा स्थान देखके निवास करना और साथ रक्खे हुए विवाहाग्नि को प्रगट करके[७] उसमें पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे ४ [चार] व्याहृति[८] आज्याहुति देनी। पश्चात् पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करना।

---

१. ऋ० १०।४०।१०॥ २. ऋ० १०।८५।२६॥

३. द्र०—ऋ० १०।८५।२०॥ यह पाठ ऋग्वेद से मिलता है, परन्तु ऋग्वेद में ःकार का प्रयोग नहीं होता। मन्त्रब्राह्मण में क्वचित् ᳶकार देखा जाता है, परन्तु उसमें १।३।११ में (सुवृतं) के स्थान पर 'सुवृत्त' और 'लोकं' के स्थान पर 'नाभिं' पाठ है। आप० गृह्य० में मन्त्र में पूर्वोक्त दोनों पाठ ऋग्वेद के समान हैं, परन्तु 'आ रोह सूर्ये' के स्थान पर 'आरोह वध्व०' पाठ मिलता है। ग्रन्थकार ने ःकार युक्त पाठ कहाँ से उद्धृत किया है, यह अन्वेषणीय है। वै० य० के ७वें संस्करण में ᳶ छापते हुए भी ऋग्वेद का पता दिया है। उत्तरवर्त्ती संस्करणों में ᳶ हटाकर ऋग्वेदवत् अनुस्वार कर दिया है।

४. ऋ० १०।५३।८ (पूर्वार्ध)॥ ५. ऋ० १०।५३।८ (उत्तरार्ध)॥

६. ऋ० १०।८५।३२॥ ७. अर्थात् प्रज्वलित करके।

८. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

[वधू का रथ से अवतारण तथा आशीर्वाद]

पश्चात् जब वधू-वर का रथ वर के घर के आगे आ पहुँचे, तब कुलीन, पुत्रवती, सौभाग्यवती, या कोई ब्राह्मणी, या अपने कुल की स्त्री आगे—सामने आकर वधू का हाथ पकड़के वर के साथ रथ से नीचे उतारे और वर के साथ सभामण्डप में ले-जावे। सभामण्डप द्वारे आते ही वर वहाँ कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करके—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाऽथास्तं वि परेतन॥[१]

इस मन्त्र को बोले। और आये हुए लोग—

ओं सौभाग्यमस्तु। ओं शुभं भवतु॥

इस प्रकार आशीर्वाद देवें। तत्पश्चात् वर—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः॥[२]

इस मन्त्र को बोलके वधू को सभामण्डप में ले-जावे।

तत्पश्चात् वधू-वर पूर्व-स्थापित यज्ञकुण्ड के समीप जावें। उस समय वर—

ओम् इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः। इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदतु॥[३]

इस मन्त्र को बोलके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पीठासन अथवा तृणासन पर वधू को अपने दक्षिण भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे।

वर-गृह में यज्ञ

तत्पश्चात् पृष्ठ ५५ में लिखे प्रमाणे (ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा) इत्यादि ३ [तीन] मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके तीन-तीन आचमन करें। तत्पश्चात् पृष्ठ ५६-५७ में लिखे प्रमाणे कुण्ड में यथाविधि समिधाचयन, अग्न्याधान करें। जब उसी कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो, तब उसपर घृत सिद्ध[४] करके पृष्ठ ५९-६० में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति[५] ४ [चार] और व्याहृति आहुति[६] ४ [चार], अष्टाज्याहुति[७] ८ [आठ], सब मिलके १६ [सोलह] आज्याहुति वधू-वर करके प्रधानहोम का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्रों से करें—

ओम् इह धृतिः स्वाहा॥ इदमिह धृत्यै—इदन्न मम॥
ओम् इह स्वधृतिः स्वाहा॥ इदमिह स्वधृत्यै—इदन्न मम॥
ओम् इह रन्तिः स्वाहा॥ इदमिह रन्त्यै—इदन्न मम॥
ओम् इह रमस्व स्वाहा॥ इदमिह रमाय—इदन्न मम॥
ओं मयि धृतिः स्वाहा॥ इदं मयि धृत्यै—इदन्न मम॥
ओं मयि स्वधृतिः स्वाहा॥ इदं मयि स्वधृत्यै—इदन्न मम॥

---

१. ऋ० १०।८५।३३॥ २. ऋ० १०।८५।२७॥
३. अथर्व० २०।१२७।१२॥ मन्त्रब्रा० १।३।१३॥
४. अर्थात् उष्ण। ५. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
६. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
७. 'ओम् त्वं नो अग्ने०' आदि ८ मन्त्रों से।

ओं मयि रमः स्वाहा॥ इदं मयि रमाय—इदन्न मम॥

ओं मयि रमस्व स्वाहा॥ इदं मयि रमाय—इदन्न मम॥[१]

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक करके ८ [आठ] आज्याहुति देके—

ओम् आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा*॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम॥ १॥

ओम् अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा+॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम॥ २॥

ओम् इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि स्वाहा§॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम॥ ३॥

ओं सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु स्वाहा॥॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम॥ ४॥[२]

* हे वधू! (अर्यमा) न्यायकारी, दयालु (प्रजापतिः) परमात्मा कृपा करके (आजरसाय) जरावस्था-पर्यन्त जीने के लिए (नः) हमारी (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को शुभ गुण-कर्म-स्वभाव से (आजनयतु) प्रसिद्ध करे, (समनक्तु) उससे उत्तम सुख को प्राप्त करे और वे शुभ गुणयुक्त (मङ्गलीः) स्त्रीलोग सब कुटुम्बियों को आनन्द (अदुः) देवें। उनमें से एक तू हे वरानने! (पतिलोकम्) पति के घर वा सुख को (आविश) प्रवेश वा प्राप्त हो। (नः) हमारे (द्विपदे) पिता आदि मनुष्यों के लिए (शम्) सुखकारिणी और (चतुष्पदे) गौ आदि को (शम्) सुखकर्त्ता (भव) हो॥ —द०स०

+ इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ २६४ में लिखे प्रमाणे जानना। —द०स०

§ ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे (मीढ्वः) वीर्य-सेचन करनेहारे, (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त इस वधू के स्वामिन्! (त्वम्) तू (इमाम्) इस वधू को (सुपुत्राम्) उत्तम पुत्रयुक्त (सुभगाम्) सुन्दर सौभाग्य भोगवाली (कृणु) कर। (अस्याम्) इस वधू में (दश) दश (पुत्रान्) पुत्रों को (आधेहि) उत्पन्न कर, अधिक नहीं और हे स्त्री! तू भी अधिक कामना मत कर, किन्तु दस पुत्र और (एकादशम्) ग्यारहवें (पतिम्) पति को प्राप्त होकर सन्तोष (कृधि) कर। यदि इससे आगे सन्तानोत्पति का लोभ करोगे, तो तुम्हारे दुष्ट, अल्पायु, निर्बुद्धि सन्तान होंगे और तुम भी अल्पायु, रोगग्रस्त हो जाओगे। इसलिए अधिक सन्तानोत्पत्ति न करना॥

तथा (पतिमेकादशं कृधि) इद पाद का अर्थ नियोग में दूसरा होगा—अर्थात् जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दस पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा की है, वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे-करावे। वैसे ही एक स्त्री के लिए एक पति से एक बार विवाह और पुरुष के लिए भी एक स्त्री से एक बार विवाह करने की आज्ञा है। जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे, वैसे पुरुष भी विगतस्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे॥ —द०स०

॥ हे वरानने! तू (श्वशुरे) मेरा पिता जोकि तेरा श्वशुर है, उसमें प्रीति करके (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान्, चक्रवर्ती राजा की राणी के समान पक्षपात छोड़के प्रवृत्त (भव) हो। (श्वश्र्वाम्) मेरी माता जोकि तेरी सासु है, उसमें प्रेमयुक्त होके उसी की आज्ञा में (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमान (भव) रहा कर। (ननान्दरि) जो मेरी बहिन और तेरी ननन्द है, उसमें भी (सम्राज्ञी) प्रीतियुक्त और (देवृषु) मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं, उनमें भी ((साम्राज्ञी)प्रीति से प्रकाशमान् (अभि भव) अधिकारयुक्त हो, अर्थात् सबसे अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्ता कर॥ —द०स०

१. मन्त्रब्रा० १।३।१३॥ में निर्दिष्ट मन्त्र की 'आज्याहुतिर्जुहोत्यष्टाविह धृतिरिति' गो० गृह्य० २।४।९ के अनुसार आठ आहुतियाँ कल्पित की गई हैं।

२. ऋ० १०।८५।४३-४६॥

इन ४ [चार] मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके ४ [चार] आज्याहुति देके, पृष्ठ ३७ में लिखे प्रमाणे स्विष्टकृत्[1] होमाहुति १ [एक], व्याहृति[2] आज्याहुति ४ [चार] और प्राजापत्याहुति[3] १ [एक], ये सब मिलके ६ [छह] आज्याहुति देकर—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ * ॥[4]

इस मन्त्र को बोलके दोनों दधिप्राशन करें।

तत्पश्चात्—

अहं भो अभिवादयामि+ ॥[5]

इस वाक्य को बोलके दोनों वधू-वर, वर की माता-पिता आदि वृद्धों को प्रीतिपूर्वक नमस्कार करें।

पश्चात् सुभूषित होकर शुभासन पर बैठके पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान करके, उसी समय पृष्ठ ३६-४२ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करनी। उस समय कार्यार्थ आये हुए सब स्त्री-पुरुष ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर का ध्यान करें।

[स्वस्ति-वाचन]

तथा वधू-वर पिता, आचार्य और पुरोहित आदि को कहें कि—

ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु ॥[6]

आप लोग स्वस्तिवाचन करें।

तत्पश्चात् पिता, आचार्य, पुरोहित जो विद्वान् हों, अथवा उनके अभाव में यदि वधू-वर विद्वान्, वेदवित् हों, तो वे ही दोनों पृ० ४३-४५ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन का पाठ बड़े प्रेम से करें।

पाठ हुए पश्चात् कार्यार्थ आये हुए स्त्री-पुरुष सब—

ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ओं स्वस्ति ॥

इस वाक्य को बोलें।

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता, पिता, चाचा, भाई आदि पुरुषों को तथा माता, चाची, भगिनी आदि स्त्रियों

---

* इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ २६३ में लिखे प्रमाणे समझ लेना। —द०स०

+ इससे उत्तम 'नमस्ते' यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिए नित्यप्रति स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य आदि के लिए है। प्रातः-सायं, अपूर्व समागम में जब-जब मिलें, तब-तब इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें॥ —द०स०

---

१. 'ओम् यदस्य कर्मणो०' मन्त्र से।

२. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. 'ओं प्रजापतये स्वाहा' मन्त्र से।

४. ऋ० १०।८५।४७॥

५. द्र०—गोभिलगृह्य० २।४।१०॥

६. द्र०—आश्व० गृह्य० १।८।५॥ 'अथ स्वस्त्ययनं वाचयीत' सूत्र का अभिप्राय टीकाकार के मत में 'ओम् स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु' प्रयोग से है। उपस्थित जन 'ओम् स्वस्ति' ऐसा प्रत्युत्तर देवें। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वस्तिवाचन का पाठरूप जो अभिप्राय समझा है, वह भी यहाँ सम्यग्रूप से उपपन्न होता है।

को यथावत् सत्कार करके विदा करें।

[गर्भाधान का दूसरा काल]

तत्पश्चात् यदि किसी विशेष कारण से श्वशुरगृह में गर्भाधान-संस्कार न हो सके, तो वधू-वर क्षार-आहार और विषय-तृष्णारहित व्रतस्थ होके पृष्ठ ६४-९५ में लिखे प्रमाणे विवाह के चौथे दिवस में गर्भाधान संस्कार करें। अथवा उस दिन ऋतुकाल न हो, तो किसी दूसरे दिन गर्भस्थापन करें और जो वर दूसरे देश से विवाह के लिए आया हो तो वह जहाँ जिस स्थान में विवाह करने के लिए जाकर उतरा हो, उसी स्थान में गर्भाधान करे।

[वधू और वर के पारिवारिक जनों का व्यवहार]

पुनः अपने घर आके पति, सासु, श्वशुर, नणन्द[१], देवर, देवराणी, ज्येष्ठ जेठाणी[१] आदि कुटुम्ब के मनुष्य वधू की पूजा, अर्थात् सत्कार करें। सदा प्रीतिपूर्वक परस्पर वर्त्तें और मधुरवाणी, वस्त्र, आभूषण आदि से सदा प्रसन्न और सन्तुष्ट वधू को रक्खें तथा वधू भी सबको प्रसन्न रक्खे और वर उस वधू के साथ पत्नीव्रतादि सद्धर्म से वर्ते तथा पत्नी भी पति के साथ पतिव्रतादि सद्धर्म, चाल-चलन से सदा पति की आज्ञा में तत्पर और उत्सुक रहे तथा वर भी स्त्री की सेवा-प्रसन्नता में तत्पर रहे॥

॥ इति विवाहसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

---

१. ये पाठ संस्करण २, ३ में हैं। अगले संस्करणों में 'ननन्द, देवरानी, जेठानी' बना दिया है।

अथ गृहाश्रमसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'गृहाश्रम-संस्कार'[1] उसको कहते हैं कि जो ऐहिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन-मन-धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करनी।

अत्र प्रमाणानि

सोमो॑ वधूयुर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा। सूर्यां॒ यत्पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ताद॑दात्॥ १॥

इ॒हैव स्तं॒ मा वि यौ॑ष्टं॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतम्। क्रीड॑न्तौ पु॒त्रैर्नप्तृ॑भि॒र्मोद॑मानौ स्वस्त॒कौ॥ २॥[2]

अर्थः—(सोमः) सुकुमार शुभगुणयुक्त, (वधूयुः) वधू की कामना करनेहारा पति तथा वधू पति की कामना करनेहारी (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त (अभवत्) होवें और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ, तुल्य गुण-कर्म-स्वभाववाले (आस्ताम्) होवें। ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरणवत्, सौन्दर्य गुणयुक्त, (पत्ये) पति के लिए (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण-कीर्त्तन करनेवाली वधू है उसको पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष-को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (ददात्) देता है, अर्थात् बड़े भाग्य से दोनों स्त्री-पुरुषों का, जो कि तुल्य गुण-कर्म-स्वभाव हों, जोड़ा मिलता है॥ १॥

हे स्त्री और पुरुष! मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूँ कि जो तुम्हारे लिए पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है, जिसको तुम दोनों ने स्वीकार किया है, (इहैव) इसी में (स्तम्) तत्पर रहो, (मा वियौष्टम्) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होओ। (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके सम्पूर्ण आयु, जो १०० सौ वर्षों से कम नहीं है, उसको प्राप्त होओ और पूर्वोक्त धर्मरीति से (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ) उत्तम गृहवाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो॥ २॥

---

१. गृहाश्रम-संस्कार कर्म नहीं है, अतः 'अथ गृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः' इतना ही पाठ होना चाहिए। जैसे वेदारम्भ के अन्त में ब्रह्मचर्याश्रम के कर्तव्यों का उल्लेख है, वैसे ही यह प्रकरण भी विवाह-संस्कार का परिशिष्टस्वरूप है। इसमें विवाह के पश्चात् गृहस्थ के क्रियमाण धर्मों का उपदेश है।

२. अथर्व० १४।१९, २२॥ वै० यं० के ७वें संस्करण में मन्त्रों के पते देनेवाले व्यक्ति ने इन मन्त्रों पर ऋग्वेद का पता देकर द्वितीय मन्त्र में अथर्व० के पाठ 'स्वस्तकौ' को हटाकर ऋग्वेद का पाठ 'स्वे गृहे' बना दिया, परन्तु उसकी दृष्टि इसके भाषार्थ पर नहीं पड़ी, जहाँ 'स्वस्तकौ' का अर्थ किया हुआ है, अतः मन्त्रपाठ में 'स्वे गृहे' परिवर्तन कर देने पर भी २१वें संस्करण तक भाषार्थ में (स्वस्तकौ) पद ही छपता रहा। २२वें संस्करण में भाषार्थ में भी (स्वस्तकौ) हटाकर (स्वे गृहे) पाठ बना दिया गया। यह परिवर्तन स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी ने किया, परन्तु कोष्ठक में (स्वस्तकौ) हटा देने पर भी भाषार्थ २४वें संस्करण तक (स्वस्तकौ) पद का ही छपता रहा। अज्ञान से उत्तरोत्तर कैसे पाठ परिवर्तित किये गये, इसका यह एक विशिष्ट उदाहरण है।

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः। स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान्॥ ३॥
स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ ४॥
या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि। वर्चो न्व१स्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन॥ ५॥
आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि॥ ६॥[1]

अर्थः—हे वरानने! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने तथा (प्रतरणी) दोष और शोकादि से पृथक् रहनेहारी, (गृहाणाम्) गृह–कार्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुखयुक्त होके (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और (श्वश्र्वै) सासु के लिए (शम्भूः) सुखकर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुकपूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर॥ ३॥

हे वधू! तू (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादि के लिए (स्योना) सुखदाता, (पत्ये) पति के लिए (स्योना) सुखदाता और (गृहेभ्यः) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिए (स्योना) सुखदायक (भव) हो और (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद और (एषाम्) इनके (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर (भव) हो॥ ४॥

(याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयवाली, अर्थात् दुष्टात्मा (युवतयः) जवान स्त्रियाँ, (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में (जरतीः) बुड्ढी=वृद्ध स्त्रियाँ हों, वे (अपि) भी (अस्यै) इस वधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेज (सं दत्त) देवें। (अथ) इसके पश्चात् (अस्तम्) अपने–अपने घर को (विपरेतन) चली जावें और फिर इसके पास कभी न आवें॥ ५॥

हे वरानने! तू (सुमनस्यमाना) प्रसन्नचित होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आरोह) चढ़के शयन कर और (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रहकर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिए (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर। (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानी (बुध्यमाना) उत्तम शिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव) सूर्य की कान्ति के समान तू (उषसः) उषःकाल से (अग्रा) पहली (ज्योतिः) ज्योति के तुल्य (प्रति जागरासि) प्रत्यक्ष सब कामों में जागती रह॥ ६॥

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह॥ ७॥
सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः।
मर्यइव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम्॥ ८॥
तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः॥ ९॥[2]

अर्थः—हे सौभाग्यप्रदे (नारि) नारी! तू जैसे (इह) इस गृहाश्रम में (अग्रे) प्रथम (देवाः) विद्वान् लोग (पत्नीः) उत्तम स्त्रियों को (न्यपद्यन्त) प्राप्त होते हैं और (तनूभिः) शरीरों से (तन्वः) शरीरों को (समस्पृशन्त) स्पर्श करते हैं, वैसे (विश्वरूपा) विविध सुन्दररूप को धारण करनेहारी, (महित्वा) सत्कार को प्राप्त होके (सूर्येव) सूर्य की कान्ति के समान (पत्या) अपने स्वामी के

१. अथर्व० १४।२।२६, २७, २९, ३१॥
२. अथर्व० १४।२।३२, ३७, ३८॥

साथ मिल के (प्रजावती) प्रजा को प्राप्त होनेहारी (सम्भव) अच्छे प्रकार हो॥७॥

हे स्त्री-पुरुषो! तुम (पितरौ) बालकों के जनक (ऋत्विये) ऋतुसमय में सन्तानों को (संसृजेथाम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न करो। (माता) जननी (च) और (पिता) जनक दोनों (रेतसः) वीर्य को मिलाकर गर्भाधान करनेहारे (भवाथः) हूजिए। हे पुरुष! (एनाम्) इस (योषाम्) अपनी स्त्री को (मर्यः इव) प्राप्त होनेवाले पति के समान (अधि रोहय) सन्तानों से बढ़ा और दोनों (इह) इस गृहाश्रम में मिलके (प्रजाम्) प्रजा को (कृण्वाथाम्) उत्पन्न करो, (पुष्यतम्) पालन-पोषण करो और पुरुषार्थ से (रयिम्) धन को प्राप्त होओ॥८॥

हे (पूषन्) वृद्धिकारक पुरुष! (यस्याम्) जिसमें (मनुष्याः) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य को (वपन्ति) बोते हैं, (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (ऊरू) ऊरू को सुन्दरता से (विश्रयाति) विशेषकर आश्रय करती है, (यस्याम्) जिमें (उशन्तः) सन्तानों की कामना करते हुए हम (शेपः) उपस्थेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहरण करते हैं, (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करनेहारी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिए (एरयस्व) प्रेम से प्रेरणा कर॥९॥

स्योनाद् योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥१०॥
इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्॥११॥
जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः। अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये॥१२॥[१]

अर्थः—हे स्त्री और पुरुष! जैसे सूर्य (विभातीः) सुन्दर प्रकाशयुक्त (उषसः) प्रभातवेला को प्राप्त होता है, वैसे (स्योनात्) सुख से (योनेः) घर के मध्य में (अधि बुध्यमानौ) सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को अच्छे प्रकार जाननेहारे, सदा (हसामुदौ) हास्य और आनन्दयुक्त, (महसा) बड़े प्रेम से (मोदमानौ) अत्यन्त प्रसन्न हुए, (सुगू) उत्तम चाल चलने से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छे प्रकार चलनेहारे, (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रवाले, (सुगृहौ) श्रेष्ठ गृहादि सामग्रीयुक्त (जीवौ) उत्तम प्रकार जीवों को धारण करते हुए (तराथः) गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ॥१०॥

हे (इन्द्र) परमेश्वर्ययुक्त विद्वान् राजन्! आप (इह) इस संसार में (इमौ) इन स्त्री-पुरुषों को समय पर विवाह करने की आज्ञा और ऐसी व्यवस्था दीजिए कि जिससे कोई स्त्री-पुरुष पृष्ठ १९०-१९३ में लिखे प्रमाण से पूर्व वा अन्यथा विवाह न कर सकें, वैसे (सं नुद) सबको प्रसिद्धि से प्रेरणा कीजिए। जिससे ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा को पाके (दम्पती) जाया और पति (चक्रवाकेव) चकवा-चकवी के समान एक-दूसरे से प्रेमबद्ध रहें और गर्भाधानसंस्कारोक्तविधि से (प्रजया) उत्पन्न हुई प्रजा से (एनौ) ये दोनों (स्वस्तकौ) सुखयुक्त होके (विश्वम्) सम्पूर्ण—१०० [सौ] वर्षपर्यन्त (आयुः) आयु को (व्यश्नुताम्) प्राप्त होवें॥११॥

हे मनुष्यो! जैसे (सुदानवः) विद्यादि उत्तम गुणों के दान करनेहारे (अग्रवः) उत्तम स्त्री-पुरुष (जनियन्ति) पुत्रोत्पत्ति करते और (पुत्रियन्ति) पुत्र की कामना करते हैं, वैसे (नौ) हमारे भी सन्तान उत्तम होवें तथा (अरिष्टासू) बल, प्राण का नाश न करनेहारे होकर (बृहते) बड़े (वाजसातये) परोपकार के अर्थ विज्ञान और अन्न आदि के दान के लिए (सचेवहि) कटिबद्ध सदा रहें, जिससे हमारे सन्तान भी उत्तम होवें॥१२॥

---

१. अथर्व० १४।२।४३, ६४, ७२॥

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥ १३॥[१]
सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ १४॥[२]

अर्थः—हे पत्नी! तू (शतशारदाय) शतवर्षपर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घकाल जीने के लिए (सुबुधा) उत्तम बुद्धियुक्त, (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और (गृहपत्नी) मुझ घर के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घकाल-पर्यन्त (आयुः) जीवन (आसः) होवे, वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान। इस अपनी आशा को (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देनेहारा परमात्मा (कृणोतु) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे। जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें॥ १३॥

हे गृहस्थो! मैं ईश्वर तुमको जैसी आज्ञा देता हूँ, वैसा ही वर्त्तमान करो, जिससे तुमको अक्षय सुख हो, अर्थात् (वः) तुम्हारा (सहृदयम्) जैसी अपने लिए सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो, वैसे माता-पिता, सन्तान, स्त्री-पुरुष, भृत्य, मित्र, पड़ोसी और अन्य सबसे समान हृदय रहो। (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता और (अविद्वेषम्) वैर-विरोधादिरहित व्यवहार को तुम्हारे लिए (कृणोमि) स्थिर करता हूँ। तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्त्तती है, वैसे (अन्यो अन्यम्) एक-दूसरे से (अभि हर्यत) प्रेमपूर्वक कामना से वर्त्ता करो॥ १४॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्॥ १५॥[३]
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ १६॥[४]

अर्थः—हे गृहस्थो! जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) प्रीतियुक्त मनवाला, (अनुव्रतः) अनुकूल आचरणयुक्त, (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेमवाला (भवतु) होवे, वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्त्ता करो। जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिए (मधुमतीम्) माधुर्यगुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे, वैसे पति भी (शन्तिवान्) शान्त होकर अपनी पत्नी से सदा मधुर भाषण किया करे॥ १५॥

हे गृहस्थो! तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा द्विक्षत्) द्वेष कभी न करे। (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करे तथा बहिन-भाई भी परस्पर द्वेष मत करो, किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण-कर्भ-स्वभाववाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक-दूसरे के साथ (वाचम्) सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो॥ १६॥

---

१. अथर्व० १४।२।७५॥

२. अथर्व० ३।३०।१॥

३. अथर्व० ३।३०।२॥ 'शन्तिवान्' द्र०—राथह्विटनी संस्करण। अन्यत्र छपा पाठ 'शन्तिवाम्'। 'शन्तिवाम्' पाठ होने पर यह 'वाचं' का विशेषण बनता है। शन्तिवान् पाठ वर का विशेषण होकर स्वतन्त्र वाक्य बनता है। यही पक्ष ग्रन्थकार ने स्वीकार किया है।

४. अथर्व० ३।३०।३॥

येन॑ दे॒वा न वि॒यन्ति॒ नो च॑ विद्वि॒षते॑ मि॒थः। तत्कृ॑ण्म॒ो ब्रह्म॑ वो गृ॒हे सं॒ज्ञानं॒ पुरु॑षेभ्यः॥ १७॥[१]

अर्थ:—हे गृहस्थो! मैं ईश्वर (येन) जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न वियन्ति) पृथक् भाववाले नहीं होते, (च) और (नो विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते, (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूँ। (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) अच्छे प्रकार चिताता हूँ कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त्तकर बड़े (ब्रह्म) धनैश्वर्य को प्राप्त होओ॥ १७॥

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्तः सधु॑राश्चर॑न्तः।

अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑ सध्री॒चीना॑न्व॒ः संम॑नसस्कृणोमि॥ १८॥

अर्थ:—हे गृहस्थादि मनुष्यो! तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादिगुणयुक्त, (चित्तिनः) विद्वान्, सज्ञान, (सधुराः) धुरन्धर होकर (चरन्तः) विचरते और (संराधयन्तः) परस्पर मिलके धन-धान्य, राज्यसमृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा वियौष्ट) विरोधी वा पृथक्-पृथक् भाव मत करो। (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिए (वल्गु) सत्य, मधुर भाषण (वदन्तः) कहते हुए एक-दूसरे को (एत) प्राप्त होओ। इसीलिए (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से एक-दूसरे के सहायक, (संमनसः) एकमत्यवाले (वः) तुमको (कृणोमि) करता हूँ, अर्थात् मैं ईश्वर तुमको जो आज्ञा देता हूँ, इसको आलस्य छोड़कर किया करो॥ १८॥

स॒मा॒नी प्र॒पा स॒ह वो॑ऽन्नभा॒गः स॑मा॒ने योक्त्रे॑ स॒ह वो॑ युनज्मि।

स॒म्य॒ञ्चो॒ऽग्निं॑ सप॑र्यता॒रा नाभि॑मिवा॒भितः॑॥ १९॥

स॒ध्री॒चीना॑न्व॒ः संम॑नसस्कृणो॒म्येक॑श्नुष्टीन्त्सं॒वन॑नेन॒ सर्वा॑न्।

दे॒वाइ॑वा॒मृतं॒ रक्ष॑माणाः सा॒यंप्रा॑तः सौमन॒सो वो॑ अस्तु॥ २०॥[२]

—अथर्व० कां० ३। वर्ग ३०। मन्त्र १-७॥[३]

अर्थ:—हे गृहस्थादि मनुष्यो! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान, स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एक-सा हो। (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) खान-पान (सह) साथ हुआ करे। (वः) तुम्हारे (समाने) एक-से (योक्त्रे) अश्वादि यान के जोते (सह) संगी हों और तुमको मैं धर्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके (युनज्मि) नियुक्त करता हूँ। जैसे (आराः) चक्र के आरे (अभितः) चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं, अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिलके (अग्निम्) अग्नि आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं, वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्तिवाले तुम मिलके धर्मयुक्त कर्मों को और (सपर्यत) एक-दूसरे का हित सिद्ध किया करो॥ १९॥

हे गृहस्थादि मनुष्यो! मैं ईश्वर (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान, (संमनसः) परस्पर के लिए हितैषी, (एकश्नुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होनेवाले (सर्वान्) सबको (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक-दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूँ। तुम (देवाइव)

---

१. अथर्व० ३।३०।४॥

२. अथर्व० ३।३०।५॥

३. अथर्व० ३।३०।६-७॥ ७वें मन्त्र में '०म्येकश्नुष्टी० पाठ राथह्विटनी के संस्करणानुसार है। भाषार्थ में भी (एकश्नुष्टीन्) पद ही रखा है।

विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणा:) रक्षा करते हुए (सायंप्रात:) सन्ध्या और प्रात:काल, अर्थात् सब समय में एक-दूसरे से प्रेमपूर्वक मिला करो। ऐसे करते हुए (व:) तुम्हारा (सौमनस:) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे॥ २०॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिताः॥ २१॥

सत्येनावृताः श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः॥ २२॥

स्वधया परिहिताः श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्॥ २३॥

अर्थः—हे स्त्रीपुरुषो! मैं ईश्वर तुमको आज्ञा देता हूँ कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टा:) संयुक्त, (ब्रह्मणा) वेदविद्या, परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में और (ऋते) यथार्थ पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म में (श्रिता:) चलनेहारे सदा बने रहो॥ २१॥

(सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृता:) चारों ओर से युक्त, (श्रिया) शोभा तथा लक्ष्मी से (प्रावृता:) युक्त, (यशसा) कीर्ति और धन से (परीवृता:) सब ओर से संयुक्त रहा करो॥ २३॥

(स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिता:) सबके हितकारी, (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढा:) सब ओर से सबको सत्याचरण प्राप्त करानेहारे, (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ता:) सुरक्षित, (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार, शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिता:) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो और इन्हीं कर्मों से (निधनम् लोक:) इस मनुष्यलोक को प्राप्त होके मृत्युपर्यन्त सदा आनन्द में रहो॥ २३॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥ २४॥[1]

अर्थः—हे मनुष्यो! तुम जो (ओज:) पराक्रम (च) और इसकी सामग्री, (तेज:) तेजस्वीपन (च) और इसकी सामग्री, (सह:) स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ तथा शोकादि का सहन (च) और इसके साधन, (बलं च) बल और इसके साधन, (वाक् च) सत्य, प्रिय वाणी और इसके अनुकूल व्यवहार, (इन्द्रियं च) शान्त, धर्मयुक्त अन्त:करण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता, (श्रीश्च) लक्ष्मी, सम्पत्ति और इसकी प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग, (धर्मश्च) पक्षपातरहित न्यायाचरण, वेदोक्त धर्म और जो इसके साधन वा लक्षण हैं, उनको तुम प्राप्त होके इन्हीं में सदा वर्त्ता करो॥ २४॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥ २५॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च॥ २६॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च॥ २७॥[2]

—अथर्व० कां० १२। अ० ५। वर्ग १-२॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो! तुमको योग्य है कि (ब्रह्म च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुणयुक्त मनुष्य और सबके उपकारक शम-दमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल, (क्षत्रं च) विद्यादि उत्तम गुणयुक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रियकुल (राष्ट्रं च) राज्य और उसका न्याय से पालन, (विशश्च) उत्तम प्रजा और उनकी उन्नति, (त्विषिश्च) सद्विद्यादि से तेज, आरोग्य, शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान और इसकी उन्नति से (यशश्च) कीर्तियुक्त तथा इसके साधनों को प्राप्त हुआ करो।

---

१. अथर्व० १२।५।७॥

२. अथर्व० १२।५।८-१०॥

(वर्चश्च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़ना, (द्रविणं च) द्रव्योपार्जन, उसकी रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो॥ २५॥

हे स्त्रीपुरुषो! तुम अपना (आयुः) जीवन बढ़ाओ, (च) और सब जीवन में धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो। (रूपं च) विषयासक्ति, कुपथ्य, रोग और अधर्माचरण को छोड़के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो, (नाम च) नामकरण के पृष्ठ १२४-१३४ में लिखे प्रमाणे शास्त्रोक्त संज्ञाधारण और उसके नियमों को भी (कीर्तिश्च) सत्याचरण से प्रशंसा का धारण और गुणों में दोषारोपणरूप निन्दा को छोड़ दो। (प्राणश्च) चिरकालपर्यन्त जीवन का धारण और उसके युक्ताहार-विहारादि साधन, (अपानश्च) सब दुःख दूर करने का उपाय और उसकी सामग्री, (चक्षुश्च) प्रत्यक्ष और अनुमान, उपमान, (श्रोत्रं च) शब्दप्रमाण और उसकी सामग्री को धारण किया करो॥ २६॥

हे गृहस्थ लोगो! (पयश्च) उत्तम जल, दूध और इसका शोधन और युक्ति से सेवन, (रसश्च) घृत, दूध, मधु आदि और इसका युक्ति से आहार-विहार, (अन्नं च) उत्तम चावल आदि अन्न और उसके उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यं च) खाने के योग्य पदार्थ और उसके साथ उत्तम दाल, शाक, कढ़ी आदि, (ऋतं च) सत्य मानना और सत्य मनवाना, (सत्यं च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टं च) यज्ञ करना और कराना, (पूर्तं च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आराम-वाटिका आदि का बनाना और बनवाना, (प्रजा च) प्रजा की उत्पत्ति, पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी, (पशवश्च) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी चाहिए॥ २७॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ १॥

—य० अ० ४०। मन्त्र २॥

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिए आज्ञा देता हूँ कि सब मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ होके (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं समाः) १०० सौ वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, आलसी और प्रमादी कभी न होवे। (एवम्) इसी प्रकार उत्तम कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा) उलटा पापरूप (कर्म) दुःखद कर्म (न लिप्यते) लिप्यमान कभी नहीं होता और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ। इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता, इसलिए तुम स्त्री-पुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो॥ १॥

पुनः स्त्री-पुरुष सदा निम्नलिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें। वे मन्त्र ये हैं—

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳसुवीरो वीरैः सुपोष पोषैः।
नर्यं प्रजां मे पाहि शꣳस्यं पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि॥ २॥
गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥ ३॥ —यजु० अ० ३। मन्त्र ३७, ४१॥

अर्थः—हे स्त्री वा पुरुष! मैं तेरा वा अपने के सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक, वाचिक और मानस, अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त होके (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ

(सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त (स्याम्) होऊँ। (वीरैः) उत्तम पुत्र, बन्धु, सम्बन्धी और भृत्यों से सह वर्तमान (सुवीरः) उत्तम वीरों से सहित होऊँ। (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टियुक्त होऊँ। हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन्! (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिए। हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन्! आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिए। हे (अथर्य) अहिंसक, दयालो स्वामिन्! (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिए। वैसे हे नारी! प्रशंसनीय गुणयुक्त तू मेरी प्रजा, मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर॥ २॥

हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो! तुम विधिपूर्वक गृहाश्रम में प्रवेश करने से (मा बिभीत) मत डरो, (मा वेपध्वम्) मत कंपायमान होओ। (ऊर्ज्जम्) अन्न, पराक्रम तथा विद्यादि शुभगुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग (एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन-स्थान से तुम्हीं हमारा निर्वाह करते हो। इसलिए तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहार में निवास सर्वोत्कृष्ट है। हे वरानने! जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोदमानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्न मन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त तुझको और हे मेरे पूजनीयतम पिता आदि लोगो! (वः) तुम्हारे लिए (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ तुम (गृहान्) गृहस्थों को (आ एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूँ, उसी प्रकार तुम लोग भी मुझसे प्रसन्न होके वर्ता करो॥ ३॥

येषा॒मध्ये॑ति प्र॒वस॑न् येषु॒ सौमन॒सो ब॒हुः। गृ॒हानुप॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः॥ ४॥

उप॑हूता॒ऽ इ॒ह गाव॒ऽ उप॑हूता अ॒जाव॑यः। अथो॒ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ऽ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः।

क्षेमा॑य वः शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये॒ शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शं॒योः शं॒योः॥ ५॥ —यजुः० अध्याय ३। मं० ४२, ४३॥

अर्थः—हे गृहस्थो! (प्रवसन्) परदेश को गया हुआ मनुष्य (येषाम्) जिनका (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) बहुत (सौमनसः) प्रीति होती है, उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उपह्वयामहे) प्रशंसा करते और उनको प्रीति से समीपस्थ बुलाते हैं। (ते) वे गृहस्थ लोग (जानतः) उनको जाननेवाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुहृद् जानें। वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिलके पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें॥ ४॥

हे गृहस्थो! (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों तथा (अजावयः) बकरी, भेड़ आदि दूध देनेवाले पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों, (अथो) इसके अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवे, हम लोग वैसा प्रत्यन किया करें। हे गृहस्थो! मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्त्यै) निरुपद्रवता करने के लिए (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूँ। मैं और आप लोग प्रीति से मिलके (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यावहारिक सुख और (शंयोः शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त होके अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें॥ ५॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ १॥

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्। अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते॥ २॥ —मनु०॥[१]

---

१. मनु० ३।६०-६१॥

अर्थः—हे गृहस्थो! जिस कुल में भार्या से प्रसन्न पति और पति से भार्या सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित कल्याण होता है और दोनों परस्पर अप्रसन्न रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है॥ १॥

यदि स्त्री-पुरुष पर रुचि न रखे वा पुरुष को प्रहर्षित न करे तो अप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में कामोत्पत्ति कभी न होके सन्तान नहीं होते और यदि होते हैं तो दुष्ट होते हैं॥ २॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद् रोचते कुलम्। तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥ ३॥

—मनु०॥[1]

अर्थः—और जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता, तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से सब कुलभर अप्रसन्न=शोकातुर रहता है और जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है, तब सब कुल आनन्दरूप दीखता है॥ ३॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ ४॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ ५॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्। न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥ ६॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः। तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥ ७॥

—मनु०॥[2]

अर्थः—पिता, भ्राता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें, अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से प्रसन्न रक्खें। जिनको कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें॥ ४॥

जिस कुल में नारियों की पूजा, अर्थात् सत्कार होता है, उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं और जिस कुल में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहाँ जानों उनकी सब क्रिया निष्फल हैं॥ ५॥

जिस कुल में स्त्री लोग अपने-अपने पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है॥ ६॥

जिन कुल और घरों में अपूजित, अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्री लोग जिन गृहस्थों को शाप देती हैं, वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को एक बार नाश कर देवें, वैसे चारों ओर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं॥ ७॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः। भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥ ८॥

—मनु०॥[3]

अर्थः—इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुषों को योग्य है कि इन स्त्रियों को सत्कार के अवसरों और उत्सवों में भूषण, वस्त्र, खान-पान आदि से सदा पूजा, अर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रक्खें॥ ८॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया। सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥ ९॥

—मनु०॥[4]

१. मनु० ३।६२॥ २. मनु० ३।५५-५८॥ ३. मनु० ३।५९॥ ४. मनु० ५।१५०॥

अर्थः—स्त्री को योग्य है कि सदा आनन्दित होके चतुरता से गृहकार्यों में वर्त्तमान रहे तथा अन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और घर के भोजनादि में जितना नित्य धन आदि लगे, उस व्यय के यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे॥ ९ ॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः। उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ १० ॥[1]

अर्थः—यदि स्त्रियाँ दुष्टाचारयुक्त भी हों, तथापि इस संसार में बहुत स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के शुभ गुणों से उत्कृष्ट हो गईं, होती हैं और होंगी भी। इसलिए यदि पुरुष श्रेष्ठ हों तो स्त्रियाँ श्रेष्ठ और दुष्ट हों तो दुष्ट हो जाती हैं। इससे प्रथम मनुष्यों को उत्तम होके अपनी स्त्रियों को उत्तम करना चाहिए॥ १० ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः। स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥ ११ ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्। प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्॥ १२ ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह॥ १३ ॥[2]
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ १४॥

—मनु० ॥[3]

अर्थः—हे पुरुषो! सन्तानोत्पत्ति के लिए महाभाग्योदय करनेहारी, पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करतीं, सन्तानोत्पति करने-करानेहारी घरों में स्त्रियाँ हैं वे श्री, अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं, क्योंकि लक्ष्मी शोभा, धन और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है॥ ११ ॥

हे पुरुषो! अपत्यो! अपत्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न का पालन करने आदि लोकव्यवहार को नित्यप्रति, जोकि गृहाश्रम का कार्य होता है, उसका निबन्ध्र करनेवाली प्रत्यक्ष स्त्री है॥ १२ ॥

सन्तानोत्पत्ति, धर्म-कार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है, वह सब स्त्री ही के अधीन होता है॥ १३ ॥

जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्त्तमान सिद्ध होता है, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी, अर्थात् सब आश्रमों का निर्वाह गृहस्थ के आश्रय से होता है॥ १४ ॥

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन[4] चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ १५ ॥
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ १६ ॥[5]
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः। गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः त्रीनेतान् बिभर्ति हि॥ १७ ॥[6]

अर्थः—जिससे ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी इन तीन आश्रमियों को अन्न, वस्त्रादि दान से नित्यप्रति गृहस्थ धारण, पोषण करता है, इसलिए व्यवहार में गृहाश्रम सबसे बड़ा है॥ १५ ॥

---

१. मनु० ९। २४॥

२. मनु० ९। २६-२८॥

३. मनु० ३। ७७॥

४. स० प्र० समु० ४ के अन्त में उद्धृत इस श्लोक में 'दानेनान्नेन' ही पाठ है। मनु० के संवत् १९२६ के काशी संस्करण में 'ज्ञानेनान्नेन' पाठ पर ऋषि ने स्वहस्ताक्षर से 'ज्ञा' को काटकर 'दा' बनाया है।

५. मनु० ३। ७८-७९॥

६. मनु० ६। ८९॥

हे स्त्रीपुरुषो! जो तुम अक्षय* मुक्ति-सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रिय और निर्बुद्धि पुरुषों के धारण करने योग्य नहीं है, उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो॥ १६॥

वेद और स्मृति के प्रमाण से सब आश्रमों के बीच में गृहाश्रम श्रेष्ठ है, क्योंकि यही आश्रम ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमों का धारण और पालन करता है॥ १७॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ १८॥[१]
उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः। तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥ १९॥
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्। उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीनं हीने समे समम्॥ २०॥[२]
पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्शठन्। हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ २१॥[३]

अर्थः—हे मनुष्यो! जैसे सब बड़े-बड़े नद और नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं॥ १८॥

यदि गृहस्थ होके पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो वे बुद्धिहीन गृहस्थ अन्य से प्रतिग्रहरूप पाप करके जन्मान्तर में अन्नादि के दाताओं के पशु बनते हैं, क्योंकि अन्य से अन्नादि का ग्रहण करना अतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं॥ १९॥

जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवें तब आसन, निवास, शय्या, पश्चाद्गमन और समीप में बैठना आदि सत्कार जैसे का वैसा, अर्थात् उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट करे। ऐसा न हो कि इस नियम को कभी न समझें[४]॥ २०॥

---

* अक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है, उतने समय में दुःख का संयोग, जैसा विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता है, वैसा नहीं होता॥[५] **—द०स०**

---

१. मनु० ६।९०॥ २. मनु० ३।१०४, १०७॥ १०७ में 'कुर्याद्धीने हीनं' पाठ है।

३. मनु० ४।३०॥ ४. अर्थात् तुल्य सेवा करे।

५. मोक्ष वा स्वर्ग के लिए 'अक्षय', 'अपरिमित', 'अपुनरावृत्त', 'न च पुनरावर्तते' आदि शब्दों का प्रयोग होता है। इन सबका तात्पर्य मोक्ष वा स्वर्ग-सुख का लौकिक-सुख से वैशिष्ट्य दर्शानेमात्र में है नकि सर्वथा नाशराहित्य द्योतन में। यह शास्त्रकारों का निश्चित मत है। यथा—

भगवान् कात्यायन ने श्रौतसूत्र २।६।१ तथा अन्यत्र भी बहुधा प्रयुक्त 'अपरिमित' शब्द का अर्थ 'अपरिमितं परिमाणाद् भूयः' —शुल्ब० १।२३ (अपरिमित, अर्थात् नियत परिमाण से अधिक) सूत्र द्वारा स्वयं बताया है। आप० श्रौत० २।१।१ की टीका में रुद्रदत्त ने कात्यायन के उक्त वचन को उद्धृत करके भरद्वाज मुनि का 'अपरिमितशब्दे संख्याया ऊर्ध्वमिति भरद्वाजः' वचन भी उद्धृत किया है।

यही अक्षय शब्द का अभिप्राय है। क्षय=नष्ट होने की सामान्य सीमा से अधिक देर में नष्ट होनेवाला। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि 'नञ्' उत्तरपद के सादृश्य अर्थ को प्रकट करता है—'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः।' इसलिए 'अब्राह्मणमानय' कहने पर यदि कोई मिट्टी का ढेला या पत्थर ले-आवे तो वह वक्ता के अभिप्राय के प्रतिकूल होता है—'नासौ लोष्टमानीय कृती भवति' —महा० ३।१।१२ इस नियम के अनुसार भी तत्कालिक क्षय वा पुनरावृत्ति अथवा नियत परिमाणमात्र अंश का प्रतिषेध दर्शाया जाता है न कि उसका अत्यन्ताभाव। 'न च पुनरावर्तते' ब्राह्मणश्रुति का भी इसी में तात्पर्य है। इसी शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार ऊपर अक्षय शब्द का जो अर्थ ग्रन्थकार ने दर्शाया है, वह सर्वथा ठीक है।

किन्तु जो पाखण्डी, वेदनिन्दक, नास्तिक—ईश्वर, वेद और धर्म को न माने, अधर्माचरण करनेहारे, हिंसक, शठ, मिथ्याभिमानी, कुतर्की और बकवृत्ति, अर्थात् पराये पदार्थ हरने वा बहकाने में बगुले के समान अतिथिवेशधारी बनके आवें, उनका वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे॥ २१॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः। दशध्वजममो वेषो दशवेषसमो नृपः॥ २२॥[१]

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन। अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम्॥ २३॥[२]

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा। शिष्यांश्च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः॥ २४॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ २५॥

—मनु०॥[३]

अर्थः—दश हत्या के समान चक्र, अर्थात् कुम्हार, गाड़ी से जीविका करनेहारे, दश चक्र के समान ध्वज अर्थात् धोबी, मद्य को निकालकर बेचनेहारे, दश ध्वज के समान वेष, अर्थात् वेश्या, भड़ुआ भाँड, दूसरे की नकल, अर्थात् पाषाणमूर्त्तियों के पूजक (=पुजारी) आदि और दश वेष के समान जो अन्यायकारी राजा होता है, उनके अन्न आदि का ग्रहण अतिथि लोग कभी न करें॥ २२॥

गृहस्थ जीविका के लिए भी कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का बर्त्ताव न बर्त्ते, किन्तु जिसमें किसी प्रकार की कुटिलता, मूर्खता, मिथ्यापन वा अधर्म न हो, उस वेदोक्त कर्म-सम्बन्धी जीविका को करे॥ २३॥

किन्तु सत्य धर्म, आर्य अर्थात् आप्त पुरुषों के व्यवहार और शौच=पवित्रता ही में सदा गृहस्थ लोग प्रवृत्त रहें और सत्यवाणी, भोजनादि के लोभरहित, हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों और सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें॥ २४॥

यदि बहुत-सा धन, राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें और वेदविरुद्ध धर्माभास जिसके करने से उत्तरकाल में दुःख और संसार की उन्नति का नाश हो, वैसा नाममात्र धर्म कभी न किया करें॥ २५॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्। योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥ २६॥

क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः। प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः॥ २७॥

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ २८॥[५]

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत्। त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥ २९॥[६]

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति। दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ ३०॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्। समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥ ३१॥

—मनु०॥[७]

अर्थः—जो धर्म ही से पदार्थों का सञ्चय करना है, वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता, अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता, वही पवित्र है, किन्तु जल-मृत्तिकादि से जो पवित्रता होती है, वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं है॥ २६॥

---

१. मनु० ४।८५॥ २. मनु० ४।११॥ ३. मनु० ४।१७५-१७६॥
५. मनु० ५।१०६, १०७, १०९॥ ६. मनु० १२।११०॥ ७. मनु० ७।१८, २६॥

विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्संग और विद्यादि शुभ गुणों के दान से, गुप्त पाप करनेहारे विचार से त्याग कर और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं॥ २७॥

किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं। मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या, योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं॥ २८॥

गृहस्थ लोग छोटों, बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम-से-कम १० [दश], अर्थात्[१] ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (=नैयायिक), तर्ककर्त्ता,[२] नैरुक्त (=निरुक्तशास्त्रज्ञ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों, अथवा अतिन्यूनता करे तो तीन वेदवित् (=ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो, वैसा ही आचरण किया करें॥ २९॥

और जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं, वैसा सब लोग जानें, क्योंकि दण्ड ही प्रजा का शासन, अर्थात् नियम में रखनेवाला, दण्ड ही सबका सब ओर से रक्षक और दण्ड ही सोते हुओं में जागता है। चोरादि दुष्ट भी दण्ड ही के भय से पापकर्म नहीं कर सकते॥ ३०॥

उस दण्ड को अच्छे प्रकार चलानेहारे उस राजा को कहते हैं कि जो सत्यवादी, विचार ही करके कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान्, विद्वान्, धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जाननेहारा हो॥ ३१॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना। न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च॥ ३२॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा। प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥ ३३॥[३]
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्याँश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ ३४॥[४]

अर्थः—जो राजा उत्तम सहायरहित, मूढ़, लोभी, जिसने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मों से विद्या और बुद्धि की उन्नति नहीं की, जो विषयों में फँसा हुआ है, उससे वह दण्ड कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता॥ ३२॥

इसलिए जो पवित्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त, बुद्धिमान् राजा हो, वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है॥ ३३॥

---

१. यह दश संख्या मनु के—'**त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः। त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा**'—१२।१११॥ वचन के अनुसार गिनाई है।

२. 'तर्ककर्त्ता' शब्द से यहाँ मीमासा-शास्त्र के जाननेवाले का ग्रहण होता है, क्योंकि 'हैतुक' से नैयायिक का ग्रहण कर चुके हैं। मनु के श्लोक में 'हैतुक' से चार्वाक का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मनिर्णय में श्रुति-स्मृति का ही प्रमाण मनु ने स्वीकार किया है, अतः टीकाकारों ने यहाँ 'हैतुक' का अर्थ 'श्रुतिस्मृत्यविरुद्धन्यायशास्त्रज्ञः' दर्शाया है। मीमांसाशास्त्र भी तर्कशास्त्र कहाता है। उसका प्रथम पाद 'तर्कपाद' के नाम से व्यवहृत होता है। मीमांसा में १००० [एक सहस्र] न्यायों का वर्णन है। मीमांसा के प्रत्येक अधिकरण के लिए मीमांसक 'न्याय' शब्द का व्यवहार करते हैं। जैसे—विश्वजिन्न्याय, तत्प्रख्यन्याय। वै० य० मुद्रित सं० वि० के 'शताब्दी सं०' में पं० विश्वनाथजी ने 'तर्ककर्त्ता' शब्द के आगे (मीमांसाशास्त्रज्ञ) ऐसा पाठ कोष्ठ में बढ़ा दिया है, जो युक्त होते हुए भी मिलावट के रूप में बढ़ाना अनुचित है। ग्रन्थकार ने मनु का 'त्रैविद्यो हैतुक०' श्लोक सत्यार्थप्रकाश समु० ६ में उद्धृत किया है। वहाँ हैतुक का अर्थ 'न्यायशास्त्र के वेत्ता' ही किया है, परन्तु वहाँ 'तर्की' का अर्थ नहीं लिखा है। यह श्लोक संस्कारविधि में भी आगे उद्धृत किया है। वहाँ 'चौथा हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, पाँचवाँ तर्की न्यायशास्त्रवित्' ऐसा अर्थ किया है।

३. मनु० ७।३०-३१॥ ४. मनु० ८।१२८॥

जो राजा अनपराधियों को दण्ड देता और अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी अपकीर्ति को प्राप्त होता और मरे पश्चात् नरक, अर्थात् महादुःख को पाता है॥ ३४॥

मृगयाक्षा[1] दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥ ३५॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥ ३६॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः। तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ॥ ३७॥[2]

अर्थः—मृगया अर्थात् शिकार[3] खेलना, द्यूत और प्रसन्नता के लिए भी चौपड़ आदि खेलना, दिन में सोना, हँसी-ठट्ठा, मिथ्यावाद करना, स्त्रियों के साथ सदा अधिक निवास में मोहित होना, मद्यपानादि नशाओं का करना, गाना, बजाना, नाचना वा इनको देखना और वृथा इधर-उधर घूमते फिरना, ये दश दुर्गुण काम से होते हैं॥ ३५॥

और चुग़ली खाना, बिना विचारे काम कर बैठना, जिस किसी से वृथा वैर बाँधना, दूसरे की स्तुति सुन वा बढ़ती देखके हृदय में जला करना, दूसरों के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, बुरे कामों में धन का लगाना, क्रूर वाणी और बिना विचारे पक्षपात से किसी को कड़ा दण्ड देना, ये आठ दोष क्रोधी पुरुष में उत्पन्न होते हैं। ये १८ [अठारह] दुर्गुण हैं, इनको राजा अवश्य छोड़ देवे॥ ३६॥

और जो इन कामज और क्रोधज १८ [अठारह] दोषों के मूल जिस लोभ को सब विद्वान् लोग जानते हैं, उसको प्रयत्न से राजा जीते, क्योंकि लोभ ही से पूर्वोक्त १८ [अठारह] और अन्य दोष भी बहुत-से होते हैं।[4] इसलिए हे गृहस्थ लोगो! चाहे वह राजा का ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो, परन्तु ऐसे दोषवाले मनुष्य को राजा कभी न करना। यदि भूल से हुआ हो तो उसको राज्य से च्युत करके किसी योग्य पुरुष को, जोकि राजा के कुल का हो, राज्याधिकारी करना, तभी प्रजा में आनन्द-मङ्गल सदा बढ़ता रहेगा॥ ३७॥

सैन्यापत्यं[5] च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ ३८॥[6]

---

१. 'मृगयाक्षा दि०' जौली सं०। यही पाठ सं० विधि संस्करण १ सं० १९३२, पृष्ठ १२७ में है। इस पाठ में 'अक्षाः' बहुवचन है। सं० १९२६ के काशी में छपे मनु० संस्करण में 'मृगयाक्षा' को काटकर ऋषि दयानन्द ने 'मृगयाक्षो' बनाया है। स० प्र० संस्करण १, २ में 'मृगयाक्षो' पाठ ही है।

२. मनु० ७।४७-४९॥

३. 'जिस राजा में शिकार' पाठ संस्करण २ में है। 'जिस राजा में' यह अंश वाक्य में समन्वित नहीं होता है। इसके स्थान में संस्करण ३ में 'मृगया अर्थात् शिकार' ऐसा संशोधन किया है, वह ठीक है। इस कारण हमने उसे ही स्वीकार किया है।

४. इसीलिए कहा है—**'लोभश्चेदगुणने किम्?'** भर्तृहरि।

५. 'सैन्यापत्यं च' पाठ संस्कारविधि संस्करण १, २, ३ तथा स० प्र० समु० ६ संस्करण २, ३ में है। द्र०—ऋग्भाष्य १।१००।६, तथा यजुः० ६।२ के भावार्थों में भी 'सैन्यापत्य' का प्रयोग मिलता है (सेनां समवैति=सैन्यः, 'सेनाया वा' अष्टा० ४।४।४५॥ इति ण्य, तेषां पतिः—सैन्यापतिः) मनु० के संवत् १९२६ के काशी संस्करण में और स० प्र० प्रथम संस्करण में पृष्ठ १८५ पर 'सेनापत्यं च' पाठ है। मनुस्मृति का भी यही मूल पाठ है। 'सैनापत्यं' पाठ उत्तरकालीन पाणिनीय व्याकरणानुसार परिवर्त्तित है। 'सैनापत्य' शब्द का प्रयोग दया० ऋग्भाष्य १।३२।३॥ के अन्वय में मिलता है।

६. मनु० १२।१००॥

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्[1]।

सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥ ३९॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्। सम्यगर्थसमाहर्तॄन् अमात्यान् सुपरीक्षितान्॥ ४०॥[2]

अर्थः—जो वेदशास्त्रवित्, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, न्यायकारी और आत्मा के बल से युक्त पुरुष होवे, उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति और प्रधान पद का अधिकार देना, अन्य क्षुद्राशयों को नहीं॥ ३८॥

और जो अपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जाननेहारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलीन, धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों, उन ७ [सात] वा ८ [आठ] पुरुषों को अच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे और इन्हीं की सभा में आठवाँ वा नौवाँ राजा हो। ये सब मिलके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें॥ ३९॥

इसी प्रकार अन्य भी राज्य और सेना के अधिकारी, जितने पुरुषों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके, उतने ही पवित्र, धार्मिक विद्वान्, चतुर, स्थिरबुद्धि पुरुषों को राज्य-सामग्री के वर्धक नियत करे॥ ४०॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्। इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्॥ ४१॥
अलब्धमिच्छेद् दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया। रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ ४२॥
—मनु०॥[3]

अर्थः—तथा जो सब शास्त्र में निपुण, नेत्रादि के संकेत स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जाननेहारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देशकाल को जाननेहारा, सुन्दर जिसका स्वस्वरूप, बड़ा वक्ता और अपने कुल में मुख्य हो, उस और स्वराज्य और परराज्य के समाचार देनेहारे अन्य दूतों को भी नियत करे॥ ४१॥

तथा राजादि राजपुरुष अलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा दण्ड से और प्राप्त राज्य की रक्षा सँभाल से, रक्षित राज्य और धन को व्यापार और ब्याज से बढ़ा और सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या और सत्यधर्म के प्रचार आदि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन आदि पदार्थों का व्यय करके सबकी उन्नति सदा किया करें॥ ४२॥

[नैत्यिक-कर्म]

विधिः—सदा स्त्रीपुरुष १० [दश] बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें। और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो, तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए युक्त आहार-विहार, औषधसेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिए ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना भी किया करें कि जिससे परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें। इसके लिए निम्नलिखित मन्त्र हैं—

---

१. द्र०—मेधातिथि टीका। अन्यत्र 'कुलोद्भवान्' पाठ मिलता है।

२. मनु० ७।४५, ६०॥

३. मनु० ७।६३, १०१॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम *॥ १॥
प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह §॥ २॥
भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम‡॥ ३॥
उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम†॥ ४॥

---

* हे स्त्रीपुरुषो! जैसे हम विद्वान्, उपदेशक लोग (प्रातः) प्रभातवेला में (अग्निम्) स्वप्रकाशस्वरूप (प्रातः इन्द्रम्) परमैश्वर्य के दाता और परमैश्वर्ययुक्त, (प्रातः मित्रावरुणा प्राण-उदान के समान प्रिय और सर्वशक्तिमान्, (प्रातः अश्विना) सूर्य–चन्द्र को जिसने उत्पन्न किया है, उस परमात्मा की (हवामहे) स्तुति करते हैं और (प्रातः भगम्) भजनीय, सेवनीय, ऐश्वर्ययुक्त, (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता, (ब्रह्मणस्पतिम्) अपने उपासक, वेद और ब्रह्माण्ड के पालन करनेहारे, (प्रातः सोमम्) अन्तर्यामी, प्रेरक (उत) और (रुद्रम्) पापियों को रुलानेहारे और सर्वरोगनाशक जगदीश्वर की (हुवेम) स्तुति, प्रार्थना करते हैं, वैसे प्रातः समय में तुम लोग भी किया करो॥ १॥ —द०स०

§ (प्रातः) पाँच घड़ी रात रहे (जितम्) जयशील (भगम्) ऐश्वर्य के दाता, (उग्रम) तेजस्वी, (अदितेः) अन्तरिक्ष के (पुत्रम्) पुत्ररूप सूर्य की उत्पत्ति करनेहारे और (यः) जोकि सूर्यादि लोकों का (विधर्त्ता) विशेष करके धारण करनेहारा (आध्रः) सब ओर से धारणकर्ता, (यं चित्) जिस किसी का भी (मन्यमानः) जाननेहारा, (तुरश्चित्) दुष्टों को भी दण्डदाता और (राजा) सबका प्रकाशक है, (यम्) जिस (भगम्) भजनीयस्वरूप को (चित्) भी (भक्षीति) इस प्रकार सेवन करता हूँ और इसी प्रकार भगवान् परमेश्वर सबको (आह) उपदेश करता है कि तुम जो मैं सूर्यादि जगत् का बनाने और धारण करनेहारा हूँ, उस मेरी उपासना किया और मेरी आज्ञा में चला करो। इससे (वयम्) हम लोग उसकी (हुवेम) स्तुति करते हैं॥ २॥ —द०स०

‡ हे (भग) भजनीयस्वरूप, (प्रणेतः) सबके उत्पादक, सत्याचार में प्रेरक, (भग) ऐश्वर्यप्रद, (सत्यराधः) सत्य धन को देनेहारे, (भग) सत्याचरण करनेहारों को ऐश्वर्यदाता! आप परमेश्वर (नः) हमको (इमाम्) इस (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) जीजिए और उसके दान से हमारी (उदव) रक्षा कीजिए। हे (भग) आप (गोभिः) गाय आदि और (अश्वैः) घोड़े आदि उत्तम पशुओं के योग से राज्यश्री को (नः) हमारे लिए (प्रजनय) प्रकट कीजिए। हे (भग) आपकी कृपा से हम लोग (नृभिः) उत्तम मनुष्यों से (नृवन्तः) बहुत वीर मनुष्यवाले (प्र स्याम) अच्छे प्रकार होवें॥ ३॥ —द०स०

† हे भगवन्! आपकी कृपा (उत) और अपने पुरुषार्थ से हम लोग (इदानीम्) इसी समय (प्रपित्वे) प्रकर्षता=उत्तमता की प्राप्ति में, (उत) और (अह्नाम्) इन दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः) ऐश्वर्ययुक्त और शक्तिमान् (स्याम) होवें। (उत) और हे (मघवन्) परमपूजित असंख्य धन देनेहारे! (सूर्यस्य) सूर्यलोक के (उदिता) उदय में (देवानाम्) पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, आप्त लोगों की (सुमतौ) अच्छी उत्तम प्रज्ञा (उत) और सुमति में (वयम्) हम लोग (स्याम) सदा प्रवृत्त रहें॥ ४॥

—द०स०

भग॑ एव भग॑वाँ अस्तु देवास्तेन॑ वयं भग॑वन्तः स्याम।
तं त्वा॑ भग सर्व॑ इज्जो॑हवीति स नो॑ भग पुरएता भ॑वेह*॥ ५॥ —ऋ० मं० ७। सू० ४१॥[१]

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना-उपासना करनी॥

[अथ सन्ध्योपासन-विधिः]

तत्पश्चात् शौच, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जङ्गल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर, सूर्योदय-पर्यन्त अथवा घड़ी, आध घड़ी दिन चढ़े तक घर में आके, सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि उचित समय में किया करें। इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें।[२] प्रथम शरीरशुद्धि, अर्थात् स्नान-पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करें।

आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेके—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा॥ १॥

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा॥ २॥

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा॥ ३॥

इन ३ [तीन] मन्त्रों में से एक-एक से एक-एक आचमन कर, दोनों हाथ धो, कान, आँख, नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके, शुद्ध देश, पवित्रासन पर जिधर की ओर का वायु हो उधर को मुख करके, नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके हृदय[३] के वायु को बल से बाहर निकालके यथाशक्ति रोके। पश्चात् धीरे-धीरे भीतर लेके भीतर थोड़ा-सा रोके। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम-से-कम तीन प्राणायाम करे। नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना हृदय में करके—

ओं शन्नो॑ देवीरभिष्ट॑यऽ आपो॑ भवन्तु पीतये॑। शंयोरभि स्र॑वन्तु नः॥ —यजुः अ० ३६॥[४]

इस मन्त्र को एक बार पढ़के तीन आचमन करे।[५] पश्चात् पात्र में से मध्यमा, अनामिका

---

* हे (भग) सकलैश्वर्यसम्पन्न जगदीश्वर! जिससे (तम्) उस (त्वा) आपकी (सर्वः) सब सज्जन (इज्जोहवीति) निश्चय करके प्रशंसा करते हैं, (सः) सो आप हे (भग) ऐश्वर्यप्रद! (इह) इस संसार और (नः) हमारे गृहाश्रम में (पुरएता) अग्रगामी और आगे-आगे सत्यकर्मों में बढ़ानेहारे (भव) हूजिए और जिससे (भग एव) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त और समस्त ऐश्वर्य के दाता होने से आप ही हमारे (भगवान्) पूजनीय देव (अस्तु) हूजिए। (तेन) उसी हेतु से (देवाः वयम्) हम विद्वान् लोग (भगवन्तः) सकलैश्वर्यसम्पन्न होके सब संसार के उपकार में तन-मन-धन से प्रवृत्त (स्याम) होवें॥ ५॥ **—द०स०**

---

१. मन्त्र १-५॥

२. पञ्चमहायज्ञों के मन्त्रों के पदार्थ और भावार्थ को जानने के लिए रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' ग्रन्थ भी उपयोगी है।

३. यहाँ 'उदर' पाठ होना चाहिए, अथवा 'उदर और हृदय'।

४. यजुः अ० ३६। मं० १२॥

५. संस्करण २ से १७ तक यही पाठ छपा है, परन्तु १८वें संस्करण में पं० जयदेवजी ने 'इस मन्त्र को एक-एक बार पढ़के एक, दो और तीन आचमन करे' ऐसा शोधन किया है, वह ठीक नहीं। कहाँ प्रतिकर्म मन्त्र की आवृत्ति होती है और कहाँ मन्त्र की आवृत्ति नहीं होती, इसके लिए रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'वैदिक-नित्यकर्मविधि' पृष्ठ ३० देखें।

अंगुलियों से जलस्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करे—

ओं वाक् वाक्॥[१] इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वाम पार्श्व।

ओं प्राणः प्राणः॥ इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र।

ओं चक्षुश्चक्षुः॥ इससे दक्षिण और वाम नेत्र।

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्॥ इससे दक्षिण और वाम श्रोत्र।

ओं नाभिः॥ इससे नाभि।

ओं हृदयम्॥ इससे हृदय।

ओं कण्ठः॥ इससे कण्ठ।

ओं शिरः॥ इससे मस्तक।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम्॥ इससे दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध। और—

ओं करतलकरपृष्ठे॥ इससे दोनों हाथों के ऊपर तले स्पर्श करके, निम्नलिखित मन्त्रों से मार्जन करे—

ओं भूः पुनातु शिरसि॥ इस मन्त्र से शिर पर।

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः॥ इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर।

ओं स्वः पुनातु कण्ठे॥ इस मन्त्र से कण्ठ पर।

ओं महः पुनातु हृदये॥ इस मन्त्र से हृदय पर।

ओं जनः पुनातु नाभ्याम्॥ इससे नाभि पर।

ओं तपः पुनातु पादयोः॥ इससे दोनों पगों पर।

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि॥ इससे पुनः मस्तक पर।

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥ इस मन्त्र से सब अङ्गों पर छींटा देवे।

पुनः पूर्वोक्त रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जाए—

ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्॥[२]

इसी रीति से कम-से-कम ३ [तीन] और अधिक से अधिक २१ [इक्कीस] प्राणायाम करे।

तत्पश्चात् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार नीचे लिखित मन्त्रों से करे और जगदीश्वर को सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के कर्मों के द्रष्टा को निश्चित मानके पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे, किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्त्तमान रक्खे—

ओम् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥

—ऋ० मं० १०। सू० १९०॥[३]

---

१. अङ्ग-स्पर्श और मार्जन के मन्त्र 'त्रिकालसन्ध्या', 'सन्ध्यात्रयम्' (ये हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोध-संस्थान होशियारपुर में सुरक्षित है) में मिलते हैं। विशेष द्र०—'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' प्रकाशकीय पृष्ठ २१।

२. तै० आ० १०।२७॥ ३. मन्त्र १-३॥

इन मन्त्रों को पढ़के पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से ३ [तीन] आचमन करके निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना करे—

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ २॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ३॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ४॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ५॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ६॥

—अथर्व० का० ३। सू० २७। मं० १-६॥

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से चारों ओर बाहर-भीतर परमात्मा को पूर्ण जानकर निर्भय, निश्शङ्क, उत्साही, आनन्दित, पुरुषार्थी रहना।

तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान, अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अतिनिकट परमात्मा है, ऐसी बुद्धि करके, करे—

ओं जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥ १॥

—ऋ० मं० १। सू० ९९। मं० १॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ १॥

—यजुः० अ० १३। मं० ४६॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ २॥

—यजुः० अ० ३३। मन्त्र ३१॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽ उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ३॥

—यजुः० अ० ३५। मन्त्र १४॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ ४॥

—यजुः० अ० ३६। मं० २४॥

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके, पुनः (शन्नो देवी०) इससे ३ [तीन] आचमन करके, पृष्ठ १७८ में लिखे प्रमाणे, अथवा पञ्चमहायज्ञविधि में लिखे प्रमाणे गायत्री मन्त्र का अर्थ विचारपूर्वक परमात्मा की स्तुतिप्रार्थनोपासना करे। पुनः—

''हे परमेश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जपोपासनादि कर्मों को करके हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें।'' पुनः—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च

नमः शिवाय च शिवतराय च॥ १॥ —यजुः० अ० १६। मं० ४१॥

इससे परमात्मा को नमस्कार करके, (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से ३ तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करे।

इति संक्षेपतः सन्ध्योपासनविधिः समाप्त॥ १॥

अथाग्निहोत्रम्

जैसे सायं-प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें, इसी प्रकार दोनों स्त्री-पुरुष* अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें। पृष्ठ ५६-५७ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान और पृष्ठ ५८ में लिखे प्रमाणे (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि ४ [चार] मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके शुद्ध किये हुए सुगन्ध्यादियुक्त घी को तपाके, पात्र में लेके, कुण्ड से पश्चिमभाग में पूर्वाभिमुख बैठके पृष्ठ ५९ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति[1] ४ [चार] देके, नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करे—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा॥ १॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा॥ २॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥ ३॥[2]

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा॥ ४॥[2]

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल में अग्निहोत्र के जानो—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा॥ १॥

ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा॥ २॥

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा॥ ३॥[2]

इस मन्त्र को मनसे उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा॥ ४॥ [3]

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातःसायं आहुति देना चाहिए।[4]

---

* किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक ही स्त्री या पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे, अर्थात् एक-एक मन्त्र को दो-दो बार पढ़के दो-दो आहुति करे॥ —द०स०

---

१. 'ओम् अग्नये स्वाहा' इत्यादि ४ मन्त्रों से।

२. द्र०—यजुः० ३।९॥ स्वरचिह्न हमने दिये हैं।

३. द्र०—यजुः० ३।१०॥ स्वरचिह्न हमने दिये हैं।

४. जो व्यक्ति एक ही काल में दोनों समय का अग्निहोत्र करना चाहें, वे किस क्रम से मन्त्रों का उच्चारण करें, इसके लिए 'वैदिक-नित्य-कर्मविधि' पृष्ठ १२-१३ देखना चाहिए। १६ सोलह आहुतियों की विवेचना के लिए भी इसी ग्रन्थ का पृष्ठ ११-१२ अवलोकनीय है। यह ग्रन्थ रा०क०द्र० से छपा है।

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा॥ इदमग्नये प्राणाय—इदं न मम॥ १॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा॥ इदं वायवेऽपानाय—इदं न मम॥ २॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा॥ इदमादित्याय व्यानाय—इदं न मम॥ ३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा॥

इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदं न मम॥ ४॥[1]

ओम् आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा॥ ५॥[2]

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ ६॥

—यजु:० अ० ३२। मं० १४॥

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रन्तन्न आ सुव स्वाहा॥ ७॥

—यजु:० अ० ३०। मं० ३॥

ओम् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा॥ ८॥

—यजु:० अ० ४०। मं० १६॥

इन ८ [आठ] मन्त्रों से एक-एक मन्त्र करके एक-एक आहुति देनी, ऐसे ८ [आठ] आहुति देके—

ओम् सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥

इस मन्त्र से ३ [तीन] पूर्णाहुति, अर्थात् एक-एक बार पढ़के एक-एक करके ३ [तीन] आहुति देवे॥

इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः॥ २॥

अथ पितृयज्ञः

अग्निहोत्रविधि पूर्ण करके तीसरा पितृयज्ञ करे, अर्थात् जीते हुए माता-पिता आदि की यथावत् सेवा करनी 'पितृयज्ञ' कहाता है॥ ३॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिः

ओम् अग्नये स्वाहा। ओं सोमाय स्वाहा॥ ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा। ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा॥ ओं कुह्वै स्वाहा॥ ओं अनुमत्यै स्वाहा॥ ओं प्रजापतये स्वाहा॥ ओं[3] द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥ ओं स्विष्टकृते[4] स्वाहा॥[5]

इन १० [दश] मन्त्रों से घृतमिश्रित भात की, यदि भात न बना हो तो क्षार[6] और लवणान्न को छोड़के जो कुछ पाक में बना हो उसी की १० [दश] आहुति करे।

---

१. तु०—तै० आ० १०। २॥ २. तु०—तै० आ० १०। १५॥

३. पञ्चमहायज्ञविधि सं० १; ऋ०भा०भू० सं० १, स०प्र०सं० २ तथा संस्कारविधि के उत्तरवर्ती संस्करणों में 'सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा' पाठ मिलता है। संस्कारविधि संस्करण २,३,४ में 'सह' पद नहीं है। मनुस्मृति ३। ८६॥ और उसकी व्याख्या के अनुसार भी 'सह' पद मन्त्र का अवयव नहीं है।

४. यद्यपि मनुस्मृति ३। ८६ में केवल 'स्विष्टकृते' पद है तथापि 'स्विष्टकृत्' अग्नि का विशेषण प्रसिद्ध होने से विशेष्य का आक्षेप करके 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' ऐसा मन्त्र-पाठ होना चाहिए। यह मनु के व्याख्याकारों का मत है।

५. मनु० ३। ८५, ८६ के आधार पर ऊहित मन्त्र। ६. द्र०—पृष्ठ २८७, टि० २।

तत्पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से बलि प्रदान करे—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ इससे पूर्व।

ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ इससे दक्षिण।

ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ इससे पश्चिम।

ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥[१] इससे उत्तर।

ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ इससे द्वार।

ओम् अद्भ्यो नमः ॥ इससे जल

ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ इससे मूसल और ऊखल।

ओं श्रियै नमः ॥ इससे ईशान।

ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ इससे नैर्ऋत्य।

ओं ब्रह्मपतये नमः[२] **। ओं वास्तुपतये नमः ॥** इनसे मध्य।

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥[३]

ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥[४] इनसे ऊपर।

ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ इससे पृष्ठ।

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥[५] इससे दक्षिण।[६]

इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना। यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आ जाए तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना। तत्पश्चात् घृतसहित लवणान्न लेके—

---

१. मनु ३।८७ के 'सानुगेभ्यो बलिं हरेत्' वचन के अनुसार आरम्भिक चार मन्त्रों का पाठ ऊहित किया गया है। मनु के टीकाकार आश्व० गृह्य० १।२।५ के अनुसार 'इन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः। यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः। वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः। सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः।' इस प्रकार पाठ ऊहित करते हैं।

२. मनुस्मृति ३।८९॥ के अनुसार 'ओम् ब्रह्मणे नमः' मन्त्र है। स० प्रकाश तथा पञ्चमहायज्ञविधि में 'ब्रह्मपतये नमः' ही पाठ है।

३. पञ्चमहायज्ञविधि सं० १ तथा स० प्र० समु० ४ संस्करण २ में "विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः। नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः।" ऐसा पाठ है जोकि मनु० ३।९० के अनुसार ठीक है, अतः हमने यहाँ त्रुटित पाठ को पूरा कर दिया है।

४. मनु० ३।९० के अनुसार 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः' मन्त्र के साथ 'दिवाचरेभ्यो.......' मन्त्र से दिन में ऊपर को और 'नक्तंचारिभ्यो.........' मन्त्र से रात्रि में भाग रखने का विधान है। द्र०—आश्व० गृह्य० १।२।८९॥

५. सं० वि० संस्करण २ में 'ओं पितृभ्यः स्वधा नमः' इतना ही पाठ छपा है। यही पाठ स० प्र० समु० ३ सं० १ (संवत् १९३२) पृष्ठ ४४ पर भी मिलता है। सं० वि० सं० ३ में वर्त्तमान पाठ बनाया है। पञ्चमहायज्ञविधि सं० १ के अनुसार तृतीय सं० का पाठ युक्त है। स० प्र० समु० ४, संस्करण २ (संवत् १९४१) में पूरा मन्त्र मुद्रित है, आजतक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया।

६. ये सब मन्त्र मनु० ३।८७-९१ तक के प्रमाण से ऊहित हैं।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥[1]

अर्थः—कुत्ता, पतित, चाण्डाल, पापरोगी, काक और कृमि इन ६ [छह] नामों[2] से ६ [छह] भाग पृथिवी में धरे और वे ६ [छह] भाग जिस-जिसके नाम से हैं, उस-उसको देना चाहिए॥४॥

''श्वभ्यो नमः। पतितेभ्यो नमः। श्वपग्भ्यो नमः।

पापरोगिभ्यो नमः। वायसेभ्यो नमः। कृमिभ्यो नमः॥''

अथातिथियज्ञः

पाँचवाँ—जो धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपातरहित, शान्त, सर्वहितकारक विद्वानों की अन्नादि से सेवा, उनसे प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना 'अतिथियज्ञ' कहाता है, उसको नित्य किया करें। इस प्रकार पञ्चमहायज्ञों को स्त्री-पुरुष प्रतिदिन करते रहें॥५॥

अथ पक्षेष्टिः

इसके पश्चात् पक्षयज्ञ, अर्थात् पौर्णमासी और अमावास्या के दिन नैत्यिक अग्निहोत्र की आहुति दिये पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार पृष्ठ ५० में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बनाके निम्नलिखित मन्त्रों से विशेष आहुति करें—

ओम् अग्नये स्वाहा॥

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥

ओं विष्णवे स्वाहा॥[3]

इन ३ [तीन] मन्त्रों से स्थालीपाक की ३ [तीन] आहुति देनी। तत्पश्चात् पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे व्याहृति[4] आज्याहुति ४ [चार] देनी, परन्तु इसमें इतना भेद है कि अमावास्या के दिन—

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥ इस मन्त्र के बदले—

ओम् इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा॥[5]

इस मन्त्र को बोलके स्थालीपाक की आहुति देवे।

इस प्रकार पक्षयाग, अर्थात् जिसके घर में अभाग्य से अग्निहोत्र[6] न होता हो तो सर्वत्र पक्षयागादि में पृष्ठ ४९-५० में लिखे प्रमाणे यज्ञकुण्ड, यज्ञसामग्री, यज्ञमण्डप; पृष्ठ ५६-५७ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान; पृष्ठ ५९ में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति; और पृष्ठ ५८-५९ में लिखे

---

१. मनु० ३।९२॥

२. स० प्र० समु० ३ सं० १, पृ० ४४ (संवत् १९३२) तथा समु० ४ सं० २, पृ० १०२ में निम्न ऊहित मन्त्र-पाठ मिलता है—

''श्वभ्यो नमः। पतितेभ्यो नमः। स्वपग्भ्यो नमः। पापरोगिभ्यो नमः। वायसेभ्यो नमः। कृमिभ्यो नमः॥''

पञ्चमहायज्ञविधि में केवल मनु का श्लोक उद्धृत है, मन्त्रपाठ नहीं है।

३. श्रौतपौर्णमास में अग्नि, अग्नीषोम और विष्णु ये तीन देवता होते हैं। उन्हें ही यहाँ गृह्यपक्ष में भी ग्रहण किया है। गो० गृह्य० १।८।२१, २२ के अनुसार अग्नि और अग्नीषोम का विकल्प कहा है।

४. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

५. द्र०—गो० गृह्य० १।८।२३॥

६. 'प्रतिदिन अग्निहोत्र' पाठ उचित है।

प्रमाणे वेदी के चारों ओर जलसेचन करके[1] पृष्ठ ३६-४८ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण भी यथायोग्य करे।

[अथ नवशस्येष्टिः संवत्सरेष्टिश्च]

और जब-जब नवान्न आवे, तब-तब नवशस्येष्टि और संवत्सर के आरम्भ में निम्नलिखित विधि करे, अर्थात् जब-जब नवीन अन्न आवे, तब-तब शस्येष्टि करके नवीन अन्न के भोजन का आरम्भ करे।

नवशस्येष्टि और संवत्सरेष्टि करना हो तो जिस दिन प्रसन्नता हो वही शुभ दिन जाने। ग्राम और शहर के बाहर किसी शुद्ध खेत में यज्ञमण्डप करके पृष्ठ ३६-६३ तक लिखे प्रमाणे सब विधि करके प्रथम आघारावाज्यभागाहुति[2] ४ [चार] और व्याहृति आहुति[3] ४ [चार] तथा अष्टज्याहुति[4] ८ [आठ], ये १६ [सोलह] आज्याहुति करके, कार्यकर्त्ता—

ओं पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः।
तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा॥ १॥
ओं यन्मे किंचिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन्।
तन्मे सर्वꣳ समृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ स्वाहा॥ २॥
ओं सम्पत्तिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम॥ ३॥
ओं यस्या भावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम्।
इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीता सा मे त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वाहा॥
इदमिन्द्रपत्न्यै—इदन्न मम॥ ४॥
ओम् अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्त्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता।
खलामालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवा सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा॥
इदं सीतायै—इदन्न मम॥ ५॥[5]

इन मन्त्रों से प्रधानहोम की ५ [पाँच] आज्याहुति करके—

ओं सीतायै स्वाहा॥ ओं प्रजायै स्वाहा॥
ओं शमायै स्वाहा॥ ओं भूत्यै स्वाहा॥[6]

---

१. 'करके' पद से यहाँ पूर्वापर काल अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण होम से पूर्व विहित हैं। वस्तुतः यहाँ क्रियमाण विधियाँ गिनाना अभीष्ट है नकि कालक्रम का विधान करना।

२. ओम् 'अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. ओं 'भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

४. 'ओं त्वन्नो अग्ने०' आदि ८ मन्त्रों से।

५. ये पाँचों मन्त्र पार० गृह्य० २।१७।९॥ में पठित हैं। पार० गृह्य० के टीकाकारों के अनुसार पाँचों में 'इदं........न मम' अभिप्रेत है। सं० वि० में प्रथम दो मन्त्रों में 'इदं......न मम' का विधान नहीं है, उत्तर तीन मन्त्रों में विधान है। हमारे विचार में प्रथम दोनों मन्त्रों में भी 'इदमिन्द्राय—इदन्न मम' पाठ होना चाहिए। पार० गृह्य० में तो पाँचों स्वाहान्त मन्त्रों का ही पाठ है।

६. द्र०—पार० गृह्य० २।१७।१०॥

इन ४ मन्त्रों से ४ [चार] और पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे (यदस्य०) मन्त्र से स्विष्टकृत् होमाहुति १ [एक] ऐसे ५ [पाँच] स्थालीपाक की आहुति देके, पश्चात् पृष्ठ ६१-६२ में लिखे प्रमाणे अष्टाज्याहुति[1] ८ [आठ], व्याहृति[2] आहुति ४ [चार], ऐसे १२ [बारह] आज्याहुति देके[3], पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे महावामदेव्यगान, ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके यज्ञ की समाप्ति करें॥

अथ शालाकर्मविधिं वक्ष्यामः

'शाला' उसको कहते हैं—जो मनुष्य और पश्वादि के रहने, अथवा पदार्थ रखने के अर्थ गृह वा स्थानविशेष बनाते हैं। इसके दो विषय हैं—एक प्रमाण और दूसरा विधि। उसमें से प्रथम प्रमाण और पश्चात् विधि लिखेंगे।

अत्र प्रमाणानि

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत। शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि॥ १॥
हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले॥ २॥[4]

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई किसी प्रकार का घर बनावें तो वह (उपमिताम्) सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त कि जिसको देखके विद्वान् लोग सराहना करें। (प्रतिमिताम्) प्रतिमान, अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार, कोणे और कक्षा भी सम्मुख हों। (अथो) इसके अनन्तर (परिमिताम्) वह शाला चारों ओर के परिमाण से समचौरस हो। (उत) और (शालायाः) शाला (विश्ववारायाः), अर्थात् उस घर के द्वार चारों ओर के वायु को स्वीकार करनेवाले हों। (नद्धानि) उसके बन्धन और चिनाई दृढ़ हों। हे मनुष्यो! ऐसी शाला को जैसे हम शिल्पी लोग (विचृतामसि) अच्छे प्रकार ग्रन्थित, अर्थात् बन्धनयुक्त करते हैं, वैसे तुम भी करो॥ १॥

उस घर में एक (हविर्धानम्) होम करने के पदार्थ रखने का स्थान, (अग्निशालम्) अग्निहोत्र का स्थान, (पत्नीनाम्) स्त्रियों के (सदनम्) रहने का (सदः) स्थान और (देवानाम्) पुरुषों और विद्वानों के रहने-बैठने, मेल-मिलाप करने और सभा का (सदः) स्थान, तथा स्नान, भोजन, ध्यान आदि का भी पृथक्-पृथक् एक-एक घर बनावे। इस प्रकार की (देवि) दिव्य, कमनीय (शाले) बनाई हुई शाला (असि) सुखदायक होती है॥ २॥

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम्।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः। तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै॥ ३॥
ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता। विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः॥ ४॥[5]

अर्थः—उस शाला में (अन्तरा) भिन्न-भिन्न (पृथिवीम्) शुद्ध भूमि, अर्थात् चारों ओर स्थान शुद्ध हों (च) और (द्याम्) जिसमें सूर्य का प्रतिभास आवे, वैसी प्रकाशस्वरूप भूमि के समान दृढ़ शाला बनावे (च) और (यत्) जो (व्यचः) उसकी व्याप्ति, अर्थात् विस्तार हे स्त्री! (ते) तेरे लिए है, (तेन) उसी से युक्त (इमाम्) इस (शालाम्) घर को बनाता हूँ, तू इसमें निवास कर और

---

१. 'ओम् त्वन्नो अग्ने' आदि ८ मन्त्रों से। २. 'ओम् भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।
३. देखो—पृ० ३१४ की टि० १॥ ४. अथर्व० ९।३।१, ७॥
५. अथर्व० ९।३।१५, १६॥

मैं भी निवास के लिए इसको (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूँ। (यत्) जो उसके बीच में (अन्तरिक्षम्) पुष्कल अवकाश और (रजसः) उस घर का (विमानम्) विषेश मानपरिमाणयुक्त लम्बी, ऊँची छत्त और (उदरम्) भीतर का प्रसार विस्तारयुक्त होवे, (तत्) उसको (शेवधिभ्यः) सुख के आधाररूप अनेक कक्षाओं से सुशोभित (अहम्) मैं (कृण्वे) करता हूँ। (तेन) उस पूर्वोक्त लक्षणमात्र से युक्त (शालाम्) शाला को (तस्मै) उस गृहाश्रम के सब व्यवहारों के लिए (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूँ॥ ३ ॥

जो (शाले) शाला (ऊर्जस्वती) बहुत बलारोग्य, पराक्रम को बढ़ानेवाली और धन-धान्य से पूरित्त सम्बन्धवाली, (पयस्वती) जल, दूध, रसादि से परिपूर्ण, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (मिता) परिमाणयुक्त (निमिता) निर्मित की हुई (विश्वान्नम्) सम्पूर्ण अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुई (प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करनेहारों को रोगादि से (मा हिंसीः) पीड़ित न करे, वैसा घर बनाना चाहिए॥ ४ ॥

ब्रह्म॑णा शालां॒ निमि॑तां क॒विभि॒र्निर्मि॑तां मि॒ताम्। इ॒न्द्रा॒ग्नी र॑क्षतां॒ शाला॑म॒मृतौ॑ सो॒म्यं सदः॑ ॥ ५ ॥[१]

अर्थः—(अमृतौ) स्वरूप से नाशरहित (इन्द्राग्नी) वायु और पावक, (कविभिः) उत्तम विद्वान् शिल्पियों ने (मिताम्) प्रमाणयुक्त, अर्थात् माप में ठीक जैसी चाहिए वैसी (निमिताम्) बनाई हुई (शालाम्) शाला को और (ब्रह्मणा) चारों वेदों के जाननेहारे विद्वान् ने सब ऋतुओं में सुख देनेहारी (निमिताम्) बनाई (शालाम्) शाला को प्राप्त होकर रहनेवालों की (रक्षताम्) रक्षा करें, अर्थात् चारों ओर का शुद्ध वायु आके शुद्ध वायु को निकालता रहे और जिसमें सुगन्ध्यादि घृत का होम किया जाए, वह अग्नि दुर्गन्ध को निकाल सुगन्ध का स्थापन करे। वह (सोम्यम्) ऐश्वर्य, आरोग्य सर्वदा सुखदायक (सदः) रहने के लिए उत्तम घर है। उसी को निवास के लिए ग्रहण करे॥ ५ ॥

या द्वि॒प॑क्षा॒ चतु॑ष्पक्षा॒ षट्प॑क्षा॒ या नि॑मी॒यते॑।
अ॒ष्टाप॑क्षां॒ दश॑पक्षां॒ शालां॒ मान॑स्य॒ पत्नी॑म॒ग्निर्गर्भ॑ इ॒वा श॑ये॥ ६ ॥[२]

अर्थः—हे मनुष्यो! (या) जो (द्विपक्षा) दो पक्ष, अर्थात् मध्य में एक और पूर्व-पश्चिम में एक-एक शालायुक्त घर, अथवा (चतुष्पक्षा) जिसके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में एक-एक शाला और इनके मध्य में पाँचवीं बड़ी शाला वा (षट्पक्षा) एक बीच में बड़ी शाला और दो-दो पूर्व-पश्चिम तथा एक-एक उत्तर-दक्षिण में शाला हो, (या) जो ऐसी शाला (निमीयते) बनाई जाती है, वह उत्तम होती है और इससे भी जो (अष्टापक्षाम्) चारों ओर दो-दो शाला और उनके बीच में एक नवमी शाला हो, अथवा (दशपक्षाम्) जिसके मध्य में दो शाला और उनके चारों दिशाओं में दो-दो शाला हों, उस (मानस्य) परिमाण के योग से बनाई हुई (शालाम्) शाला को जैसे (पत्नीम्) पत्नी को प्राप्त होके (अग्निः) अग्निमय आर्त्तव और वीर्य (गर्भः इव) गर्भरूप होके (आशये) गर्भाशय में ठहरता है, वैसे सब शालाओं के द्वार दो-दो हाथ पर सूधे बराबर हों॥

और जिसकी चारों ओर की शालाओं का परिमाण तीन-तीन गज और मध्य की शालाओं का छह छह गज़ से परिमाण न्यून न हो और चार-चार गज़ चारों दिशाओं की और आठ-आठ गज़ मध्य की शालाओं का परिमाण हो, अथवा मध्य की शालाओं का दश-दश गज़, अर्थात् बीस-

---

१. अथर्व० ९।३।१९॥

२. अथर्व० ९।३।२१॥

बीस हाथ से विस्तार अधिक न हो, बनाकर गृहस्थों को रहना चाहिए। यदि वह सभा का स्थान हो तो बाहर की ओर द्वारों में चारों ओर कपाट और मध्य में गोल-गोल स्तम्भे बनाकर चारों ओर खुला बनाना चाहिए कि जिसके कपाट खोलने से चारों ओर का वायु उसमें आवे और सब घरों के चारों ओर वायु आनेके लिए अवकाश तथा वृक्ष, फल और पुष्करणी कुण्ड भी होने चाहिएँ, वैसे घरों में सब लोग रहें॥ ६॥

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम्। अग्निर्ह्यन्तरापश्च ऋतस्य प्रथमा द्वाः॥ ७॥[1]

अर्थः—जो (शाले) शालागृह (प्रतीचीनः) पूर्वाभिमुख तथा जो गृह (प्रतीचीम्) पश्चिम द्वारयुक्त, (अहिंसतीम्) हिंसादि दोषरहित, अर्थात् पश्चिम द्वार के सम्मुख पूर्व द्वार जिसमें (हि) निश्चयकर (अन्तः) बीच में (अग्निः) अग्नि का घर (च) और (आपः) जल का स्थान (ऋतस्य) और सत्य के ध्यान के लिए एक स्थान (प्रथमा) प्रथम (द्वाः) द्वार है, मैं (त्वा) उस शाला को (प्रैमि) प्रकर्षता से प्राप्त होता हूँ॥ ७॥

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव। वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं[2] **भरामसि॥ ८॥**

—अथर्व० कां० ९। अ० २। वर्ग ३॥[3]

अर्थः—हे शिल्पि लोगो! जैसे (नः) हमारी (शाले) शाला, अर्थात् गृह (पाशम्) बन्धन को (मा प्रतिमुचः) कभी न छोड़े, जिसमें (गुरुर्भारः) बड़ा भार (लघुर्भव) छोटा होवे, वैसी बनाओ। (त्वा) उस शाला को (यत्रकामम्) जहाँ जैसी कामना हो, वहाँ वैसी हम लोग (वधूमिव) स्त्री के समान (भरामसि) स्वीकार करते हैं[4] वैसे तुम भी ग्रहण करो॥ ८॥

इस प्रकार प्रमाणों के अनुसार जब घर बन चुके, तब प्रवेश करते समय क्या-क्या विधि करना, सो नीचे लिखे प्रमाणे जानो—

अथ विधिः—जब घर बन चुके, तब उसकी शुद्धि अच्छे प्रकार करा, चारों दिशाओं के बाहरले द्वारों में ४ [चार] वेदी और एक वेदी घर के मध्य बनावे, अथवा तांबे का वेदी के समान कुण्ड बनवा लेवे कि जिससे सब ठिकाने एक कुण्ड ही में काम हो जावे। सब प्रकार की सामग्री, अर्थात् पृष्ठ ५० में लिखे प्रमाणे समिधा, घृत, चावल, मिष्ट, सुगन्ध, पुष्टिकारक द्रव्यों को लेके शोधन कर प्रथम दिन रख लेवे। जिस दिन गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे, उसी शुभ दिन में गृहप्रतिष्ठा करे।

वहाँ ऋत्विज्, होता, अध्वर्यु और ब्रह्मा का वरण करे, जोकि धर्मात्मा, विद्वान् हों। वे सब वेदी से पश्चिम दिशा में बैठें।[5] उनमें से होता का आसन पश्चिम में और उसपर वह पूर्वाभिमुख,

---

१. अथर्व० ९। ३। २२॥ द्र०—राथह्विटनी संस्करण।

२. 'शाले यत्र कामं' पाठान्तर। पदपाठानुसार **'यत्रकामम्'** एक पद है। ग्रन्थकार ने भी एक ही पद माना है।

३. अथर्व० ९। ३। २४॥

४. 'भरामसि' का दूसरा अर्थ 'दूसरे स्थान पर ले-जाते हैं' भी है। इसी सूक्त के १७वें मन्त्र में शाला का विशेषण 'पद्वती' (पैरोंवाली) भी है और इसी पक्ष में 'गुरुर्भारो लघुर्भव' कथन युक्त होता है। इस प्रकार इस मन्त्र से गतिशील, अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले-जा सकने योग्य शाला बनाने का भी विधान है।

५. 'वे.......बैठें' वाक्य सं० २ में है। सं० ३ में तथा अगले सं० में नहीं है। यदि इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि 'वरण के पूर्व चारों ऋत्विग् वेदी के पश्चिम में बैठें। वहाँ यजमान उनको वरण करके आगे कहे यथायोग्य स्थानों पर बैठावे' तो यह वाक्य युक्त है। हम इसका यही अभिप्राय समझते हैं। इससे वरण के समय ऋत्विग् वहाँ बैठें, इसका जो विधान अपेक्षित है, वह उपपन्न हो जाता है।

अध्वर्यु का आसन उत्तर में उसपर वह दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व दिशा में आसन उसपर वह पश्चिमाभिमुख और ब्रह्मा का दक्षिण दिशा में उत्तमासन बिछाकर उत्तराभिमुख। इस प्रकार चारों आसनों पर चारों पुरुषों को बैठावे और गृहपति सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठा करे। ऐसे ही घर के मध्य वेदी के चारों ओर दूसरे आसन बिछा रक्खे।

पश्चात् निष्क्रम्यद्वार, जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होवे, अर्थात् जो मुख्य द्वार हो, उसी द्वार के समीप ब्रह्मा-सहित बाहर ठहर कर—

ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा ॥[१]

इससे एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ जिसमें ध्वजा लगाई हो, खड़ा करे और घर के ऊपर चारों कोणों पर ४ [चार] ध्वजा खड़ी करे तथा कार्यकर्त्ता गृहपति स्तम्भ खड़ा करके उसके मूल में जल से सेचन करे, जिससे वह दृढ़ रहे।

पुनः द्वार के सामने बाहर जाकर नीचे लिखे ४ [चार] मन्त्रों से जलसेचन करे—

ओम् इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्द्धारां प्रतरणीं वसूनाम्।
इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षयमाणा ॥ १ ॥[२]

इस मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिटकावे।

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय।
आ त्वा शिशुराक्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः ॥ २ ॥[२]

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार।

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह। आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरुप।
क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम् ॥ ३ ॥[२]

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार।

अश्वावद् गोमदूर्जस्वत् पर्णं वनस्पतेरिव। अभि नः पूर्यताꣳ रयिरिदमनुश्रेयो वसानः ॥ ४ ॥[२]

इस मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिटकावे। तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदली-स्तम्भ वा कदली के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिए लगाकर, पश्चात् गृहपति—

हे ब्रह्मन्! प्रविशामीति।[३] ऐसा वाक्य बोले। और ब्रह्मा—

वरं भवान् प्रविशतु ॥[४]

ऐसा प्रत्युत्तर देवे। और ब्रह्मा की अनुमति से—

ओम् ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये ॥[५]

इस वाक्य को बोलके भीतर प्रवेश करे और जो घृत गरम कर, छान, सुगन्ध मिलाकर रक्खा हो, उसको पात्र में लेके जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे, उसी द्वार से प्रवेश करके, पृष्ठ ५६-५९ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, जलप्रोक्षण, आचमन[६] करके पृष्ठ ५९ में लिखे प्रमाणे घृत

---

१. पार० गृह्य० ३।४।३॥ २. पार० गृह्य० ३।४।४॥
३. द्र०—पार० गृह्य० ३।४।५॥ ४. द्र०—पार० गृह्य० ३।४।६॥ ब्रह्मानुज्ञातः।
५. पार० गृह्य० ३।४।६॥
६. यहाँ क्रम अभिप्रेत नहीं है। कार्यनिर्देश ही अभिप्रेत है। अतः आचमन पहले करना चाहिए।

की आघारावाज्यभागाहुति[१] ४ [चार] और व्याहृति[२] आहुति ४ [चार], नवमी स्विष्टकृत्[३] आज्याहुति एक, अर्थात् दिशाओं की द्वारस्थ वेदियों में अग्न्याधान से लेके स्विष्टकृत् आहुतिपर्यन्त विधि करके, पश्चात् पूर्वदिशा द्वारस्थ कुण्ड में—

ओं प्राच्यां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओम् देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन दो मन्त्रों से पूर्व द्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देवे। वैसे ही—

ओं दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन दो मन्त्रों से दक्षिण द्वारस्थ वेदी में एक-एक मन्त्र करके दो आज्याहुति। और—

ओं प्रतीच्यां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इन दो मन्त्रों से दो आज्याहुति पश्चिम दिशा द्वारस्थ कुण्ड में देवे।

ओं उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इनसे उत्तर दिशास्थ वेदी में दो आज्याहुति देवे। पुनः मध्यशालास्थ वेदी के समीप जाके स्व-स्व दिशा में बैठके—

ओं ध्रुवायां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इनसे मध्य वेदी में दो आज्याहुति।

ओं ऊर्ध्वायां दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥

इनसे भी दो आहुति मध्यवेदी में। और—

ओं दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा। ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥[४]

इनसे भी दो आज्याहुति मध्यस्थ वेदी में देके, पुनः पूर्व दिशास्थ द्वारस्थ वेदी में अग्नि को प्रज्वलित करके वेदी के दक्षिणभाग में ब्रह्मासन तथा होता आदि के पूर्वोक्त प्रकार आसन बिछवा, उसी वेदी के उत्तरभाग में एक कलश स्थापन कर, पृष्ठ ५० में लिखे प्रमाणे स्थालीपाक बनाके, पृथक् निष्क्रम्यद्वार[५] के समीप जा, ठहरकर ब्रह्मादिसहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके ब्रह्मादि को दक्षिणादि आसन पर बैठा, स्वयं पूर्वाभिमुख बैठके संस्कृत घी, अर्थात् जो गरम कर, छान, जिसमें कस्तूरी आदि सुगन्ध मिलाया हो, पात्र में लेके सबके सामने एक-एक पात्र भरके रक्खे और चमसा में लेके—

ओं वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा॥ १॥
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व स्वाहा॥ २॥

---

१. 'ओम् अग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

२. 'ओं भूरग्नये स्वाहा' आदि ४ मन्त्रों से।

३. 'ओं यदस्य कर्मणो०' मन्त्र से।

४. ये सब मन्त्र अथर्व० ९।३।२५-३१॥ तक द्रष्टव्य हैं। वेद में 'स्वाह्येभ्यः' पर्यन्त एक मन्त्र है। उसके यहाँ दो-दो विभाग किये हैं। 'स्वाह्येभ्यः' से आगे 'स्वाहा' पद मन्त्र से बहिर्भूत है।

५. अर्थात् मुख्य निष्क्रम्यद्वार से भिन्न जो निष्क्रम्यद्वार हो उसके समीप।

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा॥ ३॥

—ऋ० मं० ७। सू० ५४॥[1]

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि नः स्वाहा॥ ४॥

—ऋ० मं० ७। सू० ५५। मं० १॥

इन ४ [चार] मन्त्रों से ४ [चार] आज्याहुति देके, जो स्थालीपाक, अर्थात् भात बनाया हो उसको दूसरे कांसे के पात्र में लेके, उसपर यथायोग्य घृत सेचन करके अपने-अपने सामने रक्खें और पृथक्-पृथक् थोड़ा-थोड़ा लेकर—

ओम् अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वाँश्च देवानुपह्वये।
सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥ १॥
सर्पदेवजनान्त्सर्वान् हिमवन्तꣳ सुदर्शनम्। वसूँश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनिः स्वाहा॥ २॥
पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यन्दिना सह। प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥ ३॥
ओं कर्तारञ्च विकर्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥ ४॥
धातारं च विधातारं निधीनां च पतिꣳ सह। एतान्त्सर्वान् प्रपद्येहं वास्तु में दत्त वाजिनः स्वाहा॥ ५॥
स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती। सर्वाश्च देवताश्च स्वाहा॥ ६॥[2]

स्थालीपाक, अर्थात् घृतयुक्त भात की इन छह मन्त्रों से छह आहुति देकर कांस्यपात्र में उदुम्बर=गूलर और पलाश के पत्ते, शाड्वल=तृणविशेष[3], गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव को लेके उन सब वस्तुओं को मिलाकर—

ओं श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम्।
इस मन्त्र से पूर्व द्वार।
यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम्॥ इससे दक्षिण द्वार।
अन्नञ्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम्॥[4]
इससे उत्तर द्वार के समीप उनको बखेरे और जलप्रोक्षण भी करे।
केता च मा सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम्॥ १॥[5]

---

१. मन्त्र १-३॥ 'स्वाहा' पद मन्त्र से बहिर्भूत है। उसके योग में अन्तिम अक्षर में जो स्वरभेद होता है, तदनुसार यहाँ कर दिया है।

२. पार० गृह्य० ३।४।८॥ प्रथम मन्त्र में 'विश्वान् देवान्' पाठ है।

३. शाड्वल का अभिप्राय ही 'तृणविशेष' से प्रकट किया है। पारस्कर ८।४।९ की व्याख्या में शाड्वल का अर्थ 'दूर्वा' अर्थात् 'दूब' किया है।

४. पार० गृह्य० ३।४।१०-१३ 'ब्राह्मणाश्च पश्चिमे' यह पारस्कर में पाठान्तर भी है।

५. पार० गृह्य० ३।४।१४॥

इससे पूर्व दिशा में परमात्मा का उपस्थान करके दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम्॥ २॥[१]

इस प्रकार जगदीश का उपस्थान करके पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभिमुख होके—

दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम्॥ ३॥[२]

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके उत्तर दिशा में उत्तर द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रहके—

अस्वप्नश्च माऽनवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेताम्॥ ४॥[३]

धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीसूर्यामहोरात्रे[४] द्वारफलके। इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह। यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणः सखा यः साधुसंमस्तां[५] त्वा शाले अरिष्टवीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः॥ ५॥

इस प्रकार उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके सुपात्र, वेदवित्, धार्मिक होता आदि सपत्नीक ब्राह्मण तथा इष्ट-मित्र और सम्बन्धियों को उत्तम भोजन कराके, यथायोग्य सत्कार करके दक्षिणा दे, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को—

'सर्वे भवन्तोऽत्राऽऽनन्दिताः सदा भूयासुः॥'

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को जावें।

इसी प्रकार आराम[६] आदि की भी प्रतिष्ठा करें। इसमें इतना ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे, उसी ओर होम करे कि जिसका सुगन्ध वृक्ष आदि को सुगन्धित करे। यदि उसमें घर बना हो तो शाला के समान उसकी भी प्रतिष्ठा करे।

इति शालादि-संस्कारविधिः ॥

---

१. पार० गृह्य० ३।४।१५॥ २. पार० गृह्य० ३।४।१६॥

३. पार० गृह्य० ३।४।१७॥ संस्करण २ तथा अगले कुछ संस्करणों में 'गोपायेतामिति' अपपाठ है। पार० गृह्य० में सर्वत्र 'इति' मन्त्रपूर्त्यर्थ है। इन चारों वचनों को पारस्करगृह्य० के टीकाकार मन्त्र मानते हैं, परन्तु इनमें केता, सुकेता, गोपायमान, रक्षमाण, दीदिवि, जागृवि और अस्वप्ना, अनवद्राण पदों का क्रमशः व्याख्यान होने से ये शुद्ध रूप में मन्त्र नहीं है, अपितु ब्राह्मणमिश्रित पाठ हैं।

४. पार० गृह्य० ३।४।१८॥ में 'श्रीस्तूपमहोरात्रे' पाठ है।

५. पार० गृह्य० ३।४।१८ में 'सर्वगणसखायसाधुसंवृतः' पाठ मिलता है। ब्लूमफील्ड ने 'सर्वगणः सखायः साधुसंवृतः' पाठ उद्धृत किया है। इस पाठ में 'सखा यः' दो पदों का एकीकरण बहुवचनान्तरूप पाठ भ्रान्तिमूलक है। पारस्कर का मुद्रित पाठ अशुद्ध है, यह एकपद पक्ष में पद के मध्य में पठित 'सखाय' शब्द से ही स्पष्ट है।

६. अर्थात् बगीचा।

इस प्रकार गृहादि की रचना करके गृहाश्रम में जो-जो अपने-अपने वर्ण के अनुकूल कर्त्तव्य कर्म हैं, उन-उनको यथावत् करें।

अथ ब्राह्मणस्वरूपलक्षणम्

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ १॥ —मनु०[१]॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ २॥

—गीता॥[२]

अर्थ—१ [एक]—निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें। २ [दो]—पूर्ण विद्या पढ़ें। ३ [तीन]—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें। ४ [चौथा]—यज्ञ करावें। ५ [पाँच]—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें। ६ [छठा]—न्याय से धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थों[३] से दान लेवें भी।

इनमें से तीन कर्म—पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना धर्म* हैं और तीन कर्म—पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका हैं[४]। परन्तु—"**प्रतिग्रहः प्रत्यवरः**" मनु०॥[५] जो दान लेना है वह नीच कर्म है, किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है॥ १॥

(शमः) मन को अधर्म में न जाने दे, किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे। (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रक्खे, दूर रखके धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे। (तपः) ब्रह्मचर्य, विद्या, योगाभ्यास की सिद्धि के लिए शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति, क्षुधा-तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना। (शौचम्) राग-द्वेष-मोहादि से मन और आत्मा को तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना। (क्षान्तिः) क्षमा, अर्थात् कोई निन्दा-स्तुति आदि से सतावें तो भी उनपर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना। (आर्जवम्) निरभिमान रहना, दम्भ, स्वात्मश्लाघा, अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र, सरल, शुद्ध, पवित्रभाव रखना। (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ़के, विचारकर उनके शब्दार्थ-सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना। (विज्ञानम्) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना-कराना। (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना। ये नव कर्म और गुण धर्म में[६]

---

*धर्म नाम न्यायाचरण। न्याय नाम पक्षपात छोड़के वर्त्तना। पक्षपात छोड़ना नाम सर्वदा अहिंसादि निर्वैरता, सत्यभाषणादि में स्थिर रहकर हिंसा-द्वेषादि और मिथ्याभाषणादि से सदा पृथक् रहना। सब मनुष्यों का यही एक धर्म है, किन्तु जो-जो धर्म के लक्षण वर्ण-कर्मों में पृथक्-पृथक् आते हैं। इसी से चार वर्ण पृथक्-पृथक् गिने जाते हैं॥ **—द०स०**

---

१. मनु० १।८८॥ तु०—मनु० १०।७५॥ २. गीता १८।४२॥

३. द्र०—'विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः' मनु० १०।७६॥ इसकी व्याख्या में 'द्विजातिभ्यो धनं लिप्सेत् प्रशस्तेभ्यो द्विजः' यह वचन भी उद्धृत है।

४. द्र०—मनु० १०।७६—"**षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥**"

५. मनु० १०।१०९॥

६. यहाँ पाठ कुछ भ्रष्ट प्रतीत होता है। 'धर्म में' के स्थान पर 'ब्राह्मण धर्म में' पाठ हो तो वाक्यार्थ युक्त हो जाता है।

समझना। सबसे उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव को धारण करना। ये गुण-कर्म जिन व्यक्तियों में हों वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण-कर्म-स्वभावों को मिला ही के करें। मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे॥ २॥

अथ क्षत्रियस्वरूपलक्षणम्

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ १॥ —मनु०॥[1]
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥ २॥ —गीता॥[2]

अर्थः—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादिशास्त्रों को यथावत् पढ़ना। (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों को करना। (दानम्) सुपात्रों को विद्या, सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना। (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना। यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में और शस्त्रविद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है[3]। (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेन्द्रिय रहना। लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय, सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना॥ १॥

(शौर्यम्) शस्त्र-संग्राम, मृत्यु और शस्त्र-प्रहारादि से न डरना। (तेजः) प्रगल्भता, उत्तम प्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना। (धृतिः) चाहे कितनी ही आपत्-विपत्, क्लेश-दुःख प्राप्त हो तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना। (दाक्ष्यम्) संग्राम, वाग्युद्ध, दूतत्व, न्याय, विचार आदि सबमें अतिचतुर, बुद्धिमान् होना। (युद्धे चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबराकर शत्रु के वश में कभी न होना। (दानम्) इसका अर्थ प्रथम श्लोक में आ गया। (ईश्वर-भावः) जैसे परमेश्वर सबके ऊपर दया करके पितृवत् वर्तमान, पक्षपात छोड़कर धर्माऽधर्म करनेवालों को यथायोग्य सुख-दुःखरूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सबका अन्तर्यामी होकर सबके अच्छे-बुरे कर्मों को यथावत् देखता है, वैसे प्रजा के साथ वर्तकर गुप्त दूत आदि से अपने को सर्व प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे-बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना। रात-दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने, श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना और सब प्रकार से अपने शरीर को रोगरहित, बलिष्ठ, दृढ़ तेजस्वी दीर्घायु रखके आत्मा को न्यायधर्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुण-कर्मों का योग जिस व्यक्ति में हो वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे।

इनका भी इन्हीं गुण-कर्मों के मेल से विवाह करना और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावे, वैसे ही राजा पुरुषों राणी स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करे। जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें॥ २॥

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम्

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ —मनु०[4]॥

अर्थः—(अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना। (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना।

---

१. मनु० १।८९॥ २. गीता १८।४३॥

३. शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य.......आजीवनार्थम्। —मनु० १०।७९॥ ४. मनु० १।९०॥

(दानम्) अन्नादि का दान देना, ये तीन धर्म के लक्षण और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उनके दुग्धादि का बेचना। (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना। (कुसीदम्) व्याज का लेना*। (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खाद और भूमि की परीक्षा, जोतना-बोना आदि व्यवहार का जानना, ये चार कर्म वैश्य की जीविका[१]। ये गुण-कर्म जिस व्यक्ति में हों वह वैश्य-वैश्या और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिए॥

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम्

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ —मनु०॥[२]

अर्थः—(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित, प्रीति से सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है। ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म जिस व्यक्ति में हों वह शूद्र और शूद्रा है। इन्हीं की परीक्षा से इनका विवाह और इनको अधिकार भी ऐसा ही होना चाहिए॥

इन गुण-कर्मों के योग ही से चारों वर्ण होवें तो उस कुल, देश और मनुष्यसमुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण-कर्म-स्वभाव हों तो अतिविशेष है।

अब सब ब्राह्मणादि वर्णवाले मनुष्य लोग अपने-अपने कर्मों में निम्नलिखित रीति से वर्तें—

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः। तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १॥

नेहेतार्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा। न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः॥ २॥[३]

अर्थः—ब्राह्मणादि द्विज वेदोक्त अपने कर्म को आलस्य छोड़के नित्य किया करें। उसको अपने सामर्थ्य के अनुसार करते हुए मुक्तिपर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं॥ १॥

गृहस्थ कभी किसी दुष्ट-प्रसङ्ग से द्रव्य-सञ्चय न करे, न विरुद्ध कर्म से, न विद्यमान पदार्थ होते हुए उनको गुप्त रखके, दूसरे से छल करके और चाहे कितना ही दुःख पड़े तदपि अधर्म से द्रव्य-सञ्चय कभी न करे॥ २॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः। अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्तयेत्॥ ३॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः। यथा तथाऽध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥ ४॥[४]

---

* सवा रुपये सैकड़े से अधिक, चार आने से न्यून व्याज न लेवे, न देवे। जब दूना धन आ जाए उससे आगे कौड़ी न लेवे, न देवे। जितना न्यून व्याज लेवेगा, उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे॥ **—द०स०**

---

१. 'वणिक्पशुकृषिर्विश.........आजीवनार्थम्।' —मनु० १०।७९॥

२. तु०—मनु० १।९१॥ मनु० में 'एकमेव तु' पाठ है। सत्यार्थ-प्रकाश संस्करण २ में भी 'एकमेव हि' पाठ मिलता है।

३. मनु० ४।१४, १५॥ ४. मनु० ४।१६, १७॥

अर्थः—इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फँसे और विषयों की अत्यन्त प्रसक्ति, अर्थात् प्रसङ्ग को मनसे अच्छे प्रकार दूर करता रहे॥ ३॥

जो स्वाध्याय और धर्म-विरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं, उन सबको छोड़ देवे। जिस-किसी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही गृहस्थ का कृतकृत्य होना है॥ ४॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च। नित्यं शास्त्रण्यवेक्षेत निगमाँश्चैव वैदिकान्॥ ५॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति। तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ ६॥
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कशैः। न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः॥ ७॥
नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः। आमृत्योः प्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम्॥ ८॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ ९॥[1]

अर्थः—हे स्त्री-पुरुषो! तुम जो धर्म, धन और बुद्ध्यादि को अत्यन्त शीघ्र बढ़ानेहारे हितकारी शास्त्र हैं उनको और वेद के भागों की विद्याओं को नित्य देखा करो॥ ५॥

मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्र का विचार कर उसके यथार्थ भाव को प्राप्त होता है, वैसे-वैसे अधिक-अधिक जानता है और इसकी प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है॥ ६॥

सज्जन गृहस्थ लोगों को योग्य है कि जो पतित, दुष्ट कर्म करनेहारे हों न उनके, न चाण्डाल, न कञ्जर, न मूर्ख, न मिथ्याभिमानी और न नीच निश्चयवाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें॥ ७॥

गृहस्थ लोग कभी प्रथम पुष्कल धनी होके पश्चात् दरिद्र हो जाएँ, उससे अपने आत्मा का अवमान न करें कि 'हाय हम निर्धनी हो गये' इत्यादि विलाप भी न करें, किन्तु मृत्युपर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें॥ ८॥

मनुष्य सदैव सत्य बोलें और दूसरे को कल्याणकारक उपदेश करें। काणे को काणा और मूर्ख को मूर्ख आदि अप्रिय वचन उनके सन्मुख कभी न बोलें और जिस मिथ्याभाषण से दूसरा प्रसन्न होता हो उसको भी न बोलें, यह सनातन धर्म है॥ ९॥

अभिवादयेद् वृद्धाँश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्। कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्॥ १०॥
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु। धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥ ११॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः। आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥ १२॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥ १३॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः। श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ १४॥[2]

अर्थः—सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को 'नमस्ते', अर्थात् उनका मान्य किया करे। जब वे अपने समीप आवें तब उठकर मान्यपूर्वक ले अपने आसन पर बैठावे और हाथ जोड़के आप समीप बैठे पूछे वे उत्तर देवे[3] और जब जाने लगें तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर 'नमस्ते' कर

---

१. मनु० ४।१९, २०, ७९, १३७, १३८॥ सातवें श्लोक में काशी में छपे मनु० के संवत् १९२६ के संस्करण में 'पुक्कशैः' ही पाठ मिलता है।

२. मनु० ४।१५४-१५८॥

३. संस्करण १२ तक यही पाठ है। शता० सं० से १७वें सं० तक 'पूछे (हु) वे उत्तर देवें'। तथा सं० १८-२४ तक 'पूछे हुए उत्तर देवें' पाठ मिलता है।

विदा किया करे* और वृद्ध लोग हर बार निकम्मे जहाँ-तहाँ न जाया करें॥ १०॥

गृहस्थ सदा आलस्य को छोड़कर वेद और मनुस्मृति में वेदानुकूल[1] कहे हुए अपने कर्मों में निबद्ध और धर्म का मूल सदाचार, अर्थात् सत्य और सत्पुरुष, आप्त, धर्मात्माओं का जो आचरण है उसका सेवन सदा किया करें॥ ११॥

धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा और अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है और धर्माचार बुरे, अधर्मयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है॥ १२॥

और जो दुष्टाचारी होता है, वह सर्वत्र निन्दित, दुःखभागी और व्याधि से अल्पायु सदा हो जाता है॥ १३॥

जो सब अच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त, सत्य में श्रद्धा और निन्दा आदि दोषरहित होता है, वह सुख से सौ वर्षपर्यन्त जीता है॥ १४॥

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद् यत्नेन वर्जयेत्। यद्यदात्मवशं तु स्यात् तत्तत् सेवेत यत्नतः॥ १५॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥ १६॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्। हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥ १७॥[2]

अर्थः—मनुष्य जो-जो पराधीन कर्म हो उस-उसको प्रयत्न से सदा छोड़े और जो-जो स्वाधीन कर्म हो उस-उसका सेवन प्रयत्न से किया करे॥ १५॥

क्योंकि जितना परवश होना है वह सब दुःख और जितना स्वाधीन रहना है, वह सब सुख कहाता है। यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानो॥ १६॥

जो अधार्मिक मनुष्य है और जिसका अधर्म से सञ्चित किया हुआ धन है और जो सदा हिंसा में, अर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है, वह इस लोक और परलोक, अर्थात् परजन्म में सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता॥ १७॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव। शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥ १८॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृसु। न त्वेवन्तु[3] कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः॥ १९॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा। शिष्याँश्च शिष्याद् धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः॥ २०॥[4]

अर्थः—मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता, वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता, किन्तु धीरे-धीरे अधर्म कर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है। पश्चात् अधर्मी दुःख-ही-दुःख भोगता है॥ १८॥

यदि अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों और पुत्रों के समय में न हो तो

* अथवा जाते हुओं के थोड़ी दूर तक पीछे-पीछे चले।

१. 'वेदानुकूल' पद संस्करण २-६ में मिलता है। संस्करण ७-१२ तक छूटा हुआ है। शताब्दी-संस्करण से पुनः जोड़ दिया गया है।

२. मनु० ४।१५९, १६०, १७०॥

३. मनु० के संवत् १९२६ के काशी-संस्करण में यही पाठ मिलता है।

४. मनु० ४।१७२, १७३, १७५॥

नातियों[१] के समय में अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे॥ १९॥

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि सत्य, धर्म और आर्य, अर्थात् उत्तम पुरुषों के आचरणों और भीतर-बाहर की पवित्रता में सदा रमण करें। अपनी वाणी, बाहू, उदर को नियम और सत्यधर्म के साथ वर्त्तमान रखके शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें॥ २०॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ २१॥

धर्मं शनैस्सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः। परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥ २२॥

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत् सह। निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमाँस्त्यजेत्॥ २३॥

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः। तान्तु[२] यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥ २४॥[३]

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ २५॥

—मनु०[४]॥

अर्थः—जो धर्म से वर्जित धनादि पदार्थ और काम हों, उनको सर्वथा शीघ्र छोड़ देवे और जो धर्माभास, अर्थात् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं और जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करनेवाले कर्म हैं, उनसे भी दूर रहे॥ २१॥

जैसे दीमक धीरे-धीरे बड़े भारी घर को बना लेती है, वैसे मनुष्य परजन्म के सहाय के लिए सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का सञ्चय धीरे-धीरे किया करे॥ २॥

जो मनुष्य अपने कुल को उत्तम करना चाहे, वह नीच-नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़कर नित्य अच्छे-अच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे॥ २३॥

जिस वाणी में सब व्यवहार निश्चित, वाणी ही जिनका मूल और जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, जो मनुष्य उस वाणी को चोरता, अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह जानो सब चोरी आदि पाप ही को करता है। इसलिए मिथ्याभाषण को छोड़के सदा सत्यभाषण ही किया करे॥ २४॥

मनुष्यों को चाहिए कि धर्म से वेदादि शास्त्रों का पठन-पाठन, गायत्री-प्रणवादि का अर्थविचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्मोपासना, ज्ञान-विद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पञ्चमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन, सत्योपदेश और योगाभ्यासदि उत्तम कर्मों से इस शरीर को ब्राह्मी, अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करें॥ २५॥

अथ सभा स्वरूप लक्षणम्—जो-जो विशेष बड़े-बड़े काम हों जैसाकि राज्य, वे सब सभा से निश्चय करके किये जावें[५]। इसमें प्रमाण—

तं स॒भा च॒ समि॑तिश्च॒ सेना॑ च॒॥ १॥ —अथर्व० कां० १५। सू० ९। मं० २॥

---

१. अर्थात् पौत्रों।

२. जौली के संस्करण में तथा सत्यार्थ-प्रकाश समु० ४ सं० २ में 'तान्तु पाठ है। तां तु=तान्तु।

३. मनु० ४। १७६, २३८, २४४, २५६॥

४. मनु० २। २८॥ मनुस्मृति में 'व्रतैर्होमै०' पाठ है। सत्यार्थ-प्रकाश समु० ३, पृष्ठ ७२ (रा० ला० क० ट्र० सं०) में मनुवत् पाठ है, परन्तु स० प्र० समु० ४, पृष्ठ १२५ (रा० ला० क० ट्र० सं०) में संस्कारविधि के समान 'जपैर्होमैः' पाठ मिलता है।

५. संस्करण २२ तथा अगले संस्करणों में 'किया करें' पाठ है।

स॒भ्यं स॒भां मे॑ पाहि॒ ये च॒ सभ्याः॑ सभा॒सदः॑ ॥ २ ॥ —अथर्व० कां० १९। सू० ५५। मं० ६ ॥[१]

त्रीणि॑ राजाना वि॒दथे॑ पु॒रूणि॒ परि॒ विश्वा॑नि भूषथः॒ सदां॑सि ॥ ३ ॥

—ऋ० मं० ३। सू० ३८। मं० ६ ॥

अर्थः—(तम्) जोकि संसार में धर्म के साथ राज्यपालनादि किया जाता है, उस व्यवहार को सभा और संग्राम तथा सेना सब प्रकार सञ्चित करे ॥ १ ॥

हे सभ्य सभा के योग्य सभापते राजन्! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभी की (पाहि) रक्षा और उन्नति किया कर। (ये च) और जो (सभ्याः) सभा के योग्य धार्मिक, आप्त (सभासदः) सभासद् विद्वान् लोग हैं वे भी सभा की योजना, रक्षा और उससे सब की उन्नति किया करें ॥ २ ॥

जो (राजाना) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं, वे (विदथे) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् अथवा संग्रामादि कार्यों में (त्रीणि) राजसभा, धर्मसभा और विद्यासभा, अर्थात् विद्यादि व्यवहारों की वृद्धि के लिए ये तीन प्रकार की (सदांसि) सभा नियत करें। इन्हीं से संसार की सब प्रकार उन्नति करें ॥ ३ ॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्। यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १ ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः। ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ २ ॥[२]

अर्थः—हे गृहस्थ लोगो! जो धर्मयुक्त व्यवहार मनुस्मृति आदि में प्रत्यक्ष न कहे हों यदि उनमें शङ्का होवे तो तुम जिसको शिष्ट, आप्त विद्वान् कहें, उसी को शङ्कारहित कर्त्तव्य धर्म मानो ॥ १ ॥

शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते, किन्तु जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ें हों, जो श्रुतिप्रमाण और प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से विधि वा निषेध करने में समर्थ धार्मिक, परोपकारी हों, वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं ॥ २ ॥

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत्। त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ३ ॥

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः। त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा ॥ ४ ॥

ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च। त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ५ ॥

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः। स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ६ ॥[३]

अर्थः—वैसे शिष्ट न्यून-से-न्यून १० [दश] पुरुषों की सभा होवे, अथवा बड़े विद्वान् तीनों की भी सभा हो सकती है। जो सभा से धर्म-कर्म निश्चित हों, उनका भी[४] आचरण सब लोग करें ॥ ३ ॥

उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें—तीन वेदों के विद्वान्, चौथा हैतुक, अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, पाँचवाँ तर्की=न्यायशास्त्रवित्, छठा निरुक्त का जाननेहारा, सातवाँ धर्मशास्त्रवित्, आठवाँ ब्रह्मचारी, नववाँ गृहस्थ और दशवाँ वानप्रस्थ—इन महात्माओं की सभा होवे ॥ ४ ॥

---

१. संस्कार-विधि संस्करण २-६ तक तथा २१ से अगले संस्करणों में यही पाठ है। स० प्र० समु० ६ तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ २५९ ((रा० ला० क० ट्र० सं०) में भी यही पाठ है।

२. मनु० १२।१०८, १०९॥

३. मनु० १२।११०-११३॥

४. वेद वा मनुस्मृत्युक्त वर्णाश्रमधर्म तो आचरणीय है ही, उनके साथ उक्त सभा द्वारा प्रतिपादित धर्म भी आचरणीय है। इस बात का संकेत 'भी' शब्द से किया है।

तथा ऋग्वेदवित्, यजुर्वेदवित् और सामवेदवित् इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय, अर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिए होनी चाहिए और जितने सभा में अधिक पुरुष हों, उतनी ही उत्तमता है॥ ५ ॥

द्विजों में उत्तम, अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी अकेला भी जिस धर्मव्यवहार के करने का निश्चय करे, वही कर्त्तव्य परमधर्म समझना, किन्तु अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों और करोड़ों[1] पुरुषों का कहा हुआ धर्मव्यवहार कभी न मानना चाहिए, किन्तु धर्मात्मा विद्वानों और विशेष परमविद्वान् संन्यासी का वेदादि प्रमाणों से कहा हुआ धर्म सबको मानने योग्य है॥ ६ ॥

यदि सभा में मतभेद हो तो बहुपक्षानुसार मानना और समपक्ष में उत्तमों की बात स्वीकार करनी और दोनों पक्षवाले बराबर उत्तम हों तो वहाँ संन्यासियों की सम्मति लेनी। जिधर पक्षपातरहित सर्वहितैषी संन्यासियों की सम्मति होवे, वही उत्तम समझनी चाहिए।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः। दशलक्षणको धर्मस्सेवितव्यः प्रयत्नतः॥ ७॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ८॥

—मनु०[2]॥

अर्थः—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि निम्नलिखित धर्म का सेवन और उससे विरुद्ध अधर्म का त्याग प्रयत्न से किया करें॥ ७॥

धर्म नाम न्याय—पक्षपात छोड़कर सत्य ही का आचरण और असत्य का सर्वदा परित्याग रखना। इस धर्म के ग्यारह लक्षण[3] हैं (अहिंसा) किसी से वैर-बुद्धि करके उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्तना। (धृतिः) सुख-दुःख, हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म ही में स्थिर रहना। (क्षमा) निन्दास्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना। (दमः) मन को अधर्म से सदा हटाकर धर्म ही में प्रवृत्त रखना। (अस्तेयम्) मन-कर्म-वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना। (शौचम्) राग-द्वेषादि त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना। (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अधर्म से हटाके धर्म में ही चलाना। (धीः) वेदादि सत्यविद्या, ब्रह्मचर्य, सत्सङ्ग करने और कुसङ्ग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना। (विद्या) जिससे भूमि से लेके परमेश्वरपर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना। (सत्यम्) सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना। (अक्रोधः) क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है, इसका ग्रहण और अन्याय—पक्षपात-सहित आचरण अधर्म, जोकि हिंसा=वैर-बुद्धि, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीतकर अधर्म में चलाना, कुसङ्ग,

---

१. 'क्रोडह' संस्करण ३ में 'क्रोड़ों' संस्करण ४ से १७ तक, 'करोड़ों' संस्करण १८ में तथा आगे।

२. मनु० ६।९१-९३॥

३. श्लोक में १० लक्षणों का विधान है। 'सत्यार्थप्रकाश' समु० ५ में भी इस श्लोक के व्याख्यान में १० लक्षणों का ही विधान है, परन्तु यहाँ श्लोकोक्त १० लक्षणों में 'अहिंसा' को और जोड़कर ११ संख्या लिखी है। 'सत्यार्थप्रकाश' प्रथम संस्करण (संवत् १९३२) में पृष्ठ १६९, तथा संस्कारविधि सं० १ पृष्ठ १३७ पर इस श्लोक की व्याख्या में अहिंसा को मिलाकर ११ लक्षण ही गिनाये हैं। 'पूना प्रवचन'=उपदेशमञ्जरी के तृतीय प्रवचन पृष्ठ १४-१७॥ (रामलाल कपूर ट्र० सं०) में भी 'अहिंसा' को मिलाकर धर्म के ११ लक्षण दर्शाये हैं।

दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या जोकि अधर्माचरण, अज्ञान है उसमें फँसना, असत्य मानना, असत्य बोलना, क्रोधादि दोषों में फँसकर अधर्मी, दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह[१] अधर्म के लक्षण हैं। इनसे सदा दूर रहना चाहिए॥ ८॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।

नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥ ९॥ महाभारते०[२]

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्। अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी॥ १०॥

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते। शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥ ११॥[३]

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत॥ १२॥[४]

अर्थः—वह सभा नहीं है, जिसमें वृद्ध पुरुष न होवें। वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म ही की बात नहीं बोलते। वह धर्म नहीं है, जिसमें सत्य नहीं और न वह सत्य है जोकि छल से युक्त हो॥ ९॥

मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे। यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले। यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे, अथवा सत्य के विरुद्ध बोले, वह मनुष्य अति पापी है॥ १०॥

अधर्म से धर्म घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे उसके घाव को यदि सभासद् न पूर देवें तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं॥ ११॥

जिसको सत्पुरुष राग-द्वेष-रहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो॥ १२॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥ १३॥

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत्॥ १४॥[५]

अर्थः—जो पुरुष धर्म का नाश करता है उसी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है। इसलिए मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले, इस भय से धर्म का हनन, अर्थात् त्याग कभी न करना चाहिए॥ १३॥

जो सुख की वृष्टि करनेहारा, सब ऐश्वर्य का दाता धर्म है, उसका जो लोप करता है, उसको विद्वान् लोग वृषल, अर्थात् नीच समझते हैं, इसलिए किसी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं[६]॥ १४॥

---

१. हिंसा, अधैर्य, असहन, मन को अधर्म में चलाना, चोरी करना, अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीतना, बुद्धिनाश, अविद्या, असत्यभाषण, क्रोध करना, ये क्रमशः अहिंसा, धृति आदि धर्म से विपरीत हैं। सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (संवत् १९३२) में पृष्ठ १७० पर भी ११ अधर्म के लक्षण लिखे हैं। उनमें पहला हिंसा='वैरबुद्धि' है और अगले १० मनु० १२।५-७॥ के अनुसार 'पर द्रव्यों का अभिध्यान, मनसा अनिष्ट-चिन्तन, वितथाभिनिवेश, पारुष्य, अनृत, पैशुन्य, असंबद्ध प्रलाप, अदत्त को ग्रहण करना, हिंसा (=पशुहनन), परदारोपसेवा' गिनाये हैं। पूना प्रवचन के तृतीय प्रवचन पृष्ठ १८-१९ (रा०ला० कपूर ट्र०सं०) में धर्म के ११ लक्षणों के अनन्तर मनु० १२।५-७॥ उद्धृत करके अधर्म के १० लक्षण बताये हैं।

२. संस्करण १७ तक ऐसा ही पाठ है। संस्करण १८ में बिन्दु हटाकर 'विदुरप्रजागर पर्व' पाठ बनाया है। महा० उद्योगपर्व अ० ३५, श्लोक ५८॥

३. मनु० ८।१३, १२॥ ४. मनु० २।१॥

५. मनु० ८।१५-१६॥ ६. द्र०—सत्यार्थप्रकाश समु० ६ पृ० २४१, पं० ७। (रालाकट्रसं०)

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥ १५॥ महाभारते[१]॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥ १६॥ —मनु०[२]॥

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीस्समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ १७॥ —भर्तृहरिः[३]॥

अर्थः—मनुष्यों को योग्य है कि काम से, अर्थात् झूठ से कामना सिद्ध होने के कारण से वा निन्दा-स्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग कभी न करें और न लोभ से। चाहे झूठ, अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो तथापि धर्म को छोड़कर चक्रवर्ती राज्य को भी ग्रहण न करें। चाहे भोजन-छादन, जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से हो सके वा प्राण जाते हों, परन्तु जीविका के लिए भी धर्म को कभी न छोड़ें, क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं तथा सुख-दुःख दोनों अनित्य हैं। अनित्य के लिए नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है। इस धर्म का हेतु कि जिस शरीर आदि से धर्म होता है, वह भी अनित्य है। धन्य वे मनुष्य हैं जो अनित्य शरीर और सुख-दुःखादि के व्यवहार में वर्त्तमान होकर नित्य धर्म का त्याग कभी नहीं करते हैं॥ १५॥

जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है, उस सभा में सब सभासद् मरे-से ही हैं॥ १६॥

सब मनुष्यों को यह निश्चय जानना चाहिए कि चाहे सांसारिक अपने प्रयोजन की नीति में वर्त्तनेहारे चतुर पुरुष निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी प्राप्त होवे, अथवा नष्ट हो जावे, आज ही मरण होवे, अथवा वर्षान्तर[४] में मृत्यु प्राप्त होवे तथापि जो मनुष्य धर्मयुक्त मार्ग से एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते वे ही धीर पुरुष धन्य हैं॥ १७॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ १॥

—ऋ० म० १०। सू० १९१। मं० २॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः॥ २॥

—यजु० अ० १९। मं० ७७॥

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ओं शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः॥ ३॥

—तै० आर० अष्टमप्रपाठकः। प्रथमानुवाकः॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो! तुमको मैं ईश्वर आज्ञा देता हूँ कि (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम

---

१. महाभारत उद्योगपर्व अ० ४० में श्लोक ११, १२ का पाठ इस प्रकार है—**न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः। नित्यो धर्मः सुखदुःखे।** सत्यार्थप्रकाश स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (पृष्ठ ९२० रा० ला० क० ट्र० सं०) में 'संस्कारविधि' के समान ही पाठ है।

२. मनु० ८।१४॥

३. नीतिशतक ७४, निर्णयसागर संस्करण॥

४. युग का अर्थ यहाँ, 'वर्ष' किया है। युग पाँच, बारह और साठ वर्षों का भी होता है। यहाँ तात्पर्य 'अद्यैव' के विपरीत चिरकालान्तररूप गौणार्थ से है, अतः 'आज' के विपरीत वर्षान्तर काल भी युग शब्द द्वारा गौणी वृत्ति से कहा जा सकता है।

अधीतविद्या, योगाभ्यासी, (संजानानाः) सम्यक् जाननेवाले, (देवाः) विद्वान् लोग मिलके (भागम्) सत्य-असत्य का निर्णय करके असत्य को छोड़ सत्य की (उपासते) उपासना करते हैं, वैसे (सं जानताम्) आत्मा से धर्माऽधर्म, प्रियाऽप्रिय को सम्यक् जाननेहारे (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन एक-दूसरे से अविरोधी होकर एक पूर्वोक्त धर्म में सम्मत होवें और तुम उसी धर्म को (संगच्छध्वम्) सम्यक् मिलके प्राप्त होओ, जिसमें तुम्हारी एक सम्मति होती है और विरुद्धवाद, अधर्म को छोड़के (संवदध्वम्) सम्यक् संवाद प्रश्नोत्तर प्रीति से करके एक-दूसरे की उन्नति किया करो॥ १ ॥

(प्रजापतिः) सकल सृष्टि की उत्पत्ति और पालन करनेहारा, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, न्यायकारी, अद्वितीय स्वामी परमात्मा (सत्यानृते) सत्य और अनृत (रूपे) भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले धर्म-अधर्म को (दृष्ट्वा) अपनी सर्वज्ञता से यथावत् देखके (व्याकरोत्) भिन्न-भिन्न निश्चित करता है। (अनृते) मिथ्या-भाषणादि अधर्म में (अश्रद्धाम्) अप्रीति को और (प्रजापतिः) वही परमात्मा (सत्ये) सत्यभाषणादिलक्षणयुक्त न्याय, पक्षपातरहित धर्म में तुम्हारी (श्रद्धाम्) प्रीति को (अदधात्) धारण कराता है, वैसा ही तुम करो॥ २ ॥

हम स्त्री-पुरुष, सेवक-स्वामी, मित्र-मित्र, पिता-पुत्रादि (सह) मिलके (नौ) हम दोनों प्रीति से (अवतु) एक-दूसरे की रक्षा किया करें और (सह) प्रीति से मिलके एक-दूसरे के (वीर्यम्) पराक्रम की बढ़ती (करवावहै) सदा किया करें। (नौ) हमारा (अधीतम्) पढ़ा-पढ़ाया (तेजस्वि) अतिप्रकाशमान (अस्तु) होवे और हम एक-दूसरे से (मा विद्विषावहै) कभी विद्वेष, विरोध न करें, किन्तु सदा मित्रभाव और एक-दूसरे के साथ सत्य प्रेम से वर्त्तकर सब गृहस्थों के सद्व्यवहारों को बढ़ाते हुए सदा आनन्द में बढ़ते जावें। जिस परमात्मा का यह 'ओम्' नाम है, उसकी कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से हमारे शरीर, मन और आत्मा का त्रिविध दुःख, जोकि अपने और दूसरे से होता है, नष्ट हो जावें और हम लोग प्रीति से एक-दूसरे के साथ वर्त्तके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि में सफल होके सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खें॥ ३ ॥

॥ इति गृहाश्रमसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथ वानप्रस्थसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'वानप्रस्थ-संस्कार' उसको कहते हैं जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे और पुत्र का भी एक सन्तान हो जाए, अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब पुरुष वानप्रस्थाश्रम, अर्थात् वन में जाकर निम्नलिखित सब बातें करे।

कुछ लोगों की मान्यता है कि वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम दोनों अवैदिक है, क्योंकि वेद में इनका विधान नहीं है। वेद तो जीवनपर्यन्त गृहस्थ में बने रहने का आदेश करता है। वानप्रस्थ और संन्यास इसलिए भी अवैदिक हैं, क्योंकि वेदों में ये शब्द तक नहीं हैं, गार्हस्थ्य का विधान तो शास्त्रों में प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि गृहस्थ से अतिरिक्त अन्य कोई आश्रम शास्त्र को मान्य होता तो वेदों तथा वेदानुकूल ब्राह्मणादि आर्षग्रन्थों में उसका विधान किया गया होता। ग्रन्थकार ने स्वयं इस शंका को प्रस्तुत करके अन्यत्र इसका समाधान किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'ब्रह्मविद्याविषय' के आरम्भ में उन्होंने लिखा है—**वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति?** वेदों में सब विद्याएँ हैं, किन्तु **'मूलोद्देशतः'**—मूलरूप में। तात्पर्य यह कि वेद में सब विद्याओं का मूल है पर विस्तार नहीं। उसी वेदरूपी बीज को लक्ष्य में रखकर आगे ऋषि-मुनियों ने भिन्न-भिन्न विद्याओं का विस्तार करने के लिए ब्राह्मण, उपनिषद्, उपवेद, वेदांग, उपाङ्ग, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। उन्हीं मूलमन्त्रों का आशय लेकर ऋषियों ने स्मृतियों, श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों में विधियों का विधान किया है। इस विषय में सम्भावित शंकाओं का समाधान करने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने संस्कारविधि के शुरू में लिखा है—

वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात्। आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये॥

वेदादि शास्त्रों का परमादरभाव से चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए यह ग्रन्थ रचा है। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने 'वेदादि' में वेद के साथ 'आदि' शब्द जोड़कर स्पष्ट कर दिया है कि वेदों के साथ-साथ वेदानुकूल अन्य धर्मग्रन्थों के आधार पर भी इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। वानप्रस्थ के विषय में शतपथब्राह्मण काण्ड १४ का प्रमाण है जो यहाँ उद्धृत किया गया है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में पृष्ठ १५४ पर यह वचन 'बृहदारण्यकश्रुति' से उद्धृत बताया गया है, जबकि संस्कारविधि के संस्करण १, पृष्ठ १३० में 'इति शतपथब्राह्मणादिप्रमाणानि' पाठ उपलब्ध है, ''परन्तु जाबालोपनिषद्, खण्ड ४ में यह वचन इस प्रकार मिलता है—'स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्'। जाबालशाखा याज्ञवल्क्यप्रोक्त वाजसनेय-संहिता (शुक्लयजुर्वेद) की है, अतः उसका जाबालब्राह्मण भी माध्यन्दिन और काण्व के समान मूलतः याज्ञवल्क्य-प्रोक्त है और शतपथ नाम से वाच्य है (काण्वब्राह्मण में १०४ अध्याय होने पर भी वह शतपथ ही कहाता है।) जाबालोपनिषद् उसी शतपथ के अन्तर्गत बृहदारण्यक का एक अंश हो सकती है। इस प्रकार ग्रन्थकार द्वारा इस वचन के लिए शतपथ अथवा बृहदारण्यक शब्द का प्रयोग किये जाने में कोई असामंजस्य नहीं है।

संस्कारविधि के १७वें संस्करण तक शतपथब्राह्मण ही पाठ था। संस्करण १८ में जाबालोपनिषद् पाठ बनाया गया है। यही परिवर्त्तित पाठ आगे संस्करण २४ तक छपता रहा, २५वें में पुनः शुद्ध किया गया।''

—युधिष्ठिर मीमांसक

आर्षग्रन्थों में मनुस्मृति का प्रामाण्य सर्ववादीसम्मत है। ताण्ड्य महाब्राह्मण का वचन है—

'यत्किञ्चिद्वै मनुरब्रवीत्तद् भेषजं भेषजतायाः।'

मनुस्मृति के अनुसार—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा। वनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः॥

—मनु० ६।२-३॥

अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि अपनी देह की खाल ढीली और केश श्वेत हो गये हैं और पुत्र का पुत्र हो गया है तो वन का आश्रय ले। वन में जाते समय पत्नी को पुत्रों के पास छोड़ दे अथवा साथ ले-जाए। इस प्रकार आयु का तृतीय भाग वन में बिताए।

वेद में भी वानप्रस्थ आश्रम का उल्लेख मिलता है, परन्तु वहाँ वानप्रस्थ के पर्यायरूप में 'मुनि' शब्द का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ—

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः। उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥

—ऋ० १०।१३६।५॥

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला। वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥

—ऋ० १०।१३६।२॥

प्रथम मन्त्र में 'पूर्वः' तथा 'अपरः' पदों से क्रमशः वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम अभिप्रेत हैं। वेद में 'मुनि' शब्द वानप्रस्थ का वाचक है। यह वानप्रस्थाश्रम का वर्णन करनेवाले मनुस्मृति के छठे अध्याय में प्रयुक्त 'मुनि' शब्द से सिद्ध है—**'मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः'** (६।५); **'मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः'** (६।१२); **'मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम्'** (६।१५); **'मुनिर्मूलफलाशनः'** (६।२५)। निश्चय ही वेद में मुनि शब्द से वनी का बोध होता है।

जिस प्रकार वेद में मुनि शब्द वानप्रस्थ का बोधक है उसी प्रकार 'यति' शब्द से संन्यासी का ग्रहण होता है। ग्रन्थकार ने यहाँ 'यतयः, ब्राह्मणासः, विजानतः' पदों से संन्यास का उल्लेख किया है। मुख्यरूप से 'यति' शब्द संन्यासी का वाचक है—**'संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः'** (मुण्डक० ३।२।६॥); **'एष धर्मोनुशिष्टो यो यतीनां नियतात्मनाम्'** (मनु० ६।८६) **'भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति'** (मनु० ६।५५) **'भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्'** (मनु० ६।५६); **'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा'** (मनु० ६।८७) आयु का चौथा भाग मनुष्य संन्यासी बनकर व्यतीत करे—**'चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्'** (मनु० ६।३)। उस अवस्था में संन्यासी को तीन प्रकार की एषणाओं का परित्याग करके भिक्षाचरण से रहने का आदेश है—'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति'—शतपथ० १४।६।२।२६॥

निम्नलिखित वेदमन्त्रों में संन्यास का उल्लेख पाया जाता है—

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन॥ —ऋ० १०।७२।७॥

य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। ममेदुग्र श्रुधी हवम्॥ —ऋ० ८।६।१८॥

अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः। —ऋ० १।१५८।६॥

वैश्वानराय यतये मतीनाम्। —ऋ० ७।१३।१॥

येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते। —ऋ० ८।३।९॥

गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी एक प्रसिद्ध मन्त्र है—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥

—अथर्व० १४।१।२२॥

इस मन्त्र के आधार पर अनेक विद्वानों का कहना है कि वेद सम्पूर्ण आयु गृहस्थ में ही रहने का आदेश देता है, अतः वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रमों की परम्परा अवैदिक है। वैदिक वचनों में जहाँ अर्थ अस्पष्ट हो अथवा विरोध की प्रतीति हो, उसके स्पष्टीकरण के लिए जैमिनि ने पूर्वमीमांसा शास्त्र रचा है, अतः ऐसे विवादास्पद वचनों का अभिप्राय जानने के लिए उसका आश्रय लेना चाहिए। ब्राह्मण का एक वचन है—'**पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति**'। यदि इसका सामान्य अर्थ लिया जाए तो पूर्णाहुति से सब कामनाएँ पूर्ण हो जाने से अन्य सब यज्ञकर्म व्यर्थ हो जाएँ, अतः जैमिनि ने 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (१।२।१६) इस सूत्र की रचना करके स्पष्ट कर दिया कि जिस कर्म का जितना अधिकारक्षेत्र है, तद्विषयक सर्वत्व वहाँ ग्रहण किया जाता है। 'सर्व' और 'विश्व' शब्द एकार्थक है, अतः 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' नियम के अनुसार इसका अर्थ होगा—'इह' गृहाश्रम में रहने की जितनी अविधि है, उतने पूर्ण काल तक गृहस्थ में रहो, उसके मध्य पति-पत्नी का वियोग नहीं होना चाहिए।

वानप्रस्थ तथा संन्यास का वेदविहित होना बहुत समय से विवादास्पद रहा है। भगवान् वात्स्यायन ने अपने न्यायदर्शन (४।१।६०-६२) के भाष्य में इस प्रवाद का बलपूर्वक सप्रमाण निराकरण करके संन्यास-आश्रम का वैदिकत्व प्रतिपादन किया है।

प्रव्रज्या के लिए तीव्र वैराग्य होना अपेक्षित है। लौकिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य होने पर प्रत्येक अवस्था में संन्यास लिया जा सकता है। शतपथब्राह्मण अथवा जाबालोपनिषद् के प्रमाण से संन्यास का विधान ऊपर उद्धृत किया गया है। उपनिषद् में आगे लिखा है—"**यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रेजत् गृहाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**"—यदृच्छया ब्रह्मचर्याश्रम से ही प्रव्रज्या ग्रहण करने अथवा गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ हो। चाहे ब्रह्मचर्यव्रत का विधिवत् पालन कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, विद्याध्ययन पूरा कर स्नातक हो चुका हो अथवा न हुआ हो, अग्निहोत्र आदि छोड़ चुका हो अथवा करता ही न हो—पर जिस दिन व्यक्ति को तीव्र वैराग्य हो जाए उसी दिन प्रव्रज्या कर ले। ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास ग्रहण करने की वरीयता (श्रेष्ठत्व) का प्रतिपादन करते हुए 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—'यदि पूर्ण, अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जाए, पक्षपातरहित होके सबका उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यासधर्म का निर्वाह कर सकूँगा तो वह न गृहाश्रम करे, न

अत्र प्रमाणानि

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥ १॥

शतपथब्राह्मणे[1]॥

व्रतेनं दीक्षामांप्नोति दीक्षयांप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामांप्नोति श्रद्धयां सत्यमांप्यते॥ २॥

—यजु:० अ० १९। मं० ३०॥

अर्थ:—मनुष्यों को चाहिए कि ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति करके गृहस्थ होवें। गृहस्थ होके वनी, अर्थात् वानप्रस्थ होवें और वानप्रस्थ होके संन्यास ग्रहण करें॥ १॥

जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत, अर्थात् नियम धारण करता है, तब उस (व्रतेन) व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है। (दीक्षया) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम-पालन से (दक्षिणाम्) सत्कारपूर्वक धनादि को (आप्नोति) प्राप्त होता है। (दक्षिणा) उस सत्कार से (श्रद्धाम्) सत्य-धारण में प्रीति को (आप्नोति) प्राप्त होता है और (श्रद्धया) सत्य धार्मिक जनों में प्रीति से (सत्यम्) सत्य विज्ञान् वा सत्य पदार्थ मनुष्य को (आप्यते) प्राप्त होता है, इसलिए श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिए॥ २॥

वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके ही संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।'' गृहस्थ से अतिरिक्त ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमों में जीवन का पर्याप्त भाग व्यतीत हो जाता है जिसका उपयोग आत्मज्ञान के लिए अनुष्ठानों में किया जाता है। प्राचीन काल में एषणाओं से छुटकारा पाकर मोक्षसाधना में प्रवृत्त होने के लिए आश्रम-व्यवस्था के अनुरूप जीवन-निर्वाह करने की परम्परा रही है। रघुकुल की परम्परा के विषय में कालिदास ने लिखा है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्। वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनूत्यजाम्॥

—रघुवंश

जब रघु बूढ़ा हो गया और उसका पुत्र अज विवाह करके घर आया तो कालिदास कहता है—**'न हि कुलधूर्ये सूर्यवंश्या गृहाय'**, अर्थात् यदि कुल की धुरी, कुलस्तम्भ—पुत्र विद्यमान हो तो सूर्यवंशी राजाओं के घर में बैठने की परम्परा नहीं है।

---

१. 'सत्यार्थप्रकाश' समु० ५ में 'शत० कां० १४ और 'सत्यार्थप्रकाश' संस्करण १ (संवत् १९३२) समु० ५ पृष्ठ १५४ में 'यह बृहदारण्यक श्रुति है, ऐसा लिखा है। 'संस्कारविधि' संस्करण १ (संवत् १९३२) पृष्ठ १३० में 'इति शतपथब्राह्मणादि-प्रमाणानि' पाठ है, परन्तु यह वचन जाबालोपनिषद् खण्ड ४ में इस प्रकार उपलब्ध होता है—**'स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्य्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।'** जाबालशाखा याज्ञवल्क्यप्रोक्त वाजसनेयसंहिता (शुक्ल यजुर्वेद) की है, अत: उसका जाबालब्राह्मण भी माध्यन्दिन और काण्व के समान मूलत: याज्ञवल्क्यप्रोक्त है और शतपथ नाम से वाच्य है (काण्वब्राह्मण में १०४ अध्याय होने पर भी वह शतपथ ही कहाता है)। जाबालोपनिषद् उसी शतपथ के अन्तर्गत बृहदारण्यक का एक अंश हो सकती है। इस प्रकार ग्रन्थकार का इस वचन के लिए शतपथ, अथवा बृहदारण्यक शब्द का प्रयोग ठीक है। 'संस्कारविधि' के १७वें संस्करण तक 'शतपथब्राह्मणे' ही पाठ था। संस्करण १८ में 'जाबालोप०' पाठ बनाया गया। यही परिवर्तित पाठ आगे संस्करण २४ तक छपता रहा। २५वें में पुन: शुद्ध किया गया।

अ॒भ्याद॑धामि स॒मिध॒मग्ने॑ व्रतपते॒ त्वयि॑। व्र॒तञ्च॑ श्र॒द्धां चोपै॑मी॒न्धे त्वा॑ दीक्षि॒तो ऽ अ॒हम्॥ ३॥

—यजु० अ० २०। मं० २४॥

आ न॑यै॒तमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गच्छतु प्रजा॒नन्।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा म॒हान्त्य॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म्॥ ४॥

—अथर्व० का० ९। सू० ५। मं० १॥

अर्थः—हे (व्रतपते अग्ने) नियमपालकेश्वर! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझमें स्थिर होके (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उसकी सामग्री, (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ। इसीलिए अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण करता हूँ, वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूँ और वैसे ही (त्वा) तुझको अपने आत्मा से धारण करता और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूँ॥ ३॥

हे गृहस्थ! (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरम्भ कर। (आनय) अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला। (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकमपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो। (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े-बड़े (तमांसि) अज्ञान, दु:ख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तरके, अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर-अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दु:ख-रहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) आक्रमण, अर्थात् रीतिपूर्वक आरूढ हो॥ ४॥

भ॒द्रमि॒च्छन्त॒ ऋष॑यस्स्व॒र्विद॒स्तपो॑ दी॒क्षामु॑पनि॒षेदु॒रग्रे॑।
ततो॑ रा॒ष्ट्रं बल॒मोज॑श्च जा॒तं तद॑स्मै दे॒वा उ॑प॒संन॑मन्तु॥ ५॥ —अथर्व० का० १९। सू० ४१। मं० १॥
मा नो॑ मे॒धां मा नो॑ दी॒क्षां मा नो॑ हिंसिष्टं यत्तपः॑। शि॒वा नः॑ स॒न्त्वायु॑षे शि॒वा भ॑वन्तु मा॒तरः॑॥ ६॥

—अथर्व० का० १९। सू० ४०। मं० ३॥

अर्थः—हे विद्वान् मनुष्यो! जैसे (स्वर्विदः)[१] सुख को प्राप्त होनेवाले (ऋषयः) विद्वान् लोग (अग्रे) प्रथम (दीक्षाम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा, उपदेश लेके (तपः) प्राणायाम और विद्याध्ययन, जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षणों को (उपनिषेदुः) प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं, वैसे इस (भद्रम्) कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की (इच्छन्तः) इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रम को करके (ततः) तदनन्तर (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को प्राप्त होके (जातम्) प्रसिद्ध प्राप्त हुए (राष्ट्रम्) राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और (अस्मै) न्यायकारी, धार्मिक विद्वान् राजा को (देवाः) विद्वान् लोग नमन करते हैं, (तत्) वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आप को (उप सं नमन्तु) समीप प्राप्त होके नम्र होवें॥ ५॥

सम्बन्धी जन (नः) हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की (मेधाम्) प्रज्ञा को (मा हिंसिष्ट) नष्ट मत करे।

जिस समय शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ विवाह हो गया तो विदा होते समय उसने अपने पिता कण्व से पूछा कि अब आप मुझे कब बुलाएँगे तो ऋषि ने उत्तर दिया—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।

---

१. 'स्वर्विदः' विद्लृ लाभे का रूप।

(नः) हमारी (दीक्षाम्) दीक्षा को (मा) मत और (नः) हमारा (यत्) जो (तपः) प्राणायामादि उत्तम तप है उसको भी (मा) मत नाश करे। (नः) हमारी दीक्षा और (आयुषे) जीवन के लिए सब प्रजा (शिवा) कल्याण करनेहारी (सन्तु) होवें। जैसे हमारी (मातरः) माता, पितामही, प्रपितामही आदि (शिवाः) कल्याण करनेहारी होती हैं, वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझको वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देनेहारे (भवन्तु) होवें॥ ६॥

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्याञ्चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ ७॥

—मुण्डकोपनि० ख० २। मं० ११॥

अर्थः—हे मनुष्यो! (ये) जो (विद्वांसः) विद्वान् लोग (अरण्ये) जङ्गल में (शान्ता) शान्ति के साथ (तपःश्रद्धे) योगाभ्यास और परमात्मा में प्रीति करके (उपवसन्ति) वनवासियों के समीप वसते हैं और (भैक्ष्यचर्याम्) भिक्षाचरण को (चरन्तः) करते हुए जङ्गल में निवास करते हैं, (ते) वे (हि) ही (विरजाः) निर्दोष, निष्पाप, निर्मल होके (सूर्यद्वारेण) प्राण के द्वारा (यत्र) जहाँ (सः) सो (अमृतः) मरण-जन्म से पृथक् (अव्ययात्मा) नाशरहित (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा विराजमान है, (हि) वहीं (प्रयान्ति) जाते हैं। इसलिए वानप्रस्थाश्रम करना अति उत्तम है॥ ७॥

भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं, शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमे॥ —अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४। २०

चक्रवर्त्ती सम्राट् की पत्नी होने के उपरान्त दुष्यन्त के अप्रतिम योद्धा पुत्र को सिंहासन पर अभिषिक्त कर तथा परिवार का उत्तरदायित्व उसे सौंपकर वानप्रस्थ होकर फिर इस शान्त आश्रम में आकर रहना।

अप्रयत्नः—धराशयः=कोमल सुखद बिस्तर का परित्याग करके कठोर भूमि पर शयन करे। ब्रह्मचारी=पत्नी के साथ होने पर भी विषय-चेष्टा न करे। वानप्रस्थ को सुख-सुविधायों में ध्यान नहीं लगाना चाहिए। तभी वह मोह-ममता से छुटकारा पा सकता है। ऐसा न करने पर विषयों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है। संन्यासी के प्रसङ्ग में इस बात को दूसरे प्रकार से स्पष्ट किया है—'**भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति**'। तात्पर्य यह है कि वानप्रस्थी और संन्यासी को भिक्षा का लालच कभी नहीं करना चाहिए। ऐसा करने पर उसके विषयों में फँस जाने की आशंका बनी रहती है।

वृक्षमूल—कृत्यकल्पतरु के लेखक लक्ष्मीधर ने अपने ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड में इस वृक्षमूल शब्द का अर्थ किया है 'वृक्षो वेदः, तस्य मूलं प्रणवः', अर्थात् वृक्ष का अर्थ है वेद और उसका मूल प्रणव=ओम्। तात्पर्य यह है कि वानप्रस्थाश्रमी वेदाभ्यास तथा प्रणव का ध्यान करता हुआ ब्रह्मनिष्ठ होवे।

तपः श्रद्धे—'भैक्षचर्यां चरन्तः' के अनुसार वानप्रस्थ को भिक्षाचरण करते हुए वन में रहना चाहिए। इससे पूर्व मनु (६।८) में 'अनादाता' पद का अर्थ 'किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे' ऐसा किया है। इस प्रतीयमान परस्पर विरोध का परिहार करने के लिए यह कहा जाता है कि यह विधान संन्यासियों के लिए है, वानप्रस्थों के लिए नहीं, परन्तु यह समाधान सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि यह वचन वानप्रस्थ के प्रसङ्ग में उद्धृत हुआ है। इसमें 'उपवसन्त्यरण्ये' (जो वन में रहते हैं)

कहा है। संन्यासी को तो मनु ने 'अनिकेत' (६।४३) कहा है। उसके लिए तो 'बेघर' होकर भ्रमण करते हुए उपदेश देते रहने का निर्देश किया है, अत: यह विधान वानप्रस्थों के लिए ही है। इसका समाधान यह हो सकता है कि 'वानप्रस्थ को किसी से कुछ न लेना चाहिए', यह सामान्य नियम है। विशेष अवस्था में आपद्धर्म के रूप में भिक्षा ली-जा सकती है, परन्तु यह भिक्षा भी बनवासियों से ली-जानी चाहिए। ग्राम या नगरवासियों से नहीं—

तापसेष्वपि विप्रेषु याचिकं भैक्षमाहरेत्। गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥ —मनु० ६।२७॥

जो पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी, धर्मात्मा, विद्वान् लोग जंगल में रहते हों और जो गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, जीवन-यात्रा चलाने योग्य भिक्षा उन्हीं के घरों से ग्रहण करे।

इस श्लोक पर कुल्लूकभट्ट अपनी टीका में कहते हैं—'फलमूलासम्भवे च वानप्रस्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्य: प्राणमात्रधारणोचितं भैक्षमाहरेत्, तदभावे चान्येभ्यो गृहस्थेभ्यो द्विजेभ्य:, अर्थात् वानप्रस्थ को यदि जंगली फल-मूल न मिल सकें और प्राण संकट में हों तभी वानप्रस्थ केवल प्राणधारण के योग्य भिक्षा तपस्वी वनवासियों, वानप्रस्थों से लेवे, उनसे भी न मिले तो अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजों से लेवे। बहुत ही संकट की स्थिति में मनु का आदेश है—'ग्रामादाहृत्याश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्', अर्थात् यदि वन में भिक्षा न मिले तो ग्राम से भिक्षा लाकर खाये, किन्तु आठ ग्रास से अधिक नहीं। तात्पर्य यह कि विशेष अवस्था को छोड़कर वानप्रस्थ को भिक्षा नहीं करनी चाहिए।

यहाँ भैक्षचर्या से संग्रह की प्रवृत्ति का परित्याग करके **'यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिन:'** की भावना से मात्र उदरपूर्त्ति के लिए भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करना अभिप्रेत है। इस वाक्य में उपनिषद् ने उन लोगों की बात कही है जो अल्पाहारी रहकर श्रद्धापूर्वक तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए अव्ययात्मा पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति में संलग्न रहते हैं, विरजा:=मलरहित होकर स्वच्छ एवं पवित्र जीवन बिताते हैं।

तप: श्रद्धे—(ये हि) जो (शान्ता:) उद्वेगशून्य (विद्वांस:) ज्ञानी (वने) वन में रहकर (भैक्षचर्यं चरन्त:) जीवन-निर्वाह करते, साधना और श्रद्धा=आत्मिक साधन का (उपवसन्ति) अनुष्ठान करते हैं (ते) वे विरजा: सब प्रकार के दोषों से छूटकर (सूर्यद्वारेण) सूर्यद्वार=प्राणद्वार से, उदान द्वारा, सुषुम्णा द्वारा वहाँ पहुँच जाते हैं (यत्र) जहाँ (स:) वह (अमृत:) अमर (अव्ययात्मा) अविनाशी-अक्षर-निर्विकार (पुरुष) ब्रह्म है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (उपासना-विषय) में इसका अर्थ ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—

''**तप: श्रद्धे**—जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य, अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग धर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य आदि कर्म करके संन्यास या किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्यद्वार) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके, (विरजा:) सब दोषों से छूटके परमानन्द=मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहाँ कि पूर्णपुरुष सबमें भरपूर, सबसे सूक्ष्म, (अमृत:) अर्थात् अविनाशी और जिसमें हानि-लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं।''

सूर्यद्वारेण प्रयान्ति—ऐसे लोग योगाभ्यास के द्वारा सूर्यद्वार=प्राणद्वार से=सुषुम्णा नाड़ी से प्राण

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः। वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः॥ १॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ २॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम्। पुत्रेषु भार्यं निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥ ३॥[1]

अर्थः—पूर्वोक्त प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़के समावर्तन के समय स्नानविधि करनेहारा द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय, जितात्मा होके यथावत् गृहाश्रम करके वन में बसे॥ १॥

गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें और पुत्र का भी पुत्र हो जाए, तब वन का आश्रय लेवें॥ २॥

जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें, तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़के पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़, अथवा संग में लेके वन को जावें॥ ३॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्। ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ ४॥[2]

जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्निहोत्र को सामग्री-सहित लेके ग्राम से निकल जङ्गल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे॥ ४॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः। दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥ ५॥
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्ष्यमाहरेत्। गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥ ६॥
एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्। विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥ ७॥

—मनु० अ० ६॥[3]

अर्थः—वहाँ जङ्गल में वेदादिशास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्य युक्त, मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्वस्त्री भी समीप हो तथापि उससे सेवा के सिवाय विषय-सेवन, अर्थात् प्रसङ्ग कभी न करे। सबसे मित्रभाव, सावधान, नित्य देनेहारा, और किसी से कुछ भी न लेवे। सब प्राणिमात्र पर अनुकम्पा=कृपा करनेहारा होवे॥ ५॥

जो जङ्गल में पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी, धर्मात्मा, विद्वान् लोग रहते हों जोकि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, उनके घरों में से भिक्षा ग्रहण करे॥ ६॥

और इस प्रकार वन में वसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करे और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए नाना प्रकार की उपनिषद्, अर्थात् ज्ञान और उपासना-विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे। इसी प्रकार जबतक संन्यास करने की इच्छा न हो तबतक वानप्रस्थ ही रहे॥ ७॥

त्यागकर मोक्षलाभ करते हैं। इन स्थानों पर सर्वत्र सूर्य का अर्थ प्राण करना ग्रन्थकार का ऋषित्व है। जैसे बाह्य जगत् में सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदि हैं, वैसे ही शरीर में मेरुदण्ड में योगी महात्मा सूर्य आदि पदार्थों के अंश को जानते हैं। मेरुदण्ड के इसी सूर्यस्थान पर योगिजन प्राणों की शक्ति को नियन्त्रित करके प्राणों के द्वारा आनन्द-लाभ करते हैं, यह नहीं कि पृथिवीलोक से सूर्य-लोक में जाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। सूर्य शुद्धता तथा प्रकाश का प्रतीक है। अन्य किसी वस्तु में मलिनता की सम्भावना हो सकती है, सूर्य में नहीं। जो शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं वे सूर्य के, अर्थात् शुद्ध ज्ञान के मार्ग पर चलते हैं। संसार की किसी वस्तु में उनकी

---

१. मनु० ६।१-३॥ २. मनु० ६।४॥ ३. मनु० ६।८, २७, २९॥

अथ विधिः—वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, पुत्रवधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा करके वन की ओर यात्रा की तैयारी करे। यदि स्त्री चले तो साथ ले-जावे नहीं तो ज्येष्ठ पुत्र को सौंप जावे कि इसकी सेवा यथावत् किया करना और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्ममार्ग में चलने के लिए और अधर्म से हटाने के लिए शिक्षा करती रहना।

तत्पश्चात् पृष्ठ ४९-५० में लिखे प्रमाणे यज्ञशाला वेदी आदि सब बनावे। पृष्ठ ५० में लिखे प्रमाणे घृत आदि सब सामग्री जोड़के पृष्ठ ५६ में लिखे प्रमाणे (ओम् भूर्भुवः स्वर्द्यौ०) इस मन्त्र से अग्न्याधान और (अयन्त इध्म०) इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके, पृष्ठ ५९ में लिखे प्रमाणे (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व) इत्यादि ४ [चार] मन्त्रों से कुण्ड के चारों ओर जलप्रोक्षण करके, पृष्ठ ५९-६० में लिखे प्रमाणे आघारावाज्यभागाहुति[1] चार और व्याहृति[2] आज्याहुति चार करके, पृष्ठ ४३-४८ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण करके[3] स्थालीपाक बनाकर और उसपर घृत सेचन कर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवे—

आसक्ति नहीं होती। इसलिए वे परमात्मा को प्राप्त करते हैं। यही बात प्रश्नोपनिषद् में इन शब्दों में कही—**''अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते''** (१।१०), अर्थात्—उत्तर=उत्कृष्टतम मार्ग से जानेवाले तप, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा के साथ ज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप को जानकर आदित्यलोक (ब्रह्मलोक) को प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ से उन्हें लौटना नहीं पड़ता—न पुनरावर्त्तते,('न पुनरावर्त्तते' की व्याख्या सत्यार्थभास्कर के नवम समुल्लास में 'मुक्ति से पुनरावृति' के प्रसङ्ग में की है वहाँ देखें)। इससे पहले मन्त्र में बताया है—''तद्ये वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते त एव पुनरावर्त्तन्ते एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः'' (१।९)

अर्थात्—जो लोग इष्ट-आपूर्ति (यज्ञ-यागादि 'इष्ट' तथा कूप-तडाग, मन्दिर, धर्मशाला आदि का बनवाना 'आपूर्त' कहाते हैं) को ही अपना कृत्य या लक्ष्य मानते हैं और यह सब करके फल-लाभ की कामना करते हैं वे चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं। चन्द्र भोग्य पदार्थों का प्रतिनिधि है। इसे 'रयिमार्ग' या 'पितृयाण' कहते हैं। ऐसे लोग कर्मफल के बन्धन में बँधे होने के कारण सर्वथा शुद्ध नहीं हो पाते। वे संसार को तो पा जाते हैं, अमृत को नहीं पा सकते। इसलिए जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में फँसे होने के कारण मरणोपरान्त फिर मर्त्यलोक में लौट आते हैं। जिन लोगों में त्याग की—निवृत्ति की भावना प्रबल हो जाती हैं, वे पितृयाण को छोड़कर देवयान का आश्रय लेते हैं। सूर्य, अर्थात् ज्ञान का प्रकाश उनमें दिव्य भाव उत्पन्न करता है। चन्द्र रयिप्रधान है, इसलिए चन्द्रलोक का जीवन सकाम जीवन है—प्रेय-मार्ग है, सूर्यलोक प्राणप्रधान है, इसलिए आदित्यलोक का जीवन निष्काम है—श्रेयमार्ग है। इस मार्ग से जानेवाला लौटता नहीं, मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ऐसे लोगों का उत्तरायण छह मास नहीं, हर समय बना रहता है। तभी वे सूर्यमार्ग से जा पाते हैं।

---

१. 'अग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

२. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

३. स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ अग्न्याधान से पूर्व होना चाहिए। आगे संन्यास-प्रकरण में भी ऐसी ही पाठ की अव्यवस्था है।

ओम् काय स्वाहा। कस्मै स्वाहा। कतमस्मै स्वाहा।
आधिमाधीताय स्वाहा। मनः प्रजापतये स्वाहा।
चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहा। अदित्यै मह्यै स्वाहा।
अदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा। सरस्वत्यै स्वाहा।
सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा। सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा।
पूष्णे स्वाहा। पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा। पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा।
त्वष्ट्रे स्वाहा। त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा।
त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा *। भुवनस्य पतये स्वाहा।
अधिपतये स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा§
ओम् आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा।
अपानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा।
उदानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। समानो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा।
चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा।
वाग्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। मनो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा।
आत्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा।
ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा।
पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा। यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬं स्वाहा‡।
एकस्मै स्वाहा। द्वाभ्यां स्वाहा। शताय स्वाहा।
एकशताय स्वाहा। व्युष्ट्यै स्वाहा। स्वर्गाय स्वाहा†।

मरणोपरान्त सूर्यद्वार से जाने की चर्चा कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी दोनों करते हैं। इस सम्बन्ध में कई ऐसे व्यक्तियों के अनुभवों का वर्णन रेमाण्ड ए० मूडी (Ramond A. Moody) ने अपनी पुस्तक 'Life After Death' में किया है जिससे इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उक्त पुस्तक के विषय में इलस्ट्रेटिड वीकली (Illustrated Weekly of India, Bombay) के ६ मई १९७९ के अंक में एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें ऐसे कई व्यक्तियों के अनुभव दिये गये थे जो लगभग मृत घोषित किए जा चुके थे, परन्तु कुछ देर बाद जीवित हो उठे थे। उनमें से एक व्यक्ति ने अपने मरण का अनुभव इस प्रकार बताया था—

"A pink mist began to gather around me and I floated right through the screen just as if it weren't there, and up into this crystal light an illuminating white light. It was so radiant, **but it didn't affect my eyes.** It's not any kind of light you can describe on earth. I didn't actutally see a person in the halo, yet it has a special identity. It is a light of perfect understanding and perfect love."

संक्षेप में इसका अभिप्राय यह कि मरने के बाद अत्यन्त शुभ्र प्रकाश दीखता है जिसकी ओर

---

* यजु० अ० २२। मं० २०॥ —**द०स०** § यजु० अ० २२। मं० ३२॥ —**द०स०**
‡ यजु० अ० २२। मं० ३३॥ —**द०स०** † यजु० अ० २२। मं० ३४॥ —**द०स०**

इन मन्त्रों से एक-एक करके ४३ स्थालीपाक की आज्याहुति देके पुनः पृष्ठ ६० में लिखे प्रमाणे व्याहृति[1] आहुति चार देकर, पृष्ठ ६२-६३ में लिखे प्रमाणे सामगान करके सब इष्ट-मित्रों से मिल पुत्रादिकों पर सब घर का भार धरके, अग्निहोत्र की सामग्रीसहित जङ्गल में जाकर एकान्त में निवास कर योगाभ्यास, शास्त्रों का विचार, महात्माओं का संग करके स्वात्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे॥

॥ इति वानप्रस्थसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

मृत-व्यक्ति खिंचता चला जाता है। इस घटना की प्रामाणिकता के विषय में यहाँ कुछ नहीं कह सकते, किन्तु 'क्या वह व्यक्ति वैसा था जैसा इस श्लोक में वर्णित है? **सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति**' और इससे पूर्व छठे श्लोक में '**सूर्यस्य रश्मिभिः यजमानं वहन्ति**'। पहला मत ज्ञानकाण्डियों का है और दूसरा कर्मकाण्डियों का। दोनों ने ब्रह्मलोक पहुँचाने की बातें कही हैं। साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अथवा मुक्ति से पुनरावर्त्ति प्राप्त पुरुष ही समाधान कर सकते हैं।

वृद्धावस्था में आकर मनुष्य की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। अपने शरीर को स्वस्थ रखने और दीर्घायुष्य के लिए आवश्यक है कि वह गृहस्थ की चिन्ताओं से मुक्त होकर कहीं दूर जाकर धर्माधर्म और सत्यासत्य के चिन्तन में प्रवृत्त हो। प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति ही वानप्रस्थ की भावना है। भोगवाद से त्यागवाद की ओर बढ़ना वानप्रस्थ है।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह स्वतन्त्रता चाहता है। यदि माता-पिता घर में रहें तो उनके बहू-बेटे की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है। परिणामतः बाप-बेटे में और सास-बहू में लड़ाई रहती है और आस-पास के लोग तमाशा देखते हैं। अपने समय में माँ-बाप घर के मालिक रहे। अब उचित यही है कि घर की ज़िम्मेदारियाँ बहू-बेटे को सौंपकर घर से दूर चले जाएँ। इसी में सबका हित है।

समाज-व्यवस्था की दृष्टि से भी आवश्यक है कि पुराने लोग अपने-अपने काम से रिटायर हों, जिससे अगली पीढ़ी को काम करने का अवसर मिले—वह चाहे सरकारी या ग़ैरसरकारी नौकरी हो, व्यापार हो या राजनीति हो। वानप्रस्थ समाजसेवा का आश्रम है। जो व्यक्ति अब तक अपने और अपने परिवार के लिए जीता था, वानप्रस्थ में दीक्षित होकर वह समाज के लिए जिएगा। उसकी योग्यता, अनुभव और दक्षता समाज को समर्पित होगी।

आश्रम-व्यवस्था मानवता के लिए अमूल्य वरदान है। मानव केवल पाञ्चभौतिक शरीर नहीं है, मन, बुद्धि और आत्मा भी है। इसलिए मानव जीवन का ध्येय भौतिक कभी नहीं हो सकता। धन, धन के लिए नहीं, धन से प्राप्य वस्तुओं के जुटाने के लिए होता है। वस्तुएँ, वस्तुओं के लिए नहीं, शरीर की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए जुटाई जाती हैं। शरीर, शरीर के लिए नहीं, उपभोग का साधनभूत होता है। उपभोग भी उपभोग के लिए नहीं, उससे होनेवाले सुख या आनन्द को पाने के लिए होता है और यह सुख या आनन्द की अनुभूति भौतिक शरीर का नहीं, अभौतिक आत्मा का विषय है। इस प्रकार जीवन का ध्येय अन्ततः अभौतिक अथवा आध्यात्मिक ठहरता है। वर्णाश्रम व्यवस्था इसी ध्येय की प्राप्ति की क्रमबद्ध योजना है। इस व्यवस्था में धन कमाने का

---

१. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

अधिकार मर्यादित है। चार वर्णों में केवल एक वर्ण वैश्य धन कमा सकता है और वह भी चार अवस्थाओं में से केवल एक में—गृहस्थाश्रम में। वह यह भी जानता है कि अभी जो कुछ मैं कमा रहा हूँ, उसे एक-न-एक दिन मुझे छोड़ना ही है, वानप्रस्थ बनना ही है। राजा भी जानता है कि एक दिन मुझे सब-कुछ छोड़कर वन में वास करने चले जाना है—**'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्'** (रघुवंश १।८)। इस प्रकार इस व्यवस्था में सम्पत्ति के अधिकार को मर्यादित कर दिया गया है। इसमें धन ऐहिक भोग का साधनमात्र है, साध्य नहीं। जब पैसा साध्य बन जाता है, भगवान् या आराध्य बन जाता है, तब न भगवान् रहता है, न मानव या मानवता। तब उसे पाने के लिए सुपथा-कुपथा में कोई अन्तर नहीं रहता। भ्रष्टाचार ही शिष्टाचार बन जाता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में ही समाज का समग्र सुख निहित है।

अथ संन्याससंस्कारविधिं वक्ष्यामः

'संन्यास-संस्कार' उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकार्थ विचरे, अर्थात्—

सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्यकर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स 'संन्यासः'। संन्यासो विद्यते यस्य स 'संन्यासी'।

कालः—प्रथम जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वानप्रस्थ, वानप्रस्थ होके संन्यासी होवे। यह क्रम संन्यास, अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करता-करता वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है, उसी को 'क्रमसंन्यास' कहते हैं।

द्वितीय प्रकार—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रवृजेद् वनाद् वा गृहाद् वा।' यह ब्राह्मणग्रन्थ[१] का वाक्य है।

वैदिक ऋषियों ने मनुष्य के लिए सामान्यतः सौ वर्ष के जीवन की कल्पना की थी। **'जीवेम शरदः शतम्'**—हर कोई सौ वर्ष तो जीना चाहता ही था, इसलिए प्रभु से अपने लिए इतने दिन जीने की प्रार्थना करता था। परमेश्वर का कहना था—सौ वर्ष जीने की इच्छा करना बुरा नहीं, किन्तु कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करो—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'** (यजुः० ४० ।२)। तुम्हारी सौ वर्ष की यात्रा में चार पड़ाव आएँगे। वे आश्रम होंगे। 'आश्रम' शब्द कह रहा है कि ये आराम करने कि लिए नहीं, अपितु निरन्तर अथक श्रम करते रहने के लिए हैं। इनमें तुम्हें कोई असुविधा नहीं होगी, क्योंकि इनमें तीन पड़ावों में तुम्हें प्रकृति माता की गोद में बिताने का अवसर मिलेगा। जीवन का तीन चौथाई भाग ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ व संन्यास खुले मैदानों, जंगलों और पहाड़ों के शुद्ध जलवायु में बीतने के कारण तुम्हारे सौ वर्ष हँसते-खेलते निकल जाएँगे और यदि तुम परमेश्वर की आज्ञा मानते रहे तो तुम्हें ब्रह्मलोक में प्रवेश पाने में कोई कठिनाई नहीं होगी। **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'**। सारी यात्रा की थकावट मिट जाएगी।

इस जीवन-यात्रा का अन्तिम पड़ाव संन्यास हैं। संन्यास का अर्थ है—'सं-न्यास', अर्थात् कन्धों पर पड़े बोझ को उतारकर फेंक देना।

यदहरेव—ब्राह्मणग्रन्थों में भी काफी फेरफार हो चुका है। आजकल यह वचन अथर्ववेदीय जाबालोपनिषद् खण्ड ४ में मिलता है। पूरा पाठ इस प्रकार है—**"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वा ऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा, यदहरेव**

---

१. यही आनुपूर्वी सं० विधि संस्करण १ में है। वहाँ 'इति ब्राह्मणश्रुतिः' निर्देश किया है। स० प्र० समु० ५ सं० २ में लिखा है—'ये ब्राह्मणग्रन्थ के वचन हैं।' प्रथम संस्करण में 'यह यजुर्वेद के ब्राह्मण की श्रुति है' पाठ है। जाबाल उपनिषद् में ये वचन आगे-पीछे मिलते हैं।

अर्थ:—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो, अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

तृतीय प्रकार—ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'॥ यह भी ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है।

विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्। अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं पृच्छामि त्वा याज्ञवल्क्यः अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति। स होवाच याज्ञवल्क्य इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा।'' अर्थात्—ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ होवे, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ होवे। वानप्रस्थ होकर संन्यासी होवे। अथवा दूसरा प्रकार यह है कि ब्रह्मचर्य से ही संन्यासी हो जावे अथवा गृहस्थाश्रम से ही वा वानप्रस्थाश्रम से ही और पुन: यदि वह व्रती हो वा व्रतरहित हो, स्नातक हो वा अस्नातक हो अथवा जिसका अग्निहोत्र नष्ट हो चुका हो, जिस दिन उसे वैराग्य हो उसी दिन संन्यासी हो जावे। यज्ञवल्क्य से अत्रि ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! मैं तुमसे पूछता हूँ कि यज्ञोपवीत से रहित मनुष्य ब्राह्मण कैसे हो सकता है? याज्ञवल्क्य बोले—यह जो आत्मा है वही उसका यज्ञोपवीत है। संन्यासी को संन्यास की दीक्षा लेते समय यज्ञोपवीत त्यागना पड़ता है और उधर श्रमणब्राह्मण-न्याय प्रचलित है कि ब्राह्मण संन्यासी होकर भी (और यज्ञोपवीत आदि का त्याग करके भी) ब्राह्मण रहता है। अत्रि का प्रश्न है कि बिना यज्ञोपवीत के ब्राह्मण कैसे? याज्ञवल्क्य का उत्तर है कि आत्मा, अर्थात् आत्मज्ञान ही उसका यज्ञोपवीत है। इसका संकेत यहाँ अथर्ववेद ९।६ तथा तैत्तिरीय आरण्यक १०।६४ से उद्धृत प्रमाणों में उपलब्ध है। इस प्रकार संन्यास ग्रहण के लिए तीन विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं—

१. अनुक्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ व वानप्रस्थ-आश्रमों का अनुष्ठान करते हुए वृद्धावस्था में पहुँचकर संन्यास की दीक्षा ले। इसे क्रमसंन्यास कहते हैं।

२. '**यदहरेव विरजेत् तदहरेव वनाद्वा गृहाद्वा**' जिस दिन वैराग्य हो जाए उसी दिन चाहे गृहस्थ का समय भी पूरा न हुआ हो और चाहे वानप्रस्थ का अनुष्ठान न भी किया हो, गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य अथवा यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य हेतु है। यही आनुपूर्वी संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में है वहाँ 'इति ब्राह्मण: श्रुति:' निर्देश किया है।

३. '**ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्**'—यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबका उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यासधर्म का निर्वाह कर सकूँगा तो वह न गृहाश्रम करे और न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करके ही संन्यास ग्रहण करले।

स्वयं ग्रन्थकार ने इसी प्रकार संन्यास ग्रहण किया था। उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'जितना ब्रह्मचर्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्यशिक्षा करके उपकार कर सकता है, उतना गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।' यह प्रश्न किये जाने पर कि जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेगा उसका निर्वाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है, ग्रन्थकार का उत्तर है कि जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न ले, परन्तु जो रोक सके वह क्यों न ले?

यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबके उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरण-पर्यन्त यथावत् संन्यास-धर्म का निर्वाह कर सकूँगा तो वह न गृहाश्रम करे न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करके संन्याश्रम को ग्रहण कर लेवे।

अत्र वेदप्रमाणानि

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महद् इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ १॥
आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात् सोम मीढ्वः।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ २॥[1]

अर्थः—मैं ईश्वर संन्यास लेनेहारे तुझ मनुष्य को उपदेश करता हूँ कि जैसे (वृत्रहा) मेघ का नाश करनेहारा (इन्द्रः) सूर्य (शर्यणावति) हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित (सोमम्) रस को पीता है, वैसे संन्यास लेनेवाला पुरुष उत्तम मूल, फलों के रस को (पिबतु) पीवे और (आत्मनि) अपने आत्मा में (महत्) बड़े (वीर्यम्) सामर्थ्य को (करिष्यन्) करूँगा, ऐसी इच्छा करता हुआ (बलं दधानः) दिव्य बल को धारण करता हुआ (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिए, हे (इन्दो) चन्द्रमा के तुल्य सबको आनन्द करनेहारे पूर्ण विद्वन्! तू संन्यास लेके सबपर (परि स्रव) सत्योपदेश की वृष्टि कर॥ १॥

हे (सोम) सोम्यगुणसम्पन्न (मीढ्वः) सत्य से सबके अन्तःकरण को सींचनेहारे, (दिशां पते) सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देके पालन करनेहारे, (इन्दो) शमादिगुणयुक्त संन्यासिन्! तू (ऋतवाकेन) यथार्थ बोलने, (सत्येन) सत्यभाषण करने से (श्रद्धया) सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और (तपसा) प्राणायाम योगाभ्यास से, (आर्जीकात्) सरलता से (सुतः) निष्पन्न होता हुआ अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को (आ पवस्व) पवित्र कर। (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिए (परिस्रव) सब ओर से गमन कर॥ २॥

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन्।
श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ३॥[2]

अर्थः—हे (ऋतद्युम्न) सत्यधन और सत्य कीर्तिवाले यतिवर! (ऋतं वदन्) पक्षपात छोड़के यथार्थ बोलता हुआ, हे (सत्यकर्मन्) सत्य, वेदोक्त कर्मवाले संन्यासिन्! (सत्यं वदन्) सत्य बोलता हुआ, (श्रद्धाम्) सत्यधारण में प्रीति करने को (वदन्) उपदेश करता हुआ, (सोम) सोम्यगुणसपन्न, (राजन्) सब ओर से प्रकाशयुक्त आत्मावाले, (सोम) योगैश्वर्ययुक्त (इन्दो) सबको आनन्ददायक संन्यासिन्! तू (धात्रा) सकल विश्व के धारण करनेहारे परमात्मा से योगाभ्यास करके (परिष्कृतः) शुद्ध होता हुआ (इन्द्राय) योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिए (परिस्रव) यथार्थ पुरुषार्थ कर॥ ३॥

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन्।
ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन् इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ४॥[3]

---

१. ऋ० ९।११३।१-२॥ २. ऋ० ९।११३।४॥ ३. ऋ० ९।११३।६॥

अर्थः—हे (छन्दस्याम्) स्वतन्त्रतायुक्त (वाचम्) वाणी को (वदन्) कहते हुए (सोमेन) विद्या, योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से (आनन्दम्) सबके लिए आनन्द को (जनयन्) प्रगट करते हुए, (इन्दो) आनन्दप्रद, (पवमान) पवित्रात्मन्, पवित्र करनेहारे संन्यासिन्! (यत्र) जिस (सोमे) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा में (ब्रह्मा) चारों वेदों का जाननेहारा विद्वान् (महीयते) महत्त्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है, जैसे (ग्राव्णा) मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है, वैसे तू सबको (इन्द्राय) परमैश्वर्य्ययुक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिए सब साधनों को (परिस्रव) सब प्रकार से प्राप्त करा॥ ४॥

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ५॥[१]

अर्थः—हे (पवमान) अविद्यादि क्लेशों के नाश करनेहारे, पवित्रस्वरूप, (इन्दो) सर्वानन्ददायक परमात्मन्! (यत्र) जहाँ तेरे स्वरूप में (अजस्रम्) निरन्तर व्यापक तेरा (ज्योतिः) तेज है, (यस्मिन्) जिस (लोके) ज्ञान से देखने योग्य तुझमें (स्वः) नित्य सुख (हितम्) स्थित है, (तस्मिन्) उस (अमृते) जन्म-मरण और (अक्षिते) नाश से रहित (लोके) द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप (मा) मुझको (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्ति के लिए (धेहि) कृपा से धारण कीजिए और मुझपर माता के समान कृपाभाव से (परिस्रव) आनन्द की वर्षा कीजिए॥ ५॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ६॥

अर्थः—हे (इन्दो) आनन्दप्रद परमात्मन्! (यत्र) जिस तुझमें (वैवस्वतः) सूर्य का प्रकाश (राजा) प्रकाशमान हो रहा है, (यत्र) जिस आपमें (दिवः) बिजली, अथवा बुरी कामना की (अवरोधनम्) रुकावट है, (यत्र) जिस आपमें (अमूः) वे कारणरूप (यह्वतीः) बड़े व्यापक आकाशस्थ (आपः) प्राणप्रद वायु हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझको (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कीजिए। (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिए (परिस्रव) आर्द्रभाव से आप मुझको प्राप्त हूजिए॥ ६॥

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ७॥[२]

अर्थः—हे (इन्दो) परमात्मन्! (यत्र) जिस आपमें (अनुकामम्) इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र (चरणम्) विहरना है, (यत्र) जिस (त्रिनाके) त्रिविध, अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से रहित, (त्रिदिवे) तीन सूर्य, विद्युत् और भौम्य अग्नि से प्रकाशित सुखस्वरूप में (दिवः) कामना करने योग्य शुद्ध कामनावाले, (लोकाः) यथार्थ ज्ञानयुक्त, (ज्योतिष्मन्तः) शुद्ध विज्ञानयुक्त, मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष विचरते हैं, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझको (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त (कृधि) कीजिए और (इन्द्राय) उस परम आनन्दैश्वर्य के लिए (परिस्रव) कृपा से प्राप्त हूजिए॥ ७॥

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ८॥[३]

अर्थः—हे (इन्दो) निष्कामानन्दप्रद, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! (यत्र) जिस आपमें

---

१. ऋ० ९।११३।७॥ २. ऋ० ९।११३।९॥ ३. ऋ० ९।११३।१०॥

(कामाः) सब कामना (निकामाः) और अभिलाषा, छूट जाती है, (च) और (यत्र) जिस आपमें (ब्रध्नस्य) सबसे बड़े प्रकाशमान सूर्य का (विष्टपम्) विशिष्ट सुख, (च) और (यत्र) जिस आपमें (स्वधा) अपना ही धारण, (च) और जिस आपमें (तृप्तिः) पूर्ण तृप्ति है, (तत्र) उस अपने स्वरूप में (माम्) मुझको (अमृतम्) प्राप्त-मुक्तिवाला (कृधि) कीजिए तथा (इन्द्राय) सब दुःख-विदारण के लिए आप मुझपर (परिस्रव) करुणावृत्ति कीजिए॥ ८॥

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।

कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ९॥[१]**—ऋ० म० ९। सू० ११३॥**

अर्थः—हे (इन्दो) सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर! (यत्र) जिस आपमें (आनन्दाः) सम्पूर्ण समृद्धि, (च) और (मोदाः) सम्पूर्ण हर्ष, (मुदः) सम्पूर्ण प्रसन्नता, (च) और (प्रमुदः) प्रकृष्ट प्रसन्नता (आसते) स्थित हैं, (यत्र) जिस आपमें (कामस्य) अभिलाषी पुरुष की (कामाः) सब कामना (आप्ताः) प्राप्त होती हैं, (तत्र) उसी अपने स्वरूप में (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिए (माम्) मुझको (अमृतम्) जन्म-मृत्यु के दुःख से रहित मोक्षप्राप्तियुक्त कि जिससे मुक्ति के समय[२] के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता, उस मुक्ति की प्राप्तिवाला (कृधि) कीजिए और इसी प्रकार सब जीवों को (परिस्रव) सब ओर से प्राप्त हूजिए॥ ९॥

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्त्तन॥ १०॥

—ऋ० म० १०। सू० ७२। मं० ७॥

अर्थः—हे (देवाः) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगो! तुम (यथा) जैसे (अत्र) इस (समुद्रे) आकाश में (गूढम्) गुप्त (आ सूर्यम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्यादि का प्रकाशक परमात्मा है, उसको (आ अजभर्त्तन) चारों ओर से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ, वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं, उनको सदा (अपिन्वत) विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो, यही तुम्हारा परम धर्म है॥ १०॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥ ११॥

—अथर्व० का० १९। सू० ४१। मं० १॥

अर्थः—हे विद्वानो! जो (ऋषयः) वेदार्थविद्या को प्राप्त (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त, (अग्रे) प्रथम (तपः) ब्रह्मचर्यरूप आश्रम को पूर्णता से सेवन तथा यथावत् स्थिरता से प्राप्त होके (भद्रम्) कल्याण की (इच्छन्तः) इच्छा करते हुए, (दीक्षाम्) संन्यास की दीक्षा को (उपनिषेदुः) ब्रह्मचर्य ही से प्राप्त होवें, उनका (देवाः) विद्वान् लोग (उपसंनमन्तु) यथावत् सत्कार किया करें। (ततः) तदनन्तर (राष्ट्रम्) राज्य (बलम्) बल (च) और (ओजः) पराक्रम (जातम्) उत्पन्न होवे। (तत्) उससे (अस्मै) इस संन्यासाश्रम के पालन के लिए यत्न किया करें॥ १॥

अथ मनुस्मृतेश्श्लोकाः

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्॥ १॥

अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥ २॥

---

१. ऋ० ९।११३।११॥

२. मुक्ति के समय की अवधि के लिए स० प्र० समु० ९ देखिए।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥ ३॥
यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्। तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ४॥
आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः। समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्॥ ५॥
अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्। उपेक्षकोऽसङ्कुसुको[१] मुनिर्भावसमाहितः॥ ६॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्। कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥ ७॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ ८॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः। आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥ ९॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्। विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्॥ १०॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥ ११॥
दूषितोऽपि चरेद् धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः। समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥ १२॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्। न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति॥ १३॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः। व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥ १४॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ १५॥
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्। प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्॥ १६॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः। ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः॥ १७॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥ १८॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः। तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्॥ १९॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः। तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ २०॥
अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा सङ्गाञ्शनैः शनैः। सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥ २१॥
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्। इदमन्विच्छतां स्वर्ग्यम्[२] इदमानन्त्यमिच्छताम्॥ २२॥
अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः। स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति॥ २३॥[३]

अर्थः—इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग, अर्थात् अधिक-से-अधिक पच्चीस वर्ष, अथवा न्यून-से-न्यून १२ [बारह] वर्ष तक विहार करके आयु के चौथे भाग, अर्थात् ७० [सत्तर] वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी हो जावे॥ १॥

विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम में सब वेदों को पढ़, गृहाश्रमी होकर धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर, वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष, अर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगावे॥ २॥

प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है, कर आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके, ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे॥ ३॥

जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान, सत्योपदेश देकर गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेता

---

१. असंकुसुकः स्थिरमतिः इति टीकाकारः। संकुसुकः दुर्जनः, अस्थिरः। महाभारत अनु० १०४।१५॥ यही अर्थ ग्रन्थकार ने भी किया है।

२. मनुस्मृति में 'स्वर्गम्' पाठ है।

३. मनु० ६।३३, ३६, ३८, ३९, ४१, ४३, ४५, ४६, ४९, ५२, ६०, ६६-७५, ८०, ८१, ८४, ८५॥

है उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्षलोक और सब लोक-लोकान्तर तेजोमय=ज्ञान से प्रकाशमय हो जाते हैं॥४॥

जब सब कामों को जीत लेवे और उनकी अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण, मननशील हो जावे तभी गृहाश्रम से निकलकर संन्यासाश्रम का ग्रहण करे, अथवा ब्रह्मचर्य ही से संन्यास का ग्रहण कर लेवे॥५॥

वह संन्यासी अनग्निः*=आहवनीयादि अग्नियों से रहित और कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बाँधे और अन्न-वस्त्रादि के लिए ग्राम का आश्रय लेवे। बुरे मनुष्यों की उपेक्षा कर्त्ता और स्थिरबुद्धि, मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे॥६॥

न तो अपने जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने, किन्तु जैसे क्षुद्र भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है, वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे॥७॥

चलते समय आगे-आगे देखके पग धरे। सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे। सबसे सत्य वाणी बोले, अर्थात् सत्योपदेश ही किया करे। जो कुछ व्यवहार करे, वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे॥८॥

इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस-मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर विचरा करे और सबको सत्योपदेश करता रहे॥९॥

सब शिर के बाल, दाढ़ी-मूँछ और नखों को समय-समय छेदन कराता रहे। पात्री, दण्डी और कुसुंभ के रंगे हुए+ वस्त्रों को धारण किया करे। सब भूत=प्राणिमात्र को पीड़ा न देता हुआ दृढ़ात्मा होकर नित्य विचरण करे॥१०॥

जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है॥११॥

यदि संन्यासी को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमानित भी करें, तथापि धर्म ही का आचरण करे। ऐसे ही अन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है। सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर समबुद्धि रक्खे—इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिए संन्यासाश्रम का विधि है, किन्तु केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है॥१२॥

यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करनेवाला है तथापि उसके नामग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता, किन्तु उसको ले, पीस, जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है। वैसे नाममात्र आश्रम से कुछ भी नहीं होता, किन्तु अपने-अपने आश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से आश्रमधारण सफल होता है, अन्यथा नहीं॥१३॥

इस पवित्र आश्रम को सफल करने के लिए संन्यासी पुरुष विधिवत् योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगाके, जैसाकि पृष्ठ ३०८ में प्राणायाम का मन्त्र लिखा है उसको

---

* इसी पद से भ्रान्ति में पड़के संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते, यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहाँ आहवनीयादिसंज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं॥ —**द०स०**

\+ अथवा गेरू से रंगे हुए वस्त्रों को पहिने॥ —**द०स०**

मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है॥ १४॥

क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल छूट जाते हैं, वैसे ही प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं॥ १५॥

इसलिए संन्यासी लोग प्राणायामों से दोषों को और ध्यान से अविद्या, पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोषों को छुड़ाके, पक्षपातरहित आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर, सब दोषों को भस्म कर देवे॥ १६॥

बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है, उस अन्तर्यामी परमात्मा की गति, अर्थात् प्राप्ति को ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे॥ १७॥

जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान वा षट्दर्शनों से युक्त है, वह दुष्ट कर्मों से बद्ध नहीं होता और जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्सङ्ग, धर्मानुष्ठान वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञानहीन होकर संन्यास लेता है, वह संन्यास पदवी और मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्म-मरणरूप संसार को प्राप्त होता है और ऐसे मूर्ख अधर्मी को संन्यास का लेना व्यर्थ और धिक्कार देने के योग्य है॥ १८॥

और जो निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों के बन्धन से पृथक्, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम, सत्यभाषणादि उत्तम, उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म, इसी वर्त्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं। उनका संन्यास लेना सफल और धन्यवाद के योग्य है॥ १९॥

जब संन्यासी सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है, तभी इस लोक, इस जन्म और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर* सुख को प्राप्त होता है॥ २०॥

इस विधि से धीरे-धीरे सब संग से हुए दोषों को छोड़के सब हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त होके विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है॥ २१॥

और जो विविदिषा, अर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे वह भी विद्या का अभ्यास, सत्पुरुषों का संग, योगाभ्यास और ओंकार का जप और उसके अर्थ=परमेश्वर का विचार भी किया करे। यही अज्ञानियों का शरण, अर्थात् गौण संन्यासियों और यही विद्वान् संन्यासियों का और यही सुख का खोज करनेहारे और यही अनन्त+ सुख की इच्छा करनेहारे मनुष्यों का आश्रय है॥ २२॥

इस क्रमानुसार संन्यासयोग से जो द्विज, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य[1] संन्यास ग्रहण करता है वह इस संसार और शरीर में सब पापों को छोड़-छुड़ाके परब्रह्म को प्राप्त होता है॥ २३॥

विधिः—जो पुरुष संन्यास लेना चाहे वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्नता हो उसी दिन से नियम और व्रत, अर्थात् तीन दिन तक दुग्धपान करके उपवास और भूमि में शयन और प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्तदेश में ओंकार का जप किया करे और पृष्ठ ४९-५० में लिखे प्रमाणे सभामण्डप, वेदी,

---

* निरन्तर शब्द का इतना ही अर्थ है कि नियत समय के मध्य में दुःख आकर विघ्न नहीं कर सकता। **—द०स०**

\+ अनन्त इतना ही है कि मुक्ति सुख के समय में अन्त अर्थात् जिसका नाश न होवे। **—द०स०**

---

१. मुख्य संन्यास का अधिकारी केवल ब्राह्मण=ब्रह्मवेत्ता है। क्षत्रिय और वैश्य गौण संन्यास के अधिकारी हैं।

समिधा, घृतादि शाकल्य, सामग्री एक दिन पूर्व कर रखनी। पश्चात् जिस दिन संन्यास लेना हो, प्रहर रात्रि से उठकर शौच, स्नानादि आवश्यक कर्म करके, प्राणायाम, ध्यान और प्रणव का जप करता रहे। सूर्योदय के समय उत्तम गृहस्थ धार्मिक विद्वानों का पृष्ठ ५४ में लिखे प्रमाणे वरण कर, पृष्ठ ५६-५७ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिदाधान, घृतप्रतपन और स्थालीपाक करके पृ० ३६-४८ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन-शान्तिकरण का पाठ कर, पृ० ५८-६० में लिखे प्रमाणे वेदी के चारों ओर जलप्रोक्षण, आघारावाज्यभागाहुति[१] चार और व्याहृति आहुति[२] चार, तथा—

ओं भुवनपतये स्वाहा॥[३]
ओं भूतानां पतये स्वाहा॥[३]
ओं प्रजापतये स्वाहा॥[४]

इनमें से एक-एक मन्त्र से एक-एक करके ग्यारह आज्याहुति देके जो विधिपूर्वक भात बनाया हो उसमें घृत सेचन करके, यजमान जोकि संन्यास का लेनेवाला है और दो ऋत्विज् निम्नलिखित स्वाहान्त मन्त्रों से भात का होम और शेष दो ऋत्विज् भी साथ-साथ घृताहुति करते जावें—

ओं ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञो ब्रह्मणा स्वरवो मिताः।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः स्वाहा॥ १॥
ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।
ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा॥ २॥
अंहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राम्णे[५] सुमतिमावृणानः।
इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः स्वाहा॥ ३॥
अंहोमुचे वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः स्वाहा॥ ४॥[६]
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे। अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ५॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे। वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ ६॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे।
सूर्याय स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ ७॥
यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे।
चन्द्राय स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ ८॥

---

१. 'अग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से। २. 'भूरग्नये स्वाहा' आदि चार मन्त्रों से।

३. यजु:० २।२॥ ४. यजु:० १८।२८॥

५. सं० २-२० तक यही पाठ है। सायण भी यही पाठ मानता है। सं० २१ से 'सुत्राव्णे' पाठ छप रहा है। मुद्रित अथर्वसंहिता और पदपाठ में 'सुत्राव्णे' पाठ ही मिलता है।

६. अथर्व० १९।४२।१-४॥ तीसरे मन्त्र के तृतीय चरण का 'इदमिन्द्र' पाठ राथह्विटनी के संस्करणानुसार है। मन्त्र १, ३, ४ में 'स्वाहा' पद मन्त्र से बहिर्भूत है।

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह। सोमो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ पय॒: सोमो॑ दधातु मे।
सोमा॑य॒ स्वाहा॑। इदं सोमाय—इदन्न मम॥ ९॥
यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह। इन्द्रो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ बल॒मिन्द्रो॑ दधातु मे।
इन्द्रा॑य स्वाहा॑॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम॥ १०॥
यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह। आपो॑ मा॒ तत्र॑ नयन्त्व॒मृतं मोप॑ तिष्ठतु।
अ॒द्भ्यः स्वाहा॑॥ इदमद्भ्यः—इदन्न मम॥ ११॥
यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॑ तप॑सा स॒ह। ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु॒ ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे।
ब्र॒ह्मणे॒ स्वाहा॑॥ इदं ब्रह्मणे—इदन्न मम॥ १२॥ —अथर्व० कां० १९। सू० ४२-४३॥[१]

ओं प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्ताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ १॥
वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुद्ध्याकूतिसंकल्पा मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ २॥
शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोरूदरजङ्घ[२] शिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ ३॥
त्वक्चर्ममाꣳसरुधिरमेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ ४॥
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्ताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ ५॥
पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशा मे शुध्यन्ताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ ६॥
अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया[३] मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ ७॥
विविष्ट्यै[४] स्वाहा॥ ८॥
कषोत्काय स्वाहा॥ ९॥
उत्तिष्ठ पुरुष हरित लोहित पिङ्गलाक्षि[५]।
देहि देहि ददापयिता[६] मे शुध्यताम्[७]। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ १०॥
ओं स्वाहा मनोवाक्कायकर्माणि मे शुध्यन्ताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ ११॥
अव्यक्तभावैरहङ्कारैर्ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ १२॥
आत्मा मे शुध्यताम्[८]। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ १३॥
अन्तरात्मा मे शुध्यताम्[९]। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ १४॥

---

१. पहले चार मन्त्र सूक्त ४२ के और अगले ५-१२ मन्त्र सूक्त ४३ के हैं।
२. तै० आ० में 'जङ्घ' पाठ है। ३. तै० आ० में '०मयात्मा मे' पाठ है।
४. तै० आ० में 'विविट्ट्यै' पाठ है। ५. तै० आ० में 'पिङ्गल लोहिताक्षि' पाठ है।
६. मूल पाठ 'ददापयिता' ही है। व्याख्याकारों ने भी इसे ही स्वीकार किया है। सं० वि० के कई संस्करणों में 'दापयिता' छपा है, वह अशुद्ध है।
७. तै० आ० में 'शुध्यन्ताम्' पाठ है, वह छान्दस, अथवा अपपाठ है।
८. तै० आ० १०।१६ के अनुसार पृथक् मन्त्र है।
९. तै० आ० में 'शुध्यन्ताम्' पाठ है, वह छान्दस, अथवा अपपाठ है।

परमात्मा मे शुध्यताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा * ॥ १५ ॥[1]

इन १५ मन्त्रों में से एक-एक करके भात की आहुति देनी। पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से ३५ घृताहुति देवें—

ओमग्नये स्वाहा ॥ १६ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥ ओं ध्रुवाय भूमाय स्वाहा ॥ १८ ॥ ओं ध्रुवक्षितये स्वाहा ॥ १९ ॥ ओमच्युतक्षितये स्वाहा ॥ २० ॥ ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा ॥ २१ ॥ ओं धर्माय स्वाहा ॥ २२ ॥ ओमधर्माय स्वाहा ॥ २३ ॥ ओमद्भ्यः स्वाहा ॥ २४ ॥ ओमोषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा ॥ २५ ॥ ओं रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा ॥ २६ ॥ ओं गृह्याभ्यः स्वाहा ॥ २७ ॥ ओमवसानेभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥ ओमवसानपतिभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥ ओं सर्वभूतेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥ ओं कामाय स्वाहा ॥ ३१ ॥ ओमन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३२ ॥ ओं पृथिव्यै स्वाहा ॥ ३३ ॥ ओं दिवे स्वाहा ॥ ३४ ॥ ओं सूर्याय स्वाहा ॥ ३५ ॥ ओं चन्द्रमसे स्वाहा ॥ ३६ ॥ ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥ ३७ ॥ ओमिन्द्राय स्वाहा ॥ ३८ ॥ ओं बृहस्पतये स्वाहा ॥ ३९ ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ४० ॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ४१ ॥ ओं देवेभ्यः स्वाहा ॥ ४२ ॥ ओं परमेष्ठिने स्वाहा ॥ ४३ ॥ ओं तद् ब्रह्म ॥ ४४ ॥ ओं तद्वायुः ॥ ४५ ॥ ओं तदात्मा ॥ ४६ ॥ ओं तत्सत्यम् ॥ ४७ ॥ ओं तत्सर्वम् ॥ ४८ ॥ ओं तत्पुरोर्नमः ॥ ४९ ॥

अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु। त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वं रुद्रस्त्वꣳ विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः। त्वं तदाप आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों स्वाहा+ ॥ ५० ॥[2]

इन ५० मन्त्रों से आज्याहुति देके तदनन्तर जो संन्यास लेनेवाला है, वह पाँच वा छह केशों को छोड़कर पृष्ठ १६५ में लिखे प्रमाणे डाढ़ी, मूँछ, केश, लोमों का छेदन, अर्थात् क्षौर कराके यथावत् स्नान करे। तदनन्तर संन्यास लेनेवाला पुरुष अपने शिर पर पुरुषसूक्त[3] के मन्त्रों से १०८ बार अभिषेक

पुरुष-सूक्त के मन्त्र ये हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

---

* (प्राणापान) इत्यादि से लेके (परमात्मा मे शुध्यताम्) इत्यन्त मन्त्रों से संन्यासी के लिए उपदेश है, अर्थात् जो संन्यासाश्रम ग्रहण करे, वह धर्माचरण, सत्योपदेश, योगाभ्यास, शम, दम, शान्ति, सुशीलतादि, विद्याविज्ञानादि शुभ-गुण-कर्म-स्वभावों से सहित होकर, परमात्मा को अपना सहायक मानकर अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर, प्राण, मन, इन्द्रियादि को अशुद्ध व्यवहार से हटा, शुद्ध व्यवहार में चलाके, पक्षपात कपट, अधर्म व्यवहारों को छोड़, अन्य के दोष पढ़ाने और उपदेश से छुड़ाकर, स्वयं आनन्दित होके, सब मनुष्यों को आनन्द पहुँचाता रहे॥ **—द०स०**

+ ये सब (प्राणापानव्यान०) आदि मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक दशम प्रपाठक अनुवाक ५१-६०, ६६-६८ के हैं। **—द०स०**

---

१. द्र०—तै० आ० प्र० १०, अनु० ५१-६० एशियाटिक सोसायटी बंगाल सं०, तथा आनन्दाश्रम पूना के परिशिष्ट में संग्रहित अ० ६५, ६६ क्रमभेद से।

२. द्र०—तै० आ० १०।६७, ६८ पूर्वोक्त दोनों संस्करण।

३. पुरुषसूक्त ऋ० १०।९०, सामवेद अरण्यकाण्ड ४, अथर्व० १९।६ में है। यजुः० अ० ३१ पुरुषाध्याय और तै० आ० ३।१२ पुरुषानुवाक कहाता है। यहाँ ऋग्वेदस्थ पुरुषसूक्त ही अभिप्रेत है। ऐसा हमारा विचार है।

करे। पुनः पृष्ठ ३०७ में लिखे प्रमाणे आचमन और प्राणायाम करके, हाथ जोड़, वेदी के सामने नेत्रोन्मीलन कर मन से—

ओं ब्रह्मणे नमः॥ ओमिन्द्राय नमः॥

ओं सूर्याय नमः॥ ओं सोमाय नमः॥

ओमात्मने नमः॥ ओमन्तरात्मने नमः॥

इन छह मन्त्रों को जपके—

ओमात्मने स्वाहा॥ ओमन्तरात्मने स्वाहा॥

ओं परमात्मने स्वाहा॥ ओं प्रजापतये स्वाहा॥

इन चार मन्त्रों से चार आज्याहुति देकर, कार्यकर्त्ता—संन्यास ग्रहण करनेवाला पुरुष पृष्ठ २५२-२५८ में लिखे प्रमाणे मधुपर्क की क्रिया करे। तदनन्तर प्राणायाम करके—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ २॥
एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥ ४॥
तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥ ५॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ ६॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ ७॥
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥ ८॥
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥ ९॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः॥ १०॥
यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥ ११॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ १२॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥ १३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥ १४॥
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥ १५॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ १६॥ —ऋग्वेद १०, ९०॥

आचार्य या ऋत्विग् मधुपर्क का पात्र निम्न वचन बोलकर संन्यासार्थी को दे—

ऋत्विग्—ओम् मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्॥

संन्यासार्थी—ओम् प्रतिगृह्णामि॥

तदनन्तर, संन्यासार्थी निम्न वाक्य को बोलकर मधुपर्क को देखे—

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम्॥

ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि॥

ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

इन मन्त्रो को मन से जपे। पुनः—

ओम् अग्नये स्वाहा॥ ओं भूः प्रजापतये स्वाहा॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा॥ ओं प्रजापतये स्वाहा॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा॥

ओं प्राणाय स्वाहा॥ ओमपानाय स्वाहा॥

संन्यायार्थी—ओम् मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे॥

तदनन्तर, संन्यासार्थी निम्न मन्त्र से मधुपर्क के पात्र को वाम-हस्त में ले—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि॥

फिर, संन्यासार्थी निम्न मन्त्र को पढ़कर दाहिने हाथ की अनामिका और अङ्गुष्ठ से मधुपर्क को तीन बार बिलोवे—

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि॥

तदनन्तर, उस मधुपर्क में से निम्न मन्त्रों से उसे चारों दिशाओं में छोड़े :

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण च्छन्दसा भक्षयन्तु॥ —इससे पूर्व दिशा में,

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु॥ —दक्षिण दिशा में,

ओम् आदित्यास्त्वा जागतेन च्छन्दसा भक्षयन्तु॥ —पश्चिम दिशा में,

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु॥ —उत्तर दिशा में,

पुनः निम्न वाक्य को बोलकर पात्र के मध्य में से मधुपर्क को लेकर ऊपर की ओर तीन बार फेंके—

ओम् भूतेभ्यस्त्वा प्रतिगृह्णामि॥

तत्पश्चात्, उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांसे के या अन्य पात्रों में धर, भूमि पर अपने सम्मुख तीनों पात्र रख, निम्न मन्त्र को बोलकर थोड़ा प्राशन करे वा सब प्राशन करें—

ओम् यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यम्।

तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि॥ —पार० गृ० १।३।२०॥

यदि उन पात्रों में मधुपर्क शेष रहे तो जल में डाल दें।

डॉ० राधाकृष्णन् ने संन्यासी के जीवन-दर्शन के विषय में लिखा है—

"The aim of the Sanyasin is not to free himself from the cares of outward life, but to attain a state of spiritual freedom when he is not tempted by riches or honour and is not elated by success or depressed by failure." —Hindu View of Life, P. 64

ओं व्यानाय स्वाहा। ओमुदानाय स्वाहा॥

ओं समानाय स्वाहा॥

इन मन्त्रों से वेदी में आज्याहुति देके—

ओं भूः स्वाहा॥

इन मन्त्र से पूर्णाहुति करके—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥ —श० कां० १४

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता, मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा*॥

इस वाक्य को बोलके सबके सामने जल को भूमि में छोड़ देवे। पीछे नाभिमात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर—

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम्॥

ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि॥

ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि परो रजसेऽसावदोम्॥

इसका मनसे जप करके प्रणवार्थ परमात्मा का ध्यान करके पूर्वोक्त (पुत्रैषणायाश्च०) इस समग्र कण्डिका को बोलके प्रेष्य मन्त्रोच्चारण करे।

ओं भूः संन्यस्तं मया। ओं भुवः संन्यस्तं मया। ओं स्वः संन्यस्तं मया॥

इस मन्त्र का मन से उच्चारण करे। तत्पश्चात् जल से अञ्जलि भर पूर्वाभिमुख होकर संन्यास लेनेवाला—

ओम् अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा॥

इस मन्त्र से दोनों हाथ की अञ्जलि को पूर्व दिशा में छोड़ देवे।

येना॑ स॒हस्र॒ं वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्। तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॒र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे+॥

—अथर्व० का० ९। सू० ५। मं० १७॥

और इसी पर स्मृति है—

---

* पुत्रादि के मोह, वित्तादि पदार्थों के मोह और लोकस्थ प्रतिष्ठा की इच्छा से मन को हटाकर परमात्मा में आत्मा को दृढ़ करके जो भिक्षाचरण करते हैं, वे ही सबको सत्योपदेश से अभयदान देते हैं, अर्थात् दाहिने हाथ में जल लेके मैंने आज से पुत्रादि का तथा वित्त का मोह और लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करने का त्याग कर दिया और मुझसे सब भूत—प्राणिमात्र को अभय प्राप्त होवे, यह मेरी सत्य वाणी है॥ **—द०स०**

+ (अग्ने) विद्वन्! (येन) जिससे (सहस्रम्) सब संसार को अग्नि धारण करता है और (येन) जिससे तू (सर्ववेदसम्) गृहाश्रमस्थ पदार्थ-मोह, यज्ञोपवीत और शिखा आदि को (वहसि) धारण करता है, उनको छोड़। (तेन) उस त्याग से (नः) हमको (इमम्) इस संन्यासरूप (स्वाहा) सुख देनेहारे (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य यज्ञ को (देवेषु) विद्वानों में (गन्तवे) जाने को (वह) प्राप्त हो॥

—द०स०

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥[1]

इस श्लोक का अर्थ पहले लिख दिया है।

इसके पश्चात् मौन करके शिखा के लिए जो पाँच वा सात केश रक्खे थे उनको एक-एक उखाड़ और यज्ञोपवीत उतारकर हाथ में ले-जल की अञ्जलि भर—

ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा॥

ओम् भूः स्वाहा॥

इन मन्त्रों से शिखा के बाल और यज्ञोपवीतसहित जलाञ्जलि को जल में होम कर देवे।

उसके पश्चात् आचार्य शिष्य को जल से निकालके काषाय वस्त्र की कोपीन, कटिवस्त्र, उपवस्त्र, अङ्गोछा प्रीतिपूर्वक देवे और शिष्य पृष्ठ १८० में लिखे प्रमाणे (यो मे दण्डः०) इस मन्त्र से दण्ड धारण करके आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करे।

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम्॥ १॥*

प्राजापत्यामिति—सर्ववेदस होम वह होता है जो संन्यास ग्रहण करने से पूर्व किया जाता है। इस अवसर पर व्यक्ति अपनी अधिकृत चलाचल समस्त सम्पत्ति का त्याग कर देता है, अथवा उपयुक्त अधिकारियों को दान कर देता है। सर्ववेदस होम को गृहस्थ व्यक्ति भी अपने आश्रम के अन्तराल काल में कर लिया करते हैं। कठोपनिषद् के प्रारम्भ में नचिकेता के पिता के द्वारा तथा कालिदासकृत रघुवंश के पञ्चम सर्ग की प्रारम्भिक कथा में इसके संकेत मिलते हैं। शतपथब्राह्मण में उल्लेख है—

'सोऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीति होवाच। प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति। .....उक्तानुशासनासि मैत्रेय एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज।' —शत० १४।७।३।१, २५॥

एक बार अपने चालू जीवन से भिन्न जीवनचर्या को स्वीकार करने की भावना से याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को पुकारा और कहा—मैं अब इस स्थान से प्रवृज्या लेनेवाला हूँ। मैं चाहता हूँ कि अब तुम कात्यायनी के साथ रहो। मैत्रेयी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए कहा—जिस अमृतपद को प्राप्त करने के लिए आप अपने चालू जीवन में परिवर्त्तन कर रहे हैं, मैं भी उसका अनुसरण क्यों न करूँ? मुझे उसी मार्ग का उपदेश दीजिए। याज्ञवल्क्य ने तब विस्तार से आत्मज्ञान के उपायों का वर्णन किया। अन्त में याज्ञवल्क्य ने कहा—मैत्रेयि! पूर्ण उपदेश कर दिया गया है, यही अमृतपद का स्वरूप है। इतना कहकर याज्ञवल्क्य ने प्रव्रज्या को स्वीकार किया, अर्थात् परिव्राजक हो गये।

जब मोक्षकाम व्यक्ति को सांसारिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब कर्मानुष्ठान के लिए आधान की गई आह्वनीय आदि अग्नियों के समारोपण की कल्पना का तात्पर्य

---

* (यः) जो पुरुष (प्रत्यक्षम्) साक्षात्कारता से (ब्रह्म) परमात्मा को (विद्यात्) जाने, (यस्य) जिसके (परूंषि) कठोर स्वभाव आदि (संभाराः) होम करने के साकल्य, और (यस्य) जिसके (ऋचः) यथार्थ सत्यभाषण, सत्योपदेश और ऋग्वेद ही (अनूक्यम्) अनुकूलता से कहने के योग्य वचन है, वही संन्यास ग्रहण करे॥१॥

---

१. मनु० ६।३८॥

सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑नि॒ यजु॒र्हृद॑यमु॒च्यते॑ परि॒स्तर॑ण॒मिद्ध॒विः ॥ २ ॥[1]

यद्वा अति॑थिपति॒रति॑थीन् प्रति॒ पश्य॑ति देव॒यज॑नं॒ प्रेक्ष॑ते ॥ ३ ॥[2]

है—तब बाह्य अग्नि में फलोत्पादक समस्त कर्मानुष्ठानों का परित्याग तथा केवल आत्मज्ञान-सम्बन्धी अनुष्ठानों का सम्पन्न किया जाना। यह आत्मा में अग्नियों के समारोपण का विधान संन्यास ग्रहण करने के लिए होता है। जब इस प्रकार संन्यास आश्रम का ग्रहण करना सिद्ध है तो अपवर्ग का होना स्वतः सिद्ध होता है, क्योंकि संन्यासग्रहण उसी की प्राप्ति के लिए किया जाता है। वैदिक साहित्य में बताया गया है कि प्राजापत्य इष्टि का सम्पादन कर उसमें सर्ववेदस होम करने के अनन्तर कर्मकाण्ड साधक आह्वनीय आदि अग्नियों का आत्मा में समारोपण कर तीव्र वैराग्ययुक्त व्यक्ति संन्यास ग्रहण करले।

न्यायदर्शन के ४।१।६१ सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने लिखा है—**'प्राजापत्यां निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति श्रूयते, तेन विजानीमः प्रजावित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलार्थित्वे समारोपणं विधीयते।'**अर्थात् ब्राह्मण में आता है कि **'प्राजापत्यां.........प्रव्रजेत्।'** इससे हम जानते हैं कि सन्तान, धन तथा मान की एषणाओं से ऊपर उठे हुए और जिसको फल की आकांक्षा भी नहीं रही, ऐसे के लिए समारोपण का विधान है।

बौधायनधर्मसूत्र २।१०।१८।८ में कहा है—**'तस्य प्राणो गार्हपत्योऽपानोऽन्वाहार्यपचनो व्यान आहवनीय उदानसमानो सभ्यावसथ्यौ',** अर्थात् संन्यास का प्राण गार्हपत्य अग्नि, अपान अन्वाहार्यपचन अग्नि, व्यान आह्वनीय अग्नि, उदान सभ्य अग्नि और समान आवसथ्य अग्नि है। ऐसे प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से मुक्त हो जाते हैं और कर्मफलों की कामना से दूर हो जाते हैं, उन्हीं व्यक्तियों के आत्मा में अग्नि स्थापना की कल्पना का विधान है।

इस श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

'संन्यासी परमेश्वर देवतावाली इष्टि को करके, हृदय में यह सब-कुछ निश्चय करके, उस इष्टि (सर्ववेदस) में शिखा-सूत्र आदि का होम करके, मनस्वी होकर संन्यास ग्रहण करता है, परन्तु यह संन्यास का अधिकार उन्हीं को है जो पूर्ण विद्वान्, राग-द्वेषरहित तथा सब मनुष्यों पर उपकार की बुद्धि रखते हैं। यह अधिकार अल्पविद्यावालों को नहीं है। संन्यासियों का प्राणायाम होम, दोषों से मन तथा इन्द्रियों को रोकना तथा सत्यधर्म का अनुष्ठान ही अग्निहोत्र है, किन्तु पहले तीन आश्रमियों

---

१. (यस्य) जिसके (सामानि) सामवेद (लोमानि) लोम के समान, (यजुः) यजुर्वेद जिसके (हृदयम्) हृदय के समान (उच्यते) कहा जाता है, (परिस्तरणम्) जो सब ओर से शास्त्र, आसन आदि सामग्री (हविरित्) होम करने योग्य के समान है, वह संन्यास ग्रहण करने में योग्य होता है॥२॥ **—द०स०**

२. (वा) वा (यत्) जो (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालन करनेहारा (अतिथीन्) अतिथियों के प्रति (प्रतिपश्यति) देखता है, वही विद्वान् संन्यासियों में (देवयजनम्) विद्वानों के यजन करने के समान (प्रेक्षते) ज्ञानदृष्टि से देखता और संन्यास लेने का अधिकारी होता है॥३॥ **—द०स०**

यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचन्त्यपः प्र णयति ॥ ४ ॥[1]
या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥[2]

के अनुष्ठान करने योग्य जो कुछ भी है, चाहे वह क्रियामय न भी हो वह सब-कुछ संन्यासियों के लिए नहीं है। सत्योपदेश ही संन्यासियों का ब्रह्मयज्ञ है, ब्रह्म की उपासना करना देवयज्ञ है, विज्ञानियों की प्रतिष्ठा करना पितृयज्ञ है, अज्ञानियों को ज्ञान देना तथा सब प्राणियों पर उपकार करना, उनपर कृपा करना तथा उन्हें पीड़ा न देना ही भूतयज्ञ है और सब मनुष्यों के उपकारार्थ भ्रमण करना, निरभिमानता, सत्योपदेश करने से सब मनुष्यों का सत्कार करना अतिथियज्ञ है। संन्यासियों के लिए इस प्रकार के विज्ञान और धर्मानुष्ठानवाले ही पाँच महायज्ञ होते हैं, ऐसा जानना चाहिए, परन्तु विशेषता यह है कि एक अद्वितीय, सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त परब्रह्म की उपासना तथा सत्यधर्म का अनुष्ठान करना—यह सब आश्रमियों में समान हैं।

सूत्र, शिखा, सन्ध्या, अग्निहोत्र कोई भी बन्धन संन्यासी के लिए नहीं रहता, किन्तु क्यों? इसका उत्तर उपनिषदों में मिलता है। वहाँ लिखा है—

सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेत् बुधः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत् सूत्रमिति धारयेत्॥
बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः। ब्रह्म भावमयं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः॥
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतश्च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः॥
निरोद्धका ध्यानं सन्ध्या वाक्कायक्लेशवर्जिता। सन्धिनी सर्वभूतानां सा सन्ध्या ह्येक दण्डिनाम्॥

संन्यासी को शिखासहित यज्ञोपवीत का सूत्र त्याग देने का आदेश क्यों है? इसलिए कि जिसे परमात्मा का सामीप्य सर्वकालों में प्राप्त तथा ज्ञात है, जिसके रोम-रोम में ओ३म् रमा है उसके लिए स्मरण करानेवाले किसी चिह्न की आवश्यकता नहीं। जिसका शरीर तो क्या, मन और आत्मा भी पवित्र हो गया हो और जिसके ब्रह्मरन्ध्र में ज्ञान का चक्र चल रहा हो, उसे सूत के धागों और बालों के चिह्न से सहायता लेने की क्या आवश्यकता है? और जो प्रतिक्षण ब्रह्म के ध्यान में निमग्न रहनेवाला हो, उसे कालविशेष में ध्यान लगाने की आवश्यकता कयों हो? और योगयुक्त संन्यासी को अग्निहोत्र का बन्धन कैसे बाँध सकता है?

क्या आजकल के संन्यासी इस कसौटी पर खरे उतर सकते हैं? जो संसारी जीवों से भी बढ़कर धनोपार्जन में लगे हुए हों, जो राग-द्वेष में फँसे हों, जो अज्ञान की निद्रा के वशीभूत होकर विषय भोग में आनन्द का अनुभव करते हों और जिनके मन और आत्मा तो दूर, शरीर भी शुद्ध न हो, क्या उनको शिखा, सूत्र, अग्निहोत्र आदि के बन्धनों का त्याग करने का अधिकार है? ऐसे लोगों के विषय में गोस्वामी तुलसीदास लिख गये हैं कि—

परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हर्ष विषाद बसरे।
हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से॥

---

१. और (यत्) जो संन्यासी (अभिवदति) दूसरे के साथ संवाद वा दूसरे को अभिवादन करता है, वह जानो (दीक्षाम्) दीक्षा को (उपैति) प्राप्त होता है। (यत्) जो (उदकम्) जल की (याचति) याचना करता है, वह जानो (अपः) प्रणीता आदि में जल को (प्रणयति) डालता है॥४॥ —**द०स०**

२. (यज्ञे) यज्ञ में (याः एव) जिन्हीं (आपः) जलों का (प्रणीयन्ते) प्रयोग किया जाता है, (ताः एव) वे ही (ताः) पात्र में रक्खे जल संन्यासी की यज्ञस्थ जलक्रिया है॥५॥ —**द०स०**

यदा॑वस॒थान् क॒ल्पय॑न्ति सदोहविर्धा॒नान्ये॒व तत्क॑ल्पयन्ति ॥ ६ ॥[1]
यदु॑पस्तृ॒णन्ति॑ ब॒र्हिरे॒व तत् ॥ ७ ॥[2]

परन्तु इस स्थिति के लिए उन्हीं को दोषी ठहराना ठीक नहीं होगा। मनुजी ने लिखा है—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

जब पाँच सहस्र वर्षों से गिरते-गिरते गृहस्थाश्रमरूपी सागर की दुर्दशा हो गई तब तीनों प्रकार की एषणाओं से मुक्त न होते हुए भी आजकल के संन्यासवेषधारी लोग धर्म की जो कुछ भी सेवा कर रहे हैं, वह भी थोड़ी नहीं है।

यो दत्वा—संन्यासी में सब प्राणियों के प्रति निर्वैरता होती है, इस कारण वह सबको अभयदान देता है। ब्राह्मणग्रन्थों में अभयदान की प्रतिज्ञा पुत्रैषणा आदि के परित्याग के समान ही संन्यास की दीक्षा का अंग है—

'पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता। मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु'। —शत० १४।६।४।१ ॥

संसार में सन्तान, धन और यश की प्राप्ति ये तीन इच्छाएँ प्रधान हैं। इन्हीं के वशीभूत होकर व्यक्ति ईर्ष्या-द्वेष आदि में फँसता है। इनसे मुक्त होकर ही वह संन्यासी बनता है। तब उससे किसी प्राणी को भय नहीं होता और उसे भी भय नहीं होता, क्योंकि—

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'। —योगसूत्र २।३५ ॥

'ब्रह्मवादी संन्यासी के लिए प्रकाशमय, अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है'—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' छान्दोग्य प्रपाठक २, खण्ड २३, मन्त्र १ के इस वचन को ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उद्धृत करके लिखा है—('ब्रह्मसंस्थः) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः संन्यासी (अमृतत्वम्) मोक्षं (एति) प्राप्नोति'।

सब आश्रमी, विशेषकर संन्यासी, सबके स्वामी परमेश्वर को वेद के अध्ययन, श्रवण तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करने से जानना चाहते हैं—यही 'ब्रह्मसंस्थ' होना है, क्योंकि 'ब्रह्म' पद ईश्वर और वेद दोनों का वाचक है। ब्रह्मचर्य, तप अर्थात् धर्मानुष्ठान, श्रद्धा अर्थात् प्रेम, यज्ञ अर्थात् नाशरहित विज्ञान या धर्म के क्रियाकाण्ड के द्वारा उस परमेश्वर को जानकर ही मुनि होता है। संन्यासी इस यथोक्त परमेश्वर को ही चाहते हुए संन्यास आश्रम को ग्रहण करते हैं। जो इस ब्रह्म की इच्छा करते हुए अत्युत्तम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ विद्वान् तथा दूसरों की शङ्का निवारण करनेवाले मनुष्य गृहाश्रम की इच्छा नहीं रखते, वे ही ज्ञानप्रकाशयुक्त यह कहते हैं कि हमें प्रजा से कुछ भी प्रयोजन नहीं, क्योंकि हमें तो परमेश्वर को पाना है।

संन्यासी के लिए सकाम कर्मों में प्रवृत्त होना निषिद्ध है। तृतीय समुल्लास के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने स्वरचित श्लोक में कहा है—**'संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्म-**

---

१. संन्यासी (यत्) जो (आवसथान्) निवास का स्थान (कल्पयन्ति) कल्पना करते हैं, वे (सदः) यज्ञशाला (हविर्धानान्येव) हविष् के स्थापन करने के ही पात्र (तत्) वे (कल्पयन्ति) समर्थित करते हैं ॥ ६ ॥ **—द०स०**

२. और (यत्) जो संन्यासी लोग (उपस्तृणन्ति) बिछौने आदि करते हैं, (बर्हिरेव तत्) वह कुशपिंजूली के समान है ॥ ७ ॥ **—द०स०**

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति॥ ८॥[1]
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण॥ ९॥[2]

परोपकाराः'—जो संसारीजनों के दुःखों को दूर करने से सुभूषित हैं, वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में तत्पर रहते हैं, वे नर धन्य हैं। वेद के अनुसार तो '**अकर्मा दस्युः**' जो निष्क्रिय है वह दस्यु है और समाज पर भाररूप है। आगे एकादश समुल्लास में लिखा है—"धर्म की प्रवृत्ति विशेष हो और जनहित करने में आवे, इसलिए यह संन्यास आश्रम है।" संन्यासी के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने अनेकत्र उनके परोपकार में प्रवृत्त रहने का निर्देश किया है—

"संन्यासी को उचित है कि सारे जगत् में घूमे और सदुपदेश करे, यही उसका मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। पंचाशिख और शंकराचार्य का जीवन देखो। उन्होंने सदा सदुपदेश ही किये हैं।"

"उपदेश कर अधर्म की निवृत्ति करना यह संन्यासियों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है।.......मूढ़ लोग जनपद में दुराचार करके किसी आपत्ति में पड़ेंगे, सो उन्हें सदाचरण की ओर लगाना, यही चतुर्थाश्रमधारी ज्ञानी पुरुष का मुख्य काम है।"

पूना में प्रवचन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा था—'संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थ आदि आश्रमों को सब प्रकार से व्यवहारों का सत्य निश्चय करा, अधर्म व्यवहारों को छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर सत्यधर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें। ....संसार को एक ओर रखके अध्ययन, उपदेश और लोक-कल्याण करने में जो सम्पूर्ण समय लगाया जावे, वह संन्यास है। गृहस्थियों को इन सब कार्यों को करने का समय नहीं मिलता और संन्यासियों को अवकाश बहुत मिलता है, बस यही मुख्य भेद है।"

"जो संन्यासी विद्याहीन, दण्ड-कमण्डलु ले भिक्षामात्र करते फिरते हैं, ज़ो कुछ भी वेदमार्ग की उन्नति नहीं करते, छोटी अवस्था में संन्यास लेकर घूमा करते हैं और विद्याभ्यास को छोड़ देते हैं, वे संन्यासी इधर-उधर, जल-स्थल, पाषाण आदि मूर्त्तियों का दर्शन-पूजन करते फिरते या विद्या जानकर भी मौन रहते, एकान्त देश में यथेष्ट खा-पीकर सोते पड़े रहते हैं और ईर्ष्या-द्वेष में फँसकर निन्दा-कुचेष्टा करके निर्वाह करते, काषाय वस्त्र और दण्ड-ग्रहणमात्र से अपने को कृतकृत्य समझते और सर्वोत्कृष्ट जानकर उत्तम कर्म नहीं करते, वैसे संन्यासी भी जगत् में व्यर्थ वास करते हैं और जो सब जगत् का हित साधते हैं, वे ठीक हैं।" —श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ २१३॥

सन् १८७८ में प्रयाग में कुम्भ मेले में निष्क्रिय साधुओं को देखकर ग्रन्थकार ने कहा था—"परोपकार के बिना नर-जीवन मृग-जीवन से उच्च नहीं है। सैकड़ों साम्प्रदायिक साधु लोग इस

---

१. और जो (तेषाम्) उन (आसन्नानाम्) समीप बैठनेहारों के निकट बैठा हुआ (अतिथिः) जिसकी कोई नियत तिथि न हो, वह भोजनादि करता है, वह (आत्मन्) जानो वेदीस्थ अग्नि में होम करने के समान आत्मा में (जुहोति) आहुतियाँ देता है॥ ८॥ **—द०स०**

२. और जो संन्यासी (हस्तेन) हाथ से खाता है वह जानो (स्रुचाः) चमसा आदि से वेदी में आहुति देता है। जैसा (यूपे) स्तम्भे में अनेक प्रकार के पशु आदि को बाँधते हैं, वैसे वह संन्यासी (स्रुक्कारेण) स्रुचा के समान (वषट्कारेण) होमक्रिया के तुल्य (प्राणे) प्राण में मन और इन्द्रियों को बाँधता है॥ ९॥ **—द०स०**

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः॥ १०॥[1]

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति॥ ११॥[2]

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति॥ १२॥[3]

मेले में आये हुए हैं। ये गृहस्थों का नित्य आठ आने का पदार्थ खाकर जंगल में पड़े रहते हैं। सोचिए तो सही, इनमें और मृगों में भेद ही क्या है? मृग भी तो इसी प्रकार किसानों के खेत नोचकर वनों में घुस जाया करते हैं। इस जीवन का लाभ ही क्या है? यह तो पशु-पक्षियों को सहज ही उपलब्ध है।''

उसी वर्ष अमृतसर में उन्होंने निर्मले साधुओं से कहा था—''सहस्रों भारतवासी पेट-भर अन्न नहीं पाते, दाने-दाने के लिए तरसते हैं। भूख के मारे कुत्ते-बिल्ली की मौत मरते रहते हैं। देश की ऐसी शोचनीय दशा में धड़ाधड़ लोहेशाही और तूंबेशाही की क्या आवश्यकता है? इस समय तो प्रत्येक को परिश्रम करके आजीविका चलानी चाहिए।'' —श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ ३५६॥

हिक्कां रक्तरुजां जूर्तिविषं विस्फोटकं वामिम्। अग्निदग्धव्रणं चार्शं रक्तपित्तं च नाशयेत्॥

—शालिग्रामनिघण्टुभूषण, पृष्ठं ७३१॥

पीला गेरू स्निग्ध, मधुर, कसैला, नेत्रों को हितकारी, शीतल, बलकारक, व्रणरोपणकर्त्ता, विशद, कान्तिजनक तथा दाह, पित्त, कफ़, रक्तविकार, ज्वर, विष, विस्फोटक, वमन, अग्निदाह, व्रण, बवासीर और रक्तपित्त को हरनेवाला है।

गेरू की दो जातियाँ हैं—पीली और लाल। इनमें से पीले गेरू के गुण ऊपर दिये हैं।

गैरिकं द्वितीयं स्निग्धं मधुरं तुवरं मतम्। चाक्षुष्यं दाहपित्तासृक्कफहिक्काविषापहम्॥

दूसरे प्रकार का लाल गेरू स्निग्ध, मधुर, कसैला, नेत्रों को हितकारी तथा दाह, पित्त, कफ़, हिचकी और विष का हरनेवाला है।

स्पष्ट है, दोनों ही वस्तुओं—कुसुम्भ व गेरू का प्रयोग अनेक रोगों से बचाता है।

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण 'ही' का धर्म है या क्षत्रियादि का 'भी'?

उत्तर—ब्राह्मण ही को अधिकार है।

और साथ ही अपने मत के पक्ष में हेतु दे दिया—''क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकारप्रिय मनुष्य है, उसी का 'ब्राह्मण' नाम है।

---

१. (एते वै) ये ही (ऋत्विजः) समय-समय में प्राप्त होनेवाले (प्रियाः च अप्रियाः च) प्रिय और अप्रिय भी संन्यासी जन (यत्) जिस कारण (अतिथयः) अतिथिरूप हैं, इससे गृहस्थ को (स्वर्गं लोकम्) दर्शनीय अत्यन्त सुख को (गमयन्ति) प्राप्त कराते हैं॥ १०॥ —द०स०

२. (एतस्य) इस संन्यासी का (प्राजापत्यः) प्रजापति परमात्मा को जानने का आश्रमधर्मानुष्ठान रूप (यज्ञः) अच्छे प्रकार करने योग्य यतिधर्म (विततः) व्यापक है, अर्थात् (यः) जो इसको सर्वोपरि (उपहरति) स्वीकार करता है, (वै) वही संन्यासी होता है॥ ११॥ —द०स०

३. (यः) जो (एषः) यह संन्यासी (प्रजापतेः) परमेश्वर के जाननेरूप संन्यासाश्रम के (विक्रमान्) सत्याचारों की (अनुविक्रमते) अनुकूलता से क्रिया करता है, (वै) वही सब शुभगुणों का (अपहरति) स्वीकार करता है॥ १२॥ —द०स०

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥[1]

यही मत ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में व्यक्त किया है—"परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां मनुष्यपरोपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारे भवति।" संन्यासी का मुख्य कर्त्तव्य अध्यापन व उपदेश करना है। जो विद्वान् नहीं, वह न अध्यापन कर सकता है, न उपदेश। इसलिए उन्होंने 'पूर्णविद्यावताम्' के साथ 'नाल्पविद्यावताम्' का निर्देश भी आवश्यक समझा

अनग्निः—पूना में किये गये चौथे प्रवचन में ग्रन्थकार ने कहा था—"संन्यासी को आग न छूना चाहिए, ऐसा भी कहते हैं, परन्तु मरने तक ये अपने जठराग्नि को कैसे छोड़ेगें? क्योंकि वह तो उनमें बना ही रहेगा। आधुनिक 'विश्वेश्वरपद्धति' नामक ग्रन्थ से यह सब पाखण्ड फैला है।"

अज्ञानी लोग संन्यासियों के शव को धरती में समाधिस्थ कर देते हैं, अथवा जल में प्रवाहित कर देते हैं। **'भस्मान्तꣳ शरीरम्'** (यजुर्वेद) के अनुसार शव को (चाहे वह किसी का हो) चिता में भस्म करना ही शास्त्रानुमोदित तथा विज्ञानसम्मत है।

अनिकेतः—आत्मजिज्ञासु संन्यासी के लिए किसी स्थानविशेष को अपना मानना उसमें मोह का उत्पादक बन जाता है। उसे तो जहाँ स्थान मिले वहीं निवास कर लेना चाहिए। सांख्यदर्शन का एक सूत्र है—**'अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत्'** (सां० ४।१२)। साँप अपने रहने के लिए कोई स्थान नहीं बनाता। घूमता-फिरता रहता है। जहाँ अवसर पाता है, वहीं दूसरे के बनाये स्थान (बिल) में घुसपैठ कर अपना नियत समय निकाल देता है। अपने लिए मकान, मठ, मन्दिर और मत खड़ा करने की प्रवृत्ति संन्यासी को संसारी के स्थान पर ला-पटकती है। फिर संन्यासी में और संसारी में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

कुसुम्भवान्—संन्यासी कुसुम्भ के रंगे हुए वस्त्र धारण करे (गेरू के रंगे—ग्रन्थकार)। इसका प्रत्यक्ष लाभ तो यह है कि इससे संन्यासी की स्पष्ट पहचान बनती है। गेरुए रंग में रक्त को शान्त करने और खुजली आदि को दूर करने की शक्ति होती है। इस विषय में आयुर्वेद का मत है कि—

कुसुम्भं वातलं कृच्छ्रकृमिपित्तकफापहम्। —भावप्रकाश

कुसुम्भ वातकर्त्ता तथा मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त और कफ़नाशक है।

सुवर्णगैरिकं स्निग्धं मधुरं तुवरं मतम्। चाक्षुष्यं शीतलं बल्यं व्रणरोपणकारकम्॥

विशदं कान्तिकृत्प्रोक्तं दाहं पित्तं कफं जयेत्।

ब्राह्मणः प्रव्रजेत्—विद्वान् ब्राह्मण संन्यास ले। सत्यार्थप्रकाश के पाँचवें समुल्लास में इस विषय का विवेचन करते हुए इस प्रकार लिखा है—

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है, वा क्षत्रियादि का भी?

---

१. (यः) जो (अतिथीनाम्) अतिथि, अर्थात् उत्तम संन्यासियों का सङ्ग है, (सः) वह संन्यासी के लिए (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि, अर्थात् जिसमें ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी होम करता है और (यः) जो संन्यासी का (वेश्मनि) घर में, अर्थात् स्थान में निवास है, (सः) वह उसके लिए (गार्हपत्यः) गृहस्थ सम्बन्धी अग्नि है और संन्यासी (यस्मिन्) जिस जाठराग्नि में अन्नादि को (पचन्ति) पकाते हैं, (स;) वह (दक्षिणाग्निः) वानप्रस्थ-सम्बन्धी अग्नि है। इस प्रकार आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करे॥ १३ ॥ —द०स०

इ॒ष्टं च॒ वा ए॒ष पू॒र्तं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ १४॥*—अथर्व० का० ९। सू० ६॥[१]

उत्तर—ब्राह्मण ही को अधिकार है, क्योंकि जो वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकारप्रिय मनुष्य है, उसी का नाम 'ब्राह्मण' है। बिना पूर्ण विद्या के धर्म, परमेश्वर की निष्ठा, और बिना वैराग्य के संन्यास गृहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसलिए लोकश्रुति है कि ब्राह्मण ही को संन्यास का अधिकार है, अन्य को नहीं। इस विषय में मनु का प्रमाण भी है—

एषो वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः। पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मं निबोधत॥

—मनु० ६।९७॥

मनुजी महाराज कहते हैं—''हे ऋषियो! यह चार प्रकार, अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है। यह वर्त्तमान में पुण्यस्वरूप और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यास धर्म है। इसके आगे राजाओं का धर्म मुझसे सुनो।''

इससे यह सिद्ध हुआ कि संन्यास ग्रहण का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है और क्षत्रिय आदि का ब्रह्मचर्याश्रमादि का है।

एष वोऽभिहितः—किन्हीं विद्वानों की मान्मता है कि मनु के इस श्लोक में 'ब्राह्मण' पद का द्विजमात्र के उपलक्षणरूप में प्रयोग हुआ है, क्योंकि इससे पूर्व ब्राह्मण वर्ण के साथ-साथ द्विजों के चारों आश्रमों के धर्मों का उल्लेख हो चुका है। इसलिए 'ब्राह्मण' शब्द से क्षत्रिय और वैश्य का भी ग्रहण होता है और सभी को समानरूप से संन्यास ग्रहण करने का अधिकार स्वतः प्राप्त है। यह ठीक है कि अनेक स्थानों पर द्विज, विप्र आदि शब्दों का ब्राह्मण के पर्यायवाचीरूप में प्रयोग हुआ है, किन्तु वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत सभी वर्णों के पृथक्-पृथक् धर्मों=कर्त्तव्यों का पृथक्-पृथक् उल्लेख होने से गुण-कर्म-स्वभाव के अधार पर प्रत्येक की अपनी-अपनी पहचान है। समाज का मुखिया कौन है? वेद का उत्तर है—**'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'**। अथर्ववेद ने इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा—**'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः'** (अथर्व० ५।९)—ब्राह्मण ही, न क्षत्रिय और न वैश्य। भगवान् मनु कहते हैं—'ब्राह्मणस्य चतुर्विधः धर्मः अभिहितः' और आगे 'राजधर्मं निबोधत'—ब्राह्मण का चतुर्विध धर्म बता चुके, अब राजा (क्षत्रिय) का सुनो। ब्राह्मणेतर का 'त्रिविधः धर्मः' है। ब्राह्मण का चतुर्विध इसलिए कहा, क्योंकि चारों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास पर उसी का अधिकार है। शेष वानप्रस्थ से आगे नहीं जा सकते। ग्रन्थकार ने 'ही' और 'भी' के साथ प्रश्न करके और उत्तर में 'ही' का प्रयोग करके बिल्कुल असन्दिग्ध शब्दों में अपनी बात कह दी।

---

* (यः) जो गृहस्थ (अतिथेः) संन्यासी से (पूर्वः) प्रथम (अश्नाति) भोजन करता है, (एषः) यह जानो (गृहाणाम्) गृहस्थों के (इष्टम्) इष्ट सुख (च) और उसकी सामग्री, (पूर्त्तम्) तथा जो ऐश्वर्यादि की पूर्णता (च) और उसके साधनों का (वै) निश्चय करके (अश्नाति) भक्षण, अर्थात् नाश करता है। इसलिए जिस गृहस्थ के समीप अतिथि उपस्थित होवे, उसको पूर्व जिमाकर पश्चात् भोजन करना अत्युचित है॥१४॥ **—द०स०**

---

१. मन्त्र १-५, ७, ८, २१-२३, २८-३१॥

*** [1]तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत्। यावद् ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानम्। यद्रमते तदुपसदो यत्सञ्चरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखम् तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति तत्समिधं यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च तानि सवनानि। ये अहोरात्रे ते दर्शपौर्णमासौ येऽर्द्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणाः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथः। एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रं य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वादित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत्॥**

—तैत्ति० आ० प्रपा १०। अनु० ६४॥

---

* इसके आगे तैत्तिरीय आरण्यक का अर्थ करते हैं—(एवम्) इस प्रकार संन्यास ग्रहण किये हुए (तस्य) उस (विदुषः) विद्वान्, संन्यासी के संन्यासाश्रमरूप (यज्ञस्य) अच्छे प्रकार अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ का (यजमानः) पति (आत्मा) स्वस्वरूप है और जो ईश्वर, वेद और सत्य धर्माचरण, परोपकार में (श्रद्धा) सत्य का धारणरूप दृढ़ प्रीति है, वह उसकी (पत्नी) स्त्री है और जो संन्यासी का (शरीरम्) शरीर है, वह (इध्मम्) यज्ञ के लिए ईंधन है और जो उसका (उरः) वक्षःस्थल है, वह (वेदिः) कुण्ड और जो उसके शरीर पर (लोमानि) रोम हैं, वे (बर्हिः) कुशा है और जो (वेदः) वेद और उनका शब्दार्थ-सम्बन्ध जानकर आचरण करना है, वह संन्यासी की (शिखा) चोटी है, और जो संन्यासी का (हृदयम्) हृदय है, वह (यूपः) यज्ञ का स्तम्भ है, और जो इसके शरीर में (कामः) काम है, वह (आज्यम्) ज्ञान-अग्नि में होम करने का पदार्थ है, और जो (मन्युः) संन्यासी में क्रोध है, वह (पशुः) निवृत्त करने, अर्थात् शरीर के मलवत् छोड़ने के योग्य है, और जो संन्यासी (तपः) सत्यधर्मानुष्ठान, प्राणायामादि योगाभ्यास करता है, वह (अग्निः) जानो वेदी का अग्नि है। जो संन्यासी (दमः) अधर्माचरण से इन्द्रियों को रोकके धर्माचरण में स्थिर रखके चलाता है, वह (शमयिता) जानो दुष्टों को दण्ड देनेवाला सभ्य है, और जो संन्यासी की (वाक्) सत्योपदेश करने के लिए वाणी है, वह जानो सब मनुष्यों को (दक्षिणा) अभयदान देना है। जो संन्यासी के शरीर में (प्राणः) प्राण है, वह (होता) होता के समान, जो (चक्षुः) चक्षु है, वह (उद्गाता) उद्गाता के तुल्य जो (मनः) मन है वह (अध्वर्युः) अध्वर्यु के समान। जो (श्रोत्रम्) श्रोत्र है, वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा और (अग्नीत्) अग्नि लानेवाले के तुल्य। (यावत् ध्रियते) जितना कुछ संन्यासी धारण करता है, (सा) वह (दीक्षा) दीक्षा-ग्रहण और (यत्) जो संन्यासी (अश्नाति) खाता है, (तद्धविः) वह घृतादि साकल्य के समान। (यत् पिबति) और जो वह जल, दुग्धादि पीता है, (तदस्य सोमपानम्) वह इसका सोमपान है, और (यद्रमते) वह जो इधर-उधर भ्रमण करता है,(तदुपसदः) वह उपसद—उपसामग्री। (यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च) जो वह गमन करता, बैठता और उठता है, (सः प्रवर्ग्यः) यह इसका प्रवर्ग्य है। (यन्मुखम्) जो इसका मुख है,

---

१. संस्करण २-१७ तक यह टिप्पणी का चिह्न 'वाग्घोता' पद से मिलता है। हमने इसे आदि में रखना उचित समझा है।

अथ संन्यासे पुनः प्रमाणानि—

*** न्यास इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम्। ब्रह्मा विश्वः कतमः स्वयम्भूः प्रजापतिः संवत्सर इति। संवत्सरोऽसावादित्यो यऽएष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा। याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः**

(तदाहवनीयः) वह संन्यासी का आहवनीय अग्नि के समान। (या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानम्) जो संन्यासी का व्याहृति का उच्चारण करना वा जो इसका विज्ञान आहुतिरूप है, (तज्जुहोति) वह जानो होम कर रहा है। (यत्सायं प्रातरत्ति) संन्यासी जो सायं और प्रातःकाल भोजन करता है, (तत्समिधम्) वे समिधा हैं। (यत्प्रातर्मध्यन्दिनꣳ सायं च) जो संन्यासी प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में कर्म करता है, (तानि सवनानि) वे तीन सवन। (ये अहोरात्रे) जो दिन और रात्रि हैं, (ते दर्शपौर्णमासौ) वे संन्यासी के पौर्णमासेष्टि और अमावास्येष्टि हैं। (येऽर्धमासाश्च मासाश्च) जो कृष्ण-शुक्लपक्ष और महीने हैं, (ते चातुर्मास्यानि) वे संन्यासी के चातुर्मास्य याग हैं। (य ऋतवः) जो वसन्तादि ऋतु हैं, (ते पशुबन्धाः) वे जानो संन्यासी के पशुबन्ध, अर्थात् ६ पशुओं का बाँध रखना है। (ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च) जो संवत्सर और परिवत्सर, अर्थात् शिखा-सूत्र, यज्ञोपवीत आदि पूर्वाश्रम चिह्नों का त्याग करना है, (एतत्सत्रम्) यह सबसे बड़ा यज्ञ है। (यन्मरणम्) जो संन्यासी का मृत्यु है, (तदवभृथः) वह यज्ञान्त स्नान है। (एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रꣳ सत्रम्) यही जरावस्था और मृत्युपर्यन्त, अर्थात् यावज्जीवन है तावत्सत्योपदेश, योगाभ्यासादि संन्यास के धर्म का अनुष्ठान अग्निहोत्ररूप बड़ा दीर्घ यज्ञ है। (य एवं विद्वानुदगयने०) जो इस प्रकार विद्वान् संन्यास लेकर विज्ञान, योगाभ्यास करके शरीर छोड़ता है, वह विद्वानों ही के महिमा को प्राप्त होकर स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा के संग को प्राप्त होता है, और जो योग, विज्ञान से रहित है, सो सांसारिक दक्षिणायनरूप व्यवहार में मृत्यु को प्राप्त होता है। वह पुनः पुनः माता-पिताओं ही के महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रलोक के समान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है, और जो इन दोनों के महिमाओं को विद्वान् ब्राह्मण, अर्थात् संन्यासी जीत लेता है, वह उससे परे परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर मुक्ति के समयपर्यन्त मोक्ष-सुख को भोगता है॥ —द०स०

* (न्यास इत्याहुर्मनीषिणः०) इस अनुवाक का अर्थ सुगम है। इसलिए भावार्थ कहते हैं— न्यास, अर्थात् जो संन्यास शब्द का अर्थ पूर्व कह आये उस रीति से जो संन्यासी होता है वह परमात्मा का उपासक है। वह परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त और पूर्ण है कि जिसके प्रताप से सूर्य तपता है। उस तपने से वर्षा, वर्षा से ओषधि, वनस्पति की उत्पत्ति, उनसे अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से बल, बल से तप, अर्थात् प्राणायाम, योगाभ्यास, उससे श्रद्धा=सत्यधारण में प्रीति, उससे बुद्धि, बुद्धि से विचारशक्ति, उससे ज्ञान, उससे विज्ञान और विज्ञान से आत्मा को संन्यासी जानता और जनाता है। इसलिए अन्नदान श्रेष्ठ, जिससे प्राण, बल, विज्ञानादि होते हैं। जो प्राणों का आत्मा, जिससे यह सर्वजगत् ओतप्रोत, व्याप्त हो रहा है, वह सब जगत् का कर्त्ता, वही पूर्वकल्प और उत्तरकल्प में भी जगत् को बनाता है। उसके जानने की इच्छा से उसको जानकर हे संन्यासिन्! तू पुनः मृत्यु को प्राप्त मत हो, किन्तु मुक्ति के पूर्ण सुख को प्राप्त हो। इसलिए सब तपों का तप सबसे पृथक् उत्तम संन्यास को कहते हैं। हे परमेश्वर! जो तू सबमें वास करता हुआ विभु है, तू प्राण का प्राण, सबका सन्धान करनेहारा, विश्व का स्रष्टा, धर्त्ता, सूर्यादि को तेज दाता है। तू ही अग्नि से तेजस्वी, तू ही विद्यादाता तू ही सूर्य का कर्त्ता, तू ही चन्द्रमा के प्रकाश का प्रकाशक है। वह सबसे बड़ा

पर्जन्यो पर्षति पर्जन्येनौषधिवनस्पतयः प्रजायन्त ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवत्यन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलं बलेन तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्तिः शान्त्या चित्तं चित्तेन स्मृतिꣳ स्मृत्या स्मारꣳ स्मारेण विज्ञानं विज्ञानेनात्मानं वेदयति तस्मादन्नं ददन्त्सर्वाण्येतानि ददात्यन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानाम्। प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः। स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावान्तरदिशश्च स वै सर्वमिदं जगत् स भूतꣳ स भव्यं जिज्ञासक्लृप्त ऋतजा रयिष्ठाः श्रद्धा सत्यो महस्वांस्तमसो वरिष्ठात्। ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो मृत्युमुपयाहि विद्वान्। तस्मात् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः। वसुरण्वो विभूरसि प्राणे त्वमसि संधाता ब्रह्मंस्त्वमसि विश्वसृत् तेजोदास्त्वमस्यग्नेरसि वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतोसि ब्रह्मणे त्वा महसे। ओमित्यात्मानं युञ्जीत। एतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यम्। य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत्॥

—तैत्ति० आ० प्रपा० १०। अनु० ६३॥

संन्यासी का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ १॥

—यजुः० अ० ३६। मं० १८॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा॥ २॥
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥ ३॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकऽ एकत्वमनुपश्यतः॥ ४॥

—यजुः० अ० ४०। मं० १६, ६, ७॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥ ५॥ —य० अ० ३२। मं० ११॥
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ६॥

—ऋ० म० १। सूक्त १६४। मं० ३९॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥ ७॥ कठवल्ली[1]॥

अर्थः—हे (दृते) सर्वदुःखविदारक परमात्मन्! तू (मा) मुझको संन्यासमार्ग में (दृंह) बढ़ा।

पूजनीय देव है। (ओम्) इस मन्त्र का मन से उच्चारण करके परमात्मा में आत्मा को युक्त करे। जो इस विद्वानों के ग्राह्य महोत्तम विद्या को उक्त प्रकार से जानता है, वह संन्यासी परमात्मा के महिमा को प्राप्त होकर आनन्द में रहता है। **—द०स०**

---

१. संस्करण १-१० तक यही पाठ है। संस्करण १२ से २१ तक 'कठवल्ली' के स्थान में 'श्वेताश्वतर' पाठ मिलता है। २२ वें संस्करण से 'मैत्रायणी उपनिषद्' पाठ छप रहा है। उपरि उद्धृत पाठ न तो कठ

हे सर्वमित्र! तू (मित्रस्य) सर्वसुहृद्, आप्त पुरुष की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझको सबका मित्र बना। जिससे (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणिमात्र मुझको मित्र की दृष्टि से (समीक्षन्ताम्) देखें और (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि भूतानि) सब जीवों को (समीक्षे) देखूँ। इस प्रकार आपकी कृपा और अपने पुरुषार्थ से हम लोग एक-दूसरे को (मित्रस्य चक्षुषा) सुहृद्भाव की दृष्टि से (समीक्षामहे) देखते रहें॥ १॥

हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप, सब दु:खों के दाहक, (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर! (विद्वान्) आप (राये) योग-विज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिए (सुपथा) वेदोक्त धर्ममार्ग से (अस्मान्) हमको (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) कृपा से प्राप्त कीजिए और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिल पक्षपातसहित (एनः) अपराध, पाप कर्म को (युयोधि) दूर रखिए और इस अधर्माचरण से हमको सदा दूर रखिए। इसीलिए (ते) आप ही की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार (नमउक्तिम्) नमस्कारपूर्वक प्रशंसा को नित्य (विधेम) किया करें॥ २॥

(यः) जो संन्यासी (तु) पुनः (आत्मन्नेव) आत्मा में, अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य (सर्वाणि भूतानि) सम्पूर्ण जीव और जगत्स्थ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से देखता है, (च) और (सर्वभूतेषु) सम्पूर्ण प्राणी-अप्राणियों में (आत्मानम्) परमात्मा को देखता है, (ततः) इस कारण वह किसी व्यवहार में (न विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वसाक्षी जानके अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणिमात्र को हानि-लाभ सुख-दु:खादि व्यवस्था में देखे, वही उत्तम संन्यासधर्म को प्राप्त होता है॥ ३॥

(विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त संन्यास में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणिमात्र को (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना, अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है, उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है, (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वमनुपश्यतः) आत्मा के एकभाव को देखनेवाले संन्यासी को (कः मोहः) कौन-सा मोह और (कः शोकः) कौन-सा शोक होता है? अर्थात् न उसको किसी से कभी मोह और न शोक होता है। इसलिए संन्यासी मोह-शोकादि दोषों से रहित होकर सदा सबका उपकार करता रहे॥ ४॥

इस प्रकार परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और धर्म में दृढ़ निष्ठा करके जो (भूतानि) सम्पूर्ण पृथिव्यादि भूतों में (परीत्य) व्याप्त (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों में (परीत्य) पूर्ण हो और (सर्वाः) सब (प्रदिशो दिशश्च) दिशा और उपदिशाओं में (परीत्य) व्यापक होके स्थित है, (ऋतस्य) सत्यकारण के योग से (प्रथमजाम्) सब महत्तत्त्वादि सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है, उस (आत्मानम्) परमात्मा को संन्यासी (आत्मना) स्वात्मा से (उपस्थाय) समीप स्थित होकर उसमें (अभिसंविवेश) प्रतिदिन समाधियोग से प्रवेश किया करे॥ ५॥

हे संन्यासी लोगो! (यस्मिन्) जिस (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) आकाशवत् व्यापक (अक्षरे) नाशरहित परमात्मा में (ऋचः) ऋग्वेदादि वेद और (विश्वे) सब (देवाः) पृथिव्यादि लोक और समस्त विद्वान् (अधिनिषेदुः) स्थित हुए और होते हैं, (यः) जो जन (तत्) उस व्यापक परमात्मा

उपनिषद् में है और न श्वेताश्वतर उपनिषद् में। मै० उ० प्र० ४।९ में 'भवेत्' के स्थान पर 'लभेत्' पाठ मिलता है। मैत्रायणी आ० ६।३४।९ में 'निर्धूत' के स्थान में 'निधौत' पाठ है। अक्षरशः पाठ 'भवसंतरणोपनिषद्' ३।३१ में उपलब्ध होता है।

को (न वेद) नहीं जानता वह (ऋचा) वेदादि शास्त्र पढ़ने से (किं करिष्यति) क्या सुख वा लाभ कर लेगा? अर्थात् विद्या के बिना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता और विद्या पढ़के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उसकी आज्ञा में चलता है वह मनुष्य-शरीर धारण करके निष्फल चला जाता है और (ये) जो विद्वान् लोग (तत्) उस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं। (ते इमे इत्) वे ये ही उस परमात्मा में (समासते) अच्छे प्रकार समाधियोग से स्थिर होते हैं॥ ६॥

(समाधिनिर्धूतमलस्य) समाधियोग से निर्मल (चेतसः) चित्त के सम्बन्ध से (आत्मनि) परमात्मा में (निवेशितस्य) निश्चल प्रवेश कराये हुए जीव को (यत्) जो (सुखम्) सुख (भवेत्) होवे, वह (गिरा) वाणी से (वर्णयितुम् न शक्यते) कहा नहीं जा सकता, क्योंकि (तदा) तब वह समाधि में स्वयं स्थित जीवात्मा (तत्) उस ब्रह्म को (अन्तःकरणेन) शुद्ध अन्तःकरण से (गृह्यते) ग्रहण करता है, वह वर्णन करने में पूर्णरीति से कभी नहीं आ सकता। इसलिए संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहे और उसकी आज्ञा, अर्थात् पक्षपात-रहित न्यायधर्म में स्थित होकर सत्योपदेश, सत्यविद्या के प्रचार से सब मनुष्यों को सुख पहुँचाता रहे॥ ७॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥ १॥[1]

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ २॥[2]

अर्थः—संन्यासी जगत् के सन्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है, वह प्रशंसित होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इसलिए चाहे निन्दा चाहे प्रशंसा, चाहे मान्य चाहे अपमान, चाहे जीना चाहे मृत्यु, चाहे हानि चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे चाहे वैर बाँधे, चाहे अन्न, पान, वस्त्र, उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत-उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सबका सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे। इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने। परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे। न वेदविरुद्ध कुछ माने। परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने। आप सदा परमेश्वर को अपना स्वामी माने और आप सेवक बना रहे। वैसा ही उपदेश अन्य को भी किया करे। जिस-जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूटकर प्रेम बढ़े, उस-उस का उपदेश करे।

जो वेद से विरुद्ध मत-मतान्तर के ग्रन्थ बायबल, कुरान, पुराण, मिथ्याभिलाप तथा काव्यालङ्कार[3] कि जिनके पढ़ने-सुनने से मनुष्य विषयी और पतित हो जाते हैं, उन सबका निषेध करता रहे। विद्वानों और परमेश्वर से भिन्न न किसी को देव तथा विद्या, योगाभ्यास, सत्सङ्ग और सत्यभाषणादि से भिन्न न किसी को तीर्थ और विद्वानों की मूर्त्तियों से भिन्न पाषाणादि मूर्त्तियों को न माने, न मनवावे। वैसे ही गृहस्थों को माता, पिता, आचार्य, अतिथि, स्त्री के लिए विवाहित पुरुष और पुरुष के लिए विवाहित स्त्री की मूर्ति से भिन्न किसी की मूर्त्ति को पूज्य न समझे, न समझावे, किन्तु वैदिक मत की उन्नति और वेदविरुद्ध पाखण्डमतों के खण्डन करने में सदा तत्पर रहे।

---

१. मनु० २।१६२॥ २. मनु० ४।२०४॥

३. जिन ग्रन्थों में अश्लील उदाहरण दिये हैं, उनका निषेध किया है।

वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा और तद्विरुद्ध ग्रन्थों वा मतों में अश्रद्धा किया-कराया करे। आप शुभ गुण-कर्म-स्वभावयुक्त होकर सबको इसी प्रकार के करने में प्रयत्न किया करे और जो पूर्वोक्त उपदेश लिखे हैं, उन-उन अपने संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य कर्मों को किया करे। खण्डनीय कर्मों का खण्डन करना कभी न छोड़े। आसुर, अर्थात् अपने को ईश्वर, ब्रह्म माननेवालों का भी यथावत् खण्डन करता रहे। परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव और न्याय आदि गुणों का प्रकाश करता रहे। इस प्रकार कर्म करता हुआ स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खे।

सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरता, (सत्यम्) सत्य बोलना, सत्य मानना, सत्य करना, (अस्तेयम्) मन-कर्म-वचन से अन्याय करके पर-पदार्थ का ग्रहण न करना चाहिए, न किसी को करने का उपदेश करे। (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय होकर अष्टविध मैथुन का त्याग रखके वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरञ्जीवी होकर सबका उपकार करता रहे। (अपरिग्रहः) अभिमानादि दोषरहित, किसी संसार के धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फँसे। इन पाँच यमों का सेवन सदा किया करे और इनके साथ पाँच नियम, अर्थात् (शौच) बाहर-भीतर से पवित्र रहना, (सन्तोष) पुरुषार्थ करते जाना और हानि-लाभ में प्रसन्न और अप्रसन्न न होना। (तपः) सदा पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म का सेवन प्राणायामादि, योगाभ्यास करना, (स्वाध्याय) सदा प्रणव का जप, अर्थात् मन में चिन्तन और उसके अर्थ ईश्वर का विचार करते रहना। (ईश्वरप्रणिधान), अर्थात् अपने आत्मा को वेदोक्त परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीता हुआ भोगकर शरीर छोड़के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं।

हे जगदीश्वर! सर्वशक्तिमन्, सर्वान्तर्यामिन्, दयालो, न्यायकारिन्, सच्चिदानन्द, अनन्त, नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, अजर, अमर, पवित्र, परमात्मन्! आप अपनी कृपा से संन्यासियों को पूर्वोक्त कर्मों में प्रवृत्त रखके परम-मुक्ति-सुख को प्राप्त कराते रहिए॥

॥ इति संन्याससंस्कारविधिः समाप्तः ॥

अथान्त्येष्टिकर्मविधिं वक्ष्यामः

'अन्त्येष्टि' कर्म उसको कहते हैं कि जो शरीर के अन्त का संस्कार है। जिसके आगे उस शरीर के लिए कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग, पुरुषयाग भी कहते हैं।

भस्मा॑न्त॒ꣳ शरी॑रम्। —यजुः० अ० ४०। मं० १५॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः॥ —मनु०[१]

अर्थः—शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्), अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है॥ १॥

प्राचीन आचार्यों ने संस्कार का लक्षण करते हुए लिखा है—**'संस्कारो गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयेन वा'**—संस्कार का अर्थ है—पदार्थ के दोषों को दूर कर गुणों का आधान करना। इन अर्थों में संस्कार शब्द का प्रयोग जड़-जगत् से लेकर चेतन-जगत् तक किया जा सकता है। जीवात्मयुक्त शरीर का नाम पुरुष है। शरीर का संस्कार तो नैत्यिक कर्मों के द्वारा प्रतिदिन हर समय होता रहता है। इसलिए संस्कार शब्द आत्मा में गुणों के आधान के लिए रूढ़ हो गया है। उसके लिए गर्भाधान से श्मशानान्त, अर्थात् मृत्यु के पश्चात् विधिवत् दाह करने पर्यन्त १६ संस्कारों के रूप में शतवर्षीय योजना प्रस्तुत की गई है। वस्तुतः मृत्यु के पश्चात् मृतक के प्रति हमारा कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता।

सुक़रात के मित्रों ने उससे पूछा—"Would you like to be buried or cremated?" तुम दफ़नाया जाना पसन्द करोगे या जलाया जाना? सुक़रात ने उत्तर दिया—"Just as you like, only if you can catch ME." जैसे तुम्हारी मर्ज़ी, यदि तुम 'मुझे' पकड़ सको।'' 'ME' या 'मुझे' से तो आत्मा का ग्रहण होता है और शरीर के छोड़ने के पश्चात् उसके अदृश्य एवं अग्राह्य होने से वह आत्मा तो पकड़ में आ नहीं सकता। फिर उसका 'संस्कार' कैसा? शव की दाहक्रिया तो हम मृतक के लिए न करके अपने लिए करते हैं—निर्जीव शरीर के सड़ने से उत्पन्न दुर्गन्धि तथा तज्जन्य रोगों से अपना बचाव करने के लिए। सम्भवतः इसीलिए ग्रन्थकार ने इसे 'अन्त्येष्टि संस्कार' का नाम न देकर 'अन्त्येष्टिकर्मविधि' लिखा है, किन्तु यह भी एक नियत विधि-विधान के अनुसार होता है और तदर्थ विनियुक्त वेदमन्त्रों के द्वारा होता है। इसलिए अन्त में इसे भी संस्कार नाम से अभिहित कर दिया—'इति मृतक-संस्कारविधिः समाप्तः'। अन्त में होनेवाली इष्टि (=यज्ञ) होने से इसे अन्त्येष्टि कहते हैं।

लकड़ियों के साथ पर्याप्त कुश और घृत का प्रयोग होना चाहिए। आयुर्वेद के मूलग्रन्थ चरक और सुश्रुत के अनुसार ये दोनों विषनाशक हैं। यहाँ घृत में दही मिलाने का अभिप्राय यह है कि अग्नि देने के पश्चात् आरम्भ में अग्नि इतनी प्रचण्ड न होने पाये कि प्रारम्भ में आस-पास बैठे लोग

---

१. मनु० २।१६॥

वहाँ न बैठे रह सकें।

शव को श्मशान ले-जाते समय मार्ग में लोग 'राम नाम सत्त (सत्य) है' बोलते चलते हैं। उस अवस्था में आर्यसमाजी क्या करें? चुपचाप दूर तक चलते रहना अच्छा नहीं लगता। इसलिए आर्य समाजियों ने गायत्रीमन्त्र या 'विश्वानि देव' इत्यादि अथवा आठों मन्त्रों का पाठ करते चलना शुरू कर दिया है, परन्तु इन मन्त्रों के इस निमित्त विनियुक्त न होने से वह उपयुक्त नहीं होगा। इसलिए **'भस्मान्तः शरीरम्'** का उच्चारण किये जाने पर विचार किया जा सकता है। विनियोग न होने पर भी इस मन्त्रांश के अर्थ को दृष्टि में रखते हुए यह अवसरोचित प्रतीत होता है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है। जब मृत्यु आएगी तो शरीर का प्राणवायु निकलकर विश्व के प्राण में विलीन हो जाएगा, क्योंकि विश्व की प्राणशक्ति ही शरीर में काम कर रही है। वायु उपलक्षण है। भाव यह है कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश नामक जिन तत्त्वों से शरीर का निर्माण हुआ है वे सभी अपने मूल में विलीन हो जाते हैं। विज्ञान का अटल नियम है कि कोई वस्तु तत्त्वतः नष्ट नहीं होती, रूपान्तरित होती है। शरीर तो भौतिक तत्त्वों से—परमाणुओं के संयोग से बना है। एक समय आता है जब इन परमाणुओं का वियोग होने से शरीर नष्ट हो जाता है, अर्थात् अपने कारण में लय हो जाता है, पर चेतना—आत्मा तो परमाणुओं के संयोग से नहीं बना। इसलिए पाँचभौतिक शरीर की तरह परमाणुओं में खण्ड-खण्ड होकर विलीन नहीं हो सकता। शरीर के न रहने पर भी वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है और एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। शरीर के रूपान्तरण को मृत्यु और आत्मा के रूपान्तरण को पुनर्जन्म कहते हैं।

मृतदेह का क्या किया जाए, इस विषय में संसार में अनेक प्रथाएँ प्रचलित हैं जिनका विवरण यहाँ हम श्री सत्यव्रत सिद्धान्तलंकार की पुस्तक 'संस्कार-चन्द्रिका' से उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करते हैं—

१. ईजिप्ट में मुर्दे को मम्मियों की तरह सुरक्षित रखना—अनेक जातियों में यह समझा जाता रहा है कि जब कोई मर जाता है तब उसका शरीर से सम्बन्ध सदा के लिए नहीं छूटता। शरीर के साथ उसका सम्बन्ध किसी अदृश्य तौर पर बना रहता है। अगर मृत-आत्मा इस लोक को छोड़कर किसी अन्य लोक में चला भी जाता है, तो भी उसका इस लोक तथा इस देह से नाता बना रहता है। मृत व्यक्ति से भय तथा उसके प्रति प्रेम—ये दोनों भावनाएँ मनुष्य को नहीं छोड़तीं। यही कारण है कि ये जातियाँ मृत देह को किसी-न-किसी प्रकार सुरक्षित रखने का प्रयत्न करती हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता कि मरने के बाद सब-कुछ छूट जाता है। यह शायद इसलिए है, क्योंकि आत्मा की अमरता का विचार मनुष्य के लिए एक प्रिय विचार है और यदि आत्मा अमर है तो अविकसित मन के लिए यह सोचना स्वाभाविक है कि वह आत्मा के लिए उसके शरीर की जिस किसी उपाय से भी हो सके रक्षा करे ताकि वह शरीर आत्मा के काम आ सके। अनेक जातियों में मृत देह को भूमिसात् करते हुए उसके बर्तन, उसके खाने का सामान, उसका फ़र्नीचर आदि सब उसके साथ रख देने की प्रथा है। कई जातियों में बच्चे के मरने पर स्त्रियाँ अपने स्तनों से दूध निकालकर उसके मुँह में भर देती हैं ताकि बच्चा उस दूध का सेवन कर सके। बलगेरिया में वहाँ का पुरोहित क़ब्र बनाता हुआ उसमें एक छेद रख देता था ताकि उसमें से मृत व्यक्ति को पानी तथा भोजन पहुँचता रहे। कई जातियों में जब उनका मुखिया राजा मरता था तब उसकी क़ब्र

इतनी बड़ी बनाई जाती थी कि उसके गुलाम और स्त्रियाँ भी मारकर वहाँ रक्खी जा सकें। कभी-कभी मारकर और कभी-कभी मुखिया की जीवित पत्नियों को मृत व्यक्ति के साथ गाड़ दिया जाता था ताकि वे उसके काम आ सकें।

इन सब प्रथाओं का मूर्त्तिमान् उदाहरण इजिप्ट के ममी (Mummies) हैं। प्राचीन ईजिप्शियनों को सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की होती थी कि अपने मृत राजा का शरीर किस प्रकार ओषधियों से अनुभावित (Annoint) करें ताकि मृत व्यक्ति की आत्मा का परलोक (Osiris) से इस लोक के अपने शरीर के साथ आना-जाना बना रहे। यही कारण था कि शरीर को जलाते नहीं थे, क़ब्र में सुरक्षित रखते थे। ईजिप्ट में इन राजाओं की जिन्हें फैरोहा कहा जाता था बड़ी-बड़ी क़ब्रें बनी हुई हैं जिन्हें पिरेमिड (Pyramids) कहा जाता है। इन पिरेमिडों में प्राचीन राजाओं के शरीर ओषधियों में अनुभावित हुए पड़े हैं। साथ ही अनेक नौकर-चाकर, उनकी स्त्रियाँ, उनके फ़र्नीचर आदि सामान भी उनके मृतदेहों के साथ सुरक्षित हैं। ये पिरामिड संसार के महान् आश्चर्यों में गिने जाते हैं।

२. ईसाइयत में मुर्दे को गाड़ना—ईसाई धर्म का मूल यहूदी धर्म है। यहूदी लोग मुर्दे को गाड़ते थे। ईसामसीह भी यहूदी थे। इसलिए जब वे मरे तो उन्हें एक पहाड़ी में गाड़ा गया। ईसाई मानते हैं कि तीसरे दिन वे क़ब्र में से निकल गये और परमात्मा के पास चले गये। इसी की स्मृति में ईसाइयों ने मुर्दों का गाड़ना जारी रक्खा। उनका विश्वास है कि जो ईसामसीह में विश्वास रखते हैं, उनके लिए क़ब्र एक विश्वास और आराम की जगह है और जब तक क़ब्र खुलेंगी नहीं तब तक वे उनमें आराम से सोते रहेंगे। इसके बाद सृष्टि के अन्त का दिन आएगा जब सब क़ब्रें खुलेंगी, सब उठ खड़े होंगे और सब देखेंगे कि परमात्मा के दाएँ हाथ मसीह बैठे हैं और ईसा पर विश्वास लानेवालों तथा अविश्वासियों के भाग्य का निपटारा हो रहा है। इस समय को वे (Resurrection) का दिन कहते हैं। हज़रत मसीह में विश्वास लानेवाले स्वर्ग में तथा अविश्वासी नरक में सदा के लिए भेज दिये जाएँगे। आत्मा को कर्मों का इस प्रकार का फल मिल सके—इसलिए ईसाइयों में मृत व्यक्ति के शरीर को क़ब्र में सँभालकर रक्खा जाता है।

३. इस्लाम में मुर्दे को गाड़ना—जिस कारण ईसाई मुर्दे को गाड़ते हैं लगभग वही कारण इस्लाम में मुर्दे को गाड़ने का है। उनका कहना है कि जब सृष्टि का अन्त—अर्थात् क़यामत का दिन आएगा तब 'सूर' नाम की एक तुरही बजेगी, सब क़ब्रें खुल जाएँगी और जन्नत और दोज़ख़ का फ़ैसला होगा। प्रश्न उठ सकता है कि उस समय जो जीवित होंगे, मरे नहीं होंगे, इसलिए उनकी क़ब्रें बनी नहीं होंगी, उनका क्या होगा? इसका उत्तर वे यह देते हैं कि क़यामत के दिन की तुरही बजते ही जो भी उस समय जिन्दा होंगे वे सब मर जाएगें। प्रश्न हो सकता है कि इतने दिन क़ब्र में पड़-पड़े जिस्म मट्टी हो जाएगा, फिर मुर्दे कैसे उठ खड़े होंगे? डॉ० सेल ने इस प्रश्न को कुरान के अंग्रेजी अनुवाद में उठाकर लिखा है कि हज़रत मुहम्मद ने इस समस्या का यह हल निकाला था कि शरीर ही मट्टी हो जाएगा, परन्तु एक हड्डी बच जाएगी जिसका नाम 'अल अज्ब' है, जिसे अंग्रेजी में Os Cocoygis या रीढ़ की अन्तिम हड्डी कहा जाता है। इस्लाम में यह विचार यहूदी धर्म से लिया गया है। वे इस हड्डी को 'लुज' (Luz) कहते हैं। क़यामत के दिन से ४० दिन तक बारिश होगी। जिससे जैसे बारिश पड़ने से बीज से पौधे उठ खड़े होते हैं वैसे 'अल अज्ब' से सब मुर्दे उठ खड़े होंगे। यहूदी धर्म में कहा गया है कि क़यामत के समय ओस पड़ेगी जिसके

कारण 'लज़' रीढ़ की हड्डी के भीग जाने से मुर्दे उठ खड़े होंगे।

इस्लाम के अनुसार मुर्दे को क़िब्ला, अर्थात् मक्काशरीफ़ की तरफ मुँह रखके दफ़नाया जाता है। क़ब्र इतनी गहरी बनाई जाती है ताकि वक्त पड़ने पर मुर्दा आसानी से उठकर बैठ सके। क़ब्र में 'मुनकिर' और 'नकीर'—दो फ़रिश्ते मुर्दे के दाएँ-बाएँ बैठकर उससे उसके अच्छे-बुरे कर्मों की पड़ताल करेंगे जिसके अनुसार उसे जन्नत या दोज़ख में भेजा जाएगा, क्योंकि मुर्दे के साथ यह सब कुछ होना होता है, इसलिए इस्लाम में मुर्दे को जलाने के स्थान में गाड़ना ज़रूरी है ताकि वह बना रहे।

४. पारसी धर्म में मुर्दे को हवा में खुला छोड़ देना—पारसियों में मुर्दे को न गाड़ा जाता है, न जलाया जाता है। मुर्दा शरीर को एक बुर्ज पर खुला नंगा रख दिया जाता है। बुर्ज पर रखने का अर्थ है—ज़मीन पर, मट्टी पर, ईंटों पर, पत्थरों पर—कहीं भी ऐसे स्थान पर जहाँ अन्तरिक्ष के पक्षी उसे खाकर ख़त्म करदें। बम्बई में एक बुर्ज बना हुआ है जिसे Tower of Silence कहते हैं। मुर्दे को लाकर उसके तख्तों पर उसे नंगा रख दिया जाता है। ले-जानेवालों को 'नासासालार' कहते हैं। वहाँ सैकड़ों गिद्ध लाश को खाने के लिए मँडराया करते हैं। लाश के वहाँ रखते ही ये गिद्ध एक दो घण्टों में ही उसका तिया-पाँचा कर देते हैं, सिर्फ हड्डियाँ रह जाती हैं। ये लोग न तो प्राचीन ईजिप्शियन्स की तरह सुरक्षित रखते हैं, न उसे ज़मीन में गाड़ते हैं। जिस प्रकार जीवित अवस्था में प्राणी शुभ कार्य करता था, उसी प्रकार मरने पर वह पक्षियों की क्षुधा-निवृत्ति के शुभ काम आ जाता है। 'टावर आफ़ साइलेंस' पर दिनों दिन हड्डियों का ढेर बढ़ता जाता है। साल में दो बार 'नासासालार' टावर का फट्टा हटाकर उसे साफ़ कर देते हैं और हड्डियाँ नीचे कुएँ में जा गिरती हैं।

पारसियों के 'टावर आफ़ साइलेंस' पर मुर्दों को खुला छोड़ देने की एक घटना का उल्लेख रडयार्ड किपलिंग Rudyard Kipling (१८६५-१९३६) के, जिन्हें १९०७ में साहित्य का नोबल पुरस्कार मिला था, जीवन के संस्मरणों में मिलता है। वे भारत में उत्पन्न हुए थे और बरसों यहाँ पत्रकारिता का कार्य करते रहे। बचपन में उनके माता-पिता का निवास-स्थान पारसियों के 'टावर आफ़ साइलेंस' के पास ही था। एक दिन उन्होंने देखा कि उनके पिता के बग़ीचे में एक बच्चे की गली-सड़ी बाँह कहीं से आ पड़ी। किपलिंग ने अपनी माँ से इसका रहस्य जानना चाहा, परन्तु उन्होंने उसे डाँट दिया। इस बीच किपलिंग की आया ने इसका रहस्य खोल दिया। मुर्दे को इस प्रकार खुला छोड़ देने से इस प्रकार की घटनाओं का हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु ऐसी घटनाओं को देखकर चित्त को क्षोभ अवश्य होता है। इस घटना का उल्लेख श्री बसन्त ए० शाहा ने १८ सितम्बर १९७६ के इलस्ट्रेटिड वीकली में किया है।

५. हिन्दुओं में मुर्दे को जला दिया जाता है—हमने देखा कि जो लोग मुर्दे को सुरक्षित रखते हैं या क़ब्र आदि में गाड़ देते हैं वे मर जाने पर भी जीव के शरीर के साथ किसी-न-किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना बनाये रखते हैं। हिन्दुओं में भी शव को जला दिये जाने पर भी पुराणमतावलम्बी श्राद्धादि के रूप में मृतक के शरीर के साथ तो नहीं, परन्तु आत्मा के साथ सम्बन्ध बनाये रखने का-सा व्यवहार करते हैं, परन्तु शुद्ध वैदिक धर्म में शरीर के भस्मित हो जाने पर मृतक के शरीर तथा आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। '**भस्मान्तः शरीरम्**' के अनुसार शरीर के साथ

आत्मा का सम्बन्ध उसके भस्म हो जाने के बाद समाप्त हो जाता है, सम्बधियों का भी शरीर के साथ तो कोई नहीं, परन्तु आत्मा के साथ भी स्मृतिमात्र का सम्बन्ध रह जाता है, अन्य कुछ नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाए तो यही बात युक्ति की कसौटी पर ठीक बैठती है।

इसके अतिरिक्त हिन्दु अथवा वैदिक धर्मी मुर्दे को इसलिए भी निःसंकोच जला देते हैं, क्योंकि उनके अनुसार कर्मफल के लिए यहूदी, ईसाई या मुसलमानों की तरह क़यामत के दिन तक इन्तज़ार करना ज़रूरी नहीं है। कर्म का फल शरीर के साथ बँधा हुआ नहीं है, आत्मा के साथ कर्म के फल का सम्बन्ध है। शरीर के भस्म हो जाने पर भी आत्मा को कर्म का फल मिल जाता है, इसके लिए शरीर को सँभालकर रखने या जमीन में दबाकर रखने की ज़रूरत नहीं है।

हिन्दुओं में कई लोग संन्यासियों का अग्निदाह करने के स्थान में उनका जल-प्रवाह करते हैं। मनुस्मृति (६-४३) में संन्यासी के लिए लिखा है—

अनग्निरनिकेतः स्यात् ग्राममन्नार्थं आश्रयेत्। उपेक्षकोऽसंकुसुकः मुनिभावसमाहितः॥

अर्थात् संन्यासी 'अनग्निः' होता है—आहवनीय आदि अग्नियों से रहित होता है। उसके लिए कहा गया है कि वह कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बाँधे और अन्न-वस्त्रादि के लिए ग्राम का आश्रय ले, बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिरबुद्धि, मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे।

इस श्लोक के फुटनोट में संस्कार-विधि में लिखा है—''इसी (अनग्नि) पद से भ्रान्ति में पड़कर संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते—यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहाँ आहवनीयादि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श या दाहकर्म छोड़ना नहीं है।'' इसलिए ऋषि दयानन्द के अनुसार संन्यासियों के मृत शरीर का भी दाह-संस्कार ही होना उचित है।

६. यूरोप और अमेरीका में शवदाह—यह शरीर जिन तत्त्वों से बना है, वे हैं—पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु। विश्वभर के लोग मरने पर मृतक शरीर को इन्हीं तत्त्वों में से किसी एक की भेंटकर देते हैं। जो लोग गाड़ते हैं वे पृथिवी की, जो जलप्रवाह कर देते हैं वे जल की, जो दाहकर्म करते हैं वे अग्नि की और जो शव को खुले में छोड़ देते हैं वे मृतक को वायु की भेंटकर देते हैं। ये चारों तत्त्व मृत शरीर को आत्मसात् कर सृष्टि-तत्त्वों में अणुकृत् कर देते हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि मृतदेह का कुछ नहीं बचता। कुछ परमाणुओं में विच्छिन्न हो जाते हैं, कुछ मीन, पशु-पक्षियों के पेट में चले जाते हैं। जिन्हें नदी में बहा देते हैं उन्हें जल के जन्तु और जिन्हें खुला छोड़ देते हैं उन्हें पशु-पक्षी समाप्त कर देते हैं। सोचने की बात यह है कि इन सबमें वैज्ञानिक विधि कौन-सी है?

कोई समय था जब यूरोप में सर्वत्र रोम का आधिपत्य था। उस समय रोमन राज्य में उच्च वर्ग के लोग मुर्दों को जलाते थे, गाड़ते नहीं थे। रोमन लोगों की देखा-देखी यूरोप में भी मुर्दों को जलाया जाता था। रोमन लोगों ने मुर्दों को जलाने की रीति ग्रीक लोगों से ली थी। ग्रीस पर किसी समय भारत की विचारधारा का प्रभाव था। पाइथागोरस, जो ग्रीक दार्शनिक था, भारत आया था। प्लेटो की विचारधारा में तो भारत का प्रभाव स्पष्ट दीखता ही है। भारत से ग्रीस, ग्रीस से रोम, रोम से यूरोप में मुर्दों को जलाने की रीति सर्वत्र फैली। इसके बाद जब ईसाइयत का प्रचार हुआ

और सृष्टि की समाप्ति के दिन हर व्यक्ति के सशरीर उठ खड़े होने (Resurrection) के विचार ने जन्म लिया, तब मृतक को जला देने का चर्च की तरफ़ से विरोध हुआ। इसलिए विरोध हुआ कि यदि शव को जला दिया गया, तो जब आख़िरी दिन हर व्यक्ति के पाप-पुण्य का लेखा-जोखा होकर स्वर्ग-नरक का बँटवारा होगा, तब शरीर के भस्म हो जाने पर किसे स्वर्ग मिलेगा, किसे नरक मिलेगा? ईसाइयत के फैलने की वजह से पाश्चात्य जगत् में तो शवदाह पर रोक लग गई, परन्तु पूर्वी देशों में शवदाह बदस्तूर चलता रहा। भारत, बर्मा, जापान में मुर्दे को जलाया ही जाता रहा। पूर्वी देशों में सिर्फ चीन अपवाद रहा, क्योंकि उनकी विचारधारा यह थी कि चीनी कहीं भी मरे उसे चीन की धरती में ही गड़ना है। अब वहाँ भी दाह की विधि चल पड़ी है।

१८७४ तक विश्व में मृतक के शरीर को निपटाने की यह स्थिति थी। इस समय इंग्लैण्ड में महारानी विक्टोरिया का सर्जन सर हैनरी थाम्पसन था। १८७३ में वायना में एक प्रदर्शिनी हुई, जिसमें मृतदाह करने की एक भट्टी दिखलाई गई थी जो इटली में कहीं-कहीं मुर्दों को जलाने के काम आती थी। सर थाम्पसन इस मृतदाह की भट्टी को देखकर बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने ब्रिटेन में श्मशानों की जो दुर्गति देखी थी, इस भट्टी को देखकर उनकी वे स्मृतियाँ ताज़ा हो गईं और वे सोचने लगे कि शवों का निपटारा करने के लिए इस प्रकार की श्मशानें क्यों न बनाई जाएँ जिनमें शवों को गाड़ने के स्थान में उन्हें जलाया जाए। परिणामस्वरूप उन्हेंने शवदाह के विचार को मूर्त्तरूप देने के लिए एक संस्था बनाई जिसका नाम था—"Cremation—The Treatment of The Body after Death"। सर थाम्पसन के विचारों के साथ उस समय के वैज्ञानिकों, लेखकों, कलाविदों ने सहमति प्रकट की। इन लगों ने मिलकर १३ जनवरी १८७४ में जिस 'क्रिमेशन सोयायटी आफ़ इंग्लैण्ड' की स्थापना की उसके घोषणा-पत्र में कहा गया था—

"The promoters disapprove of the present system of burying the dead and wish to substitute some method which would rapidly resolve the body into its component elements by a process which could not offend the living and would render the remains perfectly innocuous."

अर्थात् इस संस्था के अभिभावक मुर्दे गाड़ने की प्रचलित नीति का अनुमोदन नहीं करते और चाहते हैं कि इसकी जगह कोई ऐसी विधि अपनाई जाए जिससे शरीर शीघ्र-से-शीघ्र अपने घटक-तत्त्वों में विलीन हो जाए और जिस रीति से न तो जीवित व्यक्ति तिरस्कृत हों और साथ ही मृत शरीर भी सर्वथा दोषरहित हो जाए।

हम पहले लिख आये हैं कि मृतक को गाड़ना ईसाइयत की दृष्टि से क्यों धार्मिक कृत्य था। शरीर को जला दिया जाए तो पुनरुत्थान (Resurrection) किसका हो? इस प्रकार इस संस्था के बन जाने पर भी चर्च के विरोध के कारण संस्था को शवदाह के लिए कोई भूमि नहीं मिली, परन्तु संस्था के संचालक इस दिशा में लगातार प्रयत्नशील रहे। अन्त में ४ साल बाद उन्हें सर्रे जगह पर वोकिंग स्थान में जगह मिली, जहाँ इंग्लैण्ड में पहला दाह-श्मशान (Crematorium) बना। इसके बन जाने पर भी चर्च के विरोध के कारण कोई व्यक्ति शव को जलाने के लिए तैयार नहीं हुआ। १८८३ में डॉक्टर विलियम प्राइम ने अपने मृत बच्चे का दाह-कर्म करने का प्रयत्न किया जिस कारण उसपर मुक़दमा चलाया गया। अन्त में अदालत ने यह फ़ैसला दिया कि शव का दाहकर्म अवैधानिक नहीं है।

७. यूरोप में शवदाह क़ानून—१९०२ में इंग्लैण्ड में पहले पहल 'शवदाहविधेयक' (Cremation Act) पास हुआ। इसके पास होने के बावजूद इने-गिने व्यक्ति ही शवदाह के लिए तैयार होते थे। इस दिशा में विशेष प्रगति द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में हुई। मरनेवालों की संख्या इतनी अधिक थी कि दफ़नाने की तंगी होने लगी, क्योंकि इनके लिए भूमि पर्याप्त नहीं थी। इंग्लैण्ड में यह अनुभव किया जाने लगा कि मुर्दों को भूमि में गाड़ना भूमि का दुरुपयोग करना था। इससे दाह करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने लगा। इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध विद्वान् जिन्हें पाश्चात्य लोग आजकल के तत्त्ववेत्ताओं का मुकुट मानने हैं, वह हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) थे। उनके मरने पर उनकी इच्छानुसार अनका मृतक शरीर जलाया गया। इसके परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में शवदाह को पर्याप्त बढ़ावा मिला। २०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से शवगृहों में जलाये जानेवाले मृतकों की संख्या तीन लाख प्रतिवर्ष बढ़ने लगी। इसका अर्थ यह है कि इंग्लैण्ड में जितने व्यक्ति मरते थे उनमें से आधे जलाये जाने लगे। इस बीच 'दाहगृहों' (Crematoria) की संख्या १९० तक पहुँच गई।

इंग्लैण्ड में दाहकर्म की देखा-देखी यूरोप के अन्य देशों में भी शवदाह का अनुकरण होने लगा। स्केण्डेनेवियन देशों, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड में ३० प्रतिशत मुर्दे जलाये जाने लगे। हर देश में ऐसे क़ानून बनाये गये जिनमें शवदाह को वैधता दी गई। शवदाह पर एक क़ानूनी आपत्ति थी। मृतक को जला देने से फिर उसके सम्बन्ध में किये गये किसी अपराध की जाँच नहीं कराई जा सकती थी, क्योंकि उसके जल जाने से किसी भी प्रकार की साक्षी नष्ट हो जाती थी। अगर मृतक की हत्या की गई है या उसने आत्मघात किया है—इस सबकी जाँच क़ब्र में पड़े शव को निकालकर तो की जा सकती थी, उसके जला दिये जाने पर नहीं। इसलिए यूरोप में शवदाह के सम्बन्ध में जो क़ानून बने उनमें ऐसे प्रतिबन्ध लगा दिये गये जिससे इस बात की रोकथाम हो सकती थी। मुर्दा जलाने के लिए डॉक्टरी सर्टिफ़िकेट लेना तथा इसी प्रकार के अन्य प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

अमेरीका में शवदाह का सूत्रपात १८७६ से हुआ। अमेरीका की 'शवदाह संस्था' (Cremation Society of America) के आंकड़ों के अनुसार बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अमेरिका में २३० शवदाह गृह बन चुके थे और १९७० में एक वर्ष में ८८००० (अठास्सी हज़ार) मृतकों का दाह संस्कार हुआ था।

यूरोप तथा अमरीका में १९३७ से प्रत्येक देश में अपनी-अपनी 'राष्ट्रीय शवदाह संस्थाएँ बन गईं और वे आपस में विचार विनिमय कर सकें—इस आशय से एक 'अन्तर्राष्ट्रीय शवदाह संगठन' (International Cremation Federation) की भी स्थापना हो गई, जिसका मुख्य कार्यालय लंदन में है। यह संगठन त्रिवार्षिक कान्फ्रेंसें करता रहता है जिनमें शवदाह को प्रोत्साहन देने के कार्यक्रमों पर विचार होता है।

हमने देखा कि जहाँ-जहाँ मुर्दे गाड़े जाते थे वहाँ-वहाँ यह चेतना जाग्रत् होती जाती है कि गाड़ने की अपेक्षा जलाना ज्यादा युक्तिसंगत है। इस चेतना के बढ़ते जाने के निम्न कारण हैं—

१—मृत शरीर को जलाने से बहुत कम भूमि खर्च होती है। क़ब्रों से स्थान-स्थान पर बहुत-सी भूमि घिर जाती है।

२—क़ब्रिस्तान के कारण बहुत-से रोग़ वायुमण्डल को दूषित कर देते हैं। वायु के दूषित होने

से वे फैलकर समाज में रोग फैलाने का कारण बनते हैं, मुर्दों को जला देने से ऐसा नहीं होता।

३—जो जल क़ब्रिस्तान के पास से होकर जाता है वह रोग का कारण बन जाता है, जलाने से ऐसा नहीं होता।

४—कुछ पशु मृत शरीर को उखाड़कर खा जाते हैं और रोगी अथवा सड़े शरीर को खाने से वे रोगी बनकर मनुष्यों में भी रोग फैलाते हैं। जलाने से यह बुराई नहीं होती।

५—कुछ क़फ़न चोर क़ब्र खोदकर शरीर का क़फ़न उतार लेते हैं। इस प्रकार मृतक के सम्बन्धियों के मनोभावों को ठेस पहुँचती है। मृतक को जला देने से ऐसा नहीं हो सकता।

६—लाखों बीघा जमीन संसार में क़ब्रिस्तानों के कारण रुकी पड़ी है। जलाना शुरू करने से वह खेती तथा मकान बनाने के काम आएगी। ज़िन्दों के लिए ही जमीन थोड़ी पड़ रही है, उसे मुर्दों ने घेर रक्खा है।

७—दरगाहों की समाधि पूजा, क़ब्रों की पूजा, पीरों की पूजा, मुर्दों की पूजा—अनेक प्रकार के पाखण्ड मुर्दों को जला देने से ख़त्म हो जाएँगे।

८—बहुत-से पुजारी जिनका पेशा यही है कि क़ब्रों, दरगाहों का चढ़ावा खाएँ वे लाभदायक काम पर लगकर समाज के लिए उपयोगी व्यक्ति बनेंगे।

९—इन मज़ारों की पूजा करने, चढ़ावा चढ़ाने और आने-जाने में जो करोड़ों रुपया व्यर्थ का व्यय होता है वह बच जाएगा।

१०—सैकड़ों दरगाहें और मक़बरे ऐसे हैं जो हज़ारों नहीं लाखों रुपये की लागत से बने हैं। इस प्रकार जो करोड़ों रुपया अनावश्यक खर्च होता है वह बचकर शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा आदि उपयोगी कार्यों पर व्यय हो सकेगा।

११—अनेक पतित लोग मुर्दों को उखाड़कर उनके साथ कुकर्म करते पकड़े गये हैं—इन मुर्दों की ऐसी दुर्गति नहीं होगी। कुछ तकियों और हिन्दू समाधियों पर चरस, गांजा, अफ़ीम और शराब पी जाती है—ये दुराचार और भ्रष्टाचार भी नहीं होंगे।

इसलिए स्वास्थ्य रक्षा के विचार से, भूमि की कमी के विचार से रुपये की बचत के विचार से और सदाचार के विचार से भी मुर्दों को गाड़ने की अपेक्षा जलाना ही उचित है।

इस विषय पर विचार करते हुए ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"गाड़ना सबसे बुरा है। उससे कुछ थोड़ा बुरा जल में डालना है, क्योंकि उसको जलजन्तु उसी समय चीर-फाड़ के खा जाते हैं, परन्तु जो कुछ हाड़ वा मल जल में रहेगा, वह सड़कर जगत् को दुःखदायक होगा। उससे कुछ एक थोड़ा बुरा जंगल में छोड़ना है, क्योंकि उसको मांसाहारी पशु-पक्षी लूंच खाएँगे। तथापि जो उसके हाड़ की मज्जा और मल सड़कर जितना दुर्गन्ध करेगा, उतना जगत् का अनुपकार होगा और जो जलाना है वह सर्वोत्तम है, क्योंकि उसके सब पदार्थ अणु होकर वायु में उड़ जाएँगे।......एक विश्वाभर भूमि में अथवा एक वेदी में लाखों, करोड़ों मृतक जल सकते हैं और क़ब्र के देखने से भय भी होता है। इससे गाड़ना आदि सर्वथा निषिद्ध है।"

ऋषि दयानन्द की अन्त्येष्टि

उदयपुर में रहते हुए ही स्वामीजी ने अपनी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभी की स्थापना

शरीर का आरम्भ ऋतुदान और अन्त में श्मशान, अर्थात् मृतक कर्म है॥ २॥

प्रश्न—गरुड़पुराण आदि में दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डी कर्म, मासिक, वार्षिक

की। उसी के नाम लिखे गये अपने स्वीकार-पत्र (वसीयतनामा) की धारा ५ में लिखा था—

''जैसे इस सभा को वर्त्तमान समय में मेरी और मेरे सब पदार्थों की यथाशक्ति रक्षा और उन्नति करने का अधिकार है, वैसे ही मेरे मृतक शरीर के संस्कार का भी अधिकार है। जब मेरा शरीर छूटे तो न उसको गाड़ें, न जल में बहावें, न जंगल में फेंके। केवल चन्दन की चिता बनावें और यदि यह सम्भव न हो तो दो मन चन्दन, चार मन घी, पाँच सेर कपूर, ढाई मन अगर-तगर और दस मन काष्ठ लेकर वेदविहित विधि से, जैसाकि संस्कारविधि में लिखा है, वेदी बनाकर उस पुस्तक में जो वेदमन्त्र लिखे हैं उनसे भस्म करें। वेद-विरुद्ध कुछ भी न करें। उस समय यदि इस सभा का कोई भी सदस्य उपस्थित न हो तो जो कोई उपस्थित हो वही यह काम करे। जितना धन इस काम में लगे उतना सभा से ले लेवे और सभा उसको दे देवे॥''

—(हस्ताक्षर) दयानन्द सरस्वती

ऋषि की इच्छानुसार ही उनका अन्त्येष्टि-संस्कार किया गया। ऋषि के निर्देशानुसार पाँच सेर कपूर से अतिरिक्त आध सेर केसर और ९ माशे कस्तूरी भी डाली गई। काष्ठ के रूप में दस मन पीपल की समिधाओं का प्रयोग किया गया। यथासमय अस्थियों का चयन करके उन्हें पुष्कर रोड पर अनासागर के तट पर शाहपुराधीश के दिये उद्यान (अब ऋषि उद्यान के नाम से प्रसिद्ध) में गाड़ दिया गया।

स्वामीजी महाराज की अन्त्येष्टि में जो समग्री जिस मात्रा तथा जिस मूल्य की प्रयुक्त हुई, उसका व्यौरा देवेन्द्रबाबू ने निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

१. घृत तीन मन तीस सेर	८४ रु० ६ आने
२. चन्दन दो मन, दो सेर, एक पाव	काग़ज फट जाने से मूल्य पढ़ा नहीं जा सका
३. केसर चालीस तोला	२१ रु० ८ आने
४. कपूर पाँच सेर	५ रु०
५. कस्तूरी नौ माशा	९ रु०
६. अग़र चार सेर	१ रु०
७. चीनी तीन सेर चार छटाँक	१ रु०
८. शरीराच्छादन	९ रु० दो आने
९. एक दुशाला	५० रु०
१० पलाशादि काष्ठ १६ मन	८ रु०
११ विमान निर्माण का तख़्ता	२ रु० बारह आना
१२. खदिर का स्रुवा	१ रु०
१३. वस्तुओं को लाने की मज़दूरी	२ रु०

कुल—१९३ रु० १२ आने

गयाश्राद्ध आदि क्रिया लिखी हैं क्या ये सब असत्य हैं?

उत्तर—हाँ, अवश्य मिथ्या हैं, क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है, इसलिए अकर्त्तव्य हैं और मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता और न इन जीते हुए सम्बन्धियों का। वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है।

प्रश्न—मरण के पीछे जीव कहाँ जाता है!

उत्तर—यमालय को।

प्रश्न—यमालय किसको कहते हैं?

उत्तर—वाय्वालय को।

प्रश्न—वाय्वालय किसको कहते हैं?

उत्तर—अन्तरिक्ष को, जोकि यह पोल है।

प्रश्न—क्या गरुड़पुराण आदि में जो यमलोक लिखा है वह झूठा है?

उत्तर—अवश्य मिथ्या है।

प्रश्न—पुनः संसार क्यों मानता है?

उत्तर—वेद के अज्ञान और उपदेश के न होने से। जो यम की कथा लिख रक्खी है वह सब मिथ्या है, क्योंकि 'यम' इतने पदार्थों का नाम है—

षळिद् यमा ऋषयो देवजा इति॥ १ ॥ —ऋ० म० १। सू० १६४। मं० १५॥

शकेम वाजिनो यमम्॥ २ ॥ —ऋ० म० २। सू० ५। मं० १॥

यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ ३ ॥

—ऋ० म० १०। सू० १४। मं० १३॥

यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः॥ ४ ॥ —यजुः० अ० ८। मं० ५७॥

वाजिनं यमम्॥ ५ ॥ —ऋ० म० ८। सू० २४। मं० २२॥

यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ६ ॥ —ऋ० म० १। सू० १६४। मं० ४६॥

अर्थः—यहाँ ऋतुओं का यम नाम है॥ १ ॥

यहाँ परमेश्वर का नाम है॥ २ ॥

यहाँ अग्नि का नाम है॥ ३ ॥

यहाँ वायु, विद्युत्, सूर्य के यम नाम हैं॥ ४ ॥

यहाँ भी वेगवाला होने से वायु का नाम यम है॥ ५ ॥

यहाँ परमेश्वर का नाम यम है॥ ६ ॥[१]

इत्यादि पदार्थों का नाम 'यम' है। इसलिए पुराण आदि की सब कल्पना झूठी है।

विधिः—[२]**संस्थिते भूमिभागं खानयेद् दक्षिणपूर्वस्यां दिशि दक्षिणापरस्यां वा॥ १ ॥**

दक्षिणाप्रवणं प्राग्दक्षिणाप्रवणं वा प्रत्यग्दक्षिणाप्रवणमित्येके॥ २ ॥

यावानुद्बाहुकः पुरुषस्तावदायामं व्याममात्रं तिर्यक्[३] **॥ ३ ॥**

---

१. संस्करण २ में यह संख्या 'झूठी है' के बाद अस्थान में लगी है।

२. सं० वि० संस्करण १८ से 'विधि' के स्थान पर 'इसमें प्रमाण' पाठ मिलता है।

३. यह पाठ सं० वि० संस्करण २ से १७ तक नहीं मिलता है, परन्तु भाषार्थ में इसकी व्याख्या है, अतः हमने इसे मुद्रण-प्रमाद से छूटा हुआ मानकर बढ़ाया है।

वितस्त्यर्वाक्॥ ४॥[१] **केशश्मश्रु लोमनखानीत्युक्तं पुरस्तात्॥ ५॥**

द्विगुल्फं बर्हिराज्यं च॥ ६॥ दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम्॥ ७॥

अथैतां दिशमग्नीन् नयन्ति यज्ञपात्राणि च॥ ८॥[२]

अर्थ:—जब कोई मर जावे तब यदि पुरुष हो तो पुरुष और स्त्री हो तो स्त्रियाँ उसको स्नान करावें। चन्दनादि सुगन्धलेपन और नवीन वस्त्र धारण करावें। जितना उसके शरीर का भार हो उतना घृत, यदि अधिक सामर्थ्य हो तो अधिक लेवें और जो महादरिद्र, भिक्षुक हो कि जिसके पास कुछ भी नहीं है, उसको कोई श्रीमान् वा पञ्च बनके आध मन से कम घी न देवें, और श्रीमान् लोग शरीर के बराबर तोलके चन्दन, सेरभर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर, एक-एक मण घी के साथ सेर-सेरभर अगर-तगर और घृत में चन्दन का चूरा भी यथाशक्ति डाल कपूर, पलाश आदि के पूर्ण काष्ठ, शरीर के भार से दूनी सामग्री[३] श्मशान में पहुँचावें। तत्पश्चात् मृतक को वहाँ श्मशान में ले-जाएँ।

यदि प्राचीन वेदी बनी हुई न हो तो नवीन वेदी भूमि में खोदे। वह श्मशान का स्थान बस्ती से दक्षिण[४] तथा आग्नेय, अथवा नैर्ऋत्य कोण[४] में हो, वहाँ भूमि को खोदे। मृतक के पग दक्षिण, नैर्ऋत्य, अथवा आग्नेय कोण में रहें। शिर उत्तर, ईशान वा वायव्य कोण में रहे॥ १॥

मृतक के पग की ओर वेदी के तले में नीचा और शिर की ओर थोड़ा ऊँचा रहे॥ २॥

उस वेदी का परिमाण पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे उतनी लम्बी और[५] दोनों हाथों को लम्बे उत्तर दक्षिण पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो, अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ, अथवा तीन हाथ ऊपर से चौड़ी होवे और छाती के बराबर गहरी होवे॥ ३॥

और नीचे आध हाथ, अर्थात् एक बीताभर रहे॥ ४॥[६]

उस वेदी में थोड़ा-थोड़ा जल छिटकावे, यदि गोमय उपस्थित हो तो लेपन भी करदे। उसमें नीचे से आधी वेदी तक लकड़ियाँ चिने जैसेकि भित्ती में ईंटें चिनी जाती हैं, अर्थात् बराबर जमाकर

---

१. यही पाठ सं० वि० संस्करण एक में भी है। गृह्यसूत्र में 'वितस्त्यवाक्' पाठ मिलता है। भाषार्थ दोनों संस्करणों में 'अवाक्' का ही किया है।

२. आश्व० गृह्य० ४।१।६-१०, १५-१७, तथा ४।२।१॥

३. अर्थात् पूर्व निर्देशानुसार बराबर का घी और बराबर का चन्दन।

४. सूत्रानुसार यहाँ पाठ दक्षिण-पूर्व, अर्थात् आग्नेय, अथवा दक्षिण-पश्चिम, अर्थात् नैर्ऋत्य कोण होना चाहिए, परन्तु सं० वि० के उक्त पाठ और अगले वाक्य से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के मत में सूत्रपाठ में भी 'खानयेद् दक्षिणस्यां दक्षिणपूर्वस्यां दिशि' पाठ है। प्रथम संस्करण में भी सूत्रपाठ द्वि० संस्करण के समान ही है।

५. अगले भाषार्थ का मूलसूत्र संस्करण २-१७ तक नहीं है। प्रथम संस्करण में सूत्र तथा उसका भाषार्थ दोनों नहीं हैं।

६. अगले ५-८ सूत्रों का भाषार्थ यहाँ नहीं है। संस्कारविधि संस्करण १ में इनका भाषार्थ इस प्रकार है—

(५) तदनन्तर मृतक का केश, दाढ़ी, मूँछ सब छेदन करादे, अर्थात् क्षौर करादे।

(६) तदनन्तर मृतक के शरीर प्रमाणे बराबर घी और कर्पूर, चन्दनादि सुगन्ध साथ लेके और उसको शुद्ध करके रखें। न्यून-से-न्यून बीस सेर घी अवश्य होना चाहिए। **द्विगुल्फं प्रभूतं बर्हिराज्यं च उपकल्पयेद्** इति गार्ग्यनारायणष्टीकाकृत्।

लकड़ियाँ धरे। लकड़ियों के बीच में थोडा-थोड़ा कपूर थोड़ी-थोड़ी दूर पर रक्खे। उसके ऊपर मध्य में मृतक को रक्खे, अर्थात् चारों ओर वेदी बराबर खाली रहे और पश्चात् चारों ओर ऊपर चन्दन तथा पलाश आदि के काष्ठ बराबर चिने। वेदी से ऊपर एक बीताभर लकड़ियाँ चिने।

जबतक यह क्रिया होवे, तबतक अलग चूल्हा बना, अग्नि जला, घी तपा और छानकर पात्रों में रक्खे। उसमें कस्तूरी आदि सब पदार्थ मिलावे। लम्बी-लम्बी लकड़ियों में चार चमसों को चाहे वे लकड़ी के हों वा चाँदी, सोने के अथवा लोहे के हों, जिस चमसा में एक छटाँकभर से अधिक और आधी छटांकभर से न्यून घृत न आवे, खूब दृढ़ बन्धनों से डण्डों के साथ बाँधे। पश्चात् घृत का दीपक करके कपूर में लगाकर शिर से आरम्भ कर पादपर्यन्त मध्य-मध्य में अग्नि-प्रवेश करावे। अग्नि-प्रवेश कराके—

ओमग्नये स्वाहा॥ ओं सोमाय स्वाहा॥

ओं लोकाय स्वाहा॥ ओमनुमतये स्वाहा॥

ओं स्वर्गाय लोकाय स्वाहा॥[१]

इन ५ [पाँच] मन्त्रों से आहुतियाँ देके अग्नि को प्रदीप्त होने देवे। तत्पश्चात् ४ [चार] मनुष्य पृथक्-पृथक् खड़े रहकर वेदों के मन्त्रों से आहुति देते जाएँ। जहाँ 'स्वाहा' आवे वहाँ आहुति छोड़ देवें।

अथ वेदमन्त्राः

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा॥ १॥
अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकं स्वाहा॥ २॥
अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः स्वाहा॥ ३॥
अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते स्वाहा॥ ४॥
यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः। कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा स्वाहा॥ ५॥

—ऋ० म० १०। सू० १६। मं० ३-५, ७, १३॥[२]

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य स्वाहा॥ ६॥
यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३अनु स्वाः स्वाहा॥ ७॥

---

(७) दही में घृत मिलावे इसी का नाम पित्र्य पृषदाज्य है।

(८) तदनन्तर अग्निप्रवेश उसमें करे। जो अग्निहोत्री होय तो यज्ञपात्र सूत्रोक्त रीति से अङ्ग-अङ्ग पर धर दे।

१. आश्व० गृ० ४।३।२५-२६॥

२. 'स्वाहा' पद मन्त्रों से बहिर्भूत है। स्वरचिह्न भी हमने लगाये हैं।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति स्वाहा॥ ८॥
इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व स्वाहा॥ ९॥
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य स्वाहा॥ १०॥
प्रेहिप्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवं स्वाहा॥ ११॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः स्वाहा॥ १२॥
अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै स्वाहा॥ १३॥
यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः स्वाहा॥ १४॥
यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे स्वाहा॥ १५॥
यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः स्वाहा॥ १६॥

—ऋ० म० १०। सू० १४॥[1]

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान्।
हिरण्यरूपं जनिता जजान स्वाहा॥ १७॥ —ऋ० म० १०। सू० २०। मं० ९॥

इन ऋग्वेद के मन्त्रों से चारों जने १७ [सत्रह] आज्याहुति देकर, निम्नलिखित मन्त्रों से उसी प्रकार आहुति देवें—

प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा॥ १॥ पृथिव्यै स्वाहा॥ २॥ अग्नये स्वाहा॥ ३॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा॥ ४॥ वायवे स्वाहा॥ ५॥ दिवे स्वाहा॥ ६॥ सूर्याय स्वाहा॥ ७॥ दिग्भ्यः स्वाहा॥ ८॥ चन्द्राय स्वाहा॥ ९॥ नक्षत्रेभ्यः स्वाहा॥ १०॥ अद्भ्यः स्वाहा॥ ११॥ वरुणाय स्वाहा॥ १२॥ नाभ्यै स्वाहा॥ १३॥ पूताय स्वाहा॥ १४॥ वाचे स्वाहा॥ १५॥ प्राणाय स्वाहा॥ १६॥ प्राणाय स्वाहा॥ १७॥ चक्षुषे स्वाहा॥ १८॥ चक्षुषे स्वाहा॥ १९॥ श्रोत्राय स्वाहा॥ २०॥ श्रोत्राय स्वाहा॥ २१॥ लोमभ्यः स्वाहा॥ २२॥ लोमभ्यः स्वाहा॥ २३॥ त्वचे स्वाहा॥ २४॥ त्वचे स्वाहा॥ २५॥ लोहिताय स्वाहा॥ २६॥ लोहिताय स्वाहा॥ २७॥ मेदोभ्यः स्वाहा॥ २८॥ मेदोभ्यः स्वाहा॥ २९॥ माꣳसेभ्यः स्वाहा॥ ३०॥ माꣳसेभ्यः स्वाहा॥ ३१॥ स्नावभ्यः स्वाहा॥ ३२॥ स्नावभ्यः स्वाहा॥ ३३॥ अस्थभ्यः स्वाहा॥ ३४॥ अस्थभ्यः स्वाहा॥ ३५॥ मज्जभ्यः स्वाहा॥ ३६॥ मज्जभ्यः स्वाहा॥ ३७॥ रेतसे स्वाहा॥ ३८॥ पायवे स्वाहा॥ ३९॥ आयासाय स्वाहा॥ ४०॥ प्रायासाय स्वाहा॥ ४१॥ संयासाय स्वाहा॥ ४२॥ वियासाय

१. ऋ० १०।१४।१-५, ७-९, १३-१५॥

स्वाहा॥४३॥ उद्यासाय स्वाहा॥४४॥ शुचे स्वाहा॥४५॥ शोचते स्वाहा॥४६॥ शोचमानाय स्वाहा॥४७॥ शोकाय स्वाहा॥४८॥ तपसे स्वाहा॥४९॥ तप्यते स्वाहा॥५०॥ तप्यमानाय स्वाहा॥५१॥ तप्ताय स्वाहा॥५२॥ घर्माय स्वाहा॥५३॥ निष्कृत्यै स्वाहा॥५४॥ प्रायश्चित्यै स्वाहा॥५५॥ भेषजाय स्वाहा॥५६॥ यमाय स्वाहा॥५७॥ अन्तकाय स्वाहा॥५८॥ मृत्यवे स्वाहा॥५९॥ ब्रह्मणे स्वाहा॥६०॥ ब्रह्महत्यायै स्वाहा॥६१॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥६२॥ द्यावापृथिवीभ्याᳬं स्वाहा॥६३॥ —यजुः० अ० ३९॥[१]

इन तिरसठ मन्त्रों से ६३ आहुति पृथक्-पृथक् देके, निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें—

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा॥१॥
सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा॥२॥
ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः।
ऋषीँस्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् स्वाहा॥३॥
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा॥४॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा॥५॥
स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी। यच्छास्मै शर्म सप्रथाः स्वाहा॥६॥
अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः।
मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार स्वाहा॥७॥
यमः परोऽवरो विवस्वांस्ततः परं नाति पश्यामि किं चन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान स्वाहा॥८॥
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः स्वाहा॥९॥
इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् स्वाहा॥१०॥ —अथर्व० का० १८। सू० २॥[२]

इन दश मन्त्रों से दश आहुति देकर—

अग्नये रयिमते स्वाहा॥१॥
पुरुषस्य सयावर्यपेदघानि मृज्महे। यथा नो अत्र नापरः पुरा जरस आयति स्वाहा॥२॥[३]

---

१. यजुः० ३९।१-३, १०-१४॥ प्रथम मन्त्र में 'स्वाहा' पद का स्थानपरिवर्त्तन किया है।

२. मन्त्र ७, १४-१७, १९, २७, ३२, ३३, ५६॥ 'अपागूहन्०' मन्त्र के द्वितीय चरण में 'सवर्णामदधुर्विवस्वदते' पाठ है। 'अददुः' ऋग्वेद का पाठ है। स्वाहा पद मन्त्रपाठ से बहिर्भूत है।

३. तै० आ० ६।१॥ द्वितीय मन्त्र में 'स्वाहा' पद मन्त्र से बहिर्भूत है।

य एतस्य पथो गोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥ य एतस्य पथो रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥
य एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ ख्यात्रे स्वाहा ॥ ६ ॥ अपाख्यात्रे स्वाहा ॥ ७ ॥
अभिलालपते स्वाहा ॥ ८ ॥ अपलालपते स्वाहा ॥ ९ ॥ अग्नये कर्मकृते स्वाहा ॥ १० ॥
यमत्र नाधीमस्तस्मै स्वाहा ॥ ११ ॥ अग्नये वैश्वानराय सुवर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ १२ ॥[१]
आयातु देवः सुमनाभिरूतिभिर्यमो ह वेह प्रयताभिरक्ता।
आसीदताꣳ सुप्रयते ह बर्हिष्यूर्जाय जात्यै मम शत्रुहत्यै स्वाहा ॥ १३ ॥
योऽस्य कोष्ठ्य जगतः पार्थिवस्यैक इद्वशी।
यमं भङ्ग्यश्रवो गाय यो राजाऽनपरोध्यः स्वाहा ॥१४ ॥
यमं गाय भङ्ग्यश्रवो यो राजाऽनपरोध्यः।
येनाऽऽपो नद्यो धन्वानि येन द्यौः पृथिवी दृढा स्वाहा ॥ १५ ॥
हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान्।
अश्वाननः शतो दानं यमो राजाभितिष्ठति स्वाहा ॥ १६ ॥
यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत्।
यमाय सर्वमित्तस्थे यत् प्राणद्वायुरक्षितं स्वाहा ॥ १७ ॥
यथा पञ्च यथा षड् यथा पञ्चदशर्षयः।
यमं यो विद्यात् स ब्रूयाद्यथैक ऋषिर्विजानते स्वाहा ॥ १८ ॥
त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद् बृहत्।
गायत्री त्रिष्टुप् छन्दाꣳसि सर्वा ता यम आहिता स्वाहा ॥ १९ ॥
अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत्। वैवस्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः स्वाहा ॥ २० ॥
वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः। ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः स्वाहा ॥२१ ॥
ते राजन्निह विविच्यन्तेऽथा यन्ति त्वामुप। देवांश्च ये नमस्यन्ति ब्राह्मणांश्चापचित्यति स्वाहा ॥ २२ ॥
यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः। अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणा अनुवेनति स्वाहा ॥ २३ ॥[२]
उत्ते तभ्नोमि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अहꣳ रिषम्।
एताꣳ स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादनात् ते मिनोतु स्वाहा ॥ २४ ॥[३]
यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्त्तव ऋतुभिर्यन्ति क्लृप्ताः।
यथा नःपूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूꣳषि कल्पयैषाꣳ स्वाहा ॥ २५ ॥
न हि ते अग्ने तनुवै क्रूरं चकार मर्त्यः। कपिर्बभस्ति तेजनं पुनर्जरायुर्गौरिव।
अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुध्या रयिम्। अप नः शोशुचदघं मृत्यवे स्वाहा ॥ २६ ॥[४]

—तैत्ति० प्रपा० ६। अनु० १।१० ॥

इन २६ [छब्बीस] आहुतियों को करके ये सब (ओम् अग्नये स्वाहा) इस मन्त्र से लेके (मृत्यवे

१. तै० आ० ६।२॥ २. तै० आ० ६।५॥ स्वाहा पद मन्त्रों से बहिर्भूत है।

३. तै० आ० ६।७॥ स्वाहा पद मन्त्र से बहिर्भूत है।

४. तै० आ० ६।१०॥ प्रथम मन्त्रस्थ स्वाहा पद मन्त्र से बहिर्भूत है।

स्वाहा) तक १२१ [एकसौ इक्कीस] आहुति हुईं, अर्थात् चार जनों की मिलके चार सौ चौरासी और जो दो जने आहुति देवें तो दो सौ बयालीस। यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं एक सौ इक्कीस मन्त्रों से आहुति देते जाएँ, यावत् शरीर भस्म न हो जाए तावत् देवें।

जब शरीर भस्म हो जावे पुनः सब जने वस्त्र प्रक्षालन, स्नान करके जिसके घर में मृत्यु हुआ हो उसके घर की मार्जन, लेपन, प्रक्षालनादि सें शुद्धि करके, पृष्ठ ४३-४८ में लिखे प्रमाणे स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ और पृष्ठ ३६-४२ में लिखे प्रमाणे ईश्वरोपासना करके इन्हीं स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से जहाँ अङ्क, अर्थात् मन्त्र पूरा हो, वहाँ 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर में देवें कि जिससे मृतक का वायु घर से निकल जाए और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सबका चित्त प्रसन्न रहे। यदि उस दिन रात्रि हो जाए तो थोड़ी-सी आहुति देकर दूसरे दिन प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से आहुति देवें।

तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर चिता से अस्थि उठाके उस श्मशान भूमि में कहीं पृथक् रख देवे। बस इसके आगे मृतक के लिए कुछ भी कर्म

इसमें कागज़ फट जाने से पढ़ा न जाने के कारण चन्दन का मूल्य सम्मिलित नहीं है।

विविध

सम्पन्न लोग ऐसे अवसर पर मृतक की कीर्ति या अपने यश अथवा पुण्यलाभ की दृष्टि से अपने सामर्थ्य के अनुसार दान दिया करते हैं। प्रायः वह दान उसके पात्रों तक नहीं पहुँचता। ग्रन्थकार ने बड़ी दूरदर्शिता से इस संस्कार के अन्त में लिख दिया है कि यह धन सर्वजनोपयोगी कार्यों में लगना चाहिए—"वेदविद्या, वेदोक्त धर्म का प्रचार, अनाथपालन, धर्मोपदेश प्रभृति के लिए जितना अधिक धन प्रदान करें, बहुत अच्छी बात है।"

यदि ग्रन्थकार स्पष्टतः इसका उल्लेख न करते तो 'संस्कारविधि में उल्लेख नहीं है' कहकर लोग इसे अवैदिक घोषित कर देते और लोकोपकार के कार्य में बाधक हो जाते, परन्तु यह निश्चित है कि इस प्रकार के दान का फल दानदाता को ही मिलेगा, मृतक को नहीं, भले ही उसके नाम से दिया जाए।

मृतक के घर-परिवार के लोग शोकग्रस्त होने के कारण अपने यहाँ भोजन बनाने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। इसलिए उनके सगे-सम्बन्धी, मित्र तथा ज्ञातिवाले लोग कुछ दिनों तक अपने यहाँ से भोजन तैयार करके भेजते रहते हैं। शास्त्र में इस प्रकार का विधान न होने पर भी यह लोक-सम्मत परम्परा सराहनीय एवं अनुकरणीय है। कहीं-कहीं यह भी परम्परा है कि शोकग्रस्त परिवार को सान्त्वना देने और धैर्य बँधाने के लिए दस दिन तक उनके समीप बने रहते हैं और स्थिति एवं आवश्यकता को अनुभव करके रात्रि को सोने भी चले जाते हैं।

स्त्रियों और बच्चों को प्रायः श्मशान में नहीं ले-जाया जाता। गर्भवती स्त्री का श्मशान में जाना कदापि उचित नहीं। इस प्रकार की समान्य बातों का उल्लेख संस्कारविधि में न करके ग्रन्थकार ने लोगों के विवेक पर छोड़ दिया है। यह निश्चित है कि ग्रन्थकार वेदाविरुद्ध लोकाचार के विरोधी नहीं थे।

कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि पूर्व (भस्मान्तꣳ शरीरम्)[1] यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका है कि दाहकर्म और अस्थिसञ्चयन से पृथक् मृतक के लिए दूसरा कोई भी कर्म-कर्त्तव्य नहीं है। हाँ, यदि वह सम्पन्न हो तो अपने जीतेजी वा मरे पीछे उसके[2] सम्बन्धी वेदविद्या, वेदोक्तकर्म का प्रचार, अनाथपालन, वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिए चाहे जितना धन प्रदान करें, बहुत अच्छी बात है॥

॥ इति मृतक-संस्कारविधिः समाप्तः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां शिष्यस्य वेदविहिताचारधर्मनिरूपकस्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः कृतौ संस्कारविधिग्रन्थः पूर्तिमगात्॥[3]

---

१. यजुः० ४०।१५॥

२. संस्करण २ में 'उनके' अपपाठ है।

३. इससे आगे संस्करण २ में निम्न श्लोक छपा है—

विधुयुगनवचन्द्रे वत्सरे विक्रमस्यासितदलबुधयुक्तानङ्गतिथ्यामिषस्य।
निगमपथशरण्ये भूय एवात्र यन्त्रे विधिविहितकृतानां पद्धतिर्मुद्रिताऽभूत्॥

अर्थात् संवत् १९४१ वि० आश्विन सुदी ५ बुधवार को द्वितीय संस्करण छपा। यह श्लोक ग्रन्थकार का नहीं है। संशोधक भीमसेन वा ज्वालाप्रसाद का है।

संस्करण ३ के अन्त में प्रथम दो चरणों का पाठ इस प्रकार है—

नगयुगनवचन्द्रे (१९४७) विक्रमार्कस्य वर्षे ससितदलसहस्ये सोमयुग्युग्मतिथ्याम्।

यह संस्करण ३ का मुद्रणकाल है। तृतीय संस्करणवाला पाठ ही १२वें संस्करण तक बिना सोचे-समझे छपता रहा।

प्रथम संस्करण के अन्त में ग्रन्थसमाप्ति-निर्देशक निम्न श्लोक भी मिलता है—

नेत्ररामाङ्कचन्द्रेऽब्दे (१९३२) पौषमासे सिते दिले।
सप्तम्यां सोमवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिं गतः शुभः॥

ऐतिहासिक दृष्टि से संस्करण एक तथा दो के अन्त में छपे श्लोक बहुत उपयोगी हैं, अतः एव सुरक्षा की दृष्टि से हमने यहाँ उन्हें उद्धृत कर दिया है।

स्वामी विद्यानन्दजी की अन्य रचनाएँ

१. भूमिकाभास्कर (दो भाग)
२. सत्यार्थभास्कर (दो भाग)
३. संस्कारभास्कर
४. अनादितत्त्व दर्शन
५. वेद–मीमांसा
६. अध्यात्ममीमांसा (ईशोपनिषद्रहस्य)
७. तत्त्वमसि अथवा अद्वैत–मीमांसा
८. प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद
९. आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता
१०. सृष्टि विज्ञान और विकासवाद
११. द्वैतसिद्धि
१२. चत्वारो वै वेदाः
१३. वेदार्थभूमिका (हिन्दी)
१४. वेदार्थभूमिका (संस्कृत)
१५. त्यागवाद
१६. स्वराज्य दर्शन
१७. राजधर्म
१८. खट्टी–मीठी यादें
१९. आर्यों का आदिदेश (१२ भाषाओं में)
२०. स्वामी विवेकानन्द के विचार
२१. मूल गीता में श्रीकृष्णार्जुन संवाद
२२. जन्म–जीवन–मृत्यु
२३. शंकराचार्यकृत परापूजा का भाष्य
२४. वाल्मीकि रामायण भ्रान्तियाँ और निराकरण
२५. आर्यसिद्धान्त विमर्श
२६. गौ की गुहार

अंग्रेज़ी में

1. The Brahmasutra
2. Vedic Concept of God
3. Theory of Reality
4. Ishopanishad—a study in Ethies and Metaphysics
5. Anatomy of Vedanta
6. Political Science
7. The Age of Shankara
8. The Riddle of Life and Death
9. Original Home of the Aryans
10. The Gospel of Swami Vivekananda
11. The Gospel of National Awakening